

अनेकान्त

वर्ष २४ : किरण १



ग्वालियर संग्रहालय में प्रदर्शित ग्वालियर किले से प्राप्त
मध्यकालीन तीर्थंकर प्रतिमा

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

क्र०	पृ०
१. जिनवर-स्तवनम्—मुनि पद्मनन्दि	१
२. भारतीय दर्शन की एक अप्राप्ति कृति अष्टसहस्री—डा० दरबारी लाल कोठिया	२
३. जैन शिल्प में बाहुवली— मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	६
४. दशबाह्य-परिग्रह—पं० रतनलाल कटारिया	१०
५. खालियर में जैन धर्म—गोपीलाल अमर	१७
६. सम्प्रदर्शन एक अध्ययन— प० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	२१
७. जैन परम्परा के कुछ अज्ञात साधु— श्री रामवल्लभ सोमानी	३
८. अज्ञात जैन कवि और उनकी रचनाएँ— डा० गगाराम गर्ग	३८
९. त्रिपुरी की कलचुरि कालीन जैन प्रतिमाएँ— कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम. ए.	४०
१०. मानव की स्वाधीनता का संघर्ष— प० बलभद्र जैन	४२
११. हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएँ—परमानन्द शास्त्री	४३
१२. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	४७

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से शीघ्र भिजवा दें, अन्यथा वी. पी. से १.२५ पैसे अधिक देना पड़ेगा।

जिन ग्राहकों ने अपने पिछले २३ वें वर्ष का चन्दा अभी तक भी नहीं भेजा है, वे अब २३वें और २४वें दोनों वर्षों का १२ रुपया मनी आर्डर से अवश्य भिजवा दें।

व्यवस्थापक 'अनेकांत'

वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज
दिल्ली



पुस्तक प्रकाशकों से

जैन समाज में अनेक संस्थाएँ जैन साहित्य का प्रकाशन कार्य कर रही हैं। वीर सेवा मन्दिर की लायब्रेरी अन्वेषक विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अनेक शोध-खोज करने वाले विद्वान अपनी थीसिस के लिए योग्य सामग्री वीर सेवा मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त करते हैं। विद्वानों को चाहिए कि वे उससे अधिक से अधिक लाभ उठावें। प्रकाशकों को चाहिए वे अपने-अपने प्रकाशन की प्रतिर्या यहाँ भिजवा कर पुण्य लाभ लें।

व्यवस्थापक

वीर सेवामन्दिर, दरियागज



अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविषाणम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमभनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४
किरण १

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६७, वि० सं० २०२७

{

अप्रैल
१९७१

जिनवरस्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वज्झइ पट्ठो दिणम्मि अज्जयणे ।

सहलत्तणेण मज्झे सब्बदिणाणं पि सेसाणं ॥११॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवणमिणं तुज्झ मह महघतरं ।

सव्वाणं पि सिराणं संकेयघरं व पडिहाइ ॥१२॥

—मुनि पच्चनन्दि

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर शेष सबही दिनों के मध्य में आज के दिन सफलता का पट्ट बांधा गया है । अभिप्राय यह है कि इतने दिनों में आज का यह मेरा दिन सफल हुआ है, क्योंकि, आज मुझे चिरसंचित पाप को नष्ट करने वाला आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ।

हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर यह तुम्हारा महा-मूल्यवान घर (जिनमन्दिर) मुझे सभी लक्ष्मियों के संकेत गृह के समान प्रतिभासित होता है । अभिप्राय यह है कि यहाँ आपका दर्शन करने पर मुझे सब प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त होने वाली है ।

विषय-सूची

क्र०	पृ०
१. जिनवर-स्तवनम्—मुनि पद्मनन्दि	१
२. भारतीय दर्शन की एक अप्राप्ति कृति अष्टसहस्री—डा० दरबारी लाल कोठिया	२
३. जैन शिल्प में बाहुवली— मारुतिनदन प्रसाद तिवारी	६
४. दशबाह्य-परिग्रह—पं० रतनलाल कटारिया	१०
५. ग्वालियर में जैन धर्म—गोपीलाल अमर	१७
६. सम्यग्दर्शन एक अध्ययन— प० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	२१
७. जैन परम्परा के कुछ अज्ञात साधु— श्री रामवल्लभ सोमानी	१
८. अज्ञात जैन कवि और उनकी रचनाएँ— डा० गंगाराम गर्ग	३८
९. त्रिपुरी की कलचुरि कालीन जैन प्रतिमाएँ— कस्तूरचन्द्र 'मुमन' एम. ए.	४०
१०. मानव की स्वाधीनता का सघर्ष— प० बलभद्र जैन	४२
११. हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएँ—परमानन्द शास्त्री	४३
१२. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	४७

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीआर्डर से शीघ्र भिजवा दे, अन्यथा वी. पी. से १.२५ पैसे अधिक देना पड़ेगा।

जिन ग्राहकों ने अपने पिछले २३ वे वर्ष का चन्दा अभी तक भी नहीं भेजा है, वे अब २३वें और २४वें दोनों वर्षों का १२ रुपया मनी आर्डर से अवश्य भिजवा दें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज
दिल्ली



पुस्तक 'काशकों से

जैन समाज में अनेक संस्थाएँ जैन साहित्य का प्रकाशन कार्य कर रही हैं। वीर सेवा मन्दिर की लायब्रेरी अन्वेषक विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अनेक शोध-खोज करने वाले विद्वान अपनी थीसिस के लिए योग्य सामग्री वीर सेवा मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त करते हैं। विद्वानों को चाहिए कि वे उससे अधिक से अधिक लाभ उठावे। प्रकाशकों को चाहिए वे अपने-अपने प्रकाशन की प्रतियाँ यहाँ भिजवा कर पुण्य लाभ लें।

व्यवस्थापक
वीर सेवामन्दिर, दरियागज



अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

प्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमघनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४
किरण १

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६७, वि० सं० २०२७

}

अप्रैल
१९७१

जिनवरस्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वज्जइ पट्ठो दिणम्मि अज्जयणे ।

सहलत्तणेण मज्झे सब्बदिणारं पि सेसाणं ॥११॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवणमिणं तुज्झ मह महघतरं ।

सव्वारं पि सिराणं संकेयघरं व पडिहाइ ॥१२॥

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर शेष सबही दिनों के मध्य में आज के दिन सफलता का पट्ट बांधा गया है । अभिप्राय यह है कि इतने दिनों में आज का यह मेरा दिन सफल हुआ है, क्योंकि, आज मुझे चिरसंचित पाप को नष्ट करने वाला आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ।

हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर यह तुम्हारा महा-मूल्यवान घर (जिनमन्दिर) मुझे सभी लक्ष्मियों के सकेत गृह के समान प्रतिभासित होता है । अभिप्राय यह है कि यहाँ आपका दर्शन करने पर मुझे सब प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त होने वाली है ।

भारतीयदर्शन की एक अप्रतिम कृति अष्टसहस्री

आचार्य विद्यानन्द-रचित 'अष्टसहस्री' जनदर्शन की ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शन की एक अपूर्व, अद्वितीय और उच्चकोटि की व्याख्या-कृति है। भारतीय दर्शन-वाङ्मय में जो विशेष उल्लेखनीय उपलब्ध रचनाएँ हैं उनमें यह निःसन्देह बेजोड़ है। विषय, भाषा और शैली तीनों से यह अपनी साहित्यिक गरिमा और स्वस्थ, प्रसन्न तथा गम्भीर विचारधारा की विद्वन्मानस पर अंकित करती है। सम्भवतः इसी से यह अतीत में विद्वद्-ग्राह्य और उपास्य रही है तथा आज भी निष्पक्ष मनीषियों द्वारा अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है। यहाँ पर हम उसी का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

मूलग्रन्थ : देवागम—

यह जिस महत्त्वपूर्ण मूल ग्रन्थ की व्याख्या है वह विष्णु संवत् की दूसरी-तीसरी शताब्दी के महान् प्रभावक दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित 'देवागम' है। इसी का दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा' है। अतः यह 'भक्तामर', 'कल्याणमन्दिर' आदि स्तोत्रों की तरह 'देवागम' पद से प्रारम्भ होता है, अतः यह 'देवागम' कहा जाता है और अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिराज, हस्ति-मल्ल आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने इसका इसी नाम से उल्लेख किया है। और 'आप्तमीमांसा' नाम स्वयं समन्तभद्र ने ग्रन्थान्त में दिया है, इससे यह 'आप्तमीमांसा' नाम से भी विख्यात है। विद्यानन्द ने इस नाम का

भी अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है। इस तरह यह कृति जैन साहित्य में दोनों नामों से विश्रुत है।

इसमें आचार्य समन्तभद्र ने आप्त (स्तुत्य) कौन हो सकता है, उसमें आप्तत्व के लिए अनिवार्य गुण (असाधारण विशेषताएँ) क्या होना चाहिए, इसकी युक्ति पुरस्सर मीमांसा (परीक्षा) की है और यह सिद्ध किया है कि पूर्ण निर्दोषता, सर्वज्ञता और युक्तिशास्त्राविरोधिवन्तता ये तीन गुण आप्तत्व के लिए नितान्त वांछनीय और अनिवार्य हैं। ग्रन्थ वैभव शोभामात्र है। अन्ततः ऐसा आप्तत्व उन्होंने वीर-जिन में उपलब्ध कर उनकी स्तुति की तथा ग्रन्थों (एकान्तवादियों) के उपदेशों—एकान्तवादों की समीक्षापूर्वक उनके उपदेश—स्याद्वाद की स्थापना की है।

इसे हम जब उस युग के सन्दर्भ में देखते हैं तो प्रतीत होता है कि वह युग ही इस प्रकार का था। इस काल में प्रत्येक सम्प्रदाय प्रवर्तक हमें ग्रन्थ देव तथा उसके मत की आलोचना और अपने इष्ट देव तथा उसके उपदेश की

१. 'देवागम-नभोयान...'—देवागम का० १।
२. 'कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'—अष्टश० प्रार० पृ० २।
३. 'इति देवागमस्य स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रै...'—अष्टश० पृ० २६४।
४. 'देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते।'—पार्श्वनाथचरित।
५. 'देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सदर्शनान्वितः।'—विक्रान्तकौरव।
६. 'इतीवमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।'—देवा० का० ११४।
७. अष्टश० पृ० १, मङ्गलपद्य, आप्तपरीक्षा पृ० २३३, २६२।

८. दोषावरणयोर्हानिनिश्चेषास्त्यतिशायनात्।
वचचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥
सूक्ष्मान्तरितद्वार्याः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽन्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥
—देवागम का० ४, ५, ६।

९. '...इति स्याद्वाद-संस्थितिः॥'—देवागम का. ११३।

सिद्धि करता हुआ मिलता है। बौद्धदर्शन के पिता कहे जाने वाले आ० दिग्नाग ने भी अन्य के इष्टदेव तथा उनके उपदेश (क्षणिकवाद) की स्थापना करते हुए 'प्रमाणसमुच्चय' में बुद्ध की स्तुति की है। इसी 'प्रमाण-समुच्चय' के समर्थन में धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' और प्रज्ञाकर ने 'प्रमाणवार्तिकालंकार' नाम की व्याख्याएं लिखी हैं। आश्चर्य नहीं कि समन्तभद्र ने ऐसी ही स्थिति में प्रस्तुत 'देवागम' की रचना की है और उस पर अकलङ्क देव ने धर्मकीर्ति की तरह 'देवागमभाष्य' (अष्ट-शती) तथा विद्यानन्द ने प्रज्ञाकर की भाँति 'देवागमालङ्कार' (प्रस्तुत अष्टसहस्री) रचा है। 'देवागम' एक स्तव ही है, जिसे अकलङ्क ने स्पष्ट शब्दों में 'भगवत्स्तव' कहा है।^१ इस प्रकार 'देवागम' कितनी महत्त्व की रचना है, यह सहज में अवगत हो जाता है।

यथार्थ में यह इतना अर्थगर्भ और प्रभावक ग्रन्थ है कि उत्तरकाल में इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य व्याख्या-टिप्पण आदि लिखे हैं। अकलङ्कदेव की अष्टशती, विद्यानन्द की अष्टसहस्री और वसुनन्दि की देवागमवृत्त इन तीन उपलब्ध टीकाओं के अतिरिक्त कुछ व्याख्याएं और लिखी गयी हैं, जो आज अनुपलब्ध हैं और जिनके संकेत मिलते हैं।^२ देवागम की महिमा को प्रदर्शित करते

१. '...स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'—

अष्टश० मंग० पं० २।

२. विद्यानन्द ने अष्टसहस्री (पृ० २६४) के अन्त में अकलङ्क देव के समाप्ति-मङ्गल से पूर्व 'केचित्' शब्दों के साथ 'देवागम' के किसी व्याख्याकार की व्याख्या का 'जयति जगति' आदि समाप्ति-मङ्गल पद्य दिया है। और उसके बाद ही अकलङ्क देव की अष्टशती का समाप्ति-मङ्गल निबद्ध किया है। इससे प्रतीत होता है कि अकलङ्क से पूर्व भी 'देवागम' पर किसी आचार्य की व्याख्या रही है, जो विद्यानन्द को प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसी पर से उन्होंने उल्लिखित समाप्ति-मङ्गल पद्य दिया है। लघु समन्तभद्र (वि० सं० १३वीं शती) ने आ० वादीभसिंह द्वारा 'आप्त-मीमांसा' के उपलालन (व्याख्यान) किये जाने का

हुए आ० वादिराज ने^३ उसे सर्वज्ञ का प्रदर्शक और हस्ति-मल्ल ने^४ सम्यग्दर्शन का समुत्पादक बतलाया है।

इसमें दश परिच्छेद हैं,^५ जो विषय-विभाजन की दृष्टि से स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अभिहित हैं। वह स्तवरूप रचना होते हुए भी दार्शनिक कृति है। उस काल में दार्शनिक रचनाएं प्रायः पद्यात्मक तथा इष्टदेव की गुण-स्तुति रूप में रची जाती थी, बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की माध्यमिक कारिका और विग्रहव्यावर्तनी, वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि (विंशतिका व त्रिशत्का), दिग्नाग का प्रमाण समुच्चय आदि रचनाएं इसी प्रकार की दार्शनिक हैं और पद्यात्मक शैली में रची गयी हैं। समन्तभद्र ने स्वयं अपनी (देवागम, स्वयम्भूस्तोत्र और यूक्त्यनुशासन) तीनों दार्शनिक रचनाएं कारिकात्मक और स्तुतिरूप में ही रची हैं।

प्रस्तुत देवागम में भावैकान्त-अभावैकान्त, द्वैतैकान्त-अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त-अनित्यैकान्त, ग्रन्थैकान्त-अग्रन्थ-

उल्लेख अपने 'अष्टसहस्री टिप्पण' (पृ० १) में किया है। उनके इस उल्लेख से किसी अन्य देवागम-व्याख्या के भी होने की सूचना मिलती है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। अकलङ्कदेव ने अष्टशती (का० ३३ विवृति) में एक स्थान पर 'पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति' वाक्य का प्रयोग किया है, जो देवागम के पाठ-भेदों और उसकी अनेक व्याख्याओं का स्पष्ट संकेत करता है। 'देवागम के महत्त्व, गाम्भीर्य और विश्रुति को देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं कि उस पर विभिन्न कालों में अनेक टीका टिप्पणादि लिखे गये हों।

३. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।

देवागमेनसर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते।—पा० च०।

४. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सहर्शान्वितः।—वि० की०।

५. विद्यानन्द ने अकलङ्क के 'स्वोक्तपरिच्छेदे' (अ० श० का० ११४) शब्दों का अर्थ "स्वेनोक्ताः परिच्छेदा वश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति (शास्त्रं) तत्र" (अ० सं० पृ० २६४) यह किया है। उससे विदित है कि देवागम में दश परिच्छेद स्वयं समन्त-भद्रोक्त हैं।

तैकान्त, अपेक्षैकान्त-अनपेक्षैकान्त, हेतुत्वैकान्त-अहेतुत्वैकान्त, विज्ञानैकान्त - बहिरर्थैकान्त, दैवैकान्त - पौरुषैकान्त, पापैकान्त - पुण्यैकान्त, बन्धकारणैकान्त - मोक्षकारणैकान्त जैसे एकान्तवादों की समीक्षापूर्वक उनमें सप्तभंगी (सप्त-कोटियों) की योजना द्वारा स्याद्वाद (कथंचिद्वाद) की स्थापना की गई है। स्याद्वाद की इतनी स्पष्ट और विस्तृत विवेचना इससे पूर्व जैन दर्शन के किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती।^१ सम्भवतः इसी से 'देवागम' स्याद्वाद की सहेतुक स्थापना करने वाला एक अपूर्व एवं प्रभावक ग्रन्थ माना जाता है और उसके स्रष्टा आचार्य समन्तभद्र को 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'^२ कहा जाता है। व्याख्याकारों ने इसपर अपनी व्याख्याएँ लिखना गौरव समझा और अपने को भाग्यशाली माना है।

व्याख्याएँ

इस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी हैं, जैसा कि हम पहले उल्लेख कर आए हैं। पर आज तीन ही उपलब्ध हैं और वे निम्नप्रकार हैं:—

१. देवागमविवृति (अष्टशती), २. देवागमालंकार (अष्टसहस्री) और ३. देवागमवृत्ति।

१. देवागमविवृति

इसके रचयिता आ० अकलंकदेव हैं। यह उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदों के अन्त में जो समाप्ति पुष्पिका वाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका नाम 'आप्त-मीमांसा-भाष्य' (देवागम-भाष्य) भी उपलब्ध होता है।^३ विद्यानन्द ने अष्टसहस्री के तृतीय परि-

१. 'षट्खण्डागम' में 'सिया पञ्जत्ता सिया अपञ्जत्ता' (घ० पु० १ पृ) जैसे स्थलों में स्याद्वाद का स्पष्टतया विधि और निषेध द्रन दो ही वचन प्रकारों प्रति-पादन पाया जाता है। आ० कुन्दकुन्द ने इन दो में पाँच वचन प्रकार और मिलाकर सात वचन प्रकारों से वस्तु-निरूपण का निर्देश किया है। पर उसका विवरण एवं विस्तृत विवेचन नहीं किया। (पञ्चास्ति गा० १४)।

२. विद्यानन्द, अष्टस० पृ० २६५।

३. 'इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥छ०॥१०॥'

च्छेद के आरम्भ में जो ग्रन्थ-प्रशंसा में पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है।^४ सम्भवतः आठ सौ श्लोक प्रमाण रचना होने से इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। इस प्रकार यह व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसाभाष्य और अष्टशती इन तीन नामों से जैन वाङ्मय में विभूत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानों का उसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्य को अवगत करने के लिए अष्टसहस्री का सहारा लेना अनिवार्य है। भारतीय दर्शन-साहित्य में इसके जोड़ की रचना मिलना दुर्लभ है। न्याय-मनीषी उदयन की न्याय कुसुमांजलि से इसकी कुछ तुलना की जा सकती है। अष्टसहस्री के अध्ययन में जिस प्रकार कष्टसहस्री का अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशती के एक-एक स्थल को समझने में भी कष्टशती का अनुभव उसके अभ्यासी को होता है।

२. देवागमालंकार

यह दूसरी व्याख्या ही इस निबन्ध का विषय है। इस पर हम आगे प्रकाश डाल रहे हैं।

३. देवागम-वृत्ति

यह लघु परिमाण की व्याख्या है। इसके कर्ता आ० वसुनन्दि हैं। यह न अष्टशती की तरह दुरवगाह है और न अष्टसहस्री के समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओं का व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्यों का अर्थ तथा कही-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ, कारिकाओं के हार्द को समझने में यह वृत्ति देवागम के प्राथमिक अभ्यासियों के लिए अत्यन्त उपकारक एवं विशेष उपयोगी है। वृत्तिकार ने अपनी इस वृत्ति के अन्त में लिखा है^५ कि 'मै मन्द बुद्धि

४. अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात्।

विलसद कलंकधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥
साष्टस० पृ० १७८।

५. 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य.....देवागमाख्यायाः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।'—देवागमवृत्ति पृ० ५०, स० जैन ग्रन्थमाला, काशी।

और विस्मरणशील व्यक्ति हैं। मैंने अपने उपकार के लिए ही 'देवागम' कृति का यह सभ्रप मे विवरण किया है।' उनके इस स्पष्ट आत्म-निवेदन से इस वृत्ति की लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वसुनन्दि के समक्ष देवागम की ११४ कारिकाओं पर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि श्लोक को विद्यानन्द के निर्देशानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्य की देवागम-व्याख्या का समाप्ति-मङ्गलपद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागम की ११५ वीं कारिका किस आधार पर माना और उसका भी विवरण किया? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीन काल में साधुओं में देवागम का पाठ करने तथा उसे कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है। जैसा कि पात्रकेशरी (पात्रस्वामी) की कथा में निर्दिष्ट चारित्रभूषण मुनि को उसके कण्ठस्थ होने और अहिच्छत्र के श्री पार्श्वनाथ मन्दिर में रोज पाठ करने का उल्लेख है। वसुनन्दि ने देवागम की ऐसी प्रतिपर से उसे कण्ठस्थ कर रखा होगा, जिस में ११४ कारिकाओं के साथ उक्त अज्ञात देवागम व्याख्या का समाप्ति मङ्गल पद्य भी किसी के द्वारा सम्मिलित कर दिया गया होगा और उस पर ११५ का संख्याङ्क डाल दिया होगा। वसुनन्दि ने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओं पर से जानकारी एव खोज बिन किये बिना देवागम का अर्थ हृदयगम रखने के लिए यह देवागमवृत्ति लिखी होगी और उस में कण्ठस्थ सभी ११५ कारिकाओं का विवरण लिखा होगा। और इस तरह ११५ कारिकाओं की वृत्ति प्रचलित हो गयी जान पड़ती है।

यह वृत्ति एक बार सन् १९१४, बी० नि० सं० २४४० में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी संस्था काशी से सनातन जैन ग्रन्थ माला के अन्तर्गत ग्रन्थाङ्क ७ के रूप में तथा दूसरी बार निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। पर अब वह अलभ्य है। इसका पुनः अच्छे संस्करण के रूप में मुद्रण अपेक्षित है।

देवागमालंकारः अष्टसहस्री

अब हम अपने मूल विषय पर आते हैं। पीछे हम यह निर्देश कर आए हैं कि आ० विद्यानन्द की 'अष्ट

सहस्री' देवागम की दूसरी उपलब्ध व्याख्या है। देवागम का अलंकरण (व्याख्यान) होने से यह देवागमालंकार या देवागमलकृति तथा आप्तमीमांसाालंकार या आप्तमीमांसालकृति नामों से भी उल्लिखित है। और ये दोनों नाम अन्वर्थ हैं। 'अष्ट सहस्री' नाम भी आठ हजार श्लोक प्रमाण होने से सार्थक है। पर इसकी जिस नाम से विद्वानों में अधिक विश्रुति है और जानी-पहचानी जाती है वह नाम 'अष्टसहस्री' ही है : उपर्युक्त दोनों नामों की तरह 'अष्टसहस्री' नाम भी स्वयं विद्यानन्द प्रदत्त है।^१ मुद्रित प्रति के अनुसार उसके दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें और दशवें परिच्छेदों के आरम्भ में तथा दशवें के अन्त में जो अपनी व्याख्या-प्रशंसा में एक-एक पद्य विद्यानन्द ने दिए हैं उन सब में 'अष्टसहस्री' नाम उपलब्ध है। नववें परिच्छेद के आदि में जो प्रशंसा-पद्य है उसमें भी 'अष्टसहस्री' नाम अध्याहृत है^२ क्योंकि वहाँ 'सम्पादयति' क्रिया तो है, पर उसका कर्ता कण्ठतः उक्त नहीं है जो अष्टसहस्री के सिवाय अन्य सम्भव नहीं है।

रचना शैली और विषय-विवेचन

इसकी रचना-शैली बड़ी गम्भीर और प्रसन्न है। भाषा परिमाजित और संयत है। व्याख्येय के अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए जितनी पदावली की आवश्यकता है उतनी ही पदावली प्रयुक्त की गई है। वाचक जब इसे पढ़ता है तो एक अविच्छिन्न और अविरल गति से प्रवाहपूर्ण धारा उसे उपलब्ध होती है जिसमें वह अवगाहन कर आनन्द-विभोर हो उठता है। समन्तभद्र और अकलंक के एक-एक पद का मर्म तो स्पष्ट होता ही जाता है

१. आप्तपरीक्षा वृ. २३३, २६२; अष्टस. पृ. १ मङ्गल पद्य तथा परिच्छेदान्त में पाये जाने वाले समाप्ति पुष्पिकावाक्य।
२. 'जीयादष्टसहस्री...' (अष्टस. पृ. २१३), 'साष्टसहस्री मदा जयतु।' (अष्टस. २३१)।
३. १४५४ वि. सं. की लिखी पाटन-प्रति में ये प्रशंसा-पद्य परिच्छेदों के अन्त में हैं।
४. सम्यगवबोधपूर्व पीरुषमपसारिताखिलानर्थम्।
दैवोपेतमभीष्टं सर्वं सम्पादयत्याशु ॥—अष्टस. पृ. २५९।

उसे कितना ही नव्य, मव्य और सम्बद्ध चिन्तन भी मिलता है। विद्यानन्द ने इसमें देवागम की कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादि का विस्तार पूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ में प्रकलंकदेव की उपयुक्त 'अष्टशती' के प्रत्येक स्थल की और पद-वाक्यादि का भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। 'अष्टशती' को 'अष्टसहस्री' में इस तरह आत्मसात् कर लिया है कि यदि दोनों को भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपों (शीषाक्षरों) में न रखा जाय और 'अष्टशती' का टाइप बड़ा न हो तो पाठक को यह भेद करना दुस्साध्य है कि यह 'अष्टशती' का अर्थ है और यह 'अष्टसहस्री' का। विद्यानन्द ने 'अष्टशती' के आगे, पीछे और मध्य की आवश्यक एवं प्रकृतोपयोगी सान्दर्भिक वाक्य रचना करके 'अष्टशती' को अष्टसहस्री में मणि-प्रवालन्याय से अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह 'अष्टसहस्री' न लिखते तो अष्टशती का गूढ़ रहस्य उसी में ही छिपा रहता और मेधावियों के लिए वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। इसकी रचना शैली को विद्यानन्द ने स्वयं 'जियावष्टसहस्री... प्रसन्न-गम्भीर-पदपदवी' (अष्टस० पृ० २१३) शब्दों द्वारा प्रसन्न और गम्भीर पदावली युक्त बतलाया है।

इसमें व्याख्येय देवागम का और अष्टशती प्रतिपाद्य विषयों का विषदतया विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त विद्यानन्द के काल तक विकसित दार्शनिक प्रमेयों और अपूर्व चर्चाओं को भी इसमें समाहित किया गया है। उदाहरणार्थ नियोग, भावना और विधि वाक्यार्थ की चर्चा, जिसे प्रभाकर और कुमारिल मीमांसक विद्वानों तथा मण्डनमिश्र आदि वेदान्त दार्शनिकों ने जन्म दिया है और जिसकी बौद्ध मनीषी प्रजाकर ने सामान्य आलोचना की है, जैन वाङ्मय में सर्वप्रथम विद्यानन्द ने ही इसमें

१. भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।

तावुभी यदि वाक्यार्थो हतो भट्ट-प्रभाकरो॥

कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्तु तत्प्रमा।

द्वयोश्चेदन्तौ तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनी।

—अष्टस. पृ. ५-३५।

प्रस्तुत की एवं विस्तृत विशेष समीक्षा की है। इसी तरह विरोध^१, वैयाधिकरण्य आदि आठ दोषों की अनेकान्तवाद में उद्भावना और उसका समाधान दोनों हमें सर्वप्रथम इस 'अष्टसहस्री' में ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार अष्टसहस्री में विद्यानन्द ने कितना ही नया चिन्तन और विषय-विवेचन समाविष्ट किया।

महत्त्व एवं गरिमा

इसका सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन करने पर अध्येता को यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कृति अतीव महत्त्वपूर्ण और गरिमामय है। विद्यानन्द ने इस व्याख्या के महत्त्व की उद्घोषणा करते हुए लिखा है—

श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतः किमन्यः सहस्र संख्यानः।

विज्ञायते ययैव स्वसमय-परसमयसंज्ञाः^२॥

'हजार शास्त्रों का पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एक मात्र इस कृति का अध्ययन एक ओर है, क्योंकि इस एक के अभ्यास से ही स्वसमय और परसमय दोनों का विज्ञान हो जाता है।'

व्याख्याकार की यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वयं इसकी यह निर्णायिका है। और 'हाथ कंगन को झारसी क्या' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। हमने इसका गुरुमुख से अध्ययन करने के उपरान्त अनेक बार इसे पढ़ा और पढ़ाया है। इसमें वस्तुतः वही पाया जो विद्यानन्द ने उक्त पद्य में व्यक्त किया है।

दो स्थलों पर इसका जयकार करते हुए विद्यानन्द ने जो पद्य दिये हैं उन से भी अष्टसहस्री की गरिमा स्पष्ट प्रकट होती है। वे पद्य इस प्रकार हैं—

(क) जीयावष्टसहस्रीदेवागमसंगतार्थमकलङ्कम्।

२. 'इति किं नश्चिन्तया, विरोधादिदूषणस्यापि तथैवापसारितत्वात्।...ततो न वैयाधिकरण्यम्। एतेनोभयदोष प्रसङ्गोऽप्यपास्तः, ...एतेन सशयप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, ...तत एव न संकर प्रसङ्गः, ...एतेन व्यतिकर प्रसङ्गोऽप्युदस्तः, ...तत एव नानवस्था...।'—अष्टस. पृ. २०४-२०७।

३. अष्टस. पृ. १५७।

भारतीय दर्शन की एक अप्रतिम कृति अष्टसहस्री

गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्न-गम्भीर-पदपदवी ॥^१

(ख) स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति परिष्टचेतसाम-
सम् । दर्शित-समन्तभद्र साष्टसहस्री सदा जयतु ॥^२

प्रथम पद्य में कहा गया है कि प्रसन्न और गम्भीर पदों की पदवी (उच्च स्थान अथवा शैली) को प्राप्त यह अष्टसहस्री जयवन्त रहे—चिरकाल तक मनीषिगण इसका अध्ययन-मनन करें, जिसकी विशेषता यह है कि वह देवागम में सम्यक् रीत्या प्रतिपादित और अकलङ्क समर्थित अर्थ को सन्नयों (सप्तभङ्गों) से अवगत कराती है ।

दूसरे पद्य में प्रतिपादित है कि जो पटुबुद्धियों-प्रतिभाशालियों के लिए अकलङ्कदेव के विषय—दुरुह पदों का, जिनमें स्वामी समन्तभद्र का हार्द अभिप्राय प्रदर्शित है, अर्थोद्धाटन स्पष्टतया करती है वह अष्टसहस्री सदा विजयी रहे ।

परिच्छेदों के अन्त में पाये जाने वाले पद्यों में विद्या-नन्द ने उस परिच्छेद में प्रतिपादित विषय का जो निचोड़ दिया है उससे भी व्याख्या की गरिमा का आभास मिल जाता है । एकान्तवादों की समीक्षा और पूर्व पक्षियों की आशंकाओं का समाधान इसमें जिस शालीनता एवं गम्भीरता से प्रस्तुत किया है वह अद्वितीय है प्रायः उत्तरदाता अशकाओं का उत्तर देते समय सन्तुलन खो देता है और पूर्व पक्षी को 'पशु', 'जड', 'अश्लील' जैसे मानसिक चोट पहुँचाने वाले अप्रिय शब्दों का भी प्रयोग कर जाता है । जैसा कि दर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । पर 'अष्टसहस्री' में आरम्भ से अन्त तक शालीनता दृष्टिगोचर होती है और कहीं भी असन्तुलन नहीं मिलता । और न उक्त प्रकार के कठोर शब्द । एक

स्थल पर सर्व पदार्थों को 'मायोपम', 'स्वप्नोपम' मानने वाले सौगत को अकलङ्कदेव की तरह विद्यानन्द ने मात्र 'प्रमादी' और 'प्रज्ञापराधी' कहा है^३ इन दोनों शब्दों के प्रयोग में कितनी सौम्यता, सन्तुलन और सद्भावता निहित है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है । इन सब बातों से 'अष्टसहस्री' की गरिमा निश्चय ही विदित हो जाती है ।

इस पर लघु समन्तभद्र (१३वीं शती) का एक 'अष्टसहस्री विषमपद-तात्पर्य टीका' नामक टिप्पण और दूसरी श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७वीं शती) की 'अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण' सज्जक व्याख्या उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं । इसका प्रकाशन सन् १७१५. वी. नि. सं. २४४१ में आकलूज निवासी सेठ श्री नाथारंग जी गाँधी द्वारा एक बार हुआ था । अब वह संस्करण अप्राप्य है । दूसरा नया संस्करण आधुनिक सम्पादनादि के साथ प्रकाशनार्ह है । हम इसका सम्पादन कर रहे हैं । और भारतीय ज्ञानपीठ से उसका प्रकाशन होगा ।

इसके रचयिता

हम आरम्भ में ही निर्देश कर आये हैं कि इस महनीय कृति की रचना जिस महान् आचार्य ने की वे तार्किक जिरोमणि विद्यानन्द हैं । ये भारतीय दर्शन विशेषतः जैन दर्शनाकाश के दैदीप्य मान सूर्य हैं, जिन्हें सभी भारतीय दर्शनों का तल स्पर्शी अनुगम था, यह उनके उपलब्ध ग्रन्थों से स्पष्ट अवगत होता है । इन का अस्तित्व-समय हम ने ई. ७७५ से ८४० ई. निर्धारित किया है ।^४ इन के और इनकी कृतियों के सम्बन्ध में विशेष विचार अन्यत्र किया गया है ।^५

३. अष्टस० पृ० ११६ ।

४. आप्तप० प्रस्ता० पृ. ५३, बीरसेवा मन्दिर, दरिया-गंज, दिल्ली-६ ।

५. वही, प्रस्ता० पृ. ७-५४ ।

१. वही, पृ. २१३ ।

२. वही, पृ. २३१ ।

जैन शिल्प में बाहुबली

प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के पुत्र बाहुबली की महान व कठोर तपश्चर्या ने ही श्वेतांबरों और दिगंबरों को मंदिरों में बाहुबली के पूजन के लिए प्रेरित किया। उनके महान तपस्वी होने के कारण ही जैन शिल्प के विभिन्न माध्यमों में उनको तपस्या में लीन और लतावल्लरियों से वेष्टित कायोत्सर्ग मुद्रा में व्यक्त किया गया। यह सर्वथा स्वीकार्य तथ्य है कि बाहुबली दिगंबरों के मध्य विशेष प्रचलित हुए और उसमें भी विशेष कर दक्षिण भारत में। श्वेतांबरों के मध्य उनके विशेष प्रचलित न होने का कारण उनका नग्न रूप में अंकित किया जाना है। उत्तर भारत से बाहुबली की कुछ सीमित प्रतिमाएं ही प्राप्त होती हैं, जब कि परवर्ती मंदिरों से बाहुबली चित्रण के उदाहरण अनेकशः प्राप्त होते हैं। बाहुबली की मूर्तियों के अध्ययन के प्रारंभ के पूर्व ग्रंथों में उनसे संबंधित प्राप्त उल्लेखों का संक्षिप्त अध्ययन अधिक समीचीन होगा, क्योंकि उन्हीं कथानकों के आधार पर बाहुबली को विभिन्न युगों में व्यक्त किया गया।

आदिनाथ और सुनन्दा के पुत्र बाहुबली के सौतेले अग्रज भरत चक्रवर्ती ही पिता के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी नियुक्त हुए, जो विनीता से शासन करता था। बाहुबली की राजधानी बहली देश में स्थित तक्षशिला थी। दिगंबर परंपरा में बाहुबली को पोडनस या पोडनपुर का शासक बताया गया है। अनेक शासकों पर विजय प्राप्ति के उपरान्त भरत ने अपने समस्त ६६ भ्राताओं से उसके प्रति आदर व्यक्त करने की मांग की। बाहुबली के अतिरिक्त सभी भ्राता पहले ही संसार का परित्यागकर जैनधर्म की दीक्षा ले चुके थे। बाहुबली ने भरत की सत्ता स्वीकार करने से इनकार कर दिया, जिस पर क्रुद्ध होकर भरत अपनी विशाल सेना सहित बाहुबली के साम्राज्य की ओर चल पड़ा। किन्तु अनेक निरपराध

व्यक्तियों के वध को रोकने की दृष्टि से दोनों ने द्वन्द्व युद्ध करने का निश्चय किया। अन्ततः जब बाहुबली की विजय निश्चित सी हो गई थी, उनके मस्तिष्क में संसार की सत्ता और साम्राज्य की निर्थकता की बात बौधी। फलतः बाहुबली ने उसी स्थल पर अपने केशों को लोंचकर जैन दीक्षा ले ली। स्वयं भरत को भी अपनी भूल का अहसास हुआ और वह अपनी सेना सहित राजधानी लौट आया। उधर बाहुबली ने कठोर तपस्या प्रारंभ कर दी। कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े बाहुबली ठंड, उष्ण, वर्षा, वायु और बिजली की कड़क आदि से जरा भी विचलित नहीं हुए। हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित्र में बाहुबली की तपस्या का उल्लेख करते हुए कहा है, कि उनका संपूर्ण शरीर लतावल्लरियों से घिर गया था, जिसमें विभिन्न पक्षियों ने अपने घोंसले बना लिये थे। उनके चरण वर्षा के कीचड़ में घस गये थे। सर्प उनके शरीर से इस प्रकार लटक रहे थे, जो उनके हजार भुजाओं वाले होने का आभास देते थे। वल्मीक (ant hills) से ऊपर उठते सर्प चरण के समीप नुपुर की तरह बंधे थे। इस प्रकार की कठोर तपस्या के एक वर्ष व्यतीत हो जाने के उपरान्त भी बाहुबली को केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, जिसका कारण उनका गर्व था, जो एक प्रकार का मोहनीय कर्म था। तदुपरान्त आदिनाथ ने अपनी दो पुत्रियों, ब्राह्मी व सुन्दरी, को बाहुबली के पास इस तथ्य से अवगत कराने के लिए भेजा। अपनी भूल अनुभव करने और दर्प से मुक्त हो जाने पर बाहुबली को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। प्रारम्भिक दिगंबर ग्रन्थों में ब्राह्मी व सुन्दरी के आगमन का उल्लेख अनुपलब्ध है। इन ग्रंथों में वर्णित है कि दर्प और संक्लेश के कारण बाहुबली केवलज्ञान से वंचित थे, और उनको केवलज्ञान तभी प्राप्त हुआ, जब वे वर्ष के अंत में साधु की उपासना को पहुँचे। आदिपुराण में भी बाहुबली की तपश्चर्या का विस्तृत उल्लेख प्राप्त

होता है।

बाहुबली को इस अवसर्पिणी का प्रथम कामदेव भी बताया गया है। आदिपुराण में बाहुबली को हरे रंग व हरिवंशपुराण में श्याम रंग का बताया गया है। बाहुबली को अन्य कई नामों—गोम्मटेश्वर, भुजबली, डोरबली, कुक्कुटेश्वर आदि से भी संबोधित किया गया है। दक्षिण भारत में बाहुबली की प्रारम्भिक मूर्तियाँ अयहोल, बादामी व एलोरा की जैन गुफाओं में देखी जा सकती हैं। पश्चिम भारत में परिवर्ती गुफाओं मांगीतुंगी और अनकाइ तनकाई, में भी बाहुबली की प्रतिमाये उत्कीर्ण हैं।

अयहोल की जैन गुफा में बाहुबली की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी एक नग्न प्रतिमा अवस्थित है,¹ जिसमें लता-वल्गुयों को बाहुबली की भुजाओं व पैरों में लिपटा हुआ प्रदर्शित किया गया है। साथ ही पैरों के समीप अंकित वल्मीक से सर्पों को अपना फण उठाते चित्रित किया गया है। मुख्य आकृति के दोनों पाश्वर्कों में ब्राह्मी व सुन्दरी की आकृतियाँ चित्रित हैं, जो राजकुमारियों के परिधानों, मुकुटों व आभूषणों से सुसज्जित हैं। इस चित्रण के सम्पूर्ण ऊपरी भाग में वृक्षों और उड्डायमान गन्धर्व आकृतियाँ प्रदर्शित हैं, जो वास्तव में बाहुबली की उपासना करते हुए से प्रतीत होते हैं। बाहुबली की जटा के रूप में उत्कीर्ण केश लटो के रूप में स्कन्धों तक लटक रहे हैं। देवता की मुखाकृति कुछ अण्डाकार है, और नेत्र ध्यान की मुद्रा में आधे खुले व आधे बन्द हैं। पैरों के ऊपर के भाग का मण्डन उत्कृष्ट है। देवता के स्कन्ध कुछ घुमावदार हैं। सभी आकृतियों की निर्मिति कठोर है इस उभड़े हुए चित्रण को छठी-सातवीं शती के मध्य तिथ्यांकित किया गया है। बादामी की जैन गुफा नं० ३ के बाद की प्रतीत होती है, जिसमें ५७३ ईसवी में तिथ्यांकित मगलेश का लेख उत्कीर्ण है। बाहुबली का चित्रण करने वाले फलक² में देवता की केश रचना अय-

होल प्रतिमा के समान है, किन्तु निर्मिति में यह उससे श्रेष्ठ है। अयहोल का चित्रण बादामी के कुछ पूर्व प्रतीत होता है। एलोरा की जैन गुफाओं जिनकी तिथि ८वीं से १०वीं शती के मध्य निर्धारित की गयी है, में बाहुबली के कई अंकन देखे जा सकते हैं।³ अंतिम जैन गुफा में उत्कीर्ण एक विशाल चित्रण में बाहुबली के दोनों पाश्वर्कों में ब्राह्मी व सुन्दरी की आकृतियाँ सनाल कमलों पर अवस्थित हैं। बाहुबली की आकृति के समक्ष, अर्थात् कमलासन के नीचे, दो हरिणों को चित्रित किया गया है, जो शान्तिपूर्ण वातावरण का बोध कराते हैं। बाहुबली के मस्तक पर एक छत्र उत्कीर्ण है। ऊपरी भाग में पूजन के लिए आती हुई उड्डायमान गन्धर्व आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। साथ ही राजसी वस्त्रों व मुकुट से युक्त भरत की आकृति को समीप ही हाथ जोड़े दाहिनी ओर अंकित किया गया है। ब्राह्मी व सुन्दरी की उपस्थिति के सम्बन्ध में श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही उल्लेख मिलता है, जब कि प्रारम्भिक दिगम्बर ग्रन्थों में पूजन करते हुए भरत के चित्रित किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

तिन्नेवेल्ली जिले के कालमलाई गुफा में बाहुबली की ध्यान मुद्रा में खड़ी मूर्ति उत्कीर्ण है,⁴ जिनके दोनों पाश्वर्कों में ब्राह्मी व सुन्दरी की आकृतियाँ अवस्थित हैं। इसे ९वीं सदी में निर्मित बताया गया है। इस प्रकार का चित्रण किल कुड्डी, उम्मन्नमलाई पहाड़ी मदुरा जिला और मदुरा जिले के ही समनर कोयिल और अन्नमलाई से भी प्राप्त होते हैं बाहुबली की एक कांस्य प्रतिमा (१० × ३ × ३") कन्नड रिचर्स इन्स्टीट्यूट म्यूजिम, धारवाड (न० एम ७८) में संग्रहीत है।⁵ एक वृत्ताकार पीठिका पर निर्वस्त्र बाहुबली को सीधा खड़ा प्रदर्शित किया गया है।

3. Shah, U.P., op. Cit., p. 35; Goswami, A., Indian Temple Sculpture, Calcutta, 1956, p. 37.

4. Shah, U.P., op. Cit., pp. 34-35.

5. Annigeri, A.M. A Guide to the Kannada Research Institute, Museum, Dharwar, 1958, p. 30.

1. Shah, U.P., Bahubali : A Unique Bronze in the Museum, Bull. Prince of Wales Museum of Western India, No. 4, 1953-54, p. 34.

2. Loc. Cit.

माधवी बल्लरी उनके पैरों और हाथों में स्कन्धों तक लिपटी है। देवता का ध्यान निमग्न अंकन चित्ताकर्षक है। काफी कुछ मग्न मस्तक पर सभवतः घुमावदार केश रचना प्रदर्शित थी।

प्रिन्स ग्राफ वेल्स म्यूजियम, बंबई में स्थित २०" ऊँची एक कांस्य मूर्ति में बाहुबली को मण्डल पर खड़ा चित्रित किया गया है। उसके पैरों, भुजाओं व जघो में डंठलों व पत्तियों से युक्त लतावल्लरियां लिपटी हैं। नियमित पंक्तियों में चित्रित केश रचना वृत्ताकार छल्लों के रूप में देवता के स्कन्धों व पृष्ठ भाग में प्रदर्शित है। अण्डाकार मुखाकृति, भरे व संवेदनशील निचले होंठ भारी ठूठी, तीखी नासिका, नितम्बों, सीधे पैरों व घुटनों की निर्मिती स्वाभाविक है। लम्बी भुजाओं की हथेलियां शरीर से सटी हुई हैं। पृष्ठ भाग में देवता का मण्डन काफी श्रेष्ठ है। आकृति की मुखाकृति से ही उसके अंतर में होने वाले ऊर्जा के प्रवाह का भाव स्पष्ट है जो बाहुबली के गहन चिन्तन का परिणाम है। मूर्ति की निर्मिती इसके प्रारंभिक तिथि की पुष्टि करती है। डा० यू० पी० शाह की धारणा है कि इस मूर्ति को ७ वीं शती के बाद निर्मित नहीं बताया जा सकता है, जबकि अन्य विद्वान एलोरा-वादासी की बाहुबली प्रतिमाओं से इसकी साम्यता के आधार पर इसे आठवीं शती के पूर्व निर्मित मानना उचित नहीं समझते हैं।

दक्षिण भारत से प्राप्त होने वाली तीन विशाल आकृतियों में विशालतम ५६ फीट ६ इंच ऊँची प्रतिमा मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोला नामक स्थल पर उत्कीर्ण है।^१ ६८१-८३ ईसवी में गंग शासक के प्रमुख चामुण्डराय द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी आकृति

पूर्णतः नग्न है। उत्तर दिशा की ओर खड़ी प्रतिमा के स्कन्ध चौड़े व भुजाएं सीधी नीचे लटक रही हैं। कटि प्रदेश संक्षिप्त है। घुटनों के नीचे का भाग तुलनात्मक दृष्टि से कुछ छोटा व मोटा है। बांबी (anthills) से घिरी आकृति से सर्पों व माधवी बल्लरियों को प्रसारित होते हुए दिखाया गया है। पीठिका एक खुले कमल के रूप में उत्कीर्ण है। मुखमण्डल सौम्य और शांत दीख रहा है। इस आकृति का मुख्य भाग इसकी मुखाकृति है, जिसपर व्यक्त भंदस्मित व चिन्तन का भाव इस रूप में व्यक्त है मानों बाहुबली सधर्षरत संसार की ओर देख रहे हों। संसार से विरक्ति की भावना का पूर्ण निर्वाह इस चित्रण में किया गया है। देवता की केश-रचना चक्राकार घुमावों के रूप में निर्मित है। आकृति की नग्नता जहाँ देवता के आत्म-त्याग की भावना का उद्बोधक है, वहीं उसकी कायोत्सर्ग मुद्रा आत्म-नियन्त्रण की ओर संकेत करती है। कारकल से प्राप्त होने वाली दूसरी विशाल प्रतिमा में भी सौम्यता व आत्म-त्याग की भावना व्यक्त है। ४१ फीट ऊँची मूर्ति १४३२ ईसवी में प्रतिष्ठित की गई थी। अन्तिम प्रतिमा मद्रास के दक्षिणी कन्नड़ जिले के वेलूर नामक स्थल से प्राप्त होती है।^२ ३५ फीट ऊँची इस प्रतिमा को तिमम या तिममराज ओडिया ने १६०४ ईसवी में स्थापित किया था। श्रवण बेलगोला की प्रतिमा के विपरीत इसमें बांबी नहीं चित्रित है। इस चित्रण के बायीं ओर काफी संख्या में सर्पों को उत्कीर्ण किया गया है, उनमें से दो काफी लम्बे व तीन फणों वाले सर्प, जो मूर्ति के काफी समीप उत्कीर्ण हैं, देवता के चरणों से घुटनों तक प्रसारित हैं। दोनों पार्श्वों में अंकित छोटे-छोटे सर्पों का उद्देश्य कुक्कुट सर्प का अंकन रहा

6. Shah, U.P., op. Cit. pp. 35-36

7. Editorial Notes. A Unique Metal Image of Bahubali, Lalit-Kala, Nos. 1-2, April 1955-March 1956, p. 37.

8. Sravana Belgola, Mysore Information Bnl., Vol. XII, No. 2, Feb. 1949, pp. 53-55; Krishna, M.H., The Art of Gomata Colossus, Pro. & Transe. of the

Eight All India Oriental Conference Mysore, Dec. 1935, Bangalore, 1937, pp. 690-91; Krishna M.H. The Mastakabhisheka of Gommateswara of Sravana Belgola, Jaina Ant. Vol. V. No. IV, March 1940, pp. 101-106.

9. Pai, M Govind. Venur and its Gommata Colossus Jaina Ant., Vol. II, No. II, Sept. 1936, pp. 45-50.

होगा। लतावल्लरियो की कतार देवता के चरणों से जाघों तक लिपटी है। साथ ही कलाइयों व भुजाओं में भी लतावल्लरि देखी जा सकती है। देवता की केशसज्जा घुंघराली है। कर्ण लम्बे व नासिका कुछ झुकी हुई सी है। देवता की मुखाकृति पर प्रदर्शित मदस्मित के भाव से ऐसा प्रतीत होता है मानो वे ससार से विदा ले रहे हों।

मैसूर के १४ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित गोम्मट-गिरि से गोम्मटेश्वर की एक १८ फीट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त होती है,^{१०} जिसमें देवता को प्रभावपूर्ण मुद्रा में खड़ा किया गया है। नग्न आकृति की मुखाकृति श्रवण वेलगोला मूर्ति के काफी कुछ समान है, मात्र कुछ विभिन्नताओं को छोड़कर। इस प्रतिमा की मुखाकृति से एक नवयुवक साधु का आभास होता है। बाबियों का इसमें पूर्णरूपेण अभाव है व हाथों की मुद्रा भी भिन्न है। लतावल्लरियो को पैरों-हाथों में लिपटा हुआ प्रदर्शित किया गया है। मुखमण्डल पर प्रदर्शित विशिष्ट प्रकार की शान्ति व सौम्यता का भाव बाहुबली के आन्तरिक आनन्द की अनुभूति और कठोर चिन्तन का परिणाम है। यह बिब १४२३ ईसवी में प्रतिष्ठित किया गया था। दक्षिण भारत की तेरिन बस्ती से भी मच्छीकण्वे द्वारा १११५ ईसवी में प्रतिष्ठित एक बाहुबली चित्रण (५ फीट ऊँचा) प्राप्त होता है।^{११}

खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के प्रदक्षिणा पथ की भित्ति पर कठोर तपश्चरण के प्रतीक बाहुबली की एक सुन्दर प्रतिमा अंकित है।^{१२} पैरों से लेकर हाथों तक लिपटे हुए नागों तथा शरीर पर रेगते हुए वृश्चिकों का चित्रण इस बिब की ध्यातव्य विशेषता है। दिलवाड़ा स्थित विमल वसही मन्दिर के सभा-मण्डप की इस छत पर भरत और बाहुबली के मध्य हुए युद्ध का विस्तृत चित्रण

देखा जा सकता है।^{१३} लेख के आरम्भ में वर्णित कथानकों के ही कुछ वर्णित दृश्यों को इसमें उत्कीर्ण किया गया है। एक अन्य मूर्ति शत्रुंजय गिरि स्थित आदिनाथ मन्दिर के गर्भगृह में प्रतिष्ठित है, जिसमें बाहुबली को चिन्तन की मुद्रा में खड़ा प्रदर्शित किया गया है।^{१४} उनके पैरों में लतावल्लरियाँ लिपटी हैं। साथही ब्राह्मी और सुन्दरी की आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं। यह मूर्ति पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के आधार पर १२३४ ईसवी में निमित प्रतीत होती है। आबू और शत्रुंजय दोनों ही स्थलों पर बाहुबली को घोती पहने हुए चित्रित किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित यही दो मूर्तियाँ प्राप्त हो सकी हैं।

बाहुबली व भरत का अंकन करने वाले चित्रों की संख्या अधिक नहीं है। बड़ोदा के हंस विजय जी के संग्रह में स्थित १५२२ सवत् के कल्पसूत्र के चित्र में, और जैन चित्र कल्पद्रुम के चित्र संख्या १८१ में भी बाहुबली का चित्र प्राप्त होता, किन्तु कल्पसूत्र में बाहुबली की कथा वर्णित नहीं है।^{१५} इस संक्षिप्त चित्र में सम्पूर्ण दृश्य को चार भागों में व्यक्त किया गया है। ऊपरी भाग में भरत व बाहुबली को दृष्टि व वाक् युद्ध करते हुए प्रदर्शित किया गया है। दूसरे में मुष्टि डण्ड युद्ध प्रदर्शित है। तीसरे भाग के प्रथम खण्ड में भरत को बाहुबली का सामना करते हुए चक्र धारण किए अंकित किया गया है और द्वितीय खण्ड में बाहुबली को अपना मुकुट उतार कर फेंकते हुए चित्रित किया गया है। अन्तिम भाग में बाहुबली को घोती पहने हुए चिन्तन की मुद्रा में खड़ा व्यक्त किया गया है। बाहुबली के दोनों पार्श्वों में एक वृक्ष व सपों को पैरों के नीचे से हाथों तक लिपटा प्रदर्शित किया गया है। बाहुबली के स्कन्धों पर पक्षियों के घोंसले देखे जा सकते हैं। दो जैन भिक्षुणियों, ब्राह्मी व सुन्दरी, को वाम पार्श्व में हाथ जोड़े अंकित किया गया है। भरत व बाहुबली दोनों ही की आकृतियाँ इस चित्र में स्वर्णिम हैं।

10. Jain, Surendranath Sripalji Colossus of Shrabanbelgola and other Jain Shrines of Decean, Nutan Jain Sahitya Series-I, Bombav, 1953, pp. 41-42.

11. Ibid., p. 32.

12. Jaina, Niraj, Khajuraho Ka Parsvanatha Jinalaya. In Hindi. Anekanta, yr. 16, No. 4, Oct. 1963, p. 153.

13. Jayantavijayaji Muni Shri, Holy Abu (trans in to Eng. by U.P. Shah), Bhavnagar, 1954, pp. 56-60.

14. Shah, U.P. op. Cit, p. 36. 15. Ibid., p. 37.

दश बाह्य-परिग्रह

जैन शास्त्रो मे परिग्रह दो प्रकार का बताया है एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य-परिग्रह के १० भेद बताए है और आभ्यन्तर के १४। नीचे—दश प्रकार के बाह्य-परिग्रह पर समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

शास्त्रो मे बाह्य-परिग्रह के दश भेद इस प्रकार बताये है :—

१. मूलाचार (पंचाचाराधिकार, प्रथम भाग पृ० ३२०) —
खेतं वत्थुधणं धणगद वुप्पद चतुप्पद गद च।

जाण सयणासणाणि य, कुप्पे भडेसु दस होति ॥२११

२. भगवती आराधना (शिवार्यकृत) —

बाहिर संगो खेत वत्थुं धणधण कुप्पभंडानि।

वुपय चउप्पय जाणाणि चेष सयणासणे य तहा ॥११६॥

३. हरिवंशपुराण (जिनसेन कृत) संग ३४ —

चतुष्कषाया नव लोकषाया, मिथ्यात्वमेते द्विचतुष्पदे च।

क्षेत्रं च धान्यं गृहकुप्पभांड, धनं च यान शयनासनं च ॥

४. ज्ञानार्णव — (शुभचन्द्राचार्य कृत) संग १६ —

वस्तु क्षेत्रं धन धान्यं, द्विपदं च चतुष्पद।

शय्यासनं च यानं च, कुप्यं भांडं ममीदृश ॥४॥

५. यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन) —

क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु, कुप्यं शयनमासनं।

द्विपदाः पशवो भांडं, बाह्या दश परिग्रहाः ॥४३३॥

६. चारित्रसार (चामुडराय कृत) पत्र पृष्ठ ६३ —

“क्षेत्रं वास्तु धनधान्यं द्विपदं चतुष्पदं यानं शयनासनं
कुप्यं भांडानि दशविधश्चेतनाचेतन भेद लक्षणो बाह्य-
परिग्रहः।”

७. संस्कृत आराधना (अमितगति कृत रूपान्तर) —

क्षेत्रं वास्तु धन धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।

यानं शय्यासनं कुप्यं, भांडं संगं बहिर्दश ॥११४६॥

८. आचार सार (वीरनदिकृत) अधिकार ५ —

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।

यानं शय्यासनं कुप्यं, भांडं चेति बहिर्दश ॥६१॥

९. सागर धर्माभूत (प० आशाधर कृत अध्याय ४ श्लोक ६२ की टीका) —

वास्तु क्षेत्रं धनधान्यं द्विपदं चतुष्पदं शयनासनं यानं
कुप्यं भांडं लक्षणं दशविधं बाह्यग्रहं ॥

१०. रत्नकरण्डावकाचार की प्रभाचन्द्र कृत टीका
(श्लोक १४५) —

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।

शयनासनं च यानं, कुप्यं भांडममीदृश ॥

११. प्रश्नोत्तर आवकाचार (सकलकीर्ति कृत) संग १६ —

क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।

आसनं शयनं वस्त्रं, भांडं स्याद् गृहमेधिनं ॥५॥

१२. त्रिवर्णाचार (सोमसेनकृत) अध्याय १० —

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं दासी दासश्चतुष्पदं।

यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश ॥१४०॥

१३. आवकाचार (उमास्वामी, पूज्यपाद के नाम से) —

क्षेत्रं वास्तु धन धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं।

आसनं शयनं कुप्यं, भांडं चेति बहिर्दश ॥१६, ७॥

१४. देवसेन कृत आराधनासार की रत्नदि कृत टीका
(गाथा ३० में उक्त च) —

सयणासणं धरं खित्तं, सुवर्ण-धणधणं कुप्यं भंडाईं।

वुपय चउप्पय जाणसु, एवे दस बाहिरा गंधा ॥

१५. चर्चासमाधान (प० भूधर जी मिश्र) पृ० ५६ —

भूमिं यानं धनं धान्यं गृहं, भाजनं कुप्यं अपारं।

शयनासनं चौपदं वुपदं, परिग्रहं दश परकारं ॥

१६. क्रियाकोश (प० दोलतराम जी) —

क्षेत्रं वास्तु चौपदं द्विपदं, धान्यं व्रण्यं कुप्यादि।

भाजनं आसनं सेजं ये, दश परं कारं अनादि ॥७००॥

१७. बनारसी विलास पृ० २०६ —

भूमिं यानं धनं धान्यं गृहं, भाजनं कुप्यं अपारं।

शयनासनं चौपदं द्विपदं, परिग्रहं दश परकारं ॥२६॥

१८. ज्ञानानंद आवकाचार पृष्ठ ३६ में भी इसी प्रकार

१० परिग्रह बताए है। इन प्रमाणों में—खेत, घर, धन, धान्य, दोपाये चौपाये, सवारी, शयनासन, कुप्य और भांड ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह बताये हैं। इनमें संसार के यावन्मात्र चेतन अचेतन मिश्र सभी प्रकार के पदार्थों का समावेश हो जाता है। प्रमाण न० ५, ११, १३, और १६ में “यान”—(सवारी) नहीं दिया है। “शयनासन” के शयन और आसन ऐसे दो भेद करके उन्हीं में ‘यान’ को गभित कर दिया है।

१६. प्रबोधसार (यश.कीर्तिकृत) अध्याय २—

भूमिर्वास्तु धनं धान्यं, वस्त्रादि शयनासनं ।

द्विपदाः पशु रत्नादि, बाह्योऽयं दशधोपधिः ॥१०६॥

इसमें ‘चतुष्पद’ की जगह ‘पशु’ शब्द दिया है और ‘कुप्य’ की जगह ‘वस्त्रादि’ दिया है तथा ‘भांड’ की जगह ‘रत्नादि’ दिया है जो सब समनार्थक ही है।

३०. धवला पुस्तक १३ पृष्ठ ६५ में—“खेत वत्सु धण घण दुवय चउप्पय जाण सयणासन सिरस कुल गण सवेहि’ बाह्य परिग्रह बताये हैं। इनमें दश भेद की दृष्टि से कथन नहीं है फिर भी उन्हीं का समर्थन किया गया है क्योंकि ८ नाम तो क्रमशः वे ही हैं।

मोक्षशास्त्र अ० ७ सूत्र २६—

क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्णं धनधान्यं, दासीदास कुप्य प्रमाणाति क्रमाः

इस सूत्र में परिग्रह परिमाणव्रत के ५ अतिचार बताए हैं। जिनका खुलासा इस प्रकार है :

सागार धर्माभृत अध्याय ४—

वास्तुक्षेत्रे योगाद्धान धान्ये बंधनात्कनक रूप्ये ।

दानात्कुप्ये भावान्न गवादी गभंतो मितिमतीयात् ॥६४॥

श्रावकधर्म विधि प्रकरण (हरिभद्र श्वे०)—

खेताइ हिरण्णाई घणाइ दुपयाइ कुप्य पमाण कमे ।

जोयण पयाण बधण कारण भावे हि नो कुणइ ॥८८॥

इनमें बताया है कि—क्षेत्र और गृह को परस्पर संबद्ध करके, हिरण्य और सुवर्ण का दान करके, धन और धान्य को बधक-गिरवी रखके, दोपाये चौपाये को गर्भाधान से और कुप्य को भाव (परिमाणान्तर) से अतिक्रम नहीं करना चाहिए। इस तरह युग्म रूप से ५ अतिचार—बताए हैं। परिग्रह के भेद नहीं बताये हैं। जो नाम

दिए हैं उनकी संख्या भी ६ ही हैं, दस नहीं। ये ६ नाम भी सामान्य है परिग्रह के व्यावर्तक भेद रूप नहीं है क्योंकि इनमें जो “हिरण्य-सुवर्ण” नाम है वे तो ‘धन’ में गभित हो जाते हैं, ‘दासीदास’ ‘द्विपद’ में आ जाते हैं इसके सिवा चौपाये, यान, शयनासन और भांड ये नाम हैं ही नहीं। फिर भी कुछ ग्रंथकारों ने परिग्रह परिमाण व्रत के इन अतिचार नामों में “भांड” और मिलाकर कुल १० संख्या बना दी है और उन्हें दश बाह्य परिग्रह बना दिया है जो ममुचित प्रतीत नहीं होता। विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए। प० भूधर जी मिश्र को भी इस विषय में शंका हुई है उन्होंने “चर्चासमाधान” पृ० ५६ पर बाह्यपरिग्रह के वास्तविक १० भेद देते हुए (जो पूर्व में प्रमाण न० १७ में उद्धृत किए गए हैं) लिखा है कि—“इहा कोई कहे सूत्र जी में परिग्रह के भेद और भाति कहे हैं सो क्यों ? तिसका उत्तर—कुप्य नाम भेद में सब गभित है”।

प० भूधर जी ने जो समाधान दिया है वह सम्यक् प्रतीत नहीं होता; क्योंकि—कुप्य में सब गभित नहीं होते अगर होत हैं तो १० भेद करने की जरूरत नहीं थी फिर तो १ ‘कुप्य’ हो दे देना चाहिए था व्यर्थ अन्य नाम क्यों दिए ? इसमें अच्छा तो ‘धन’ रहता जिसमें सब गभित हो जाते।

सही बात तो यह है कि—मिश्र जी का शंका समाधान ही व्यर्थ है कारण कि—तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ७ सूत्र २६ में परिग्रह के दश भेद नहीं बताये हैं वहाँ तो ५ अतिचार बताये हैं जो ६ परिग्रह वस्तुओं के आधार पर हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि—इस तथ्य को ठीक तरह से नहीं समझने के कारण कुछ अर्वाचीन ग्रंथकारों ने भ्रमवश इन्हें परिग्रह के भेद समझ लिया है और इसी से इनमें ‘भांड’ और मिला कर बाह्य परिग्रह के १० भेद कर दिए हैं जो कितने गलत हैं यह पूर्व में बता आये हैं अब उनका नीचे परिचय प्रस्तुत किया जाता है :—

(१) द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेव रचित टीका (गाथा ५५)—

क्षेत्रवास्तु हिरण्य सुवर्णधन धान्य दासी दास कुप्य भांडाभिधान दशविध बहिरंग परिग्रहेण च रहितं ॥

(२) सिद्धांतसार संग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) परिच्छेद ३—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, दासी दासस्तथा पुनः ।

सुवर्णं रजतं भांडं, हिरण्यं च परिग्रहं ॥६३॥

बाह्यो दश प्रकारोऽयं संख्यावि विशेषतः ॥६४॥

(इसमें 'कुप्य' न देकर 'रजत' दिया है)

(३) देवसेन कृत आराधनासार की रत्ननिदि कृत टीका (गाथा ३०) पृ० ३८—

“क्षेत्रवास्तु हिरण्य सुवर्ण धनधान्य दासीदास कुप्य भांड बाह्य परिग्रहाणां” ।

(४) दर्शन पाहुड गाथा १४ और भाव पाहुड गाथा ५६ की श्रुतसागरी टीका में—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदं ।

हिरण्यं च सुवर्णं च, कुप्यं भांडं बहिर्दश ॥

—इति आगम भाषया

(दासी दास की जगह यहाँ द्विपद चतुष्पद कर दिया है और इन्हें आगम का कथन बताया है किन्तु दि० आगम में तो ऐसा कथन देखा नहीं जाता, संभवतः “आगम भाषया,” से तात्पर्य इवे० आगम-ग्रन्थों से हो; क्योंकि इवे० ग्रन्थों में ऐसे कथन पाये जाते हैं) ।

(५) बोधपाहुड गाथा ४५ की श्रुतसागरी टीका में—

केते दश बाह्य परिग्रहाः ? क्षेत्र, वास्तु, हिरण्यं, सुवर्णं, धनं, धान्यं दासी, दासः, कुप्य ।

(तत्त्वार्थ सूत्र के इन ९ नामों को ही और वह भी बिना ‘भांड’ नाम मिलाये ही दश परिग्रह बता दिये हैं और हिन्दी अनुवादक जी ने भी कुप्य का जो ‘चन्दना-गुरु’ अर्थ दिया उसे १०वां भेद बना डाला है) ।

(६) भावसंग्रह संस्कृत (वामदेव कृत) पृ० ११२—

क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं, सुवर्णं रजतं तथा ।

दास्यो दासाश्च भांडं च, कुप्यं बाह्य परिग्रहाः ॥६२५॥

(७) लाटीसंहिता (प० रायमल्लजी कृत) सर्ग ६ श्लोक ६८ से १०७—

(पूर्ववत् कथन ही दिया है किन्तु क्षेत्र में गृह को भी सामिल कर दिया है। “क्षेत्रं स्याद् वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा” । और वास्तु का अर्थ गृह न देकर वस्त्रादि दिया है “वास्तु वस्त्रादि सामान्य” । किन्तु ‘वास्तु’ का अर्थ वसतिस्थान ‘गृह’ होता है, ‘वस्त्रादि’

अर्थ किसी शब्दकोश में नहीं पाया जाता । शायद वास्तु को वस्तु (चीज) समझ लिया हो) ।

हिन्दी ग्रन्थ

८. उमास्वामी श्रावकाचार श्लोक ३८१ की हलायुध जी कृत हिन्दी टीका पृ० १३१ ।

९. श्रावक धर्मसंग्रह (दर्यावसिंह जी सोबिया कृत) पृ० २१६, १३२ ।

१०. रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १० की सदासुख जी कृत वचनिका में ।

११. धर्म शिक्षावली चतुर्थ भाग ।

१२. सरल जैनधर्म चतुर्थ भाग पृ० २३ ।

१३. वरागचरित का हिन्दी अनुवाद (गोरा वाला जी) पृ० ३४६ ।

१४. पुरुषार्थ सिद्धधुपाय की सत्यधर जी कृत हिन्दी टीका (श्लोक १२८) ।

१५. “विश्वशांति और अपरिग्रहवाद” पृ० २१ ।

१६. आराधनासार की हिन्दी टीका पृ० ६१ ।

१७. जैन धर्माभूत (पं० हीरालाल जी) पृ० १५० ।

१८. नागकुमार चरित हिन्दी (उदयलाल जी काशली-वाल) पृ० ६५, ६६ ।

१९. योगसार टीका (ब० शीतलप्रसाद जी कृत) पृ० १७६, १८६-१८७ ।

२०. जैनधर्म प्रकाश (ब० शीतल प्रसाद जी कृत) पृ० १५१-१५२ ।

२१. मोक्षमार्ग प्रकाश भाग २ (ब० शीतलप्रसाद जी कृत) पृ० ३५ ।

२२. श्री वर्धमान महावीर (दिगंबरदास जी मुख्तार) पृ० २६८ ।

२३. छहडाला—हिन्दी टीका (पं० बुद्धिलाल जी, देवरी) पृ० १६ ।

२४. छहडाला—हिन्दी टीका (पं० मनोहरलाल जी, जबलपुर) परिशिष्ट पृ० ७६ ।

२५. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की शुभचन्द्रकृत संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद पृ० २०३ और २८३ । (संस्कृत टीका में सही है) ।

२६. पचलब्धि (मूलशंकर जी देशाई) पृ० ६४ ।

२७. रत्नकरंड श्रावकाचार की हिन्दी टीका (क्षीरसागर जी महाराज कृत) पृ० ३५ ।

२८. बृहज्जैन शब्दार्णव भाग २ (ब० शीतलप्रसाद जी) पृ० ५३१ ।

इन २८ ग्रन्थों में गलत दश बाह्य परिग्रह दिये गये हैं । तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ७ सूत्र २६ के कथन को परिग्रह के प्राचीन भेद समझ लिया गया है जो भ्रम-मूलक है । अगर सूत्रकार १० नाम देते तो कदाचित् भ्रांति संभव थी; किन्तु सूत्रकार ने ६ ही नाम दिये हैं और वे भी अति-चार रूप में दिये हैं परिग्रह के भेद रूप में नहीं, फिर भी इस भ्रांति का प्रचार दीर्घकाल से हो रहा है और अब तो पाठ्यपुस्तकों तक में यह गलती प्रचलित हो गई है अतः विचारक विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिए ताकि इस गलती की पुनरावृत्ति न हो । बाह्य परिग्रह के वास्तविक दशभेद वे ही हैं जो निबन्ध के प्रारम्भ में २० शास्त्र प्रमाणों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं ।

इस विषय में श्वे० शास्त्रों में कैसा कथन है वह नीचे संक्षेप में बनावया जाता है :—

(i) तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सूत्र १२ की सिद्धसेन गणी कृत टीका (भाग २ पृ० ८०) —

“बहिरपि वास्तु क्षेत्र घनधन्य शय्यासन धान कुप्य द्वि त्रि चतुःपादभांडाख्य इति” ।

यह उल्लेख बाह्य परिग्रह के वास्तविक दश भेदों के कथनानुसार है अतः सही है किन्तु कुछ दि० ग्रंथकारों की तरह कुछ श्वे० ग्रन्थकारों ने भी इस विषय में भूल की है, देखिए :—

(i) मोक्षशास्त्र—अध्यात्मोपनिषद् (हेमचन्द्राचार्य) द्वितीय प्रकाश के श्लोक नं० ११५ का स्वोपज्ञ भाष्य पत्र १५५—

घन धान्यं स्वर्णरूप्यं, कुप्यानि क्षेत्र वास्तुनी ।

द्विपाञ्चलुष्पादचेतिरयुः, नव बाह्याः परिग्रहाः ॥१॥

(ii) पंच प्रतिक्रमण (प० सुखलाल जी संघवी) पृ० ३११ ३१२ ।

“घन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, सोना, चांदी, वर्तन, द्विपद, चतुष्पद” ये नव प्रकार के परिग्रह बताए हैं ।

यह भूल इन ग्रन्थकारों ने निम्नांकित कथनों को

भ्रमवश परिग्रह के भेद समझ कर की है जब कि ये कथन परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार हैं देखिए :—

पंच प्रतिक्रमण पृ० ६८—

घण घण खित्त वत्थु, रुप्य सुवण्णेअ कुवि अ परिमाणे ।

दुपए चउपयम्मि य, पडिक्कम्मे देसिअं सठवं ॥१८॥

इच्छा परिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच—घण-घण पमाणा इक्कमे, खित्त वत्थु पमाणाइक्कमे, हिरण सुवण्ण पमाणाइक्कमे, दुपय चउपय पमाणाइक्कमे, कुविय पमाणाइक्कमे । (आवश्यक सूत्र पृ० ८२५) ।

तत्त्वार्थ सूत्र के परिग्रह परिमाण अतिचार में श्रीर उपरोक्त में सिर्फ यह अन्तर है कि उपरोक्त के “दुपय चउपय” की जगह तत्त्वार्थ सूत्र में “दासी दास” है तदनुसार ही श्वे० दि० ग्रंथकारों के गलत परिग्रह भेदों में अन्तर पड़ गया है इस विषय में एक अन्तर और है दि० ग्रंथकारों ने तो “भांड” और मिला कर कुल १० बाह्य परिग्रह बताए हैं क्योंकि दि० संप्रदाय में बाह्य परिग्रह की १० संख्या प्राचीन काल से प्रचलित रही है जैसा कि रत्नकरंड श्रावकाचार कारिका १४५ से भी सूचित होता है “बाह्येषुदशसु वस्तुषु” । जब कि श्वे० ग्रन्थकारों ने बिना कोई परिवर्धन किए ६ ही बाह्यपरिग्रह बताए हैं ।

यहाँ एक बात और ज्ञातव्य है कि—‘परिग्रह परिमाण’ व्रत में सामान्य परिग्रह का ही ग्रहण किया है शेष भोगोपभोग सामग्री, ‘भोगोपभोग परिमाण’ गुणव्रत में गभित की गई है जब कि दश बाह्य परिग्रहों में सभी परिग्रह और सभी भोगोपभोग-सामग्री गभित की गई है ।

बाह्य परिग्रह के वास्तविक दश भेद—क्षेत्र, वास्तु, घन, धान्य, द्विपद चतुष्पद, यान, शय्यासन, कुप्य, भांड का नीचे थोड़ा विवरण प्रस्तुत किया जाता है । जिससे यह जाना जा सकेगा कि किस भेद में क्या पदार्थ गभित हैं ।

१. क्षेत्र—सभी प्रकार की जमीन—खेत, खला, डोहली, प्लाट, पर्वत, नदी, नाला, समुद्र, बावड़ी, कुआँ, बाँध, बाग, बगीचा आदि ।

२. वास्तु—सभी प्रकार के मकान—मंदिर, मकान, नोहरा, (निकटगृह), महल, भवन, कोठार, तलघर, अटारी, खाई, गुफा, कोटर, घंटाघर आदि ।

३. धन—गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष के भेद से ४ प्रकार का है यथा गणिम—रूपैया, पैसा, नोट, मोहर, नारेल, सुपारी, आम नारंगी, मोसमी, चीकू, पुस्तक, काँपी, पेन आदि सब प्रकार की गिनने योग्य वस्तुएं।
 धरिम—कुंकुम, कपूर, दवाई, आदि धरने योग्य सब वस्तुएं।
 मेय—तेल, लूण, घृत, दूध, दही, सब्जी, शक्कर, गुड़, दाल, लकड़ो, आदि तोलने-मापने के सब प्रकार के पदार्थ।
 परीक्ष्य—सोना, चांदी, जवाहरात आदि जाँच कर लिए जाने वाले पदार्थ।
 ४. धान्य—चावल, गेहूँ, चणा जुवार, बाजरा, मक्की, जौ, मटर, मूग, उड़द, तूर, मोठ, कुलथ, मसूर, तिल, मूंगफली आदि खेती की सब पैदावार और इनसे बनी खाद्य सामग्री।
 ५. द्विपद—दासी, दास, नौकर, चाकर, स्त्री, पुत्र, मनुष्य, तोता, मैना आदि पक्षी उपलक्षण से एक पाद वाले सभी प्रकार के वृक्ष, वेल, पौधे आदि वनस्पतियाँ।
 ६. चतुष्पद—हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गाय, भैंस, पाड़ा, गदहा, खच्चर, बकरी, भेड़ आदि चौपाये पशु। उपलक्षण से छह पाँव वाले भ्रमर आदि और आठ पाँव वाले अष्टपाद आदि जंतु।
 ७. यान—डोली, पालकी, गाड्या, रथ, नाव जहाज, बोट, साइकिल, मोटरकार, जीप, टेम्पू, स्कूटर, रिक्सा, उडन खटोला, वायुयान आदि।
 ८. शय्यासन—खाट, पलंग, सोफा, तख्ता, ब्रेच, मेज, कुरसी, मुड्ढा, पीठा, सिंहासन, पाटा, चौकी, तिपाई, चटाई आदि सोने बैठने के सामान।
 ९. कुप्य—सूती, ऊनी, रेशमी, सणी, टेरेलिन, नाइलोन, मखमल आदि के वस्त्रादि। कुंकुम, चन्दन, अगुरु, इत्र आदि सुगंधित द्रव्य। सभी प्रकार की प्रसाधन सामग्री। चौवा चन्दन अगर सुगंध, अतर, अगरजा आदि प्रबन्ध। तेल फुलेल घृतादिक जेह, बहुरि वस्त्र सब भाँति कहेह। ये सब कुप्य परिग्रह कहे ससारी जीव नेनि गहे ॥७१३॥—क्रियाकोश(दौलतरामजी)

१०. भांड—लोहा, ताँबा, पीतल, कांसी, एलमोनियम, भरय, स्टेनलेस स्टील, जरमन सिलवर आदि धातुओं के तथा पत्थर, काँच, काष्ठ प्लास्टिक आदि के बने वर्तन उपकरण-औजार-हथियार-मशीन तथा खिलौने आदि। छत्र, चमर, भाड़, फानूस आदि गोभाकारी सामग्री। रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा, हार्मोनियम-तबला, सारंगी, पियानो-बैजो, बेला-वीणा ग्रामोफोन-रेकार्ड-लाउड स्पीकर आदि वाद्य सामग्री जूते, सूट-केस, निजोरी, आलमारी आदि। हींग मि. च, नमक, जीरा, हलदी, घणियाँ, सौंफ, लौंग, डोंडा आदि मगाले। हेमचन्द्र कृत अनेकार्थ संग्रह—भांड मूल-वर्णिते तुरंगाणां च मंडने, नवीकूल द्वयामध्ये भूषणे भाजनेऽपि च ॥१२७॥

(सभी प्रकार के वर्तन, आभूषण और महाजनी दुकानदारी की वस्तुएं—तेल, लूण, लकी आदि भांड, कहलाती है)। रत्नकरड की प्रभाचन्द्र टीका—“भांडं श्री खंडं संजिष्ठा कांस्य तास्मादि” लिखा है। और भी अवशिष्ट वस्तुएं कुप्य एवं भांड में ग्रहण करना चाहिए कुप्य और भांड का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

क्रिया कलाप पृ० १०१, ८० में पाँचवे महाव्रत के प्रकरण में जो श्रमणों के योग्य न हो ऐसा “अश्रमण प्रायोग्य परिग्रह” बताया है उसमें बाह्य परिग्रह विषयक अनेक वस्तुओं के नाम दिए हैं।

इसी तरह तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० १७ की श्रुतसागरी वृत्ति में चेतनाचेतन बाह्य परिग्रह का वर्णन किया है।

“स्त्री द्वारा जिनाभिषेक” नाम के ट्रेवट पृ० ६७ पर ब्र० सूरजमल जी ने पंचामृताभिषेक का समर्थन करते हुए लिखा : “ये दूध दही घृतादि पदार्थ दश प्रकार के परिग्रहों में भी नहीं।”

अपने पक्ष के व्यामोह में मनुष्य सिद्धांत का भी किस तरह हनन कर देता है यह इसका ज्वलंत उदाहरण है। अगर दूध दही घृतादि परिग्रह नहीं है तो फिर क्या हैं। यह बताने का कष्ट ब्रह्मचारी जी सा० ने नहीं किया अन्यथा सिद्धांत विधान की उनकी कलाई स्वयमेव खुल जाती। (शेष पृ० २० पर)

ग्वालियर में जैन धर्म

ग्वालियर ऐतिहासिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक महत्त्व के कारण प्रसिद्ध है। यह शहर तीन विभिन्न क्षेत्रों को मिलाकर बना है : ग्वालियर जो पहाड़ी पर किले के उत्तर में है और जो अपने मध्यकालीन स्थापत्य के लिए विख्यात है, लक्षर जो किले के दक्षिण में है और सन् १८१० में दोलनराव सिन्धिया के लक्षर या फौजी छावनी के रूप में बस गया था तथा मोरार जो किले के पूर्व में है और जिसमें पहले अंग्रेजों की छावनी थी।

यह भूतपूर्व ग्वालियर स्टेट का आदर्श नगर था। सन् १९५६ में मध्यप्रदेश के बनने तक यहाँ मध्यभारत की शीतकालीन राजधानी रहती थी। यहाँ मध्यकाल और आधुनिक काल में निमित्त अनेक इमारतें दर्शनीय हैं जिनमें स्टेशन, जामामस्जिद, मुहम्मद गौस का मकबरा, तानसेन की समाधि, किला, लक्ष्मण दरवाजा, हथियापीर दरवाजा, फूल बाग, जयविलास महल, मोती महल, कम्पू कोठी मुख्य है। किले में चार हिन्दू और दो मुस्लिम इमारतें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : मान मन्दिर, गूजरी महल, करण मन्दिर, बिष्णु मन्दिर, जहाँगीर महल और शाहजहानी महल। कुछ महत्त्वपूर्ण हिन्दू मन्दिर भी किले में दर्शनीय हैं जैसे सूर्यदेव, ग्वालिया, चतुर्भुज, जयन्ती थोरा, तेली का मन्दिर, सास-बहू (बड़ा) सास-बहू (छोटा), मातादेवी, धोन्धदेव और महादेव। इनके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण जैन मन्दिर भी किले में है जिसका पता सन् १८४४ में श्री कनिंघम ने लगाया था।

प्राचीन काल में ग्वालियर नाग, कुषाण, हूण, प्रतिहार और चन्देल शासकों के अधिकार में रहा है। मध्यकाल में इस पर सुल्तान, खिलजी, तोमर, तुगलक, लोधी और मुगल शासकों का अधिकार रहा है। इसके पश्चात् यहां काफी समय तक सिन्धिया बंश का और फिर अंग्रेजों का शासन रहा। यहां के दुर्ग का अपना इतिहास है। कुछ लोगों का कथन है कि यह दुर्ग (किला) ईसा से कोई ३००० वर्ष पूर्व का बना था कुछ पुरातत्त्वज्ञ इसे ईसा की तीसरी शताब्दी में बना हुआ मानते हैं। कुछ भी हो, इस दुर्ग की गणना भारत के प्राचीन दुर्गों में की जाती है।

ग्वालियर में जैन वाङ्मय में, जैनतर वाङ्मय की भांति गोपगिरि, गोवगिरि, गोपाचल, गोपालाचल, गोवाल-गिरि, गोपालगिरि, गोवालचलदु आदि नामों से उल्लिखित किया गया है।

बप्पभट्ट सूरि

ग्वालियर इतिहास के जैन स्रोत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। आठवीं शती ई० के उत्तरार्ध में हुए कन्नोज नरेश नागावलोक, जिसे अधिकांश स्थानों पर ग्राम नाम से उल्लिखित किया गया है, का ग्वालियर के जैन आचार्य बप्पभट्ट सूरि के साथ इतना घनिष्ठ संबंध रहा है जितना चाणक्य और चन्द्रगुप्त का था। प्रभा-चन्द्र देव के प्रभावक चरित, राजशेखर सूरि के प्रबन्ध

कोष और वाक्पतिराज के गौडवध तथा महामहविजय में ग्राम नरेश और बप्पभट्टसूरि की विस्तृत चर्चा मिलती है। बप्पभट्टसूरि के उपदेश से ग्राम नरेश जैन श्रावक बना। उसने कन्नोज में ४०६ गज का विशाल जैन मंदिर बनवाया और उसमें १८ भार सुवर्ण की प्रतिमा स्थापित करायी। ग्वालियर में भी उसने २३ हाथ ऊंचा जैन मंदिर बनवाकर उसमें लेप्यमयी जैन प्रतिमा स्थापित की। प्रतिष्ठा के समय जब उसने सूरि जी को नमस्कार किया तब उन्होंने ११ पद्यों के स्तोत्र द्वारा उसे आशीर्वाद दिया। यह स्तोत्र पन्द्रहवीं शती तक पाया जाता था। इस नरेश ने तीर्थराज क्षत्रजय के लिए एक यात्रासंघ निकाला जिसमें श्वेताम्बर जैनों के साथ दिगम्बर जैन भी

सम्मिलित थे। “राजा ग्राम ने एक वणिक् कन्या से विवाह किया जिसकी सन्तान कोष्ठागारिक (कोठरी) कहलायी और बाद को ओसवाल वंश में मिल गई।” ८६० वि. में इसका देहास्त हुआ। इसके पुत्र दुन्दुक का पुत्र भोज-देव कदाचित् वही भोज था जिसका उल्लेख बेवगढ़ के एक शिलालेख में हुआ है। यह भोजदेव जैनधर्मानुयायी और बप्पभट्टसूरि के गुरु भाई श्री नन्तसूरि का परम भक्त था। इसने उक्त सूरिजी के पास श्रावक के व्रत लिए और तीर्थ-यात्रा में संघ भी निकाला। यह वंश १६वीं शती ई० तक विद्यमान था।

स्वयं वप्पभट्टसूरि एक अच्छे आचार्य थे। उसका जन्म ८०७ वि. में और मृत्यु ८६५ वि. में हुई। प्रभावकचरित के अनुसार इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, यद्यपि उनमें से अब सरस्वती स्तोत्र और चौबीसस्तवन ही उपलब्ध हैं। कन्नौज नरेश ग्राम के अतिरिक्त लक्षणावती के नरेश धर्मराज को भी इन्होंने जैन बनाया। धर्मराज की सभा में इन्होंने किसी बौद्ध विद्वान् वर्धनकुञ्जर को शास्त्रार्थ में पराजित कर “वादिकुञ्जरकेशरी” उपाधि प्राप्ति की। मथुरा में इन्होंने प्रतिष्ठा भी करायी। जैन साहित्य में इन्हें ‘राजपूजित’ के नाम से संबोधित किया गया है, कदाचित् इसलिए कि ये अपने जीवनके अधिकांश भागमें राजाओं द्वारा पूजित रहे। धर्मराज की सभाके भारत प्रसिद्ध कवि वाक्पतिराजने गौड-बध और महामहविजय नाम के दो काव्य-ग्रन्थों का निर्माण कर बप्पभट्टसूरि और ग्राम नरेश को अमर कर दिया।

मध्यकाल में

कच्छपघट शासक वज्रदामन (१०३४ वि०) ने ग्वालियर में एक जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी।

आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने ११वीं शताब्दी में ग्वालियर के राजा को अपनी वादशक्ति से रंजित किया और १२वीं शताब्दी के विद्वान् वादिदेवसूरि ने गगाधर द्विज को ग्वालियर में परास्त किया, ऐसा तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है।

गुर्जर नरेश सिद्धराज द्वारा सम्मानित वीराचार्य ने ग्वालियर आकर वहाँ के राजा द्वारा भी सम्मान पाया।

मलधारी अभयदेवसूरि जो वीराचार्यके समकालीन थे, पूर्वोक्त नरेश ग्राम द्वारा निमित्त मन्दिर की दुर्व्यवस्था दूर

करने के लिए स्वयं ग्वालियर आये और तत्कालीन शासक भुवनपाल कच्छपघट को प्रभावित कर उन्होंने उस मन्दिर की सुव्यवस्था करवायी।

किसी संस्कृत कवि द्वारा १३वीं शती ई० में रचित सकलतर्क स्तोत्र में ग्वालियर की गणना तीर्थों में की गयी।

मुनि विजयकीर्ति के उपदेश से जैसवालवंशी श्रावक बाहड़ कूकेक, सूरपट, देवधर, महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने वि. सं. ११४५ में विशाल जैन मन्दिर का निर्माण कराया। उसके पूजन, संरक्षण एवं जीर्णोद्धार आदि कार्यों के लिए कच्छपवंशी राजा विक्रमसिंह ने महाचक्र नाम के ग्राम में कुछ जमीन आदि भी प्रदान की।

त्रिक्रम की १५वीं शताब्दी के अन्त में भट्टारक यशः कीर्ति ने (वि. सं. १४६७ में) पाण्डव पुराण और (सं. १५०० में) हरिवंशपुराण की रचना अपभ्रंश भाषा में की। जिनरात्रिकथा और रबिव्रतकथा भी इन्होंने बनायी है। चन्द्रप्रभचरित्र भी इन्होंने यशःकीर्ति का बनाया हुआ कहा जाता है। स्वयंभूदेव के हरिवंशपुराण की जीर्णशीर्ण खण्डित प्रति का समुद्धार भी इन्होंने किया था। यह भट्टारक गुणकीर्ति के लघुभ्राता और शिष्य थे।

तोमर शासकों का योगदान

ग्वालियर पर सन् १३७५ से लगभग सवा सौ वर्ष तोमरों का शासन रहा। इस वंश के वीरसिंह, उद्धरणदेव, विक्रमदेव, गणपतिदेव, डूंगरेन्द्रसिंह, कीर्तिसिंह और मानसिंह के नाम अद्वितीय वीरों एवं कला के आश्रय-दाताओं के रूप में आज भी प्रसिद्ध हैं।

डूंगरेन्द्रदेव अपनी राजनीतिक चातुरी एवं वीरता के लिए तो प्रसिद्ध है ही, उसका नाम ग्वालियर गढ़ की जैनमूर्तियों के निर्माता के रूप में भी अमर रहेगा। उसके राज्यकाल में इन अद्वितीय मूर्तियों का निर्माण आरम्भ हो गया था। अनेक समृद्ध भक्तों ने भी अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्य के अनुरूप विशाल जैन मूर्तियों का निर्माण कराया और इन मूर्तियों के पादपीठों पर अपने साथ अपने नरेश का भी उल्लेख किया। १४६७ वि०, १५१० वि० आदि की कुछ मूर्तियों के पादपीठों पर उनके निर्माण संवत् के साथ गोपाचल दुर्ग और महाराज डूंगरेन्द्रसिंह का उल्लेख है।

महाराज झुंगरेन्द्रदेव के तीस वर्षीय शासनकाल के पश्चात् उनके पुत्र कीर्तिसिंह का राज्य आरम्भ हुआ, जिसे अपने २५ वर्ष के लम्बे शासनकाल में कभी जौनपुर और कभी दिल्ली के सुल्तानों को मित्र बनाना पड़ा। इसके शासनकाल में ग्वालियर गढ़ की शेष जैन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ।

प्रतिमाओं पर एक दृष्टि

ग्वालियर गढ़ की इन प्रतिमाओं को ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) उरवाही समूह, (२) दक्षिण-पश्चिम समूह, (३) उत्तर-पश्चिम समूह, (४) उत्तर-पूर्व समूह, (५) दक्षिण-पूर्व समूह। इनमें से उरवाही द्वार के एवं किंग जार्ज पार्क के पास के समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उरवाही समूह अपनी विशालता से एवं दक्षिण-पूर्व समूह अपनी अलंकृत कला द्वारा ध्यान आकृष्ट करता है।

उरवाही समूह में २२ प्रतिमाएँ हैं जिनमें ६ पर सं० १४६७ से १५१० के बीच के अभिलेख हैं। इनमें सबसे ऊँची खड़ी प्रतिमा २० नवम्बर की है। इसे बाबर ने २० गज का समझा था, वास्तव में यह ५७ फीट ऊँची है। चरणों के पास यह ६ फुट चौड़ी है। २२ नम्बर की नेमिनाथ जी की पद्मासन मूर्ति ३० फुट ऊँची है। १७ नम्बर की प्रतिमा पर तथा आदिनाथ की प्रतिमा की चरण चौकी पर झुंगरेन्द्रसिंह के राज्यकाल के संवत् १४६७ का लम्बा अभिलेख है।

दूसरा दक्षिण-पश्चिम समूह एकलम्बा ताल के नीचे उरवाही दीवाल के बाहर की शिला पर है। इस समूह में पाँच मूर्तियाँ प्रधान हैं। दो नम्बर की लेटी हुई प्रतिमा ८ फुट लम्बी है। इस पर ओप है। यह प्रतिमा तीर्थंकर की माता की है। देवगढ़ आदि में ऐसी ही अनेक प्रतिमाएँ हैं। तीन नम्बर की प्रतिमा समूह में एक स्त्री-पुरुष तथा बालक है। कुछ लोग इसे महाराज सिद्धार्थ, माता त्रिशला तथा महावीर स्वामी की मानते हैं, पर यह धरणेन्द्र-पद्मावती की है, ऐसी प्रतिमाएँ भी देवगढ़ आदि में संकड़ों की संख्या में हैं।

उत्तर-पश्चिम समूह में केवल एक आदिनाथ की प्रतिमा महत्वपूर्ण है। इस पर सं० १५२७ का अभिलेख है।

इसी प्रकार उत्तर-पूर्व समूह भी कलाकी दृष्टिसे महत्वहीन है। मूर्तियाँ छोटी हैं और उन पर कोई लेख नहीं है।

दक्षिण-पूर्व समूह मूर्तिकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मूर्ति समूह फूल बाबा के ग्वालियर दरवाजे से निकलते ही लगभग आध मील तक चट्टानों पर उत्कीर्ण दीखती है। इसमें लगभग २० प्रतिमाएँ २० से ३० फुट तक ऊँची हैं और इतनी ही ८ से १५ फुट तक। इनमें आदिनाथ, नेमिनाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ, सम्भवनाथ, नेमिनाथ, महावीर, कुन्धुनाथ की मूर्तियाँ हैं। इनमें से कुछ दूर पर संवत् १५२५ से १५३० तक के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

प्रतिमाओं की महत्ता

जैसा कि लिखा जा चुका है, झुंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंह के शासनकाल में ईसवी सन् १४४० तथा १४७३ के बीच ग्वालियर गढ़ की सम्पूर्ण प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। इस विशाल गढ़ की प्रायः प्रत्येक चट्टान को खोदकर उत्कीर्णकर्ता ने अपने अपार धैर्य का परिचय दिया है। इन दो नरेशों के राज्य में जैनधर्म को जो प्रश्रय मिला और उनके द्वारा मूर्तिकला का जो विकास हुआ उसकी ये भावनामयी प्रतिमाएँ प्रतीक हैं। तीस वर्ष के थोड़े समय में ही गढ़ की प्रत्येक मूक एवं बेडोल चट्टान भव्यता, शान्ति एवं तपस्या की भावना से मुखरित हो उठी। प्रत्येक निर्माणकर्ता ऐसी प्रतिमा का निर्माण करना चाहता था जो उसकी श्रद्धा एवं भक्ति के अनुपात में ही विशाल हो और उत्कीर्णकर्ता ने उस विशालता में सौन्दर्य का पुट देकर कला की अपूर्व कृतियाँ खड़ी कर दी। छोटी मूर्तियों में जिस बारीकी और कौशल की आवश्यकता होती है वह इन प्रतिमाओं में विद्यमान है।

प्रतिमाओं का भंजन

इन मूर्तियों के निर्माण के लगभग ६० वर्ष पश्चात् ही बाबर ने अपने साथियों के साथ इन सबके मुख आदि खण्डित कर दिये। सन् १५२७ में उसने उरवाही द्वार की प्रतिमाओं को भी नष्ट कराया। इस घटना का बाबर ने अपनी आत्मकथा में बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है।

महाकवि रघु

महाराज झुंगरेन्द्रसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंह के

शासनकाल में अपभ्रंश के उत्कृष्ट साहित्यकार महाकवि रङ्ग ने अपने जन्म से ग्वालियर को चयन किया। महाकवि रङ्ग संघपति देवराय के पौत्र और विजयभी तथा हरिसिंह संघपति के पुत्र थे। इनके दो भाई और थे, बाहोल और माहणसिंह। महाकवि रङ्ग ने प्राकृत और अपभ्रंश में लगभग २३ रचनाएँ कीं।

महाराज ईमरेन्द्रसिंह और कीर्तिसिंह महाकवि रङ्ग के परम भक्त थे। इनके समय में निर्मित पूर्वोक्त ५७ फुट ऊँची प्रतिमा की प्रतिष्ठा रङ्ग ने ही करायी थी। उन्होंने दिल्ली तथा हिसार तक की यात्रा की। हिसार में रहकर उन्होंने कुछ लिखना भी चाहा किन्तु ग्वालियर के प्रबल आकर्षण ने उन्हें वहाँ रहने न दिया। उन्होंने ग्वालियर को मालव जनपद के गले का द्वार और श्रेष्ठ नगरों के गुरुओं का भी गुरु (गुरुण वरणपरहं एहं गुरु) कहा। यहाँ के नारी समाज के शीलव्रत, आचार, विचार, प्रतिष्ठा सत्कार एवं उदार स्वभाव से वे इतने प्रभावित थे कि उसके विषय में उन्हें स्वतन्त्र रूप से ही कुछ पंक्तियाँ लिखनी पड़ीं। ग्वालियर में कुछ जैन उपाश्रय भी बने। इनमें से दो मुख्य उपाश्रय मेमिनाथ मन्दिर और वर्धमान मन्दिर के पास थे। इन दोनों में बैठकर रङ्ग ने अपनी कुछ रचनाएँ लिखी, अतः उन्होंने उन आश्रयों को सुन्दर कवितारूपी रसायन से रसाल (सुकवित्त रसायण-र्णहि-रसालु) कहा है।

महाकवि रङ्ग की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपनी प्रायः सभी कृतियों में विस्तृत प्रशस्तियाँ लिखी हैं जिनके माध्यम से ग्वालियर, पद्मावती,

उज्जयिनी, दिल्ली, हिसार आदि से सम्बन्ध रखने वाली राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। अपने आश्रयदाताओं, राजाओं, नगरसेठों, पूर्ववर्ती, एवं समकालीन कवियों, विद्वानों और भट्टारकों के महत्वपूर्ण उल्लेख भी उन्होंने किये। सन्धिकालीन कवि होने के नाते उनकी रचनाएँ भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यंत महत्व की हैं। रङ्ग का साहित्य अभी पूरा प्रकाशित नहीं हो सका है।

उत्तरवर्ती साहित्यकार

सं० १५३१ में ग्वालियर के एक श्रावक पद्मसिंह ने महाकवि पुष्पदन्त (१०वीं शती) के भादि पुराण की प्रतिलिपि करायी। इस प्रतिलिपि के दानकर्ता की प्रशस्ति में लिखा है कि पद्मसिंह ने भादिनाथ का एक मन्दिर बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करायी। उसने एक लाख ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी करायीं और चौबीस जैन मन्दिर भी बनवाये, वह विविध गुणों से सम्पन्न था।

सं० १५२१ में ही यहाँ के किसी लुहाडियागोत्रीय खंडेलवाल श्रावक ने पउमचरित्र की प्रतिलिपि करायी।

भट्टारक गुणभद्र ने १६वीं शती के उत्तरार्ध में लगभग १५ कथाग्रन्थों की रचना की।

संवत् १६५१ में यहाँ के निवासी श्री परिमल आगरा चले गये और वहाँ उन्होंने श्रीपालचरित्र की रचना की।

इसके पश्चात् भी ग्वालियर में जन धर्म की अच्छी प्रभावना रही और आज भी है। ★

(शेष पृ० १६)

संसार में जितने जीव अजीव पदार्थ हैं वे सब परिग्रह हैं। अतः दूध दही घृतादि भी स्पष्टतः परिग्रह हैं। ये सब संसार में ही हैं संसार से बाहर नहीं। दूध तो गाय भैस से उत्पन्न होता है और दूध से दही जमाया जाता है और दही से घृत तैयार किया जाता है। लाटी संहिता सर्ग ६ श्लोक १०७ में “कुप्य शब्दों घृतोद्यमः”। तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी वृत्ति (प्र० ७ सू० १७) में—“घृत तैल गुड शकरा प्रभृतिरचेतनो बाह्य परिग्रहः”

लिखा है तथा किया कलाप पृ० ८० में—“तथ्य बाहिरो परिग्रहो” अन्नपाणादिभेदण अणुविविहो” (बाह्य परिग्रह भोजन पान के भेद से अनेक प्रकार का है) ऐसा लिखा है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—दूध दही घृतादि को शास्त्रकारों ने बाह्य परिग्रह माना है।

भाषा है विद्वद्गण इस लेख पर बख्शीरता से विचार कर दस बाह्य परिग्रह के नामों में जो गलती प्रचलित हो रही है उसका संशोधन करने का प्रयत्न करेंगे। ●

सम्यग्दर्शन : एक अध्ययन

सम्यग्दर्शन का महत्त्व

सम्यग्दर्शन, दर्शन, सद्दृष्टि, सम्यक्त्व, तत्त्वरुचि और तत्त्वश्रद्धा आदि शब्द समनार्थक हैं। प्रस्तुत सम्यग्दर्शन समस्त धर्माचरण का मूल—प्रधान—कारण माना गया है। इस सम्यग्दर्शन से जो अष्ट हैं वे अष्ट ही हैं, उन्हें कभी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। कारण कि जो सम्यग्दर्शन से अष्ट होते हैं वे ज्ञान और चारित्र्य से भी नियमतः अष्ट होते हैं। इस प्रकार वे जब मोक्षमार्ग से ही दूर हैं तब भला उन्हें मुक्ति की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है? जिस प्रकार मूल (जड़) के विनष्ट होने पर वृक्ष के परिवार की—शाखा, पत्र, पुष्प और फल आदि की—वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार धर्म के मूलस्वरूप सम्यग्दर्शन के विनष्ट होने पर धर्म के परिवारस्वरूप ज्ञान और चारित्र्य आदि की भी वृद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन से अष्ट जीव कभी मुक्त नहीं हो सकते। जिस ज्ञान के द्वारा सेव्य-प्रसेव्य या हेयाहेय के स्वरूप को जानकर प्राणी हेय को छोड़कर ग्रहेय (उपादेय) में प्रवृत्त होता है—चारित्र्य को स्वीकार करता है—वह ज्ञान इस

१. वंसणमूलो धम्मो उवद्धट्ठो जिणवरेहि सिससाणं ।

द. प्रा. २

२. जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झति ॥

द. प्रा. १०

विद्या-वृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः ।

न सत्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ र.क. ३२
मोह-तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।

रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ र.क. ४७

म्यज्ञानशुद्धिप्रदम् । आत्मानु. १०; अन. अ. २.४७

तत्रावी सम्यक्त्वं समुपाधयणीयमखिलयत्नेन ।

तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ।

पु.सि. २१

सम्यग्दर्शन से ही प्राप्त होता है।

यह उस सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है जो सम्यक्त्व से संयुक्त चाण्डालकुलोत्पन्न (हिंसक) मनुष्य को भी पूज्य तथा उस सम्यक्त्व के बिना मुनिधर्म का परिपालन करने वाले साधु (द्रव्यलिङ्गी) को एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ की अपेक्षा भी हीन माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीव परभव में नारक आदि निकृष्ट पर्याय को भी पर्याप्त नहीं करता, यदि सम्यक्त्व ग्रहण से पूर्व उसने धन्य किसी घायु का बन्ध नहीं कर लिया है तो वह सम्यक्त्व के प्रभाव से उत्तम देव ही होता है।

जो जीव अन्तर्मुहूर्त मात्र सम्यग्दृष्टि रहकर पक्ष्वात् उस सम्यक्त्व से अयुत हो गया है वह भी अनन्तान्त काल संसार में नहीं रहता—अधिक से अधिक धर्मपुद्गल परिवर्तनमात्र संसारी रहकर मुक्त हो जाता है।

यह व्यवहार सम्यक्त्व का प्रभाव समझना चाहिए। निश्चयसम्यग्दृष्टि तो दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त करता है। निश्चयसम्यग्दृष्टि परद्रव्य से भिन्न स्वद्रव्य में ही निरत रहता है। कर्म-मल से रहित ज्ञानस्वरूप जो शुद्ध आत्मा है वह स्वद्रव्य है तथा उस आत्मस्वभाव से भिन्न जो चेतन, प्रचेतव्य और मिश्र द्रव्य हैं उन्हें परद्रव्य जानना चाहिए।

३. सम्मत्तादो णाणं णाणादो सब्बभाउवल्लो ।

उवल्लपयत्ये पुण सेयासुयं विद्याणेदि । द. प्रा. १५

४. रत्नकरण्डक २८, ३३ और ३५.

५. म. प्रा. ५३.

६. जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओऽथ परसमओ ।
जदि कुणदि सणं समयं पभस्सदि कम्मबंदादो ॥

पंचा. १५३

सत्त्वरूपो सवणो सम्मादुट्ठी हवेइ जियमेण ।

सम्मत्तपरिणदो उण लवेइ दुट्ठकम्माणि ॥ को.प्रा. १४

७. दुट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविमहं णिण्णं ।

सुखं जिणेहिं कहिये अण्णाणं हवदि सत्त्वं ॥ को.प्रा. १५

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन का स्वरूप विविध ग्रंथों में अनेक प्रकार का देखा जाता है। ये प्रकार देखने में अनेक हैं, पर अभिप्राय उनका एक ही है। यह आगे निदिष्ट किये जाने वाले उसके लक्षणों के अध्ययन से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। यथा—

दर्शनप्रभूत और गो. जीवकाण्ड में छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनका जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि कहा गया है^१।

सूत्रप्रभूत में जिनप्रणीत सूत्रार्थ, बहुत प्रकार के जीवादि पदार्थ तथा हेय-अहेय को जो जानता है उसे सम्यग्दृष्टि कहा गया है^२।

मोक्षप्रभूत में ऐसे गृहस्थ को भी सम्यग्दृष्टि कहा गया है जो उस सम्यग्दर्शन का ध्यान मात्र करता है। और जो उस सम्यक्त्व से परिणत हो जाता है वह तो आठों कर्मों को नष्ट कर डालता है^३।

नियमसार में सम्यक्त्व की उत्पत्ति आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से निदिष्ट की गई है। आगे यहाँ नाना गुण-पर्यायों से युक्त जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन द्रव्यों को ही तत्त्वार्थ कहा गया है^४। पश्चात् इन्हें द्रव्य भी कहा गया है।

आदसहावादणं सच्चित्ताचित्तिमिस्सयं हवदि ।

तं परद्रव्यं भणियं भवितत्थं सब्बदरसीहि ॥

मो. प्रा. १७

१. छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च निहिट्ठा ।

सद्दहइ ताण रुद्धं सो सद्दिट्ठी मुण्यव्वो ॥

पंचा. का. १९, गो. जी. ५६०

जीवादीसद्दहणं सम्मतं जिणवरेहि पणत्तं ।

ववाहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मतं ॥

दर्श. प्रा. २०

२. सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।

हेयाहेयं च तद्वा जो जग्गिइ सो द्दु सद्दिट्ठी ॥५॥

३. सम्मतं जो भायदि सम्माइट्ठी हवैइ सो जीवो ।

सम्मतपरिणदो उण खवेइ दुट्ठ कम्मणि ॥८७॥

४. अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवैइ सम्मतं ॥५॥ (पू.)

जीवा पोगलकाया धम्माधम्मा य काल आयास ।

तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणउज्जर्हि संजुत्ता ॥९

पंचास्तिकाय में भावों (पदार्थों) के श्रद्धानकों सम्यक्त्व बतलाते हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इनको अर्थ कहा गया है। आगे यह भी कहा गया है कि धर्मादि द्रव्यों का जो श्रद्धान है, वही सम्यक्त्व है। इसी प्रकार भगवती आराधना में भी धर्मादि द्रव्यों का श्रद्धान करने वालों को सम्यक्त्वाराधक (सम्यग्दृष्टि) बतलाया है^५।

तत्त्वार्थसूत्र, श्रावकप्रज्ञप्ति, पंचाशक, तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थ सिद्धचुपाय में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व बतलाते हुए जीव-अजीवादि सात को तत्त्वार्थ कहा गया है^६।

पुरुषार्थसिद्धचुपाय में आगे यह भी स्पष्ट कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य में सर्वप्रथम उस सम्यग्दर्शन का ही आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र्य होते हैं^७।

रत्नकरण्डक में परमार्थभूत आप्त, आगम और तपो-भूत (गुरु) के तीन मूढताओं से रहित, आठ अंगों से सहित और आठ मदों से रहित श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। आगे उसे यहाँ ज्ञान और चारित्र्य की उत्पत्ति व स्थिति आदि का प्रमुख कारण भी कहा गया है^८।

आत्मानुशासन में नौ व सात तत्त्वों से श्रद्धान को सम्यक्त्व बतलाते हुए उसे तीन प्रकार के अज्ञान की शुद्धि का कारण एवं प्रथम आराधना निदिष्ट किया गया है। आगे वहाँ उक्त सम्यक्त्व के बिना शम (कषायों का

५. सम्मतं सद्दहणं भावाणं × × ×। पंचा. का. १०७ (पू.); भ. आ. ३८; जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसि । संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवन्ति ते अट्ठा ॥१०८॥ धम्मादीसद्दहणं सम्मतं । १६० (पू.); धम्माधम्मागासाणि पोग्यला कालदव्व जीवे य । आणाए सद्दहंतो सम्मताराहभो भणिदो ॥ भ. आ. ३६.

६. त. मू. अ. १, सु. २ व ४; आ. प्र. ६२-६३; पंचा. १-३; त. सा. १-४ व १-६; पु. सि. २२.

७. पु. सि. २१.

८. र. क. ४ व ३२.

दमन), ज्ञान, चारित्र और तप को निरर्थक भार (बोझ) स्वरूप बतलाया गया है।'

उपासकाध्ययन में आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है।' पूर्वोक्त रत्नकरण्ड में जो आप्त, आगम और तपस्वी के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है उसका अनुसरण करते हुए यहां 'तपोभूत' के स्थान में 'पदार्थ' को ग्रहण किया गया है। रत्नकरण्डक में तीन मूढ़ताओं से रहित और आठ भ्रगो से सहित ये जो दो विशेषण श्रद्धान के लिए दिए गए हैं वे यहां भी हैं। विशेष यहां इतना है कि रत्नकरण्डक में श्रद्धान का तीसरा विशेषण जहां अस्मय (आठ मदो से रहित) है, वहां प्रकृति उपासकाध्ययन में वह तीसरा विशेषण प्रशमादिभाक्—प्रशम-संवेगादि गुणों से युक्त—है।

प्रज्ञपना (पणवणा) और उत्तराध्ययन सूत्र में निर्दिष्ट सारागदर्शनार्थों के दस भेदों में प्रथम निःसर्गश्चि है। इसके स्वरूप का निरूपण करते हुए वहां कहा गया है कि जीवाजीवादि पदार्थ जिसे भूतार्थरूप से—'ये पदार्थ सद्भूत हैं इस प्रकार—सहसमति (आत्मसंगतमति)—परोपदेशनिरपेक्ष जातिस्मरण व प्रतिभा आदि रूप मति से—अधिगत (ज्ञात) हैं उसे निःसर्गश्चि कहा जाता है'। यहां जिस गाथा द्वारा यह स्वरूप कहा गया है उसका पूर्वार्ध आ० कुन्दकुन्दविरचित समयप्राभूत की गा० १५ के पूर्वार्ध से सर्वथा समान है'। प्रज्ञापना की उस गाथा में बन्ध, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का निर्देश नहीं है। उसकी टीका में आचार्य मलयगिरि ने उन्हें 'च' शब्द से सूचित बतलाया है।

१. आत्मानु. १० व १५.
२. आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्। मूढाद्यपौढ-मष्टांग सम्यक्त्व प्रशमादिभाक् ॥ ४८, पृ. १३.
३. भूयत्थेणहिगया जीवाजीवे य पुण्यपावं च। सहसंमुह्या आसव-संवरे य रोएइ उ निसगो ॥ प्रज्ञाप. गा. ११६, पृ. ५६; उत्तरा. ३८-१७.
४. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्य-पावं च। आसव संवर णिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्त ॥ समयप्रा. १५; मूलाचार ५-६.

गो. जीवकाण्ड में कहा गया है कि जो न तो इन्द्रिय-विषयों से विरत है और न त्रस-स्थावर जीवों के विषय में भी विरत है, पर जिन भगवान् के द्वारा प्ररूपित तत्त्व पर श्रद्धा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है'।

यहां तक जो सम्यग्दर्शन का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप है, निश्चय नया की अपेक्षा यह सम्भव नहीं है। उक्त लक्षणों में जो भिन्नता दिखती है उसका कारण विवक्षाभेद है, अभिप्राय में कुछ भेद नहीं है। सामान्य से सात तत्त्व व नौ पदार्थ जीव और अजीव इन दो के ही अन्तर्गत है, उनसे भिन्न नहीं है। नौ पदार्थों में जो पुण्य और पाप अधिक हैं वे आश्रव और बन्ध के अन्तर्गत हैं, विशेष विवक्षा से उन्हें पृथक् स्वीकार कर नौ पदार्थ माने गये हैं। सात तत्त्व या नौपदार्थरूप यह विभाग आत्मप्रयोजन को लक्ष्य में रखकर किया गया है।

आत्मा का प्रयोजन मोक्ष है, जो जन्म-मरणरूप संसार का प्रतिपक्षी है उस संसार के कारण हैं आस्रव और बन्ध तथा मोक्ष के कारण हैं संवर और निर्जरा। उक्त आस्रव और बन्ध ये जीव और अजीव के आश्रित हैं। इस प्रकार आत्मप्रयोजन की सिद्धि में उक्त सात तत्त्व या नौ पदार्थ उपयोगी ठहरते हैं। अतएव इनके श्रद्धान को सम्यक्त्व कहना सर्वथा उचित है।

इसी प्रकार छह द्रव्यों में जीव के अतिरिक्त शेष पांच अजीव ही हैं। अतः उक्त छह द्रव्य भी जीव और अजीव के ही अन्तर्गत हैं। उनकी पृथक्-पृथक् उपयोगिता को प्रकट करने के लिए ही उक्त भेद स्वीकार किये गये हैं।

आप्त, आगम और गुरु या पदार्थ की श्रद्धा को जो सम्यक्त्व कहा है वह भी अन्य लक्षणों से भिन्न नहीं है। कारण यह कि जब आप्त के ऊपर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है तब उसके द्वारा प्ररूपित गुरु और पदार्थ विषयक श्रद्धा तो स्वमेव होने वाली है।

इन सबके मूल में एक यही अभिप्राय रहा है कि आत्महितैषी इस तत्त्वव्यवस्था को समझ कर स्व और

५. गो. जी. २६; सागारवर्मामृत (१-१३) में भी लघु-भग यही अभिप्राय प्रगट किया है।

पर के भेद को समझें और पर में राग-द्वेष को छोड़ कर पर से भिन्न शुद्ध आत्मा के विषय में रुचि करें। यही तो निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर ही तो यथार्थस्वरूप से जाने गये जीव, भ्रजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को सम्यक्त्व कहा गया है^१।

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। जीव का स्वभाव निरावरण ज्ञान-दर्शन है जो उससे अभिन्न है। ज्ञान-दर्शनरूप इस स्वभाव में जो नियम से अभिन्दित—राग-द्वेष से रहित—उत्पाद, व्यय और द्रोव्यस्वरूप अस्तित्व है, यह निश्चय मोक्षमार्ग है। जो अभिन्नस्वरूप आत्मा का स्वयं आचरण करता है—स्वभावानियत उस अस्तित्व का अनुभव करता है (चारित्र्य), स्वप्रकाशस्वरूप से जानता है (ज्ञान) और देखता है—यथार्थस्वरूप का अवलोकन करता है (सम्यग्दर्शन) वही निश्चयसे चारित्र्य, ज्ञान और दर्शन है—आत्मा से भिन्न वे चारित्र्य, ज्ञान व दर्शन नहीं हैं^२। इन तीनों स्वरूप आत्मा को ही, जो कि अन्य कुछ भी नहीं करता है, निश्चयनय की अपेक्षा मोक्ष मार्ग कहा गया है। इसी को स्वचरित या स्वसमय कहा जाता है। यह निश्चय मोक्ष मार्ग साध्य है और उसका साधक है पूर्वोक्त व्यवहार मोक्षमार्ग^३। आचार्य भ्रमृतचन्द्र ने पञ्चास्तिकाय गा. १६० की उत्थानिका में निश्चय और व्यवहार में साध्य साधकभाव को प्रगट करते हुए पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना को उक्त दोनों नयों के अधीन बतलाया है^४।

आचार्य भ्रमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार में भी स्पष्टरूप से यह कहा है कि निश्चय और व्यवहाररूप से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमें प्रथम (निश्चय मोक्षमार्ग) साध्य और दूसरा साधन है। शुद्ध आत्मविषयक जो श्रद्धान,

ज्ञान और उपेक्षा होती है; यह सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र्यस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है^५। अपने पुरुषार्थ सिद्धधुपाय में उक्त भ्रमृतचन्द्र सूरि ने किसी एक धर्म को प्रधान और दूसरे धर्म को गौण करके वस्तुस्वरूप को प्रकट करने वाली इस अनेकान्तमयी जैनी नीति के विषय में, एक ओर से मयानी की रस्सी को खींचने वाली और दूसरी ओर से उसे ढीली करने वाली ग्वालिन का, उदाहरण देते हुए उस जैनी नीति का जयकार मनाया है^६।

सम्यक्त्व की प्राप्ति

भ्रमादि मिथ्यादृष्टि जीव अर्ध पुद्गलपरिवर्तन मात्र के शेष रहने पर सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उसकी प्राप्ति के अभिमुख हुआ जीव नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, भ्रम्य और पर्याप्त होता है एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी, पंचेन्द्रिय और अपर्याप्त जीव उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और वेदक-सम्यग्दृष्टि भी उक्त प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं होते। पूर्वोक्त जीव भी जब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप तीन प्रकार की विशुद्धि से विशुद्ध होता है तब वह अनिवृत्तिकरणरूप विशुद्धि के अन्तिम समय में उस प्रथमोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होता है। सम्यक्त्वग्रहण के पूर्व जीव के ये पाँच लब्धियाँ होती हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धि। पूर्वसंचित कर्मों के अनुभागस्पर्शक जब विशुद्धि के बल से उत्तरोत्तर प्रत्येक समय में अनन्तगुणे होन होने हुए उदय को प्राप्त होते हैं तब क्षयोपशमलब्धि होती है।

४. निश्चयव्यवहारार्थ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।

सम्यक्त्व-ज्ञान-वृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना।

सम्यक्त्व-ज्ञान-वृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥

त. सा. उपसं. २-४.

५. एकैनाकर्षन्ती इत्यथ्यन्ती वस्तुतत्त्वभितरेण।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्यानेत्रभिब गोपी ॥

पु. सि. २२५.

१. सम्यक्प्रा. १५.

२. पञ्चास्तिकाय गा. १५४ व १६१-६२.

३. यत् पूर्वमुद्दिष्टं तत् स्व-परप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न चैतद्विप्रतिषिद्धम्, निश्चय-व्यवहारनयोः साध्य-साधनभाव-त्वाद्, सुवर्ण-सुवर्णोपापणक्तम्। अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।

प्रतिसमय अनन्तगुणे हीन क्रम से उदय को प्राप्त होनेवाले उक्त अनुभागस्वयंको स सातावेदनीयादिपुण्य प्रकृतियों के बन्ध का कारणभूत तथा असातावेदनीय आदि पापप्रकृतियों के बन्ध का विरोधी जो परिणाम होता है उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है। छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेशरूप देशना में व्यापृत आचार्य आदि की प्राप्ति के साथ उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण एवं चिन्तन योग्य शक्ति की प्राप्ति को देशनालब्धि कहा जाता है। कर्मों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के होने पर प्रथमोपशम-सम्यक्त्व का प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इसलिए सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घातकर जब उन्हें अन्तः-कोडाकोडि सागरोपम प्रमाण स्थिति में स्थापित कर दिया जाता है तथा उनके उत्कृष्ट अनुभाग को भी घातकर जब लता और दारुरूप (अप्रशस्त अर्थात् कर्मों के अनुभाग को नीम और काजीरूप) दो स्थानों में स्थापित कर दिया जाता है तब प्रायोग्यलब्धि होती है।

ये चार लब्धियाँ साधारण हैं—वे भव्य के समान अभव्य के भी सम्भव हैं। पर पाचवी करणलब्धि भव्य के ही होती है, अभव्य के वह नहीं होती।

भव्य के भी वह तभी होती है जब वह सम्यक्त्व-ग्रहण के समुख होता है। करण का अर्थ परिमाण है। पूर्वोक्त चार लब्धियों के होने पर जीव करणलब्धि के योग्य भाववाला हो जाता है। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन प्रकार के परिणामों की प्राप्ति का नाम ही करणलब्धि है।

उक्त करणलब्धि में प्राप्त होने वाले वे अधःप्रवृत्त आदि परिणाम उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि को प्राप्त करते हैं। इस विशुद्धि के बल से प्रायोग्यलब्धि में जो अप्रशस्त कर्मप्रकृतियों का अनुभाग दो स्थानों में स्थापित किया गया था, उसे अब प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणा हीन बाँधता है तथा प्रशस्त प्रकृतियों के चतुःस्थान वाले अनुभाग को प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणा अधिक बाँधता है। इस प्रकार

अधःकरण और अपूर्वकरणकाल (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण) के बीत जाने पर जब अनिवृत्तिकरण के काल का भी संख्यात बहुभाग बीत जाता है तब मिथ्यात्व का अन्तरकरण किया जाता है। इस अन्तरकरण के द्वारा उदय में आने योग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़ कर ऊपर की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति वाले निषेको का परिणामविशेष के द्वारा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे की (प्रथमस्थिति) और ऊपर की (द्वितीयस्थिति) स्थिति में मिला कर बीच में अन्तर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व के उदय को रोक दिया जाता है। इस अन्तरकरण के अन्तिम समय में मिथ्यादर्शन को तीन भागों विभक्त करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व। इन तीनों के साथ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के भी उदय का अभाव हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त काल के लिए प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

वह प्रथमोपशमसम्यक्त्व चारों गतियों में से किसी भी गति में प्राप्त किया जा सकता है। विशेष इतना है कि नारकियों और देवों में वह पर्याप्त होने के अन्तर्मुहूर्त बाद प्राप्त किया जा सकता है। तिर्यचों में गर्भज सजी पचेन्द्रिय तिर्यच जीव ही पर्याप्त होते हुए दिवसपृथक्त्व के बाद उसे प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य यदि उसे उत्पन्न करते हैं तो वे पर्याप्त होकर आठ वर्ष की आयु के बाद ही उत्पन्न कर सकते हैं।

पूर्वनिदिष्ट दर्शनमोहनीय का उपशम उसका अन्तरंग कारण है। उसके साथ यथासम्भव कुछ पृथक्-पृथक् बाह्य कारण भी हैं। जैसे—जातिस्मरण, धर्मश्रवण, वेदनाभिभव, जिनबिम्बदर्शन व देवद्विदर्शन आदि।

विशेषावश्यक भाष्य में इस सम्यक्त्व की प्राप्ति के विषय में कहा गया है कि आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति में सम्यक्त्व, श्रुत, देशव्रत और सर्वव्रत इन चार सामायिकों में से एक भी प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार उक्त कर्मों की जघन्य स्थिति में भी उनका लाभ नहीं होता। किन्तु जब उक्त कर्मों की स्थिति

१. जिज्ञासुओं को इन करणों का विशेष विवरण षट्-खण्डागम की धवला टीका (पृ. ६, पृ. २१४ आदि) में देखना चाहिए।

२. त. वा. ६, १, १२।

३. देखिए 'अष्टलक्षणागम' १, ६-६, १-४३, पृ. ६, पृ.

४-३७; त. वा. २, ३, २.

को कोडाकोड़ि के भीतर करके उस अन्तःकोडाकोड़ि में मी जब पत्योपम का असख्यातवां भाग क्षीण हो जाता है तब ग्रन्थि का आविर्भाव होता है। यह ग्रन्थि उत्कट राग-द्वेष परिणामरूप है। जिस प्रकार किसी लकड़ी की कठोर गांठ कठिनता से तोड़ी जा सकती है, उसी प्रकार प्रकृत सघन राग-द्वेष को भी कठिनता से नष्ट किया जा सकता है। इसी से उन्हे ग्रन्थि के समान होने से 'ग्रन्थि' नाम से कहा गया है। इस ग्रन्थि के विदीर्ण होने पर ही मोक्ष के हेतुभूत उक्त सम्यक्त्वादि का लाभ होता है^१।

उस ग्रन्थि का विदारण करणविशेष के द्वारा होता है। करण से अभिप्राय परिणाम का है। वह तीन प्रकार का है—अथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इनमें अथाप्रवृत्तकरण भव्य के समान अभव्य के भी सम्भव है। पर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये दो करण तो भव्य के ही होते हैं, अभव्य के नहीं। प्रथम अथाप्रवृत्तकरण ग्रन्थिस्थान तक रहता है। जिस प्रकार पहाड़ी नदी के अन्तर्गत पाषाण परस्पर के सघर्षण से बिना किसी प्रकार के अभिप्राय के स्वयमेव अनेक आकारों में परिणत होते हैं उसी प्रकार अथाप्रवृत्तकरण के द्वारा ग्रन्थिस्थान तक कर्मों की अतिशय दीर्घ स्थिति की हीनता भी स्वयमेव होती है। पर अपूर्वकरण परिणाम उस ग्रन्थि के भेदन करने वाले के ही होता है। और अनिवृत्तिकरण परिणाम उसी के होता है जो सम्यक्त्व के अभिमुख है। इन तीनों करणों के लिए चीटियों के दृष्टान्त इस प्रकार दिये गये हैं—जिस प्रकार चीटियों का स्वाभाविक गमन पृथिवी के ऊपर होता है इसी प्रकार पूर्व-प्रवृत्त या अथाप्रवृत्तकरण स्वभाव से होता है। वे ही चीटियाँ जिस प्रकार ठूठ के ऊपर चढ़ती हैं, इसी प्रकार से अपूर्वकरण परिणाम ग्रन्थि के भेदन करने वाले के होता है। जिस प्रकार चीटियाँ उड़कर ठूठ के ऊपर जा बैठती हैं उसी प्रकार अनिवृत्तिकरण परिणाम के द्वारा जीव सम्यक्त्व-शिखर पर जा बैठता है। ठूठ ग्रन्थि के समान है। जिस प्रकार चीटियाँ ठूठ से लौट कर पुनः पृथिवी पर परिभ्रमण करती हैं उसी प्रकार उक्त ग्रन्थि

के भेदने में अशक्त जीव पुनः कर्मों की स्थिति को वृद्धि-गत करते हैं^२।

दूसरा दृष्टान्त तीन पथिकों का भी दिया गया है—जिस प्रकार कोई तीन पथिक स्वाभाविक गमन करते हुए किसी सघन वन को प्राप्त होते हैं। वे वहाँ भयस्थान को देखकर शीघ्रगति से लंबा मार्ग लांघने में उद्यत होते हैं। इतने में दो चोर प्राप्त होते हैं। उन्हें देखकर उक्त तीन पथिकों में से एक तो पीछे लौट पड़ता है, दूसरा उनके द्वारा पकड़ लिया जाता है, तथा तीसरा उनसे असृष्ट होकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त हो जाता है। प्रकृत में यहाँ तीन पथिकों के समान तीन प्रकार के ससारी प्राणी हैं, मार्ग के समान अतिशय दीर्घ कर्मस्थिति है, भयस्थान ग्रन्थिदेश है, दो चोर राग-द्वेष है, लौटने वाले पथिक के समान कर्मस्थिति को बढ़ाने वाला अनिष्ट परिणाम है, चोरों से पकड़ा गया प्रबल राग-द्वेषयुक्त ग्रन्थिकसत्त्व है—ग्रन्थिभेदन में अशक्त अथवा उसके भेदन में संलग्न जीव है, और अभीष्ट स्थान को प्राप्त हुआ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव है^३।

जिस प्रकार कोई ज्वर तो स्वयं नष्ट हो जाता है, कोई औषधि के प्रयोग से नष्ट होता है, और कोई ज्वर नष्ट होता ही नहीं है; इसी प्रकार कोई मिथ्यादर्शनरूप ज्वर स्वयं नष्ट हो जाता है, कोई जिनवचनरूप औषधि के प्रयोग से नष्ट होता है, और कोई नष्ट होता ही नहीं है^४।

सम्यक्त्व के अभिमुख जीव अपूर्वकरण परिणाम के द्वारा कोदो (एक प्रकार का छोटे दाने वाला घान्य) के समान मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है—अनुभाग की अपेक्षा उसे सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व में परिणत करता है। और अनिवृत्तिकरण के द्वारा वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है^५।

सम्यग्दर्शन के भेद

वह सम्यग्दर्शन निसर्गज व अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। जो सम्यग्दर्शन स्वभाव से—परोपदेश के

१. विशेषा. (ला. द. भा. सं. विद्यामन्दिर ग्रहमदावाद) से ११८८-६३.

२. विशेषा. १२०५-७.

३. वही १२०८-११.

४. वही १२१३.

५. वही १२१५.

बिना—उत्पन्न होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेशपूर्वक जीवादिविषयक अधिगम (ज्ञान) के निमित्त से होना है उसे अधिगमज कहा जाता है। अन्तरंग कारण जो दर्शनमोहनीय का उपशमादि है वह इन दोनों ही में समान है—आवश्यक है।

श्रौपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से वह तीन प्रकार का भी है। इनमें श्रौपशमिक दो प्रकार का है, प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम। प्रथमोपशम का स्वरूप कहा जा चुका है। सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव जब उपशमश्रेणिपर आरुढ़ होने के अभिमुख होता है तब वह अनन्तानुबन्धितुष्टय का विसयोजन करता हुआ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से जिस उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है।

दर्शनमोहनीय के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस दर्शनमोहनीय की क्षपणा को अर्द्धाई द्वीपों में वर्तमान कर्मभूमि का मनुष्य ही प्रारम्भ करता है। अर्द्धाई द्वीपों में भी जहाँ तीर्थंकर केवली जिन (अथवा जिन—श्रुतकेवली, सामान्य केवली या तीर्थंकर केवली) विद्यमान हैं वहाँ उनके पादमूल में ही वह उसे प्रारम्भ करता है। परन्तु उस क्षपणा की समाप्ति चारों गतियों में भी सम्भव है, प्रारम्भ उसका केवल मनुष्य-गति में होता है^१।

अनन्तानुबन्धितुष्टय, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व के उदयक्षय से, सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय से जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदकसम्यक्त्व कहा जाता है। इसमें चूँकि सम्यक्त्वप्रकृति का वेदन (अनुभवन) होता है, अतः क्षायोपशमिक के समान उसकी वेदक सज्ञा भी सार्थक है।

उक्त सम्यग्दर्शन दस प्रकार का भी है—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ

१. दसणमोहणीयं कम्मं खवेदुमाढवेतो कम्हि आढवेदि ? अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु जम्हि जिणा केवली तित्थयरा तम्हि आढवेदि ॥ णिट्ठवओ पुण चदुसु वि गदीसु णिट्ठवेदि ॥ (षट्खं. १, ६-८, ११-१२. पु. ६, पु. २४३-४७.)

और परमावगाढ सम्यग्दर्शन। वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा मात्र के आश्रय से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे आज्ञा-सम्यक्त्व कहते हैं। निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग के सुनने मात्र से जो रुचि होती है उसे मार्गसम्यग्दर्शन कहा जाता है। तीर्थंकर व बलदेव आदि के पवित्र चरित्रविषयक उपदेश के आलम्बन से जो श्रद्धा होती है वह उपदेशसम्यक्त्व कहलाता है। दीक्षा और मर्यादा के प्ररूपक आचार-शास्त्र के सुनने मात्र से उत्पन्न होने वाले तत्त्वश्रद्धान को सूत्रसम्यक्त्व कहा जाता है। बीजपदों के निमित्त से जो सूक्ष्म तत्त्वों का श्रद्धान उत्पन्न होता है, इसका नाम बीजसम्यक्त्व है। जीवादि पदार्थों का संक्षिप्त ज्ञान कराने से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा को संक्षेपसम्यक्त्व कहते हैं। अंग-पूर्वों के विषयभूत जीवादि पदार्थों का प्रमाण व नयादि के साथ विस्तार से निरूपण करने पर जो तत्त्वश्रद्धा होती है उसे विस्तारसम्यग्दर्शन कहते हैं। वचनविस्तार के बिना अर्थ के ग्रहण से जो तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है उसे अर्थसम्यग्दर्शन कहा जाता है। द्वादशांग के विषय में जो स्थिर अभिप्रायपूर्वक श्रद्धान होता है उसे अवगाढसम्यग्दर्शन कहते हैं। परमावधि, केवलज्ञान और केवलदर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थों के आश्रय से जो आत्मा में निर्मलता होती है, इसका नाम परमावगाढसम्यग्दर्शन है^१।

सम्यक्त्व के दस भेद प्रज्ञापनासूत्र और उत्तराध्ययन में भी उपलब्ध होते हैं, पर उनमें वे इनसे कुछ भिन्न भी हैं। यथा—निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अधिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि। जैसे तत्त्वार्थवातिक में दर्शनआर्यों के प्रसंग में उक्त दस भेद निर्दिष्ट किए गये हैं वैसे ही यहाँ भी सराग दर्शनआर्यों के ये सम्यक्त्वगर्भित दस भेद कहे गये हैं। उनका स्वरूप यहाँ इस प्रकार कहा गया है—ये पदार्थ सद्भूत हैं, इस प्रकार से जिसे जीवाजीवादि नौ पदार्थ आत्मसंगतमति से—जातिस्मरणादिरूप बुद्धि से—ज्ञात हैं, उसे निसर्गरुचि कहा जाता है। इसी को

१. त. वा. ३-३६, पृ. २०१; आत्मानु. ११-१४; उत्तर-पु. ७४, ४३६-४६; उपासका. पृ. ११३-१४; अन. ध. २-६२.

स्पष्ट करते हुए पुनः कहा गया है कि द्रव्य-त्रैत्रादि अथवा नाम-स्थापनादि के भेद से चार भेदों में विभक्त उक्त जीवाजीवादि पदार्थ जिस प्रकार से जिनदेव के द्वारा देखे गये हैं वे उसी प्रकार हैं, अन्यथा नहीं हैं; इस प्रकार से जो स्वयं—परोपदेश के विना—श्रद्धान करता है उसे निसर्गरुचि जानना चाहिए। २. जो पर से—छद्मस्थ अथवा जिनसे—उपदिष्ट इन्ही पदार्थों का श्रद्धान करता है उसे उपदेशरुचि जानना चाहिए। ३. जो विवक्षित अर्थ के ज्ञापक हेतु को न जानता हुआ आज्ञा मात्र से आगमोक्त पदार्थों का श्रद्धान करता है उसे आज्ञारुचि कहा जाता है। ४. जो सूत्रों को पढ़ता हुआ अग और अगवाह्य श्रुत से सम्यक्त्वका अवगाहन करता है उसे सूत्र-रुचि जानना चाहिए। ५. जिस प्रकार तेल की एक बूंद जल के एक देश में गिरकर समस्त जल के ऊपर फैल जाती है इसी प्रकार जो सम्यक्त्व—सम्यग्दृष्टि जीव—एक पद से जीवादि अनेक पदों में फैलता है—उन्हे जानता है—वह वीजरुचि कहलाता है। ६. जिसका श्रुतज्ञान अर्थतः ग्यारह अंगों, प्रकीर्णको (उत्तराध्ययनादि) और दृष्टिवाद को विषय करता है उसका नाम अधिगमहांच है। ७. जिसे द्रव्यों की सब पर्यायें प्रमाण और नयों के आश्रय से उपलब्ध (ज्ञात) हैं उसे विस्ताररुचि जानना चाहिए। ८. दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, विनय तथा सब समितियों व गुणितियों के आचरण में जिसे भाव से रुचि है उसे क्रियारुचि कहा जाता है। ९. जो मिथ्याबुद्धि से गृहीत नहीं है तथा जो प्रवचन (जिनागम) में निपुण नहीं है, पर शेष में—कपिलादिप्रणीत दर्शनों में—अनभि-गृहीत है—उन्हे उपादेय मानकर ग्रहण नहीं करता है—उसे संक्षेपरुचि जानना चाहिए। १०. जो जीवादि अस्तिकायों के धर्म (स्वभाव) का, श्रुतधर्म का और चारित्र्य-धर्म का श्रद्धान करता है उसका नाम धर्मरुचि है।

इनके अतिरिक्त उक्त सम्यग्दर्शन के कारक, रोचक और दीपक आदि अन्य भी कुछ भेद देखे जाते हैं। जिस सम्यग्दर्शन के होने पर आगम से जहाँ जैसा अनुष्ठान कहा गया है उसे उसी प्रकार से जो किया जाता है, इसका

१. प्रज्ञापना १, गा. ११५-२६; उत्तराध्ययन २८, १६-२७.

नाम कारक (कराने वाला) सम्यक्त्व है। जो आगमोक्त अनुष्ठान में रुचि मात्र करता है उसे रोचक सम्यग्दर्शन कहते हैं^१। स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर भी जिस परिणाम के द्वारा धर्मकथा (धर्मोपदेश) आदि के निमित्त से श्रोता को सम्यक्त्व प्रगट कराता है उसे कारण से कार्य के उपचार से दीपक सम्यग्दर्शन कहा जाता है^२।

उस सम्यग्दर्शन के सामान्य से सराग और वीतराग ये दो भेद भी निर्दिष्ट किये गये हैं। सराग जीव के—असंयतसम्यग्दृष्टि से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक—जो प्रशम-संवेगादि गुणों की अभिव्यक्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है उसे सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उपशान्तकषाय आदि वीतराग जीवों के जो आत्मविशुद्धिस्वरूप है उसका नाम वीतरागसम्यग्दर्शन है^३।

प्रज्ञापनासूत्र में दर्शनआर्यों के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सरागदर्शन-आर्य और वीतरागदर्शन-आर्य। इनमें सरागदर्शन-आर्यों के जो दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं वे ऊपर कहे जा चुके हैं। वीतरागदर्शन-आर्यों के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं, उपशान्तकषायवीतरागदर्शन-आर्य और क्षीणकषायवीतरागदर्शन-आर्य। आगे इनके भी अवान्तरभेदों को गिनते हुए क्षीणकषाय-वीतरागदर्शन-आर्यों के छद्मस्थक्षीणकषाय-वीतरागदर्शन-आर्य और केवलक्षीणकषायवीतरागदर्शन-

२. दर्शनप्राप्त में (२२) कहा गया है कि जो अनुष्ठान शक्य है—किया जा सकता है—उसे किया जाता है, पर जो शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए—उसमें रुचि अवश्य रखना चाहिए। इस प्रकार से श्रद्धा या रुचि रखने वाले जीव के सम्यक्त्व कहा गया है।

३. आ. प्र- ४६-५०; धर्मसंग्रहणी ८०२-३.

४. तद्विधम्—सराग-वीतरागविषयभेदात् । प्रशम-सवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् । आत्मशुद्धिमात्रमितरत् । स. सि. १-२; त. वा. १, २, २६-३१; तत् सरागं विरागं च द्विधा × × × ॥ ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षम् । विरागे दर्शन स्वात्सशुद्धिमात्र विरागकम् ॥ अन. ध. २, ५०-५१

आर्य ये दो भेद कहे गये हैं। इनमें भी केवलक्षीणकषाय वीतरागदर्शन-आर्य सयोगिकेवलक्षीणकषाय वीतरागदर्शन-आर्य और अयोगिकेवलक्षीणकषाय वीतरागदर्शन-आर्य के भेद से दो प्रकार कहे गये हैं^१।

सम्यक्त्व को पहिचान

सम्यक्त्व यह अमूर्तिक आत्मा का परिणाम है, अतएव उसे छद्मस्थ देख तो नहीं सकता,^२ पर सम्यग्दृष्टि में जो कुछ विशेष गुण हुआ करते हैं उनके द्वारा उसका—साराग सम्यक्त्वका—अनुमान किया जा सकता है। वे गुण हैं प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। रागादि की तीव्रता का न होना, इसका नाम प्रशम है। ससार से भयभीत रहना, इसे सवेग कहा जाता है। समस्त प्राणियों में मित्र जैसा स्नेह रखना, इसे अनुकम्पा कहते हैं। जीवा-दिक पदार्थ यथायोग्य अपने-अपने स्वभाव के अनुसार हैं, ऐसा निश्चय करना; इसका नाम आस्तिक्य है^३। ये ऐसे हेतु हैं, जिनके द्वारा उस सम्यक्त्व के अस्तित्व का अनुमान मात्र किया जा सकता है। पर उनके अभाव में सम्यक्त्व के अभाव का निश्चय अवश्य किया जा सकता है।

आवकप्रजप्ति^४ और धर्मसंग्रहणी^५ में सम्यग्दृष्टि जीव की परिणति को प्रगट करते हुए कहा गया है कि सम्यक्त्व, जो आत्मा का परिणाम है, वह उपशम (प्रशम) और सवेग आदि (निर्वेद, अनुकम्पा व आस्तिक्य) प्रशस्त व्यापारस्वरूप बाह्य उपायों के द्वारा जाना जाता है। यहाँ उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कीट-कालिमा से रहित सुवर्ण कभी मलिन नहीं होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का परिणाम दर्शनमोहादिरूप मल-कलक से रहित हो जानेके कारण कभी अशुभ—रागद्वेषादि रूप—नहीं होता है, किन्तु वह प्रशमादिरूप शुभ ही होता है। वह स्वभाव से कर्मों के अशुभ परिपाक को जानता हुआ अपराधों के भी ऊपर कभी क्रोध नहीं करता। यह उसके उपशम (प्रशम) गुण का परिणाम है। वह चक्र-

वर्ती और इन्द्र के सुख को परिणामतः दुख ही मानता है। इस प्रकार से वह सवेग गुण से विभूषित होकर मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं चाहता है। नारक आदि चारों गनियों में रहता हुआ वह परलोक में हितप्रद अनु-ष्ठान को छोड़कर अन्य सबको असार मानता है। इस निर्वेद गुण के कारण वह ममत्वभाव से रहित होता है। वह ससार में परिभ्रमण करते हुए दुखी जीवों के विषय में स्वकीय और परकीय की कल्पना से रहित होकर शक्ति के अनुसार सबसे दयापूर्ण व्यवहार करता है। वह निःशक होकर उसी को सत्य मानता है, जिसे जितेन्द्र ने कहा है। वह काक्षा आदि सम्यक्त्वविरोधी प्रतिकूल परिणामों से दूर रहता है। इस प्रकार की शुभ परिणति वाला सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अन्त में यहाँ इस प्रकार के सम्यक्त्व को ही मुनिधर्म और मुनिधर्म को ही सम्यक्त्व निर्दिष्ट किया गया है।

गुण-दोषविचार

सम्यक्त्व के परिचायक उपर्युक्त प्रशमादि गुणों के अतिरिक्त उसको विशुद्ध बनाने वाले निःशक्ति आदि आठ अंगों या गुणों का परिपालन भी सम्यग्दृष्टि के लिए आवश्यक बतलाया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि जिस प्रकार एक आध अक्षर से विहीन मंत्र कभी सर्पादि के विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता है उसी प्रकार निःशक्तितादि अंगों से रहित सम्यग्दर्शन ससार-परिभ्रमण को नष्ट नहीं कर सकता है^६। इसे दूसरे प्रकार से भी समझा जा सकता है — जिस प्रकार हमारे शरीर का यदि कोई अंग—हाथ-पांव आदि—खण्डित हो जाता है तो उससे सम्पन्न होने वाले कार्य को हम नहीं कर सकते हैं, इसी प्रकार सम्यक्त्व के अंगभूत उक्त निःशक्ति-तादि अंगों में किसी एक के न होने पर वह सम्यक्त्व जन्म-मरण के विनाशरूप अपने कार्य को पूरा नहीं कर सकता है। अतः दर्शनविशुद्धि के लिए अंगों का परि-पालन आवश्यक है। वे अंग आठ ये हैं—निःशक्ति, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपग्रहण, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना।

१. प्रज्ञापना सूत्र ३७, पृ. ५६-५७.

२. इदं च सम्यक्त्वमात्मपरिणामरूपत्वाच्छब्दस्थेन दुर्ल-क्ष्यमिति लक्षणमाह—आ. प्र. टीका (गा. ५३ की उत्थानिका)

३. त. वा. १, २, ३०.

४. आ. प्र. ५३-६१.

५. घ. स. ८०६-१४.

६. रत्नकरण्डक २१.

निःशक्ति—समयप्राभूत मे निःशक्ति का स्वरूप दिखलाते हुए कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव शंका से रहित होने के कारण निर्भय होते है। और चूँकि वे सात भयों से रहित होते है, अतएव निःशक्त होते है^१। शंका का अर्थ सन्देह और भय भी होता है। सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ जिन प्ररूपित आगम पर श्रद्धा रखता है, अतएव वह अमुक तत्त्व ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है; ऐसा दृढ़ श्रद्धानी होता है^२। इसके अतिरिक्त वह इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिकभय—इन सात भयों से^३ भी रहित होता है। कारण यह कि उसने बाधा के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग; इन चारों को नष्ट कर दिया है।

सम्यग्दृष्टि के उक्त सात भय किस कारण से नहीं होते हैं, इसका सुन्दर विवेचन अमृतचन्द्र सूरि ने नाटक समय-सार-कलश में^४ इस प्रकार से किया है—१-२ शुद्ध आत्मा का जो यह एक केवलज्ञानरूप चेतनलोक है उसे स्वयं ही अकेला देखता है—अनुभव करता है, इसके अतिरिक्त आत्मा का और कोई दूसरा लोक नहीं है। ऐसी अवस्था मे शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि को भला इस लोक और परलोक से कैसे भय हो सकता है? नहीं हो सकता। वह सदा उस स्वाभाविक ज्ञान को ही प्राप्त करता है—अनुभव करता है। ३ निश्चल जो ज्ञान है, जहाँ वेद्य-वेदक का भी भेद नहीं है, यही एक वेदना है और उसी एक का वेदन निराकुल सम्यग्दृष्टि किया करते है। पर पदार्थों से सम्बद्ध अन्य कोई वेदना है ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के अन्य किसी भी

वेदना का भय नहीं रहता, वह तो अपने स्वाभाविक ज्ञान का ही वेदन किया करता है। ४ जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता, यह वस्तुस्थिति है—अकाट्य नियम है। अब जब ज्ञान स्वयं सत् है तब उसका नाश असम्भव है। इस प्रकार से वह स्वयं सुरक्षित है, फिर भला उसे अत्राण (अरक्षण) का भय कहाँ से हो सकता है? ५ वस्तु का जो निजी रूप है वही उसकी उत्कृष्ट गुप्ति है। अपने उस स्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता है। आत्मा का स्वरूप अनादि-निघन ज्ञान है। उसके लिए गुप्ति (दुर्ग आदि) की आवश्यकता नहीं है। फिर भला उसे अगुप्तिभय कैसे बाधित कर सकता है? ६ प्राणो के विनाश को मरण कहा जाता है। आत्मा के प्राण वह ज्ञान है जो स्वयं शाश्वत (अविनश्वर) है, वह किसी के द्वारा छेदा भेदा नहीं जा सकता है। इस प्रकार जब ज्ञानी का मरण सम्भव नहीं है तब उसे उसका भय कहाँ से हो सकता है? असम्भव है वह। ७ अनादि, अनन्त व स्थिर जो एक ज्ञान है वह स्वतः सिद्ध होने से सदा ही रहने वाला है, यहां दूसरे किसी का उदय नहीं है। इसलिए यहाँ आकस्मिक—अकस्मात् प्राप्त होने वाला—कुछ भी नहीं है। ऐसी अवस्था मे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के आकस्मिक भय असम्भव है। वह तो निर्भय होकर निरन्तर स्वाभाविक ज्ञान का स्वयं वेदन किया करता है। इस प्रकार ज्ञान-सर्वस्व से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि के परिचायक ये निःशक्तित्व आदि गुण उसके कर्म को नष्ट करते है। उसके नवीन कर्म का वन्ध तो होता नहीं, साथ ही पूर्वोपाजित कर्म की अनुभवपूर्वक निर्जरा भी होती है।

निष्काक्षित—समयप्राभूत^५ तत्त्वार्थवातिक^६ और पुरुषार्थसिद्धयुपाय में^७ निष्काक्षित के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो कर्म के फल मे—विषय-भोगजनित सुख के विषय मे—तथा सब धर्मों मे—वस्तुस्वभावों के विषय मे—इच्छा नहीं करता है उसे कांक्षा से रहित (निष्काक्षित) सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। रत्नकरण्डक मे पराधीन, विनश्वर, दुःखप्रद और पाप के

१. समयप्रा. २४६.

२. रत्नक. ११.

३. त.वा. (६, २४, १) में ये सात भय इस प्रकार निर्दिष्ट किए गये है—इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, असंयमभय, अरक्षणभय और आकस्मिकभय। आवश्यक सूत्र की हरि. वृत्ति (भा. १८४, पृ. ४७२ व ४७३) मे ये सात भय इस प्रकार कहे गये हैं—इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, अश्लोकभय, आजीविकाभय और मरणभय।

४. नाटक समयसारकलश (प्रथम गुच्छक) ७, २३-२८.

५. समयप्रा. २४८.

६. त. वा. ६, २४, १.

७. पु. सि. २४.

कारणभूत सुख में विश्वास न करना—उसे हेय समझना, इसे अनाकांक्षणा (निष्काक्षित) अंग कहा गया है^१।

निर्विचिकित्सा—समयप्राभूत में निर्विचिकित्सा का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जो सभी धर्मों में—विविध प्रकार के वस्तुस्वभावों के विषय में—घृणा नहीं करता है उसे निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए^२। रत्नकरण्डक में उसका लक्षण इस प्रकार निदिष्ट किया गया है—शरीर यद्यपि स्वभाव से ही अपवित्र है, फिर भी वह (मनुष्यशरीर) चूक रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण है, अतः उससे घृणा न करके गुणों के कारण जो तद्विषयक अनुराग होता है इसे निर्विचिकित्सा अंग माना गया है^३। तत्त्वार्थवातिक में उसके लक्षण को दिखलाते हुए कहा गया है कि शरीर आदि के अपवित्र स्वभाव को जानकर 'वह पवित्र है' इस प्रकार की मिथ्या कल्पना न करना, अथवा 'यहां तपश्चरण आदिविषयक घोर कष्ट का विधान है जो योग्य नहीं है, यदि यह न होता तो सब संगत था' इस प्रकार आर्हत मतके विषय में निन्द्य विचार न करना, इसे निर्विचिकित्सा कहा जाता है^४। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भूख, प्यास, शीत व उष्ण आदि अनेक प्रकार के भावों में तथा मल-मूत्रादि द्रव्यों में घृणा न करने को निर्विचिकित्सत अंग कहा गया है^५।

अमूढदृष्टि—जो सब कर्मभावों में—कर्मजनित बाह्य-विषयों में—मूढता को प्राप्त नहीं होता है वह अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि कहलाता है^६। रत्नकरण्डक में कहा गया है कि दुःखों के मार्गभूत कुमार्ग—मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र—की तथा उक्त कुमार्ग के आराधकों की मन, वचन व काय से प्रशंसा व स्तुति आदि न करना, इसे अमूढदृष्टि कहा जाता है^७। एकान्तवादियों के द्वारा प्रणीत मिथ्या मतों की योग्य परीक्षा करते हुए उनमें युक्तिहीनता को देखकर मोह को प्राप्त न होना—उन्हे अग्राह्य समझना, यह तत्त्वार्थवातिक के अनुसार उक्त अमूढदृष्टि का स्वरूप है^८।

उपग्रहण या उपबृंहण—समयप्राभूत में कहा गया है कि जो सिद्धभक्ति से युक्त होकर समस्त धर्मों को—आत्मशक्तियों को—बढ़ाता है अथवा मिथ्यात्व आदि विभाव भावों का आच्छादन करता है उसे उपग्रहणकारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए^९। रत्नकरण्डक के अनुसार स्वयं शुद्ध मोक्षमार्ग के विषय में यदि अज्ञानी या असमर्थ जनों के कारण निन्दा होती है तो उसे दूर करना, इसका नाम उपग्रहण है^{१०}।

तत्त्वार्थवातिक में मार्देव आदि की भावना से आत्मधर्म के बढ़ाने को तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय में उसके साथ दूसरों के दोषों के आच्छादित करने को भी उपबृंहण कहा गया है^{११}।

स्थितिकरण—जो कुमार्ग में जाते हुए अपने को (आत्मा को) मोक्षमार्ग में स्थापित करता है उस सम्यग्दृष्टि को स्थितिकरण से युक्त जानना चाहिए^{१२}। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अपने साथ परके भी स्थितिकरण का निर्देश किया गया है^{१३}। रत्नकरण्डक के अनुसार सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र से च्युत होते हुए प्राणियों को जो धर्मानुरागी विद्वज्जनों के द्वारा पुनः उसमें स्थापित किया जाता है, इसे स्थितिकरण कहा गया है^{१४}।

वात्सल्य—जो मोक्षमार्ग के विषय में साधकभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में अनुराग करता है, अथवा मोक्षमार्ग के साधक साधु जनों से अनुराग करता है उसे वात्सल्य गुण से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए^{१५}। रत्नकरण्डक के अनुसार अपने समूह में वर्तमान—साधमिक—जनों का भक्तिपूर्वक निष्कपटता से यथायोग्य आदर-सत्कार करना, यह वात्सल्य का लक्षण है^{१६}। तत्त्वार्थवातिक में जिनप्रणीत धर्मविषयक अनुराग को तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अहिंसाधर्म के साथ साधमिकविषयक अनुराग को भी वात्सल्य कहा गया है^{१७}।

६. समयप्रा. २५१. १०. रत्नक. १५

११. त. वा. ६, २४, १; पु. सि. २७.

१२. समयप्रा. २५२; त. वा. ६, २४, १.

१३. पु. सि. २८. १४. रत्नक. १६. १५. समयप्रा. २५३.

१६. रत्नक. १७; दशवै. नि. ह. वृत्ति १८२, पु. १०३.

१७. त. वा. ६, २४, १; पु. सि. २६.

१. रत्नक. १२. २. समयप्रा. २४६. ३. रत्नक. १३.

४. त. वा. ६, २४, १. ५. पु. सि. २५.

६. समयप्रा. २५०. ७. रत्नक. १४.

८. त. वा. ६, २४, १.

प्रभावना—जो स्वात्मोपलब्धिरूप ज्ञान-रथ पर चढ़ कर मनोरथ के वेगों को—राग-द्वेषादिरूप अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्पों को—नष्ट करता है उसे जिनज्ञान-प्रभावी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए^१। रत्नकरण्डक के अनुसार जैनमतविषयक अज्ञान को दूर करके उसके माहात्म्य को प्रकाशित करना, यह प्रभावना का लक्षण है। दशवैकालिक निर्युक्ति की हरिभद्र विरचित टीका में भी लगभग ऐसा ही उसका लक्षण देखा जाता है^२। तत्त्वार्थ-वार्तिक में उसका लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यरूप रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशित करना, इसे प्रभावना कहते हैं^३। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आत्मप्रभावना के साथ ही दान, तप, जिनपूजा और ज्ञान के अतिशय द्वारा जिनधर्म को भी प्रभावित करना अभीष्ट रहा है^४।

इस प्रकार यहाँ जिन कुछ ग्रन्थों के आधार से उक्त निःशक्तादि अंगों के लक्षण दिये गये हैं उनमें समय-प्राभूत एक अध्यात्मप्रधान ग्रन्थ है। कर्ममलीमस आत्मा को शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कराना, यह उसका एक ही लक्ष्य रहा है। यहाँ भेद को गौण रखकर अभेद की प्रधानता से उक्त लक्षण किये गये हैं। निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञायकभावस्वरूप आत्मा के अन्यत्र कहीं भी शका-काक्षा आदि सम्भव नहीं है।

शेष ग्रन्थ व्यवहारप्रधान है, अतः वहाँ अभेद को गौण कर भेद की प्रधानता से उक्त लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक निर्युक्ति की टीका में गुण-गुणी के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उक्त निःशक्तादिकों का यह पृथक्-पृथक् निर्देश गुण की प्रधानता से गुण और गुणी में कथञ्चित् भेद के ज्ञापनार्थ किया गया है। सर्वथा उनमें अभेद मानने पर गुण के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है, और तब वैसी अवस्था में गुण के बिना गुणी के भी अभाव का प्रसंग प्राप्त होने पर शून्यता की आपत्ति दुनिवार होगी^५।

१. समयप्रा. २५४.

२. रत्नक. १८; दशवै. नि. ह. वृत्ति १८२, पृ. १०१-३.

३. त. वा. ८, २४, १.

४. पु. सि. ३०.

५. प्रकाराश्चोक्ता एव निःशङ्कतादयः। गुणप्रधानश्चायं

पुरुषार्थसिद्धयुपाय के निर्माता अमृतचन्द्र सूरि यद्यपि आध्यात्मिक सत रहे हैं, पर उन्होंने भी व्यवहार की उपेक्षा नहीं की है। यथास्थान उसको भी उन्होंने प्रधानता दी है। उनके द्वारा जो वे लक्षण किये गये हैं उनमें प्रायः प्रथमतः आत्मा को प्रधानता दी गई है और तत्पश्चात् बाह्य को भी। अन्तिम उद्देश्य सबका यही रहा है कि ससारी प्राणी अपने आत्मस्वरूप को पहिचाने और फिर यथासम्भव पर की ओर से निमंमत्व होकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

उक्त गुणों के अतिरिक्त सम्यक्त्व को मलिन करने वाले कुछ दोष भी हैं, जिनसे बचकर उसे निर्मल रखा जा सकता है। वे दोष २५ हैं जो इस प्रकार हैं—तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और उक्त आठ अंगों के विपरीत आठ शका आदि^६।

रत्नकरण्डक में जो सम्यग्दर्शन का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है उसमें इन दोषों की भी सूचना की गई है। कारण कि वहाँ जिस आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है उसे आठ अंगसहित तथा तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित बतलाया है। यहाँ तीन मूढ़ताओं और आठ मदों का तो स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। साथ ही आठ अंगों के निर्देश से उनके विपरीत आठ दोषों की भी सूचना कर दी गई है। अब केवल छह अनायतन रह जाते हैं सो आगे जाकर जहाँ सम्यग्दृष्टि के लिए भयादि के वश भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को प्रणाम एवं उनकी विनय करने का निषेध किया गया है^७ वहाँ इन अनायतनों की भी सूचना कर दी गई समझना चाहिए।

निर्देशो गुण-गुणितोः कथञ्चिद् भेदस्यापनार्थः, एकान्त-भेदे तन्निवृत्तौ गुणितोऽपि निवृत्तेः शून्यतापत्तिः। नि. १८२, पृ. १०३।२.

६. मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।

अष्टौ शङ्कादयश्चेति द्वादशोऽपचविंशतिः॥

उपासका. २४१. (५. आशाघर ने इसे अनगार-धर्ममृत (२-१०३) की अपनी टीका में उद्धृत किया है)

७. भयाशास्त्रेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥३०॥

मूढतायें ३

१ लोकमूढता—लोककृद्वि के अनुसार नदी या समुद्र को पवित्र मानकर उसमें स्नान करने में, बालु व पत्थरों आदि का ढेर करने में, पर्वत से गिरने में और अग्निप्रवेश (सती आदि की प्रथा) में धर्म मानना इत्यादि लोक-मूढता के अन्तर्गत हैं।

२ देवमूढता—अभीष्टप्राप्ति की इच्छा से राग-द्वेष आदि से मलिन देवताओं—काली, दुर्गा, भवानी एवं अन्य भूत-पिशाचादि की आराधना करना; इसे देवमूढता समझना चाहिए।

३ गुरुमूढता—आरम्भ व परिग्रह में आसक्त रहकर हिंसादि में प्रवृत्त धूर्त साधुओं का आदर-सत्कार करना, यह गुरुमूढता कही जाती है।

पं. आशाधर ने श्रावक को भी संयमविहीन माता-पिता, गुरु, राजा, वेषधारी साधु (तापस व पादर्वस्थ आदि) और कुदेवों (रुद्र आदि व शामन देवता) की वन्दना करने का निषेध करते हुए संयतों को तो उक्त माता-पितादि के साथ शास्त्रोपदेश के अधिकारी श्रावक की भी वन्दना करने का निषेध किया है।

मद ८

ज्ञान प्रतिष्ठा, कुल (पितृवश), जाति (मातृवश), बल (शारीरिक शक्ति), धन-सम्पत्ति, अनशन आदि तप और शरीर की सुन्दरता; इन आठ के आश्रय से जो अभिमान हुंकार करता है वह ज्ञानमद व प्रतिष्ठामद आदि के भेद से आठ प्रकार का मद माना जाता है।

शंका-कांक्षा आदि ८

निःशक्ति आदि आठ अगों के लक्षण निर्दिष्ट किए जा चुके हैं। उनके विरुद्ध क्रमशः शंका आदि के लक्षण समझना चाहिए।

अनायतन ६

अनायतन का अर्थ स्थान होता है। जो धर्म के आश्रय नहीं हैं, वे अनायतन कहलाते हैं। वे छह हैं—कुदेव, गुरु, कुधर्म और इन तीनों के भक्त। अथवा मिथ्या

१. श्रावकेणापि पितरौ गुरु राजाप्यसंयताः।

कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि संयतः॥

अन. घ. ८-५२.

दर्शन, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या चारित्र्य और इन तीनों के आराधक; इन्हें भी अनायतन कहा जाता है। कहीं पर असर्वज्ञ देव, असर्वज्ञ का आश्रय, असर्वज्ञ का ज्ञान, असर्वज्ञज्ञान-सहित पुरुष, असर्वज्ञानुष्ठान और असर्वज्ञानुष्ठान सहित पुरुष; इन्हें अनायतन माना गया है।

अतिचार

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव; ये उक्त सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार हैं। अतिचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम और स्खलन ये समानार्थक शब्द हैं। अभिप्राय यह है कि व्रत का जो कुछ अंश में भंग हो जाना है अथवा उससे कुछ स्खलित होना है, उसे अतिचार जानना चाहिए।

उक्त शंकादि अतिचार यद्यपि पूर्वोक्त शंकादि दोषों के अन्तर्गत हैं, फिर भी विशेष विवेक्षा से उनका उल्लेख कहीं-कहीं पर पृथक् से भी किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र

२. भ. आ. विजयो. टी. ४४; अन. घ. २-८४.

३. षडनायतनानि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि त्रीणि, त्रयश्च तदन्तः पुरुषाः। अथवा असर्वज्ञ-असर्वज्ञायतन-असर्वज्ञज्ञान - असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषाऽसर्वज्ञानुष्ठानाऽसर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुषलक्षणानि। आत्मानु. टीका १०, पृ. ११; आ. प्रा. टीका ६.

४. त. सू. ७-२३; भ. आ. (४४) में अन्यदृष्टिसंस्तव के स्थानमें 'अनायतनसेवना' को ग्रहण किया गया है।

५. अतिचारो व्यतिक्रमः स्खलितमित्यनर्थान्तरम्। त. भा. ७ १८; दर्शन मोहोदयात्तत्त्वार्थश्रद्धानादतिचरणमती-चारः अतिक्रम इत्यनर्थान्तरम्। त. वा. ७, २३, ३; अतिचारः व्रतशैथिल्यम् ईषदसंयमसेवनं च। मूला-चार वृत्ति ११-११. (आचार्य प्रसिद्धगतिने द्वान्त्रि-शिका [६] में विषयो में वर्तन को अतिचार बतलाया है।)

६. सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽगमंजनम्।

मंत्र-तंत्रप्रयोगाद्यः परेऽप्युहास्तथाऽप्ययाः॥

सा. घ. ४-१८

७. यथा—उपासकाध्ययन (१४६) में शंकादि अति-चारों का निर्देश किया गया है। इसी में आगे (२४१) पच्चीस दोषों का भी निर्देश किया गया है।

और उसकी टीकाओं में पूर्वोक्त २५ दोषों का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वहाँ केवल निःशक्ति आदि आठ अंगों और इन पाँच अतिचारों का ही उल्लेख किया गया है^१। वहाँ इन दोषों का अन्तर्भाव उन पाँच अतिचारों में समझना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द विरचित दर्शन-प्राभुतादि ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख देखने में नहीं आता। आठ अंगों का उल्लेख समयप्राभूत^२ और चारित्र-प्राभूत^३ में भी दखा जाता है। शंकादि दोषों का सामान्य निर्देश चारित्रप्राभूत में^४ किया गया है। उक्त शंकादि दोषों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. शंका—तत्त्वार्थभाष्य में शंका के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि जिसने जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो भगवान् महावीर के शासन को भावतः स्वीकार चुका है, तथा जिसकी बुद्धि परकीय आगम की प्रक्रिया से अपहृत नहीं है—अर्थात् जो अग्रहंत के द्वारा प्रणीत तत्त्वों पर ही श्रद्धा रखता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के भी केवलज्ञान और आगम से गम्य अतिशय सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में 'ऐसा होगा कि नहीं' इस प्रकार का जो सन्देह होता है, उसे शंका कहते हैं। इसमें सम्यक्त्व मलिन होता है। श्रावकप्रज्ञप्ति में इसी अतिचारिता को दिखलाते हुए कहा गया है कि उक्त प्रकार की शंका से चूँकि अन्तःकरण में मलिनता उत्पन्न होती है और साथ ही जिन भगवान् के विषय में अश्रद्धा भी होती है जो सम्यक्त्व के योग्य नहीं है, अतएव इसे उसका अतिचार जानना चाहिए^५।

तत्त्वार्थवार्तिक में इन शंकादि अतिचारों के विषय में यह कहा गया है कि उनका स्वरूप पूर्वोक्त निःशक्तितादि के विपरीत समझना चाहिए^६।

वह शंका देशशंका और सर्वशंका के भेद से दो प्रकार की है। आत्मा क्या असख्यातप्रदेशी है अथवा प्रदेशों से रहित निरवयव है, इस प्रकार की देशविषयक शंका को देशशंका कहा जाता है। और समस्त अस्तिकायविषयक

जो शंका होती है वह सर्वशंका कहलाती है^७। देशशंका और सर्वशंका के दूसरे उदाहरण इस प्रकार भी उपलब्ध होते हैं—जीवत्व के समान होने पर भी एक भव्य और दूसरा अभव्य कैसे होता है? यह देशशंका का उदाहरण है। सर्वशंका—प्राकृतनिबद्ध होने से यह सब ही परिकल्पित होगा। इस प्रकार की शंका करने वाला यह विचार नहीं करता है कि कुछ पदार्थ हेतुग्राह्य हैं और कुछ अहेतुग्राह्य भी हैं। जीव के अस्तित्वादि हेतुग्राह्य हैं, किन्तु भव्यत्व आदि हेतुग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि उनके जो हेतु हैं वे हम जैसों की अपेक्षा प्रकृष्ट ज्ञान के विषयभूत हैं। प्राकृतनिबन्ध भी बाल आदि के लिए साधारण है। कहा भी है—बालक, स्त्री और भूखं तथा चारित्र की इच्छा रखने वालों के अनुग्रहार्थ तत्त्वज्ञों द्वारा प्राकृतनिबन्ध स्वीकार किया गया है^८।

योगशास्त्र के स्वो. विवरण में सर्वशंका का उदाहरण यह दिया गया है—धर्म है अथवा नहीं है? एक वस्तु-धर्म को विषय करने वाली देशशंका का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जीव केवल सर्वगत है या असर्वगत, अथवा वह प्रदेश सहित है या प्रदेश रहित^९।

२. काक्षा—तत्त्वार्थभाष्य में इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी विषयों की आकाक्षा को काक्षा नामक सम्यग्दृष्टि का अतिचार बतलाया है। काक्षा के अतिचार होने का कारण यह बतलाया गया है कि विषयाभिलाषी चूँकि गुण-दोष के विचार में शून्य होता है, अतः वह इस प्रकार से—निषिद्ध के सेवन से—सिद्धान्त का उल्लंघन करता है^{१०}।

७. आ. प्र. टीका ८७; पचाशक चूर्णि पृ. ४५.

८. दशवै. नि. हरि. वृत्ति १८२, पृ. १०१-२; धर्मविन्दु मुनि-टीका २-११, पृ. १८.

९. सर्वविषया अस्ति वा नास्ति वा धर्म इत्यादि। देशशङ्का एकैकवस्तुधर्मगोचरा। यथा—अस्ति जीव केवलं सर्वगतोऽसर्वगतो वा सप्रदेशोऽप्रदेशो वेति। यो. शा. २-१७, पृ. १८६-८७.

१०. ऐहलौकिक-पारलौकिकेषु विषयेष्वभासा काक्षा। सोऽतिचारः सम्यग्दृष्टेः। कुतः? काक्षिता ह्यादिचारितगुण-दोषः समयमतिक्रामति। त. भा. ७-१८.

१. स. सि. ६-२४ व त. वा. ६, २४, १.

२. समयप्रा. २४६-५४.

३. चा. प्रा. ७.

४. चा. प्रा. ६.

५. आ. प्र. ८६.

६. निःशक्तितादयो व्याख्याता दर्शनविशुद्धिरित्यत्र, तत्प्रतिपक्षभूताः शंकादयो वेदितव्याः। त. बा. ७-२३

आवकप्रज्ञप्ति में अन्य-अन्य दर्शनों के ग्राह को काक्षा का लक्षण बतलाया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उसकी टीका में कहा गया है कि सुगतादि प्रणीत दर्शनों के विषय में अभिलाषा करना, इसे काक्षा कहते हैं। यह सम्यक्त्व का दूसरा अतिचार है। उक्त काक्षा देश व सर्व के भेद से दो प्रकार की है। सौगत (बौद्ध) दर्शन में चित्तजय का प्रतिपादन किया गया है और वही चित्तजय मुक्ति का प्रधान कारण होने से संगत है व दूरापेत—अतिशय विरुद्ध—नहीं है। इस प्रकार विचार करते हुए एक ही बौद्ध दर्शन की आकाक्षा करना, इसे देशकाक्षा कहा जाता है। कपिल, कणाद और अक्षपादादि प्रणीत मत्र ही दर्शन अहिंसा के प्रतिपादक हैं। उनमें इस लोक-सम्बन्धी क्लेश का प्रतिपादन सर्वथा नहीं किया गया है, इसी से वे उत्तम दर्शन हैं। ऐसा मानकर सभी दर्शनों की इच्छा करना, यह सर्वकाक्षा कहलाती है^१।

तत्त्वार्थभाष्य के उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए उसको आ. हरिभद्र और सिद्धसेन गणि विरचित वृत्तियों में कहा गया है कि इस लोक सम्बन्धी विषय शब्दादिक है। सुगत ने भिक्षुओं को स्नान, अन्न-पान, आच्छादन और शयनीय आदि के सुखानुभव द्वारा क्लेशरहित धर्म का उपदेश दिया है। वह भी घटित होता है, दूरापेत नहीं है। तथा परिव्राजक आदिकों के उपदेशानुसार ऐहिक विषयों का उपभोग करने वाले ही परलोक में भी सुख से युक्त होते हैं। अतः यह धर्म का उपदेश बहुत ठीक है। इसी प्रकार परलोक—स्वर्ग व मनुष्यादि जन्म—सम्बन्धी शब्दादि विषयों की अभिलाषा करना।

पक्षान्तर में यहाँ अन्य-अन्य दर्शनों के ग्रहण या उनकी अभिलाषा को भी काक्षा अतिचार कहा गया है। तथा इसके लिए आगम का प्रमाण भी दिया गया है^२।

विचिकित्सा—तत्त्वार्थभाष्य में विचिकित्सा के लक्षण में कहा गया है कि 'यह भी है' इस प्रकार का जो बुद्धि-भ्रम होता है उसे विचिकित्सा कहते हैं^३।

१. आ. प्र. टीका ८७

२. दर्शनेषु वा, तथा चागमः—कखा अण्णण्णदंसणग्गा-हो । त. भा. हरि. व सिद्ध. वृत्ति ७-१८.

३. विचिकित्सा नामेदमप्यस्तीति मतिविप्लुतिः।

त. भाष्य ७-१८.

आवकप्रज्ञप्ति में इस विचिकित्सा अतिचार का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि 'यह मेरा अर्थ सिद्ध होगा या नहीं' इस प्रकार सत् (समीचीन) अर्थ में भी जो बुद्धिभ्रम होता है उसका नाम विचिकित्सा है। टीका में इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया है कि युक्ति और आगम से संगत भी अर्थ में जो फल के प्रति संमोह या भ्रान्त बुद्धि होती है वह विचिकित्सा कहलाती है। इस प्रकार भ्रान्ति को प्राप्त हुआ व्यक्ति विचार करता है कि बालुके भक्षण के समान क्लेश को उत्पन्न करने वाल इन कनकावली आदि तपों का फल भविष्य में कुछ प्राप्त होगा या नहीं, क्योंकि खेती आदि की क्रियाएँ फल वाली और फल से रहित दोनों ही प्रकार की देखी जाती हैं। आगे वहाँ विचिकित्सा को विद्वज्जुगुप्सा भी बतला कर उसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो संसार के स्वभाव के ज्ञाता व सर्व परिग्रह से रहित है ऐसे विद्वान् साधुओं की निन्दा करना, यह विद्वज्जुगुप्सा है। जैसे—उनका शरीर स्नान न करने के कारण पसीने से मलिन और दुर्गन्ध से युक्त रहता है। यदि वे प्रासुक जल से स्नान कर लिया करें तो कौनसा दोष है^४ ?

अन्यदृष्टिप्रशंसा—ग्रहीत मत से भिन्न मत के मानने वाले क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानिक और वैतन्यिक मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना—ये बहुत पुण्य-शाली हैं, इनका जन्म सफल है; इत्यादि प्रकार से स्तुति करना, यह अन्यदृष्टिप्रशंसा नाम का सम्यग्दृष्टि का अतिचार कहा जाता है^५।

आवकप्रज्ञप्ति में इसका निर्देश 'परपाषण्डप्रशंसा' नाम से किया गया है। उसको स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया है कि शक्य (रक्तभिक्षु) और परिव्राजक आदि

४. आ. प्र. टीका ८७. (लगभग यही अभिप्राय दशवैकालिक नियुक्ति की टीका [१८२, पृ. १०२], आ. पंचाशक चूर्णि [पृ. ४६-४७] और धर्मविन्दु की टीका [२-११, पृ. १८-१९] में भी प्रगट किया गया है।

५. अन्यदृष्टिरित्यर्हच्छासनव्यतिरिक्तां दृष्टिमाह। सा द्विधा—अभिग्रहीता चानभिग्रहीता च। तद्युक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैतन्यिकानां च प्रशंसा-स्तवौ सम्यग्दृष्टेरतिचार इति। त. भा. ७-१८

सेन परम्परा के कुछ अज्ञात साधु

जयपुर के समीप स्थित पुराने प्लाट के हनुमान जी के मन्दिर से हाल ही में २ शिलालेख मुझे मिले हैं। ये लेख अब तक अज्ञात हैं। इनमें सेन परम्परा के कुछ अज्ञात साधुओं के नाम हैं। जयपुर और आस-पास के क्षेत्र में दिगम्बर जैन धर्म का प्रचलन लम्बे समय से रहा है। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता रहा है कि यहाँ जैन धर्म १६वीं शताब्दी से ही विशेष रूप से प्रकाश में आया है किन्तु इन लेखों के मिल जाने से यह स्पष्ट हो गया है कि जैन धर्म का प्रचलन यहाँ १२वीं शताब्दी के पूर्व भी था। आमेर के एक मन्दिर में पीतल की

१२वीं शताब्दी की तिथियुक्त मूर्ति है किन्तु सामान्यतः मूर्तियों का आदान-प्रदान होता रहता है। अतएव यह कहना कठिन है कि यह मूर्ति कहाँ से प्राप्त हुई थी।

जयपुर के आस-पास जहाँ से ये शिलालेख मिले हैं सम्भवतः प्राचीन स्थल रहा होगा। इस स्थल का नाम आजकल “भामड़ो नी” कहा जाता रहा है। यह जयपुर से २ मील दूर है और पुराने घाट के पास है। यह मन्दिर प्राचीन स्थापत्य कला का अच्छा नमूना है। इस समय इसे शिव मन्दिर में परिवर्तित कर दिया गया है। इसके स्तम्भों पर घट पल्लव आदि फलक अंकित हैं।

की ‘ये पुण्यशाली है, इनका मनुष्यजन्म पाना सफल है’ इत्यादि प्रकारसे प्रशंसा (वर्णवाद) करना, इसका नाम परपाषण्डप्रशंसा है।

अन्यदृष्टिसंस्तव—उक्त क्रियावादी आदि मिथ्या-दृष्टियों के साथ रहकर परस्पर सभाषण आदि रूप परिचय बढ़ाना, इसका नाम अन्यदृष्टिसंस्तव है।

तत्त्वार्थभाष्य में प्रशंसा और संस्तव में विशेषता दिखलाते हुए कहा गया है कि भावसे (मन से) ज्ञान और दर्शन गुणों के प्रकर्ष को प्रगट करना, इसे प्रशंसा कहा जाता है तथा सोपष और निरोपष भूत गुणों को वचन से कहना, इसे संस्तव कहा जाता है।

१. परपाषण्डप्रशंसा सक्काइणमिह वन्नवाओ ।

उ. आ. प्र. ८८

२. संस्तवः—तैः सहैकत्र सवासात् परिचयः परस्परा-पादिजनितः । त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१८; श्रावक-प्रज्ञप्ति में इसका निर्देश ‘परपाषण्डसंस्तव’ नाम से किया गया है। यथा—तेहि सह परिचओ जो संघवो होइ नायव्वो ॥८८॥

३. ज्ञान-दर्शनगुणप्रकर्षोद्भावन भावतः प्रशंसा । संस्तवस्तु सोपषं निरुपषं च भूतगुणवचनमिति । त. भा. ७-१८, पृ. १०२.

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवातिक में उक्त दोनों में भेद दिखलाते हुए कहा गया है कि मन से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान और चारित्र गुणों के प्रगट करने का नाम प्रशंसा तथा उनके भूत-अभूत गुणों के कथन का नाम संस्तव है, यह उन दोनों में भेद है।

इस प्रकार उक्त पाच शंकादि उस सम्यग्दर्शन के अतिचार है, जो उसे मलिन करने वाले है। कारण कि शंकादि के रहते सर्वज्ञ व वीतराग जिन पर अविचल श्रद्धा रह नहीं सकती, और बिना श्रद्धा के उस सम्यक्त्व के रहने की भी सम्भावना नहीं रहती। कहा तो यहाँ तक गया है कि जिसे सूत्रनिर्दिष्ट केवल एक पद व अक्षर भी नहीं रुचता है, भले ही उसे शेष सब क्यों न रुचता हो; फिर भी उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। ★

४. बाङ्-मानसविषयभेदात् प्रशंसा-संस्तवभेदः । मनसा मिथ्यादृष्टि ज्ञान-चारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा । भूता-भूतगुणोद्भावनवचनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः । त. वा. ६, २३, १.

५. संशयो मिथ्यात्वमेव । यथाह—पयमक्खरं पि एकंकिं जो न रोएइ सुत्तनिद्धिं । सेसं रोयतो विहु मिच्छ-द्विटी मुणेश्वो ॥ त. भा. हरि. व सिद्ध. वृत्ति (७-१८) में उद्धृत ।

अतएव यह पूर्व-मध्य कालीन कृति कही जा सकती है। इसके स्तम्भों के अतिरिक्त उत्तरंग का भाग भी प्राचीन है। इसमें शिलालेख छ बातों पर अंकित है। पहला लेख वि० सं० १२१२ का है। इसमें कई साधुओं के नाम हैं। इसमें चन्द्रप्रभ चैत्यालय में गोष्ठियों द्वारा कुछ निर्माण कार्य का उल्लेख है। इसमें भट्टारक सागरसेन का नाम है। उनके शिष्य मंडलाचार्य ब्रह्मसेन का नाम है। इसके बाद छत्रसेन आदि साधुओं का उल्लेख है। छत्रसेन नामक एक साधु का उल्लेख अर्थूणा के लेख में भी है। किन्तु दोनों का क्या सम्बन्ध है, कहा नहीं जा सकता। इन्हें उक्त लेख में “माथुरान्वयी” कहा गया है। दूसरे लेख में तिथि अंकित नहीं है। इसमें अमृतसेन, सयमसेन, ब्रह्मसेन, योगसेन, निष्कलंक और अकलंक नामक साधुओं के नाम हैं। इसमें ५ श्लोक हैं और अन्त में ‘पंडित निष्कलंक सेनस्य कृतिरियम्’ पद अंकित है।

सेन परम्परा की पट्टावली में इनका नाम अंकित नहीं है। इसी तरह अन्य अनेक आचार्य और विद्वानों का उल्लेख यत्र तत्र मिलता है। इस तरह की अप्रकाशित सामग्री का सकलन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना इतिहास अधूरा ही रहेगा।

इन सब साधुओं को सेन परम्परा का कहा गया है। लेखों का मूल पाठ इस प्रकार है :—

लेख सं० १

१. ॥ई०॥ स्वस्ति श्री संवत् १२१२ वर्षे मार्गसिर (शीर्ष) वदि ११ देव श्री चन्द्रप्रभ चैत्यालये आचार्य श्री भट्टारक. सागरसेन(ः) तस्य सि(शि)ष्यमय मण्डला-चार्यधुर्य ब्रह्मसेन

(२) बा श्री छत्रसेन देवपादरा... (?) तस्य घर्म्मभ्राता पंडित श्री अम्बरसेन तस्य भ्राता श्री uuuuuu सर्व्व संघसेनाम्नाय प्रणमनि नित्य.....

३. गमेधरः पउत्र (पुत्रः) खेमधर साचदेव घोलण श्रीधर। समस्त गोष्ठि कारापित।

लेख सं० २

१. ॐ साश्चर्य्य प्रतिबिंबता (बिम्बिता) शुभतरा जन्मां-तरश्रीक्षणा। भास्वाद्गोर्नखदर्पणेषु नितरां तारा व तारा दशा। दिद्वन्ता (....) तथानताः क्रमनखो...
२. अचचबंदरूपाततरा। यस्य ध्यानमितो स भवतः श्रीनाभिभूतः प्रभुः ॥१॥ रेजे यस्य शरीरदीप्तिरनघा सतप्त हेमोज्व (ज्ज्व) ला। मूर्द्धस्थेद्वजटा कला-
३. प विलसद्भूमद्वि रेखाकिता। कर्म्मारातितति प्रभोः प्रदहतो ध्यानानलाच्चिर्यथा। देया त्केवल सपदं जिनवरो सौमेपि मौनश्चरी ॥२॥ अमृत—
४. सेन बुधो जनि संयतो, यतिसमाज जनस्तुतपद्युगः। अमृतसूरि व चः सुतपोनिधिः सकल शास्त्र पयो-निधिपारगः ॥३॥ वादी संयम सेन सु—
५. रिरजनि रजनि क्षेत्राधिपेयः सुधीः। स्याद्वादामृत वारिधिर्गुणनिधिः श्री ब्रह्मसेनस्ततः। श्री सधा-शी(?)त...गुरु गुर्णा vv ण योगी ग्रणी ॥ रो(री)-द्राराति तुरुष्क वंदित पदः
६. श्री योगसेनो गुणी ॥४॥ निष्कलंकाकलंकाख्यो सेनांतो विदुषां विदो।...पुष्कर जातीयी सोदयो विश्रुतो भुवि ॥५॥ पंडित निष्कलंक सेनस्य कृति रियम्.....

—: ० :—

बड़ा बनने का उपाय

“क्या तू महान् बनना चाहता है। यदि हो तो तू अपनी आशा-लताओं पर नियंत्रण रख। उन्हें बे लगाम अश्व के समान आगे न बढ़ने दे। मानव की महत्ता इच्छाओं के दमन करने में है, गुलाम बनने में नहीं। एक दिन आयेगा जब तेरी इच्छाएँ ही तेरी मृत्यु का कारण बनेंगी।”

अज्ञात जैन कवि और उनको रचनाएँ

जैन पुरातत्व, संस्कृति, इतिहास और साहित्य की खोज के प्रसंग में विविध क्षेत्रों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो जाने पर भी कई क्षेत्र अभी तक अछूते भी पड़े हैं। पूर्वी राजस्थान के टोडारायसिंह, चाकसू, निवाई, टोंक, फिलाय, सवाई माधोपुर आदि नगर दिगम्बर जैन संस्कृति के प्राचीन केन्द्र हैं। इन केन्द्रों में अत्यन्त प्राचीन, व कलात्मक नसियाओं और प्रतिमाओं के अतिरिक्त समृद्ध शास्त्र भण्डार भी हैं। इन शास्त्र भण्डारों में संस्कृत, अपभ्रंश व हिन्दी की महत्वपूर्ण और अज्ञात कृतियाँ भी उपलब्ध हो सकती हैं। यहाँ पर उक्त शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध हिन्दी के कुछ अज्ञात कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय दिया जा रहा है :—

१ खड़गसेन :

ये आगरा के रहने वाले थे। इनके पिता ठाकुरसी और पितामह लूनराज थे। खड़गसेन के पूर्वजों का मूल स्थान बागड़ प्रदेश का नारनौल शहर था। आगरा निवासी चतुर्भोज ने खड़गसेन की घन-धान्य से बड़ी सहायता की। संवत् १६८५ के बाद कवि ज्ञान-वृद्धि की ओर अधिः आकृष्ट हुए। इनकी ज्ञान गोष्ठी के साथी जनजीवन सघो, अनूपराय, दामोदर, माधोदास, हीरानंद, त्रिलोकचंद, मोहनदास और प्रतापमल थे। ये सभी चैत्यालय में बैठकर पूजा करते थे और शास्त्र श्रवण करते थे। खड़गसेन की एकमात्र रचना 'त्रिलोक सार' रेणजी का मन्दिर, टोडा रायसिंह में विद्यमान है। त्रिलोक सार में २००० से अधिक दोहे और चौपाइयाँ हैं। इस रचना में कवि ने अधः मध्य और ऊर्ध्व लोक के सभी जैन धर्मो का विवरण दिया है :—कवि ने अपने ग्रन्थ की महत्ता इन शब्दों में प्रकट की है—

दपन में मुख देखिए, या मैं तीन लोक ।

यह हिंदू की आरसी, दोसै लोका लोक ॥

२ सेवाराम :

यह प्रसिद्ध जैन कवि बखतराम शाह के कनिष्ठ पुत्र थे। इन्होंने अपने बड़े भाई जीवनराम के भक्तिपरक पदों की चर्चा की है किन्तु अभी तक जीवनराम के पद अज्ञात ही हैं। सेवाराम का साधना-स्थल जयपुर का लक्ष्मी मन्दिर था। वहाँ भटारक सुखेन्द्रकीर्ति भी विराजते थे। सेवाराम ने संवत् १८२४ में 'चतु-

विंशति तीर्थकर पूजा' की रचना की। यह रचना टोडारायसिंह के प्राचीन जैनमन्दिर रेणजी का मन्दिर में उपलब्ध है।

३ तीकम :

यह कालस गाँव के रहने वाले थे। वहाँ भोजराज खगारोत का राज्य था। सुखमल शाह 'हुजदार' ने तीकम को कालस गाँव में बसाया। कवि अपने गाँव में प्रतिदिन श्रावकों के साथ 'प्रतिमा चौबीसी' के समक्ष ज्ञान-चर्चा करते थे। इन्होंने संवत् १७१२ में 'चतुर्वंशी कथा' लिखी। ३५५ दोहे-चौपाइयों की यह प्रबन्ध रचना तेरहपंथी मन्दिर टोंक के एक गुटके में संकलित है। प्रस्तुत रचना में चपापुरी के राजा हरिनाम के गुणभद्राचार्य मुनि द्वारा शील की महत्ता समझाई गई है।

ग्रन्थान्त में कवि ने चतुर्वंशी के व्रत की महत्ता प्रतिपादित की है—

भाव सहित यह व्रत धर्यो होइ मुक्ति को साज । ३५॥

ज्येष्ठ भ्रात मेरे कवि, जीवनराम सुजानि ।

प्रभु की स्तुति के पद रचे, महाभक्ति वर आनि । ६॥

४ लालचंद 'बिनोदी'

'लालचंद बिनोदी' की दो रचनाएँ 'राजुल पच्चीसी' और 'चौबीसी' पुरानी टोंक और चाकसू के जैन मन्दिरों में मिली हैं। काव्यत्व की दृष्टि से 'राजुल पच्चीसी' उत्कृष्ट रचना है। इसमें कवि ने सरस्वती और मुनियों को प्रणाम करते हुए नेमिनाथ जी के विरक्त होने की

कथा कही है। माता-पिता के मना करने पर भी नेमिनाथ का विरक्ति के साथ ही राजुल भी आर्थिका बन गई है। राजुल की विरहोक्तियों के अतिरिक्त दार्शनिक विचार भी इस रचना में बिखरे पड़े हैं—

बावे बे यह संसार असार, ताते रहीर्य मौन में जी ।
बावे बे ई संगति दुष अपार, लष चौरासी जौन में जी ।
बावे लष चौरासी जौन, बावे बहु दुष पाइया ।
रोग सोग वियोग भरि करि, जरा मरन सताइया जी ।
यह संसार दुष भंडार, देख्यो क्यौं न मन समझाइये ।
बेगि मुसहि पठाइ बावे, पीव अपनै संग जाइये ।

कवि की दूसरी रचना 'चौबीसी' में २४ तीर्थंकरों के प्रति दैन्य निवेदन है।

५ जसलाल 'विनोदी'

'विनोदी' उपनाम के दूसरे कवि जसलाल है। तेरह-पंथी मन्दिर टोक के एक गुटके ५० ब मे इनकी एक रचना 'सुमति कुमति को भगडो' संकलित है। इसमें सुमति रूपी नारी अपनी दौरानी कुमति को अपने प्रियतम 'चेतन' से नेह न करने की शिक्षा देती है, न मानने पर उसे फटकारती भी है—

जिण तो सौं नेह लगायो, जाको तं मूल गमायो ।
जसलाल विनोदी गावे, तोहि तउ सरम न आबं ।६।

६ बेतसी विलाला :

यह विलाला गोत्रिय खंडेलवाल जैन थे। इनकी 'सील जखड़ी' नामक रचना तेरहपंथी मन्दिर टोक के गुटका नं. ५० ब मे संकलित है। 'सील जखड़ी' में संकलित है। 'सील जखड़ी' में नारी की निन्दा करते हुए समय रखने की प्रेरणा दी है—

नारी रूप दीप दीवली जिसीजी, कामी पुरुष पतंग,
पर नारी के कारण जी, होम्यो आपणों अग,
सुग्यानी नाह नारी रूप नै जोय ।

७ दिव सुन्दर :

यह आमेर गच्छ के मुनि देव सुन्दर के शिष्य थे। इनकी एक रचना 'राणापुर स्तवन' तेरहपंथी मन्दिर टोक के ग्रन्थांक १५० ब में संकलित है। संवत् १४६२ में कवि

ने प्रसिद्ध तीर्थ 'राणापुर' की यात्रा की; उसी का वर्णन इसमें किया गया है। 'राणापुर की एक अलौकिक भाँकी दृष्टव्य है—

पंच सैं बावन पुतली रे लाल, अपछर नैं मुनिहारि ।
रंभादेवी उलसै रे लाल, चहुंदिसि च्याज पौलि ।
पांच तीरथ मांहे भला रे लाल, सेवुं जो गिर नारि ।
तीरण एक सो जाणिये रे लाल, थांभा दोइ हजार ।

८ आलू :

इनकी एक दार्शनिक रचना 'द्वादशानुप्रेक्षा' तेरहपंथी मन्दिर टोक के गुटका नं. ५० में पृ. ७१-७८ पर अंकित है। इसमें कुल ३६ छंद हैं। इसमें १२ अनुप्रेक्षाओं को बड़ी सरल विधि से समझाया है। पुद्गल द्रव्य से आत्मविन व्रताने के सम्बन्ध में कवि कहते हैं—

ए संसारह भाव, परसो कीजै प्रीति ।
सृष दृष सब भाँनियो हो, देखि पुद्गल की रीति ।
पुद्गल दरव्य की रीति देखो, जव सुष दुष सब भाँनिया ।
चहं गति चौगसी लष जोणिह, आपणां पद जाँनिया ।
इह आपनों पद सुद चेतन, तृपति दृष्टि जु बीजिए ।
अनावि नाट जु नटत पुद्गल, तासु प्रीति न कीजिए ।

९ सभाचंद :

इनकी एक रचना 'परमार्थ लूहरी' में २० छंद हैं। यह रचना जैन मन्दिर निवाई के एक गुटके में संकलित है। 'परमार्थ लूहरी' शास्त्र-निष्ठा, गुरु-भक्ति सम्यक्त्व भावना, सप्त व्यसन, अणुव्रत, आदि नैतिक विषयों को चर्चा है। शैली उपदेशमयी है—

पर धन परत्रिया परहरी, कीज्यो रे उपकार ।
ज्यों सुख पावें सुरगं तणाजी, अनोक्रम उतरै पार ॥

१० दास :

सोरठ राग में लिखित एक गीत 'जीव जखड़ी' में कवि ने चेतन को अपना स्वरूप समझने की ओर प्रेरित किया है—

जीव लाय मन विषयन सेयो, चहुंगति में अति भ्रम्यो ।
जिन धर्म तजि मिथ्यात सेयो, रहियो सु बांध्यो दुष मन्यो ।
संसार मैं सब सार जाण्यो, मोह परिग्रह तुम कीया ।
कबि 'दास' कुवास छांडो, तुम त्रिभुवन पति हो जीव ॥

त्रिपुरी की कलचुरि-कालीन जैन प्रतिमाएँ

कलचुरि कालीन ज्ञात प्रतिमाओं में एक जैन प्रतिमा नागपुर संग्रहालय में संग्रहीत बताई गई है। प्रतिमा काले पाषाण से निर्मित मस्तक खण्डित अवस्था में है। चौकी पर संस्कृत भाषा में नागरी लिपि द्वारा छोटा सा एक पक्ति का अभिलेख भी अंकित मिला है जिसमें बताया गया है कि माथुरा अन्वय से साधु धौलु नामक किन्हीं व्यक्ति के पुत्र देवचन्द्र द्वारा संवत् ६०० (कलचुरि संवत्) में उक्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई गई थी। प्रतिमा पर कोई लाञ्छन नहीं है जिससे प्रतिमा किस तीर्थंकर की है, यह ज्ञात नहीं होता है। अभिलेख में उल्लिखित संवत् को लेख की लिपि के आधार पर कलचुरि संवत् बताया गया है जिससे प्रतिमा ११४६ ईस्वी में निर्मित हुई प्रतीत होती है। अंकित लेख निम्न प्रकार है :—

माथुरान्वय साधु धौलु सुत देवचन्द्र संवत् ६००।

माथुरान्वय से सम्बन्धित इसी संवत् की एक जैन प्रतिमा का और भी उल्लेख मिलता है जो मथुरा निवासी किन्हीं जसदेव और जसधवल के द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।^१ प्रतिष्ठा कराने वाले श्रावकों के नामों से ज्ञात होता है कि दोनों प्रतिमाएँ थी तथा उनकी प्रतिष्ठा भी अलग-अलग हुई अलग-अलग थी। प्रतिमा किस तीर्थंकर की है, यह नहीं बताया गया है।

त्रिपुरी से उपलब्ध तृतीय जैन प्रतिमा नागपुर में संग्रहीत है (संग्रहालय क्रम ३३) जो १०वीं शती की बताई गयी है। प्रतिमा को महावीर की प्रतिमा कहा गया है।^२

१. श्री बालचन्द्र जैन, उपसंचालक संग्रहालय रायपुर, रेवा पत्रिका : सं. २०२३ अंक २, पृ. २७

२. डा. मोरेस्वर दीक्षित, मध्य प्रदेश के पुरातत्त्व की रूपरेखा, सागर विद्यापीठ

३. मध्यवर्ती संग्रहालय नागपुर स्मरणिका ई० १६६४ पृ० ३६

एक जैन प्रतिमा हनुमान ताल के दि० जैन मन्दिर में जबलपुर में भी विराजमान रहने का उल्लेख मिलता है।^३ वैसे तो मन्दिर के अनेक बार दर्शन किए परन्तु इस बार उक्त प्रतिमा का ही मैंने बारीकी से अवलोकन किया तो प्रतिमा के दर्शन कर हर्ष विभोर हो गया। कलाकृति देखते ही बनती है।

यह प्रतिमा जबलपुर के दि० जैन पाश्वनाथ बड़ा मन्दिर हनुमान ताल के मन्दिर क्रमांक ४ में विराजमान है। प्रतिमा करीब ५ फुट ऊँचे और ३-३।१ फुट चौड़े पत्थर पर अंकित है। वर्ण कुछ लाल सा है। शिरोपरि तीन छत्र बहुत ही बारीक कलाकृति से अलंकृत हैं। छत्र के दोनो ओर दो हाथी खड़े हैं जिनकी सूड छत्र का आधार बनी हुई है। गजों के आगे का एक पैर कुछ मुड़ा हुआ है। दोनों गजों की पीठ पर घोड़ों की पीठ पर कसी जाने वाली जीन जैसी आकृति है। आधार एक विकसित पुष्प है।

इस पुष्प के नीचे प्रतिमा के दोनों ओर दो देव अंकित हैं जो बारीक खूदाई से अलंकृत किरीट धारण किए हुए हैं। दोनों देव उड़ते हुए दिखाये गये हैं। दोनों के हाथों में मालायें हैं। दोनों देवों के साथ स्त्री मूर्तियाँ भी अंकित हैं जो सम्भवतः उनकी स्त्रियाँ हैं। स्त्रियों के मुख देवों के विपरीत दिशा में है। कानों में बतुलाकार कुण्डल हैं। गोल जूड़ा बँधा हुआ है। जूड़े के मध्य दो मालाएँ गुथी हुई हैं जो गोल गुरियों से निर्मित दिखाई देती हैं। कंधों बीच में माँग निकाल कर की गई है। माँग की दोनों ओर बालों को उठाया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानों बालों में सामने की ओर फुगे बनाए गए हों। वक्षस्थल पर खजुराहो की स्त्री मूर्तियों जैसा अंकन है। गले में एक छोटी और एक बड़ी दो

४. पं. परमानन्द शास्त्री, अनेकान्त : वर्ष १६, कि. १-२ पृ. ५४

मालाएं पहने हुए हैं। मालाएँ दोनों स्तनों पर से होती हुई नीचे लटक रही है। भुजाओं में भुजबन्ध अंकित है। हाथों में ४-४, ६-६ कंगन और कंगनों के मध्य चूड़ियाँ हैं। दोनों हाथों में अलंकृत माला के दोनों छोर दिखाए गए हैं।

दोनों देव भी गले में दो दो मालाएँ पहने हुए हैं। इनमें एक माला गले से नीचे कमर तक लटकती हुई दिखाई गयी है। भुजाओं में भुजबन्ध भी है। भुजबन्धों की आकृति वर्तमान में भगवान रामादि के चित्रों में दर्शाये जाने वाले भुजबन्धों के समान है। हाथों में एक देव एक हाथ में एक और दूसरे में दो कंगन पहने हुए हैं। दूसरे देव के दोनों हाथों में दो-दो कंगन हैं। दोनों देव दोनों हाथों से भालाओं के छोर सम्हाले हुए हैं। कटि में भी कमरपट्टे जैसी आकृति है। पैरों में पायल और अंगुलियों में (हाथ की) मुद्रिकाएँ पहने कुछ दिखाई देते हैं।

इन दोनों स्त्री पुरुष मूर्तियों के मध्य सामने की ओर मुख किये हुए बालिकाओं की आकृतियाँ अंकित हैं। उरोज अंकन से वे उन्हीं देवों की बालिकाएँ प्रतीत होती हैं। बालिकाओं के गले में दो-दो मालाएँ एक माला दोनों उरोजों से होकर नीचे लटक रही है। हाथों में मालाओं के दोनों छोर हैं।

उनके नीचे दोनों ओर दो देव अपनी पत्नियों सहित अंकित हैं। देवों के शिरों पर बारीक छैनी से खुदे हुए किराट हैं। कानों में कुण्डल, गले में हार, तथा पेट पर लटकता हुआ तीन लड़ी की आकृति का कोई अलंकरण है। हाथों में एक एक कंगन है। प्रतिमा की दायी ओर वाले देव के बायें हाथ में एक विकसित पुष्प है तथा दाये हाथ में चवर है। हाथ के अंगुष्ठों में मुद्रिका है। भुजाओं में भुजबन्ध, कटि कमरबन्ध तथा पैरों में पायल हैं।

देव की कमर से सटी हुई एक स्त्री मूर्ति अंकित है। इस मूर्ति में अन्य सभी अलंकारों के साथ कमरपट्टा भी है। जो दो दो लड़ियों से निर्मित है। दायें हाथ में टेहुनी से लटकती हुई एक मनीवेग भी अंकित है। कमर से दाहिनी जाँघ पर एक सूत्र लटकता हुआ दिखाया गया है जो संभवतः चाबी का द्योतक है। हाथों में भाला के दोनों छोर हैं। कपड़े भी दिखाई देते हैं।

प्रतिमा की बायी ओर के देव के दाये हाथ में चवर है। बायाँ हाथ नीचे की ओर झुका हुआ है। हाथ के अंगुष्ठों तर्जनी तथा कनिष्ठा में मुद्रिकाएँ हैं। अन्य अलंकरण प्रथम देव के समान हैं। स्त्री आकृति भी बायी ओर अंकित स्त्री के समान है। ये स्त्री पुरुष गणर्व ज्ञात होते जा मानो नाचने के लिए लिए तैयार हैं।

जैनप्रतिमा

प्रतिमा के शिर पर तीन छत्र हैं जो क्रमशः सामने की ओर निकले हुए हैं। प्रतिमा के पीछे अलंकृत भा-मण्डल है। बाल घुंघराले हैं। कान कर्णों से जुड़े हुए हैं। श्री वत्सचिन्ह नहीं है किन्तु चिन्हाङ्कित स्थल से ऐसा अनुमान लगता है कि श्रीवत्स चिन्ह अवश्य ही यथास्थान अंकित रहा है। प्रतिमा नासाग्रदृष्टि पद्यासन मुद्रा में है। प्रतिमा की असन पर अलंकरणों के मध्य एक कमल के फूल जैसी आकृति है। जिससे प्रतिमा भ. पद्मप्रभु की ज्ञात होती है। पुजारी श्री हल्कूलाल से ज्ञात हुआ कि यह आसन इस प्रतिमा का नहीं है। प्रतिमा का आसन तो मिला ही नहीं था। प्रतिमा महावीर भगवान की है। आसन को देखने से वर्तमान आसन मूल आसन प्रतीत होता है क्योंकि आसन का अलग रहना पत्थर के जोड़ से ज्ञात होता है जबकि यहाँ कोई जोड़ दिखायी नहीं देता है।

आसन पर कमल के फूल की तीन आकृतियाँ हैं। दो कमल दोनों ओर एक मध्य में अंकित है। अतः प्रतिमा भ० पद्म प्रभु की ही ज्ञात होती है। वालों तथा गले में अंकित तीन रेखाओं से कुण्डलपुर के महावीर याद आते हैं। मेरी समझ से महाकोशल में ऐसी बहुत कम मूर्तियाँ उपलब्ध होंगी जिनमें कला की सूक्ष्म भावना एवं बारीक छैनी का ऐसा आभास दिखाई देता हो।

देवी पद्यावती :

इसी मन्दिर में ऐसी प्रतिमा है जो लाल पत्थर से (संगमर्मर) निर्मित है। प्रतिमा पालथी मारकर बैठी है। दायाँ पैर सामने की ओर है। हाथ चार हैं। ऊपर के दाएँ हाथ में एक अकुश जैसी आकृति है। बायें हाथ में कोई फूल धारण किए हुए हैं। नीचे के दायें हाथ में माला और बायें हाथ में गोल लम्बी आकृति की कोई (शेष टाइल के तीसरे पेज पर)

मानव की स्वाधीनता का संघर्ष

मनुष्य में स्वतन्त्रता की इच्छा स्वाभाविक है। स्वतन्त्रता उसका सहज अधिकार है। अधिकार कर्तव्य में से निजपते हैं। मनुष्य में मनुष्यता है, इसलिए वह अपने कर्तव्य का पालन करके इस अधिकार को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। स्वतन्त्र रहने के अपने अधिकार को जो सम्भत्ता है वही सही मायनों में इन्सान है। जो अपने आपको परतन्त्र और दूसरे को अपना स्वामी मानता है, वह इन्सान नहीं हैवान है। परतन्त्र होना अलग बात है और अपने को परतन्त्र मानना अलग बात है। लेकिन जो दूसरों की स्वतन्त्रता छीनता है, तोप तलवार लेकर दल बनाकर दूसरों की आजादी के अधिकार पर डकैनी डालता है, वह न इन्सान है, न हैवान। वह तो शैतान है। ऐसे शैतान को सही मार्ग पर लाने का उपाय यह नहीं कि हम उसे पुचकारें। ऐसे शैतानों के लिए एक ही उपाय है कि उसकी शैतानियत को कुचल दिया जाय।

जो स्वतन्त्र रहना चाहते हैं या जो स्वतन्त्र होना चाहते हैं, उन्हें कोई शैतान—चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो—गुलाम नहीं बना सकता।

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला घृतिः। तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्यचला घृतिः॥

निश्चय ही वह आजाद होगा, जिसमें अविचल धीरज है। जिसमें यह धीरज नहीं, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

मानव की स्वतन्त्रता के संघर्ष का इतिहास उसके त्याग और बलिदान की स्याही और धीरज की कलम से लिखा जाता रहा है। दुनिया में शैतानों की कभी कमी नहीं रही। लेकिन ऐसे इन्सानों की भी कमी नहीं रही है, जो दूसरों के स्वतन्त्र रहने के अधिकार को मानते हैं और उनकी स्वतन्त्रता के लिए जो सहायता करते हैं। वे मनुष्य नहीं देवता हैं। दुनिया ने सच्चे मनुष्य का सम्मान किया है, लेकिन देवता की तो वह पूजा करता आया है।

जैन धर्म तो मनुष्य ही नहीं, प्राणी मात्र की स्वतन्त्रता का समर्थक है। उसकी मान्यता है कि सब प्राणियों में परमात्मा बनने की शक्ति है।

परमात्मा अर्थात् संसार के सभी बन्धनों से मुक्त, दुनिया के माया विकारों से निलिप्त। हम ऐसे स्वतन्त्र परमात्मा का स्मरण करते हैं; क्योंकि हम भी ऐसे स्वतन्त्र बनना चाहते हैं। जो दुनिया से सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहता है वह दूसरों की पराधीनता देखकर चुप कैसे रह सकता है।

लोग पूछते हैं—जो दूसरों की स्वाधीनता पर बलात्कार करते हैं, जो उस बलात्कार की प्रशंसा करते हैं और तोप तमंचे दे-देकर ऐसे लोगों की सहायता करते हैं, वे किस धर्म के अनुयायी हैं? मेरा उत्तर है—वे सब एक ही धर्म के अनुयायी हैं और वह धर्म है शैतान का। यह कैसा आश्चर्य है कि एक परमात्मा को मानने वाले परस्पर में लड़ते-झगड़ते हैं और शैतान को रहनुमा मानने वाले एक हो जाते हैं—चाहे उनके देश और वेश, चेहरे और चमड़े जुड़े-जुड़े क्यों न हों। आज दुनिया में दो ही तरह के लोग हैं—एक वे जो परमात्मा मानते हैं और खुद इन्सान हैं। दूसरे वे जो शैतान की पूजा करते हैं और खुद भी शैतान हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो लड़ाई है इन्सानियत और शैतानियत के बीच में।

जानता हूँ, शैतान की फौज बड़ी है, शैतानियत के तौर तरीके की कोई सीमा नहीं। दूसरी ओर इन्सानियत जिसमें है, ऐसे इन्सान कम हैं—उँगलियों पर शायद गिने जा सकें। लेकिन दुनिया शैतानियत के पाये पर नहीं टिकी, वह टिकी है इन्सानियत की धुरी पर।

फिर शैतान अकेला है। धर्म अनेक नाम रखकर दुनिया में फैले हुए हैं। ससार के सभी धर्मों ने इन्सान को सोई हुई इन्सानियत को ही जागृत करने का प्रयत्न किया है।

आज इन्सानियत का तकाजा है कि दुनिया के सब इन्सान एक होकर शैतान को चुनौती दें और दूसरों की स्वतन्त्रता को काटने वाले उसके नुकीले दाँतों को तोड़ डालें।

हिन्दीके कुछ अज्ञात जैन कवि और उनकी अप्रकाशित रचनाएँ

भारतीय जैन साहित्य में हिन्दी भाषा के जैन कवियों का पूरा इतिवृत्त अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया है। और न उनकी कोई शताब्दीवार सूची ही बन सकी है। अनेक कवियों की रचनाओं का पता भी नहीं चल रहा है। जो कुछ थोड़े से जैन कवि और उनकी कृतियाँ का परिचय प्रकाशित हो सका है उनसे कुछ नवीन तथ्य प्रकाश में आए हैं। फिर भी जैन इतिहास की कड़ी अपूर्ण ही रह गई है। जैन ग्रन्थागारों में अनेक कवियों की रचनाएँ अनेक गुच्छकों (गुटकों) में उपलब्ध होती हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय जैन कवियों की संख्या पाँच सौ से भी अधिक होगी। इस लेख द्वारा हिन्दी के कुछ अप्रकाशित जैन कवियों और उनकी कृतियों का परिचय कराया जाता है। सबसे पहले कवि-वर शंकर और उनकी एकमात्र कृति का परिचय कराया जाता है:—

कवि शंकर मूलसध सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण का विद्वान् था। कवि ने अपने समसामयिक होने वाले दो भट्टारकों का उल्लेख किया है। भ० प्रभाचन्द्र और रत्नकीर्ति का। संवत् १५२६, १५२७ और संवत् १५३० की लिपि प्रशस्तियों में भट्टारक प्रभाचन्द्र और उनकी कीर्ति का उल्लेख मिलता है। ये दोनों ही भट्टारक जिनचन्द्र की आम्नाय के विद्वान् थे। कवि शंकर का वंश गोलापूर्व^१ और पिता का नाम पण्डित भीमदेव था।

१. जैन समाज की चौरामी उपजातियों में से गोलापूर्व भी एक उपजाति है, जिसका विकास गोलागढ (गोलाकोट) से हुआ है। उसकी पूर्व दिशा में रहने वाले गोलापूर्व कहे जाते हैं और उसके समीपवर्ती इलाके में रहने वाले गोलालारे तथा सामूहिक रूप में रहने वाले गोलासिंधारे कहे जाते हैं। इन तीनों जातियों के विकास का कारण होने से इस स्थान की महत्ता स्पष्ट ही है।

कवि शंकर की एकमात्र कृति 'हरिषेण चरित' है जिसमें कवि ने २०वें तीर्थङ्कर मुनिमुव्रतनाथ के समय होने वाले दशवें चक्रवर्ती हरिषेण की जीवन गाथा को अंकित किया गया है। कवि ने इस ग्रन्थ को संवत् १५२६ में बनाकर समाप्त किया था जैसा कि ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों से प्रकट है:—

‘गोलापुव्व वंश सुपवित्र,
भीमदेव पंडित कउ पुत्त ।
सकर कथा पुरइ यह कहौ,
दिक्खा कारण कीसउ चौपही ।
संवत् पन्द्रह सइ हो गए,
वरिस छब्बीस अधिक तँह भए ।
भादव सुदि परिवा ससिवार,
दिक्खा परवु तह अखियउ सार ।
अब यह कव्वु सपूरण भयउ,
सिरि हरिसेणु संघ कहु जयउ ॥

गोलापूर्वों का अधिकतर निवास बुन्देलखण्ड में पाया जाता है। इनका विकास कब हुआ? यह निश्चित नहीं है। हाँ, इसके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ सं० ११६२ स अवतक की पाई जाती हैं। अनेक मन्दिर प्रतिष्ठा महोत्सव और गजस्थलों का सञ्चालन किया है। ये प्राचीन मूर्तियाँ मध्यभारत के प्राचीन स्थानों—महोबा, छतरपुर, पपौरा, अहार, नावई और बुहरीबन्द आदि स्थानों में पाई जाती हैं। १६वीं १७वीं शताब्दी की रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं, सचित्र विज्ञप्ति पत्र और भक्तामर स्तोत्र का हिन्दी-संस्कृत में अनुवाद करने तथा उसकी सचित्र प्रति लिखाने का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। वर्तमान में इस जाति में अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् और श्रीमान् पाये जाते हैं। यदि अन्वेषण किया जाय तो इस उपजाति के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख और तथ्य प्राप्त हो सकते हैं, जिनपर से उसके इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

ग्रन्थ में ७१२ पद्य दिए हुए हैं। ग्रन्थ की प्रति केवल एक जीर्ण-शीर्ण गुच्छक में उपलब्ध होती है। प्रति अशुद्ध है, जान पड़ता है लेखक प्रति की लिपि से अधिक परिचित नहीं था। अतः ग्रन्थ प्रतियों के अन्वेषण की जरूरत है। संभव है ग्रन्थ किसी ज्ञान भंडार में उसकी उपलब्धि हो जाय। ग्रन्थ प्रकाशन के योग्य है।

चक्रवर्ती हरिषेण का जीवन बड़ा पावन और धार्मिक रहा है। क्षत्रिय होते हुए भी दीन-दुखीजनों की रक्षा द्वारा उसे सार्थक किया है। वे अपनी माता के आज्ञाकारी सुपुत्र थे। उन्होंने अपनी माता की धार्मिक भावना को पूरा किया था। माता जन रथ निकालना चाहती थी, परन्तु वह अपनी सौत के कटु एवं द्वेषपूर्ण व्यवहार के कारण उसमें सफल न हो सकी। सौत का आग्रह था कि पहले मेरा रथ निकलेगा। इस विवाद में कितना ही समय व्यतीत हो गया। इससे हरिषेण की माता को बड़ा कष्ट हुआ, परन्तु वह अपनी धार्मिक भावना में दृढ़ रही। हरिषेण ने दिग्विजय कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया, प्रजा का पुत्रवत् पालन किया और अपनी माता की धार्मिक भावना को पल्लवित पुष्पित किया। अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया और उनके प्रतिष्ठा महोत्सव भी किए।

चक्रवर्ती पुत्र हरिवाहन एक दिन कैलाश पर्वत पर गया, और वहाँ उसने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनवाए हुए मन्दिरों में स्थित जैन प्रतिमाओं के दर्शन किए और कैलाश के चारों ओर खुदी हुई गहरी खाई देखी तथा भगीरथ द्वारा गंगा के लाने का वृत्तान्त भी सुना। और धरणेन्द्र के कोप से सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों के मूर्छित हो जाने का समाचार भी सुना। उन्हीं सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने कैलाश की रक्षा के लिए खाई खोदी थी। इन सब कथानकों से हरिवाहन को संसार की इस परिवर्तनशीलता, अनित्यता और अशरणा का परिज्ञान हुआ। उसने सांसारिक देह-भोगों से विरक्त हो दीक्षा लेने का विचार किया और निश्चय किया कि भव-बन्धन के दुःखों से छूटने का एकमात्र कारण जिन दीक्षा है। मुनि जीवन द्वारा कठोर आत्म-साधना से कर्म क्षय हो सकता है। तपश्चरण और इन्द्रिय निरोध द्वारा आत्म-

शक्ति को जागृत किया जा सकता है जिससे भव-बन्धन की कड़ियाँ सहज ही टूट पड़ें। संसार के दुःखों से छूटने के लिए आत्म-शोधन करना नितान्त आवश्यक है। उसके लिए जिन मार्ग ही उच्छिष्ट हैं, पंच परमेष्ठी ही मेरी शरण है। अतः दीक्षा अवश्य ग्रहण करूँगा। ऐसा विचार कर हरिवाहन ने मन्त्री को बुलाकर कहा कि हे मन्त्री, तुम चक्रवर्ती से जाकर यह निवेदन करो कि हरिवाहन ने कर्मगन्धन से छूटने के लिए तप ग्रहण कर लिया है। अतएव मुझसे जो कुछ अनुचित कहा गया हो सो तुम क्षमा करो और स्वयं दीक्षा ले आत्म-साधना में निरत हो गया। शतयत्रय से हीन हो गया।

मन्त्री ने बहुत अनुनय विनय की, किन्तु हरिवाहन ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि अब मैं यहाँ से वापस नहीं जाऊँगा और मन्त्री को चक्रवर्ती के पास भेज दिया। मन्त्री ने डरते-डरते सब समाचार चक्रवर्ती से निवेदन किया जिसे सुनकर चक्रवर्ती पुत्रमोहवश अत्यन्त शोक को प्राप्त हुआ, जो कवि के शब्दों में निम्न प्रकार है:—

एतहि जहि चक्रवड कुमार,

हरिवाहण बहु गुण साव ।

गहि संवेउ चवड तहि वयणु,

जिसुणि वण वर मंतिथ रयणु ॥६१८

हउं संसार सरणि भय भीऊ,

दुख अणंतु सहियउ इहि जीऊ ।

चउ गइ फिरत भयउ खिख लिण्णु,

कि बि समत्थु कवि जाय उविण्णु ॥६१९

इष्ट विधोग-सोय-बुह भरिउ,

अणिष्ट जोग वेयण अणु सरिउ ।

कवहिक दुख नय असराल,

छिदणाइ बहु पंच पयार ॥६२०

×

×

×

तो जिण उत्तु करउ तव रयणु,

मण गिरोध इविय बस करणु ।

हउं ससंक जम्मण-जण-मरण,

अब मुहि पंच परम गुह सरणु ॥६२१

×

×

×

अपने चित जिनि कर सन्देह,
जिनि मारगु उत्तम हइ एकु ।
हउ तपु लेउ आपने काज,
इम कहत तुही नाही लाज ॥२३॥
जं खिरकाल वयण मइ दुत्तु,
हास-कोडि इह कोह संजनु ।
त महु अज्जु खमहु गिरु सबु,
चढ़ि विमाण जाहि घर बप्पु ॥२४॥
इह संबोह मति पाठयउ,
आपुणु दिक्ख लइ वि संठियउ ।
हार टोर अंवर सुविशेष,
उत्तारिय आभरण निशेष ॥२५॥
अँकार मंतु उच्चरिउ,
पंच मूठ लोच वि सिर करिउ ।
होइ निगंथ सल्लतय हीणु,
परमप्पह कियउ मण लीणु ॥२६॥
दुद्धर महा उगतउ चरिउ,
एतहि मति नयर सचरिउ ।
वहु संवेहु चित्त सासउ धरिउ,
विलल वदन रावल संचरिउ ॥२७॥
तहुडो दोठि सभामहि जाइ,
खूँट एक वइठउ दुचिताइ ।
चक्क वट्टि अक्खलोवइ जाय,
हरिवाहणु नवि पेलइ ताम ॥२८॥
× × ×
नाहि तउ केम सभी विणु रहइ,
जिहि विणु सयल सभाणवि सहइ ।
अह गिणु चित्तु विलविउ जहा,
सो हरिवाहणु रहियउ कहा ॥२९॥
सब चक्कवइ मति पुंछियउ,
तुहि संग हरिवाहण धियउ ।
विलल वयण मंती तव होइ,
गिय कर मलइ वत्थु मुंह देइ ॥३०॥
अंसु पवाह-जयण परिचवइ,
गह भरि आयउ किपि न लवइ ।

नाम नरेसर दिदु कर चित्तु,
पुच्छइ मति कहइ जं चित्तु ॥ ६४२ ॥
तब मंती सयलुवि अक्खियउ,
एकु व गुञ्ज ण तह रक्खियउ ।
जिम कइलास सिंहिर सपत्तु,
तिम संसारह-भयउ-विरत्तु ॥ ६४३ ॥
पुणु अति गाहु अप्पु ज कियउ,
जिम तहि विक्ख लेवि संठियउ ।
जिम खमितव्बु कहिय घर जाइ,
तं सवु तिहि कहिय निकुताइ ॥ ६४४ ॥
मंती वयण सुणि वि गिरु जाम,
मुच्छिउ राउ धरणि पडियउ ताम ।
सभा माहि हा हाकार जु भयउ,
तबहि अंतेवर मण विभियउ ॥ ६४५ ॥
कि वि सुयगु पुंछियउ बुलाइ,
तिहि पभणिउ किं अक्खउ माइ ।
गिक्खिण दइय कियउ जु अणिदु,
हरिवाहण तउ लयउ गरिटु ॥ ६४६ ॥
सुणिवि नरेसर सोयह भरिउ,
मुच्छिमाइ धरणीयल पडिउ ।
इय गिसुणि वि जयचंदा माइ
पडिय धरणि मति कुम्हिलाइ ॥ ६४७ ॥
जणु कमलिणि तुसारइ हई,
खण इक माहि विक्कल हुइ गई ।
ताम वयंसी आकउ भरइ,
जलसिचई किवि वाउसु करइ ॥ ६४८ ॥
इयर अंतेवर पंहुतो आइ,
जयचंदा कहु लेहु बचाइ ।
करुण-पलाउ करंती तहां,
चक्कवट्टि हइ मुक्खिउ जहां ॥ ६४९ ॥
हा ! पिय कि कियउ अजुत्तु,
जइ वि तबोहण संठिउ पुत्तु ।
काहे राज भंगु तुम कियउ,
पुत्त वियोग जीउ किं वियउ ॥ ६५० ॥
चक्रवर्ती हरिषेण और रानी जयचंदा ने पुत्र-वियोग
से दुखी हो अत्यन्त विलाप किया । वह विलाप करती

हुई कहती है कि हे पुत्र, तेरे बिना मुझे सर्वत्र अधकार दिखाई देता है। हे कुलचन्द ! तेरे बिना मेरा मन नहीं लगता, तूने मेरा मन-मन्दिर सूना कर दिया। नगर के लोगों ने दोनों को समझाने का यत्न किया, और कहा कि यह सम्बन्ध इस प्रकार से होना था, आप क्यों व्यर्थ मोह कर दुखी हो रहे हैं। आपके पुत्र ने बड़ा सुन्दर उपाय किया है। हे नाथ ! आप छह खण्ड पृथ्वी के पालक हैं अतः अपने मन में विषाद न कीजिए। इस तरह लोगों के समझाने पर भी चक्रवर्ती के मन में सन्तोष नहीं होता था और बार-बार मोहवश वत्स पुकारता था। राजा रानी ने खान पान भोग और शृंगार आदि का त्याग कर दिया, केवल एक पुत्र से ही अनुराग रहा। इतने में ही उन्हें महा तपस्वी मति सागर नामक साधु का समाचार मिला, और वे उनकी शरण में गए। उन्हें देखकर मुनि ने धर्मवृद्धिरूप आशीर्वाद दिया। तब चक्रवर्ती ने कहा कि मेरे धर्मवृद्धि क्या होगी ? महाराज ! मैं पुत्र वियोग के शोक से संतप्त हूँ। मेरे पुत्र हरिवाहन ने कैलाश पर्वत पर जाकर तप धारण कर लिया है।

१. एतहि सीलवन्तु गुण सहित,
सल्ल कसाय-दोस णिरु रहितु।
दंसण-णाण - चरण सम जुत्तु,
मइसागर णामे मुणि पत्तु ॥
बहु तप-तेय तयउ जिम तरणि,
दिट्ठु णेरस सार घम्म घरणि।
तिण्णि पयाहि य देपिणु जाइ,
पुणि लागउ मुणिवर के पाइ ॥ ६६६
मुणिवर घम्म विद्धि हो सवण,
ताम पर्यपइ पट्ट मिहि घनी।
मुहि किम घम्म विद्धि हो सवण,
पुत्त वियोग दिट्ठु मइ णयण ॥ ६६७
हरिवाहणु जु पुत्तु मण हरणु,
तिहि कइलास लयउ तव यरणु।
ता णिमुणि वि जंपइ मुनि राउ,
चक्कवट्टि मा करहि विसाउ ॥ ६६८ — हरिवेण चरित

मुनिराज ने चक्रवर्ती से कहा कि तुम विषाद मत करो, वह वश स्यान्, क्षेत्र और माता पितादि धन्य है जहाँ इस जीव ने आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न किया है, वे चक्षु धन्य है जिन्होंने कुरूप नहीं देखा किन्तु केवल स्वरूप की ओर ही दृष्टि दी है। वे हाथ धन्य है जिनसे जिन पूजा सौर सत्पात्रों को दान दिया है। हरिवाहन ने जिन निदिष्ट तप का आचरण किया, इसमें विषाद का कोई कारण नहीं है। ससार के समस्त पदार्थ प्रतित्य है—देखते-देखते विनष्ट होने वाले हैं, रूप लावण्यादि क्षणभंगुर हैं, इन्द्र विद्याधरादि की पर्याये भी क्षण में नाश होने वाली हैं। इस जीव का कोई शरण नहीं है मरते हुए जीव को कोई बचाने वाला नहीं है मणि मन्त्र-तन्त्र औषधि आदि भी रक्षा नहीं कर सकती। जिन प्रतिपादित धर्म ही इस जीव का शरण है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य रूप ही धर्म है वही ससार बन्धन का नाश कर मोक्ष पा सकता है। यह अकेला ही जीव सुख तथा दुःख भोगता है। इस तरह गुरु उपदेश से चक्रवर्ती का शोक दूर हो गया और उसकी आत्मा में निर्मल धर्म का प्रकाश हुआ। मिथ्या मोह धुल गया और अन्तर्मानस पावन हो गया चक्रवर्ती चन्द्र-कुंवर को राज्य देकर साधु हो गया और तपश्चरण द्वारा आत्म-शोधन करने लगा।

हरिवाहन ने घोर तपश्चरण द्वारा आत्मशक्ति से जो अग्नि प्रज्वलित की, उससे घाति कर्म का क्षय हो गया और विशुद्ध केवल ज्ञान प्राप्त किया, पश्चात् अघाति कर्म का विनाश कर अविनाशी अनुपम सिद्ध पद प्राप्त किया^१। चक्रवर्ती भी आत्म-साधना द्वारा सर्वार्थ मिद्धि का अहमिन्द्र बना। इस तरह चक्रवर्ती हरिवेण का चरित्र बड़ा पावन है। ग्रन्थ की भाषा हिन्दी होते हुए भी उसमें अपभ्रंश और देशी शब्दों की भरमार है, उससे हिन्दी के विकास क्रम के जानने में सहायता मिल सकती है।

१. देखो हरिवेण चरित

साहित्य-समीक्षा

१. षड्दर्शन समुच्चय सटीक (संस्कृत हिन्दी टीका संग्रुत — मूलकर्ता हरिभद्रसूरि, संस्कृत टीकाकार गुणरत्नसूरि । सम्पादक स्व. डा. महेन्द्रकुमार जैन न्याया-चार्य, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्डमार्ग वाराणसी —५, बडा साइज, छपाई, सफाई, गेटप सुन्दर, पृष्ठ सं० ५५८ सजिल्द प्रतिका मूल्य २२) रुपया ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है । आचार्य हरिभद्र ने ८७ कारिकाओं द्वारा षड्दर्शनों का सामान्य परिचय कराने हुए प्रत्येक दर्शन के मूल सिद्धान्तों को सन्तुलित रूप में प्रस्तुत किया है और षड्दर्शनों में वैदिक और अवैदिक दर्शनों को समाविष्ट किया है । छह वैदिक दर्शन (सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा) माने जाते थे, किन्तु हरिभद्र ने उनमें बौद्धदर्शन और जैन दर्शन को शामिल किया है, अतएव छह दर्शनों की मर्यादा — बौद्ध, नैयायिक, साम्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय इस रूप में की गई है ।

टीकाकार गुण रत्नसूरि ने षड्दर्शन ग्रन्थ पर सुन्दर टीका लिखकर उसके मर्म को खोलने का प्रयत्न किया है, उन्होंने ही उसके विभाग किये हैं । टीका ग्रन्थ के हादका उद्घाटन करती है । भाषा की दृष्टि से वह दुरुह नहीं है ।

स्व० न्यायाचार्य डा० महेन्द्रकुमार जी ने उसका हिन्दी अनुवाद कर ग्रन्थ को और भी सुगम बना दिया है । तुलनात्मक टिप्पणियाँ तो ग्रन्थ की महत्ता को प्रकट कर ही रही हैं । दुःख इस बात का है कि ग्रन्थका सम्पादक और अनुवादक अल्पायु में ही स्वर्गवासी हो गया है । उनसे समाज को बड़ी आशाएँ थी । उन्होंने जून संस्कृति की जो सेवा की, वह उनकी कीर्ति को अमर बनाएगी । ग्रन्थान्त में दो परिशिष्टों में लघुवृत्ति और षड्दर्शन समुच्चय और अवचूर्ण दे देने से ग्रन्थ की महत्ता बढ़ गई है । ग्रन्थ की प्रस्तावना दल सुखमालवणिया ने लिखी है जिसमें ग्रन्थादि विषयक अच्छा परिचय दिया है, ग्रन्थ का प्रकाशन सुन्दर हुआ है । इसके लिए भारतीय ज्ञान-पीठ के संचालक धन्यवाद के पात्र हैं । ग्रंथ उपयोगी है,

दर्शनशास्त्र के अभ्यासियों को मगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए ।

२. प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश — लेखक सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, प्रकाशक डा० दरबारीलाल जी, मंत्री वीर सेवामन्दिर ट्रस्ट । पृष्ठ संख्या ७०, छपाई-सफाई सुन्दर । मूल्य एक रुपया पचास पैसे ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है । लेखक ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के छठे सूत्र प्रमाण नयैरधिगमः—सूत्रगत नयदृष्टि के अभिप्राय को खोलने का प्रयत्न किया है । क्योंकि देवसेन ने लिखा है कि जो नयदृष्टि विहीन है उन्हीं वस्तुतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती, और वस्तुस्वरूप की उपलब्धि के बिना ये सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ? नयदृष्टि से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि होते हैं । प० क० आनन्दप्रती प्रसिद्ध विद्वान और अच्छे लेखक हैं, उनकी अनेक कृतियाँ साहित्यिकों के सम्मुख आ चुकी हैं । उन्होंने अपने अनुभव से प्रमाण नय और निक्षेप पर अच्छा प्रकाश डाला है । भाषा सुगम और सरस है, वह पाठकों के लिए अत्यन्त रुचिकर होगी । इस उपयोगी प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट दोनों ही धन्यवाद पात्र हैं ।

३. उत्तराध्ययन-सूत्र एक परिशीलन — लेखक डा० सुदर्शनलाल जैन, प्रकाशक सोहनलाल, जैनधर्म प्रचारक समिति गुरु बाजार, अमृतसर । पृष्ठ संख्या साढ़े पाँचसौ, मूल्य सजिल्द प्रतिका २५) रुपया ।

उत्तराध्ययन एक सूत्र ग्रन्थ माना जाता है उस पर यह शोध प्रबन्ध लिखा गया है जिस पर लेखक को बनारस विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की डिग्री मिली है । लेखक ने उत्तराध्ययन का परिचय कराते हुए उसके अर्थ पर भी विचार किया है शोधकर्ता ने मूलग्रन्थ के पद्यों का दोहन करके उसके नवनीत को पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है । ग्रन्थ में आठ प्रकरण हैं जिनमें विविध विषयों पर विचार किया गया है । द्रव्य विचार, संसार, रत्नत्रय, कर्मबन्ध और मुक्ति

समाज और संस्कृति और सामान्य-विशेष साध्वाचार में साधु के आहार-विहार आदि पर विचार किया गया है, तपश्चर्या परिषद् जय, साधु की प्रतिमाएँ और सल्लेखना पर विशेष विचार किया गया है। साथ ही विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त एवं सरलरूप में वस्तु तत्त्व को रखने का उपक्रम किया गया है। चार परिशिष्टों द्वारा उसे और भी सरल करने का प्रयत्न किया है। इस तरह सारा ही ग्रन्थ लेखक की भावना और परिश्रम से सुन्दर बन पड़ा है। भाषा मुहावरेदार है उसमें गति है—प्रवाह है। इसके लेखक महानुभाव धन्यवादार्ह हैं। ग्रन्थ के इस सुन्दर प्रकाशन के लिए विद्याश्रम के सचालकगण धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है भविष्य में जेनाश्रम से और भी अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन हो सकेगा।

४. तत्त्वार्थसार—आचार्य अमृतचन्द्र सम्पादक पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य। प्रकाशक मन्त्री गणेश वर्णी-ग्रन्थमाला डुमराब वाग अस्सी वाराणसी ५। डेमीसाइज मूल्य ६) रुपये।

ग्रन्थ का विषय उसके नाम से स्पष्ट है। प्रस्तुत ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थ सूत्र के सार को पल्लवित एवं विकसित करते हुए वस्तुतत्त्व का विवेचन किया है। और कहीं-कहीं तो उन्होंने अनेक नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिससे विषय को समझने में सरलता हो गयी है। आचार्य अमृतचन्द्र बहुश्रुत विद्वान् थे, भाषा और विषय पर उनका अधिकार था। आ. कुन्दकुन्द के सारत्रय ग्रन्थों की जो टीका बनाई है वह कितनी महत्वपूर्ण है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है उसके रसिकजन उसकी महत्ता से स्वयं परिचित हैं। टीकाकार ने ग्रंथ के हार्द को उद्घाटित करने का पूरा प्रयत्न किया है। भाषा गंभीर और सरस है, पढ़ने में बड़ी रुचिकर प्रतीत होती है। जान पड़ता है ग्रन्थकार के भाव को टीकाकार ने आत्मसात् किया है, वे अध्यात्म विषय के महान् विद्वान् थे। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नाम की २२६ श्लोकों की प्रसाद गुणयुक्त रचना है, जो श्रावकाचार्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, उसमें रत्नत्रय का सुन्दर कथन दिया है और अहिंसा का जो सूक्ष्म विवेचन दिया है वैसा अन्यत्र

नहीं मिलता।

आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की दशवी शताब्दी है^१। तत्त्वार्थसार की हिन्दी टीका पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने बनाई है टीका सरल और अपने विषय की अभिव्यञ्जक है, ३८ पृष्ठ की प्रस्तावना में सम्पादक ने ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है। प्रस्तावना में तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध १२ टीकाओं का उल्लेख किया है, निम्न दो टीकाओं का उसमें उल्लेख नहीं है।

श्रवण वेल्गोला के शिलालेख नं० १०५ में शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य और तत्त्वार्थसूत्र की टीका का कर्ता उद्घोषित किया है^२ जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

तस्यैव शिष्यो शिवकोटि सूरि स्तपोलतालम्बव देह्यष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्त्वार्थसूत्रं तदलंकारः॥

दूसरी टीका उन प्रभावन्द की है जो भ० घर्मचन्द्र के पट्टधर थे। जिसे उन्होंने जैताख्य नाम के ब्रह्मचारी के सम्बोधनार्थ संवत् १४८९ में भाद्रपद शुक्ला पचमी के दिन बनाकर समाप्त किया था^३। इनके अतिरिक्त अन्वेषण करने पर और भी टीकाओं का उल्लेख प्राप्त हो सकता है।

ग्रन्थ का प्राक्कथन पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य ने लिखा है, जिसमें आचार्य अमृतचन्द्र के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है। इसके लिए पंडित जी और सम्पादक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ का प्रकाशन गणेश वर्णी ग्रन्थमाला से हुआ है। ग्रन्थमाला के मन्त्री डा० दरबारीलाल जी ने प्रयत्न करके ग्रन्थमाला को पुनरुज्जीवित किया है। आशा है डा० सा० के सद् प्रयत्न से ग्रन्थमाला और भी पल्लावित होगी। इस उपयोगी प्रकाशन के लिए मन्त्री महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

— परमानन्द जैन शास्त्री

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ८ कि०

२. अनेकान्त वर्ष २ किरण ६ पृ० ३७५.

३. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग १ पृ० १७३

पं० मिलापचन्द जी कटारिया का देहावसान

पंडित मिलापचन्द जी कटारिया अछे विद्वान और लेखक थे। जैन समाज उनके खोजपूर्ण लेखों से भली भाँति परिचित है। वे प्रतिष्ठाचार्य भी थे, अनेक मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा उन्होंने कराई थी, पर उन्होंने प्रतिष्ठानों से कभी धन कमाने की इच्छा नहीं की। प्रतिष्ठाशास्त्र के अछे विद्वान तथा शास्त्र प्रवक्ता थे। अनेक शंकाओं का समाधान करते हुए मैंने उन्हें देखा है। वे वस्तु की तह में प्रविष्ट होकर उसके हार्द को समझाने में कुशल थे। उनकी परिणति शान्त थी। अपना कार्य करते हुए भी वे सामाजिक कार्यों में भी भाग लेते रहते थे। केकडी की जैन समाज में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। वे आज नहीं है, वैशाख सुदी १० वी बुधवार को उनका स्वर्गवास बोलते-बोलते हो गया। उनके सुपुत्र प० रतनलाल जी कटारिया अपने पिता के समान ही विद्वान और लेखक हैं। उनके भोजपूर्ण लेख अनेक पत्रों में तथा अनेकान्त में प्रकाशित हुए हैं। मैं और अनेकान्त परिवार उनके इस वियोग जग्य दुःख में समवेदना व्यक्त करते हुए दिवगत आत्मा के लिए सुख-शान्ति की कामना करता हूँ। आशा है प० रतनलाल जी अपने पिता जी की कीर्ति को चिर स्थायी बनाये रखेंगे।

(पृ० ४१ का शेष)

वस्तु है। गले में माला है। किरौट भी दिखाई देता है। सप्त फणाबली भी सिर पर अंकित है। इस फणाबली के ऊपर एक पद्मासन मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमा है। देवी की प्रतिमा के दोनों ओर ऊपर नीचे दो देव हैं। ऊपर के देव चवरधारी हैं। नीचे के देव कुत्तो पर सवार दिखाई देते हैं। प्रतिमा का आसन एक कमल के फूल पर बनाया गया है।

इसी मन्दिर में सेठ गोपाली साब पूरन साहब सिवनी द्वारा निमित म० न० ११ में एक पापाण निमित चौबीसी है जिसके आसन पर एक लेख भी अंकित है जो इस प्रकार है—

संवत् १८७२ साके १७३(८) भाद्रो सुदि १४ या मूलसंधे सरस्वती गने णे (गच्छे) बलात्कारगणे कुन्द-कुन्दान्वये बदली...प्रतिष्ठितं सु(शु)भ भवतु।

चौबीसी में दोनों ओर खड्गासन मुद्रा में ५-५ उनके

नीचे पद्मासन मुद्रा में पुनः ५-५ इनके मध्य में एक के नीचे एक चार प्रतिमाएँ, जिनमें तीन पद्मासन मुद्रा में और एक खड्गासन मुद्रा में है। अन्तिम प्रतिमा पर छत्र है। यह सबसे आकार में बड़ी भी है। आसन पर हिरण चिन्ह अंकित है जिससे यह शान्तिनाथ भगवान की चौबीसी ज्ञात होती है। इसी मन्दिर में एक चौबीसी ऐसी भी है जिसमें २५ प्रतिमाएँ अंकित हैं, संभवतः इसमें मूल नायक प्रतिमा को अलग से बनाया गया है जबकि प्रथम चौबीसी में ऐसा नहीं है। लेख दो पक्तियों में संस्कृत भाषा में नागरी लिपि में अंकित है। म० नं० १५, १८, १९, २०, २२ में विराजमान प्राचीन प्रतिमाएँ भी दृष्टव्य हैं। किन्तु शिल्प कला की दृष्टि से म० नं० ४ की मूर्ति ही श्रेष्ठ है।

इस भाँति कलचुर काल में जैनधर्म की स्थिति ठीक बनी रही ज्ञात होती है। तत्कालीन जैनी कला पुजारी भी रहे हैं।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

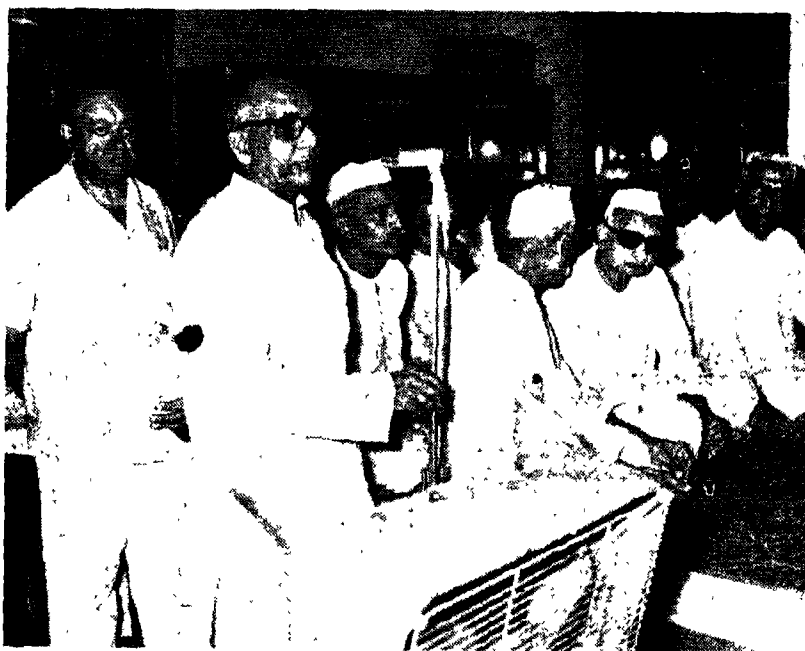
पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५.००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८.००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२.००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल किशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमातङ्ग : पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित	१-५०
युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
श्रीपुराश्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित।	७५
शासनचतुस्त्रिशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३.००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह. उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४.००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४.००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय) —मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	२५
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक	१६
अध्यात्म रहस्य : प० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१.००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२.००
न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	७.००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

अनेकान्त

वर्ष २४ : क्रि. २

वीरशासन जयन्ती महोत्सव



बायें से बायें १. श्री लाला राजेन्द्रकुमार जी अध्यक्ष वीरशासन जयन्ती, २. ला० पारसदास, जी
३. श्री ला० उलफतराय जी, ४. श्री ला० इयामलाल जी उपाध्यक्ष वीरसेवामन्दिर,
५. श्री प्रेमचन्द जंतावाच कम्पनी, ६. श्री यशपाल जी भाषण देते हुए,
७. श्री ला० प्रेमचन्द जी मंत्री वीर सेवा मन्दिर ।

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र



वीरशासन जयन्ती के अवसर पर उपस्थित श्रोताओं के समूह का एक दृश्य

विषय-सूची

क्र०	पृ०	क्र०	पृ०
१. अभिनन्दन जितस्ववन — राचाये समन्तभद्र	४६	६. सत कवीर और चानतराय — डा० गंगागम गर्ग	३२
२. गुणक्रीतिकृत चौपदी—डा. विद्याधर जोहरापुरकर	५०	७. सदोपता—मुनि श्री कन्हैयालाल	६५
३. भारत कलाभवन का जैन पुरातत्त्व— महानिन्दन प्रसाद तिवारी	५१	८. पांडे जीवनदासका बारहमासा—श्री गिन्नीलाल	६६
४. अवभज का एक अर्चान चरित काव्य— डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	५३	९. कर्लिंग का इतिहास और सम्राट् खारवेल : एक अध्ययन—परमानन्द जैन शास्त्री	६६
५. हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएँ—परमानन्द शास्त्री	५८	१०. प्रयाग—श्री प० बलभद्र जैन	७६
		११. खण्डार के सेन परम्परा के लेख— रामवल्लभ सोमाणी	८३
		१२. मध्यप्रदेश में काकागंज का जैनपुरातत्त्व— कस्तूरचन्द सुमन एम. ए.	८४
		१३. राजगिरि या राजगृह—परमानन्द शास्त्री	८६
		१४. मूक-साहित्य-सेवी—माईदयाल बी. ए. आनर्स	९०
		१५. वीरशासन जयन्ती—श्री प्रेमचन्द जैन	९३
		१६. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	९४

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपये २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। —व्यवस्थापक अनेकान्त

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वष २४
किरण २

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६७, वि० सं० २०२७

जून
१९७१

अभिनन्दन जिनस्तवन

नन्दनन्तर्धनन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन ।

नन्दनद्विरनम्रो न नम्रो नष्टेऽभिनन्दन ॥२२॥

—आचार्य समन्तभद्र

अर्थ—समृद्धि-सम्पन्न, अनन्त ऋद्धियों से सहित और अन्त रहित हे अभिनन्दन स्वामिन् ! आपको नमस्कार करने वाला पुरुष (आपके ही समान सबका) ईश्वर हो जाता है । जो बड़ो-बड़ी ऋद्धियों के धारी हैं वे आपके विषय में अनम्र नहीं हैं—आपको अवश्य ही नमस्कार करते हैं और जो आपकी स्तुति कर नम्र हुए हैं वे कभी नष्ट नहीं होते—अवश्य ही अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—जो सच्चे हृदय से भगवान को नमस्कार करते हैं वे अनेक बड़ी ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं । और अन्त में कर्मों का क्षय कर अविनाशी मोक्षपद पा लेते हैं । इसलिए आचार्य ने ठीक ही कहा है कि आपको नमस्कार करने वाले पुरुष आपके समान संसार के ईश्वर हो जाते हैं ॥२२॥

गुणकीर्ति कृत चौपदी

डा० बिद्याधर जोहरापरकर

मराठी में जैन साहित्य की परम्परा के अप्रदूत गुणकीर्ति—जो पन्द्रहवीं शताब्दी के गुजराती साहित्यकार ब्रह्म जिनदास के शिष्य थे—उनके कुछ पद देउल गांव (जिला बुसडाणा, महाराष्ट्र) के जिनमन्दिर को एक जीर्ण मीथी में मिले हैं। इन्हींमें से एक यहां दिया दिया जा रहा है। इसमें एक ध्रुपद और चार छंद हैं जिनमें मराठी का गुजराती—प्रभावित स्वरूप स्पष्ट देखा जा सकता है। कवि के शब्दों का सरल रूपान्तर इस प्रकार होगा :—

हम श्री गुरु के शिष्य हैं, उनके चरण प्रक्षालन कर वह जल पिएंगे। अब तक योग का अभ्यास करने में समय गंवाया, अब आनन्द का रस लेकर जिएंगे। योगी लोगो, बाबू लोगो, अबधूत पुत्रों, समझ लो ! जो सद्गुरु के वचनों से ज्ञान प्राप्त करते हैं वे अनन्त मुक्ति सुख में मग्न होते हैं। हमारे गुरु के कोई गुरु नहीं हैं, उनके आसन निराले ही हैं। वे शुक्ल ध्यान की भूमि पर बैठे हैं, ओंकार रूपी सींग बजाते हैं जिससे सारा आकाश गूंज रहा है, उनके मुख में अनादि वेद (जिन-वाणी) के दर्शन हुए हैं। वे साकार रूप में उन्मन हुए और उनके सारे कार्य रुक गये। संकल्प और विकल्प दोनों का अस्त हुआ और सार रूप आत्मतत्त्व ही बचा रहा। उनका शरीर तो दिखता है किन्तु छाया नहीं दिखती; क्योंकि उनके दिव्य शरीर से सप्तधातु क्षीण हो गये और उन्हें न केवल लब्धियां प्राप्त हुई हैं।

मूल पद

हमें तो चेला श्रीगुरु केरा चरण पखाला नीर पिऊ।
योग अभ्यासे कालु वैचियेला आनंद रसेवि जोवो ॥ध्रु०॥
बुभो जोगीलो बुभो बाबुलो बुभो अबधूत पुता।
सद्गुरुवचने जे नर बुझले अनंत सिव सुखा मुता ॥१
निगुरो गुरु मोरा निरालो आसन शुक्लध्यान भूमी बंठा।
ओंकार सींगी बाजे गगन मडक गाजे अनादि वेद मुखी दीठा ॥२
साकाररूपी उनमन मडले खुटले व्यापार व्यापार।
संकल्प विकल्प दोन्ही भावलले निजतत्वा राहिले सार ॥३
काया तो दीसे छाया न दीसे सप्त धातु गेले खीन।
नव केवल लब्धी प्रापति पावले गुणकीर्ती म्हणे देव जिन ॥४

भारत कला भवन का जैन पुगतत्व

मरुति नंदन प्रसाद तिवारी

वाराणसी स्थित भारत कला भवन में विभिन्न युगों से सम्बन्धित कई जैन प्रस्तर और कांस्य प्रतिमाएँ सज्जीकृत हैं, किन्तु इस लेख में हम मात्र प्रस्तर प्रतिमाओं का ही अध्ययन करेंगे, क्योंकि कांस्य प्रतिमाओं का अपना स्वतंत्र महत्व होने के कारण उस पर एक अलग लेख अपेक्षित है।

२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के एक कुषाण युगीन शीर्षभाग (नं. २०७४८) को शैली के आधार पर प्रथम शती ईसवी में तिथ्यांकित किया गया है। मथुरा से प्राप्त होने वाले इस शीर्ष में देवता के मस्तक पर सप्त फणों से युक्त नाग का घटाटोप प्रदर्शित है, जो पार्श्वनाथ अंकन की विशेषता है। देवता की केश रचना सीधी रेखाओं से प्रदर्शित सहायक आकृति की अवशिष्ट भुजा के ऊपरी भाग में चाँवर चित्रित है।

भारत कला भवन में शोभा पा रहे गुप्त युगीन प्रतिमाओं में एक महावीर शीर्ष (नं. २६४) का चित्रण करता है। राजघाट से प्राप्त इस मनोज्ञ शीर्ष में देवता की केश रचना गुच्छकों के रूप में निर्मित है। लम्बे कर्ण, अर्धनिर्मलित नेत्र, मुख पर मंदस्मित का भाव, अन्तर्दृष्टि, लम्बी नासिका आदि इस शीर्ष की ध्यातव्य विशेषताएँ हैं। यह शीर्ष समस्त गुप्त युगीन कलात्मक विशेषताओं का निर्वाह करता हुआ प्रतीत होता है। तीर्थंकर आकृति के ऊर्ध्वभाग में उड्डायमान गन्धर्व आकृतियों की मूर्तियुक्त किया गया है, जिनकी भुजाओं में पुष्पहार प्रदर्शित है। देवता के मस्तक के ऊपर छत्र रूप में वृक्ष का अंकन प्रशंसनीय है। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसे छठी शती ईसवी में तिथ्यांकित किया जा सकता है। यद्यपि यह शीर्ष संग्रहालय में महावीर अंकन के नाम से स्थित है, पर मैं किसी निश्चित प्रमाण या लक्षण के अभाव में ऐसा करना उचित नहीं समझता।

तीर्थंकर का चित्रण करने वाली एक अन्य गुप्त-युगीन (६ठी शती ईसवी) मूर्ति (नं० १६१) में देवता को एक ऊँची पीठिका पर ध्यान मुद्रा में आसीन चित्रित किया गया है। पीठिका के नीचे विश्वपद्म का अंकन चित्ताकर्षक है। पीठिका के मध्य में उत्कीर्ण घर्मचक्र के दोनों ओर दो सिंहों का प्रदर्शन तीर्थंकर के सिंहासन पर आसीन होने की पुष्टि करते हैं। वाराणसी से प्राप्त इस मूर्ति के पादपीठ के दोनों घेरों पर चित्रित दो तीर्थंकर इस अंकन की विशिष्टता है। इस नयनाभिराम चित्रण में मुख्य आकृति के दोनों पादों में दो आकृतियों की उत्कीर्ण किया गया है, जो संभवतः शासन देवता है। मुख्य आकृति के पृष्ठभाग में प्रदर्शित अलकरण हीन प्रभावण्डल के दोनों ओर गुप्तयुगीन शिरोभूषण से युक्त दो उड्डायमान गन्धर्वों का चित्रण ध्यानाकर्षक है। देवता की केश रचना गुच्छकों के रूप में निर्मित है। मूलनायक के वक्षस्थल पर श्रीवत्स उत्कीर्ण है। गुप्तयुगीन समस्त विशेषताओं से युक्त इस प्रतिमा के मुखमण्डल पर प्रदर्शित मंदस्मित, शांति व विरक्ति का भाव प्रशंसनीय है। संग्रहालय में यह प्रतिमा महावीर मूर्ति के नाम से स्थित है, पर मेरी दृष्टि में तीर्थंकर के लक्षण या किसी लेख आदि के अभाव में इसकी निश्चित पहचान संभव नहीं है। यद्यपि डा. यू. पी. शाह हिरण्य के स्थान पर घर्मचक्र के दोनों ओर प्रदर्शित सिंह आकृतियों के आधार पर इसे महावीर अंकन बतलाते हैं, क्योंकि घर्मचक्र के दोनों ओर तीर्थंकरों के लाक्षणिक चित्रण की परम्परा गुप्तयुग में सर्वथा प्रचलित थी। यह मूर्ति ४'५ १/२" लम्बी व ३ १/२" चौड़ी है।

भारत कला भवन में स्थित जैन प्रतिमाओं में एक विशिष्ट अंकन कल्पवृक्ष पर आसीन तीर्थंकर का चित्रण

अकलंक तामि तिरि पायपूय,
इवाइ महाकइ अट्ट हय ।
तिरि जेमिचन्व सिद्धतिमइ,
सिद्धतसार मणि नविवि ताइ ।
चउमहु सुयंभु तिरि पुण्फयंतु,
सरसइ निवासु गुणगण महंतु ।
अल्लकित्त बुणीसच अल्लगिहाणु,
पंडिय रइयू कह गुण अमाणु ।
गुणभइसूरि गुणभइ ठाणु,
तिरि सहणपासु बहु वुद्धि जाणु ।

पूर्वकवियों के कीर्तन के उपरान्त कवि अपनी अज्ञानता को स्पष्ट प्रकट करता हुआ कहता है कि मैंने शब्दशास्त्र नहीं देखा, मैं कर्ता, कर्म और क्रिया नहीं जानता । मुझे जाति (छद), धातु और सन्धि तथा लिंग एवं अलंकार का ज्ञान भी नहीं है । कवि के शब्दों में:—

णउ बिट्ठा णउ सेविय सुतेय,
मइ सहसत्थ जाणिय ण भेय ।
णो कत्ता कंभु ण किरिय जति,
णउ जाइ धाउ णवि संधि उति ।
लिगाअंकाइ ण पय समति,
णो वुज्झिय मइ इक्कवि बिहत्ति ।
णो अमरकोसु सो मुत्तुठाणु,
आणिउ मइ अण्णु ण णाम माणु ।
णिग्घंटु बियाणिवउ वणि गइडु,
सुछवि ण ठहिउ मणु मइडु ।
पिगल सुवण्णु तं बइ रहिउ,
आणिउ मइ अण्णु ण कोवि गहिउ ।

इसलिए ज्ञानी जन इस काव्य-व्यापार को देखकर कोप न करें ?

यहाँ पर सहज ही प्रश्न उठता है कि जब तुम अज्ञानी हो और इस काव्य-व्यापार को जानते-समझते नहीं हो तब काव्य-रचना क्यों कर रहे हो ? रचनाकार का उत्तर है—

जइ विणयए णहि उज्जोउ करइ,
ई ता कि अज्जमिउ णउ फुरइ ।

जइ कोइल रसइ सुमहुरवाणि,
किट्टिट्टर हइ पुण्हसु ठाणि ।
जइ वियसइ सुरहिय चंपराउ,
कि णउ फुलइ किमुय मराउ ।
जइ पणहु विवज्जइ गहिरणाउ,
ता इयर म वज्जउ तुच्छ भाउ ।
जइ सरवहि गमइ सुहंसु लील,
कि णउ धरि मंगणि बहु सवील ।
मण मित्त मुयहि तहु कायरतु,
करि विणहु भत्ति हय बुव्वरित्तु ।
बहु विणउ त्रयासिबि सज्जणाह,
कि ण्हाण णु करि खल्लेयणगणाह ।

अर्थात् यदि दिमकर (सूर्य) प्रकाश न करे तो क्या खद्योत (जुगमू) स्फुरण न करे ? यदि कोयल सुमधुर वाणी में आलाप भरती है तो क्या टिट्ठरी मीन रहे ? यदि चम्पक पुष्प अपनी सुरभि चौरों और प्रसारित करता है तो क्या बेचारा टेसू का फूल नहीं फूले ? यदि नगाड़े गम्भीर नाद करते हैं तो क्या अन्य वाद्य वादित ग हों ? यदि सरोवर में हंस लीला करते हैं तो क्या घर के आंगन में अनेक सवील (अबाबोल) ? पक्षी क्रीडाए न करें ? इत्यादि ।

कवि ने अपने परिचय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा । केवल सन्धि के अन्त में उल्लेख से यह पता चलता है कि वे इल्लिराज के पुत्र थे । इसी प्रकार से अन्तिम प्रशस्ति से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि वे दिल्ली के आसपास के किसी गाँव के रहने वाले थे । उन्होंने इस काव्य की रचना योगिनीपुर (दिल्ली) के श्रावक विद्वान् साधारण की प्रेरणा से की थी । उन दिनों दिल्ली के ब्रिहासन पर शहनशाह बाबर का शासन था । ग्रन्थ का रचना काल विक्रम संवत् १५८७ है । इस

१. प्रायदू गधपमाणु वि लक्खिउ,
ते पाल सयइ गणि कइय ण अक्खिउ ।
विण्हेण वि ऊधा पुत्तएण, भूदेवेण वि गुणगणजुएण ।
लिहियाउ चित्तेण चि सावहाणु,
इहु गंधु विवुह खर आय भाणु ।
विकमरायहु ववगय कालइ,

काव्य रचना का ग्रन्थ प्रमाण लगभग ५००० हजार कहा गया है : पांच सहस्र श्लोकप्रमाण से रचना अधिक हो सकती है, कम नहीं है । क्योंकि तेरह सन्धियों की रचना अपने काय में कम नहीं है ।

काव्य में निबद्ध तेरह सन्धियों में वर्णित संक्षिप्त विषय वस्तु इस प्रकार है—

१. प्रथम सन्धि में मगध देश के सुप्रसिद्ध शासक राजा श्रेणिक और उनकी रानी चेतना का वर्णन है । राजा श्रेणिक अपने युग के सुविदित तीर्थङ्कर भ० महावीर के समवसरण (धर्म-सभा) में धर्म-व्यास सुनने के लिए जाते हैं । वे भगवान की वन्दना कर गोतम गणधर से प्रश्न पूछते हैं । १२ कडवकों में समाहित प्रथम सन्धि में इतना ही वर्णन है ।
२. दूसरी सन्धि में विजयाय पर्वत का वर्णन, श्री अकलंककीर्ति की मुक्ति-साधना का वर्णन तथा श्री विजयाय का उपसर्ग-निवारण वर्णन है । इस सन्धि में कुल २१ कडवक हैं ।
३. तीसरी सन्धि में भगवान् शान्तिनाथ की भवावलि का २३ कडवकों में वर्णन किया गया है ।
४. चतुर्थ सन्धि २६ कडवकों में निबद्ध है । इसमें भ० शान्तिनाथ के भवान्तर के बसभद्र के जन्म का वर्णन किया गया है । वर्णन बहुत सुन्दर है ।
५. पाँचवी सन्धि में १६ कडवक हैं । इसमें वज्रायुध चक्रवर्ती का वर्णन विस्तार से हुआ है ।
६. छठी सन्धि २५ कडवकों की है । श्री मेघस्थ की सोलह भ्रातृनाओं की आराधना और सर्वार्थसिद्धि-गमन का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है ।
७. सातवी सन्धि में भी २५ कडवक हैं । इसमें मुख्यतः भ० शान्तिनाथ के जन्माश्लेषक का वर्णन है ।
८. आठवी सन्धि २६ कडवकों की है । इसमें भगवान् शान्तिनाथ के कर्म-प्राप्ति से ले कर समवसरण-विभूति-विस्तार तक वर्णन है ।

रिसिबु सर भुवि अंकालह ।

कस्तिथ बढम पन्नि पंचमि द्विणि,

हुउ सरिपुण्ण ! वि उगतह द्विणि ।

—अन्त्य प्रशस्ति

९. २७ कडवकों की इस नौमी सन्धि में भ० शान्तिनाथ की दिव्य-ध्वनि एवं प्रवचन-वर्णन है ।

१०. दसवी सन्धि में केवल २० कडवक हैं । इसमें तिरै-सठ महापुरुषों के चरित्र का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है ।

११. ३४ कडवकों की इस ११वीं सन्धि भौगोलिक प्रायामों के वर्णन से भरित है, जिसमें केवल इस क्षेत्र का ही नहीं सामान्य रूप से तीनों लोकों का वर्णन है ।

१२. १८ कडवकों की इस १२वीं सन्धि में भ० शान्तिनाथ के द्वारा वर्णित चरित्र अथवा सदाचार का वर्णन किया गया है ।

१३. अन्तिम तेरहवी सन्धि में भगवान् शान्तिनाथ का निवर्णन-गर्भन का वर्णन १७ कडवकों में निबद्ध है ।

इस प्रकार इस काव्य का वर्ण्य-विषय पौराणिक है, जो लगभग सभी पौराणिकता से भरित रचनाओं में एक साथ में रचा गया है । इसमें कथा-वस्तु उसी प्रकार सम्पादित है । उसमें कोई विशेष अन्तर परिलक्षित नहीं होता ।

कथा-वस्तु की दृष्टि से भले ही कोई नवीनता लक्षित न हो, किन्तु काव्य-कला और शिल्प की दृष्टि से यह रचना वास्तव में महत्वपूर्ण है । आलोच्यमान रचना अपभ्रंश के चरितकाव्यों की कोटि की है । चरितकाव्य के सभी लक्षण इस कृति में परिलक्षित होते हैं । चरितकाव्य कथा-काव्य से भिन्न है । अतएव पुराण की विकसनशील प्रवृत्ति पूर्णतः इस काव्य में लक्षित होती है । प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में साधारण के नाम से अंकित संस्कृत श्लोक भी विविध छन्दों में लिखित मिलते हैं । जैसे कि नवीं सन्धि के आरम्भ में—

सुलसितपदयुक्ता सर्वदोषविभक्ता,

जडमतिभिरमम्या मुक्तिमार्गं सुरम्या ।

जितमदनमदानां चाहवाणी जिनानी,

परचरितमयीनी पातु साधारणानां ।

१. कथाकाव्य और चरितकाव्य में अन्तर जानने के लिए लेखक का शोधप्रबन्ध दृष्टव्य है : 'भविष्यसप्त-कथा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य', पृ० ७६-७९.

इसी प्रकार ग्यारहवीं सन्धि के आरम्भ में उल्लिखित है—
कनकमयगिरीन्द्रे चार्कसिंहासनस्थः

प्रमुदितसुरबुन्दैः स्नापितो यः पयोभिः ।

सविशतु जिननाथः सर्वदा सर्वकामा-

नुपचितशुभराशेः साधु साधारणस्य ॥१०॥

जिस समय शान्तिनाथ के मानस में वैराग्य भावना हिलोरे लेने लगती है और ये घर-द्वार छोड़ने का विचार करते हैं तभी स्वर्ग से लोकान्तिक देव आते हैं और उन्हें सम्बोधित करते हैं:—

चित्तइ जिणवरुणिय मणि जामवि ।

लोयंतो सुर प्रागइ तामवि ।

जय जयकार करति णविय सिर ।

चंगड भाविउ तिहुयण णेसर ।

क्या भगवन् ! आप तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले हैं और भक्तजनों के मोह-ग्रन्धकार को दूर करने वाले हैं ।

अपभ्रंश के अन्य प्रबन्धकाव्यों की भाँति इस रचना में भी चलते हुए कथानक के मध्य प्रसगतः गीतो को संयोजना भी हुई है । ये गीत कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं । उदाहरण के लिए:—

अइ महससी घर षण्णत्ती,

मारुयगामिणि कामवि रुविणि ।

हुय वह थंमणि णीरुणिसुभणि,

अंधीकरणी आयहु हरणी ।

सयलपवेसिणि अविघावेसिणि,

अप्पडिगामिणि विविहविभासिणि ।

पासवि छेयणि गहणीरोयणि,

वलणिट्ठाडणि मंडणि ताडणि ।

मुक्करवाली भीमकराली,

अबिरल पहरि विज्जुल चलयरि ।

वेचि पहावइ अरिणिट्ठावइ,

लहुवर मंगी भूमि बिभंगी ।

१. तित्थपवत्तणु करहि भडारा, भवियहं फंडहि मोहंधारा ।

गय लोयतिय एम कहेविणु,

ता जिणवरिण भरहु घर देविणु ।

—सन्धि ६, कडवक १६

एक अन्य प्रकार के गीत का निदर्शन है:—

सरोवरं पफुट्ट कंजरेण पिजरं,

समोयरं सगुज्ज उठभंठं सुसायर ।

वर सुप्रासणं मयारि रुव भीसय,

सरं मवंसं वित्तय सुदेव गेहय ।

अहिदं मंदिरं सुलोपणित्तं सुदरं,

पकत्ति जत्तयं सुरण्ण सखय वरं ।

ण तित्ति इयण हुयासण पालत्तयं

अधूमजाल देवमग्गु ण गिलत्तय ॥७१२

एक अन्य राग का गीत पठनीय है:—

हुत्तलरु सुरवइ मण रजिएण

हुत्तलरु उक्कसग्ग विहंजिएण ।

हुत्तलरु मुणिमण सत्तोसिएण

हुत्तलरु भविण्ण गण पोसिएण ।

हुत्तलरु तिल्लोयहु विहिय सेव

हुत्तलरु ईहिय दय विगय लेव ॥८२

इस प्रकार के अन्य गीतों से भी भरित यह काव्य साहित्य का पूर्ण आनन्द प्रदान करता है । एक तो अपभ्रंश भाषा में और विशेषकर इस भाषा में रचे गए गीतों में बलाघातात्मक प्रवृत्ति लक्षित होती है । आज तक किसी भी भाषा-शास्त्री तथा अपभ्रंश के विद्वान् का ध्यान इस ओर नहीं गया है । किन्तु अपभ्रंश के लगभग सभी काव्यों में सामान्य रूप से यह प्रवृत्ति लक्षित होती है । उदाहरण के लिए—

इक्के बुल्लाविउ मुक्खगामि,

इक्के विहसाविउ भुक्खसामि ।

इक्के गलिहार विलवियउ,

इक्के मुहेण मुहु सुम्बियउ ।

किन्तु बलाघात उदात्त न होकर किञ्चित् मन्द है । इसी प्रकार का अन्य उदाहरण है:—

सुय सिरिवत्ता जणिय पहिल्ला,

पणु कूटि अण्णिकक गहिल्ली ।

पुणु बहिरी कण्ण ण सुणइ बाय,

पुणु छट्ठी सुज्जिय पुत्ति जाय ।

तथा—

आराहिबि सौलहकारणाइ, जे सिबमंदिरि आरोहणाइ ।

तिल्लोयचक्क संखोहणाइ, संपुण्ण तबे अज्जिय विसेण ।

•एवम्—

जेठु बहल वारसि जाणिज्जहु,

माहु सिय तेरसि माणिज्जहु ।

जेठुहु बहल चउदसि जाणहु,

बइसाहु सिय पडिव पमाणहु ।

मगासिरहं सिय चउदसि जाणिया,

पुणु एयारसि जिणवर काणिया ।

संगीतात्मक ताल और लय से समन्वित पद-रचना

देखते ही बनती है । यथा—

भरंति दाण वारि लुद्ध मत्त भिगय,

णिरिक्ख एसु दतु वेयदंत संगयं ।

अलद्ध जुज्झु डिक्करतु सेयवणयं,

घरम्मि महं संपविस्समाणु गोवयं ।

पउव्विभयं वमं चलं च पिगल्लोयणं,

विभा सुरंघु लंतकघ केसरं घणं ।

सणंकरं तुयंतु संतु लवं जीहयं,

पकोवयं पलित्तु पिच्छए सुसीहयं ।

काव्य भाव और भाषा के सर्वथा अनुकूल है । भावों के अनुसार ही भाषा का प्रयोग दृष्टिगत होता है । फिर भी भाषा प्रसाद गुण से युक्त तथा प्रसंगानुकूल है । जैसे कि—

कालानलि अप्पउ किणि णिहित्तु,

आसोवित्तु केण करेण छित्तु ।

सुरगिरि विसाणु किणि मोडियउ,

जनमहिंससिगु किणि तोडियउ ।

जो महु विमाण थवभणु करेइ,

सो णिच्छय महु हत्थ मेरेइ ।

प्रसंगतः अमर्ष संचारी भाव विभाव से संयुक्त होकर रोष के आवेग के साथ वीर रस का स्फुरण कर रहा है । इसी प्रकार अन्य रसों से युक्त होने पर भी रचना शान्तरस की है ।

—: ० .—

पृ० ५२ का शेषांश)

वाली एक चतुर्विंशति मूर्ति (नं० २२०७३) स्थित है । श्रीवत्स चिन्ह से युक्त मूलनायक को मध्य में ध्यान मुद्रा में पद्मासनस्थ प्रदर्शित किया गया है । देवता की कलाई के नीचे का भाग व वामपाद संप्रति खण्डित हो चुका है । तीर्थंकर की पीठिका के नीचे उत्कीर्ण दो सिंह सिंहासन के सूचक हैं । देवता की केश रचना गुच्छको के रूप में निमित्त है और स्कन्धो पर केश की लटे लटकती हुई उत्कीर्ण है । पादपीठ के नीचे देवता का लाछन वृषभ उत्कीर्ण है । देवता के दोनों पाश्र्वों में आभूषणों से सुसज्जित द्विभुज सेवक आकृतियाँ चित्रित हैं । दोनों आकृतियों की एक भुजा में वृत्ताकार वस्तु प्रदर्शित है, किन्तु दूसरे भुजा की वस्तु अस्पष्ट है । देवता के मस्तक ऊपर चित्रित त्रिछत्र के दोनों ओर सवाहन गज आकृतियाँ अंकित हैं । त्रिछत्र के ऊपर दो कतारों में शेष २३ तीर्थंकरों की सक्षिप्त पद्मासनस्थ व कायोत्सर्ग आकृतियाँ चित्रित हैं, जिसमें से काफी खण्डित है । सम्पूर्ण अंकन के

दोनों ओर ब्याल आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं । पीठिका के अन्तिम भाग में दोनों ओर उपासक आकृतियों की मूर्तिगत किया गया है । खजुराहो से प्राप्त होने वाली इस मूर्ति को शैली व प्रतिमाशास्त्रीय विशेषताओं के आधार पर ११वीं—१२वीं शती में तिथ्यांकित किया जा सकता है ।

गोदाम में सृष्टीत चौमुखी (सर्वतोभद्रिका) प्रतिमा (१०^१/_२' × १' × ८") में चारों दिशाओं में एक नग्न तीर्थंकर आकृति को खड़ा उत्कीर्ण किया गया है । लाछन व श्रीवत्स चिन्ह रहित सभी आकृतियों की भुजाएं काफी कुछ भग्न हैं । इस चित्रण की विशिष्टता है चार प्रमुख तीर्थंकरों के अतिरिक्त प्रत्येक कोने पर दो आसीन तीर्थंकरों का चित्रण । इस प्रकार यह मूर्ति कुछ १२ तीर्थंकरों का अंकन करती है । इस मूर्ति का प्राप्ति स्थल अज्ञात है । इसकी शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसे परवर्ती मध्य युग में तिथ्यांकित किया गया है । ★

हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएं

परमानन्द जैन शास्त्री

ब्रह्म रायमल मूलसंघ सरस्तीगच्छ के मुनि अनन्त-कीर्ति के शिष्य थे, जो भ० रत्नकीर्ति के पट्टघर थे। रायमल संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान थे। इनका वंश हूमड़ था और पिता का नाम मह्य तथा माता का नाम चम्पादेवी था^१। कवि ने इससे अधिक अपना परिचय नहीं दिया। कवि १७वें शताब्दी के विद्वान थे। कवि ने अनेक देशों में भ्रमण किया और कितने ही स्थानों के जैन मन्दिरों में बैठ कर रासा साहित्य की अभिवृद्धि की। तथा उपदेश द्वारा विविध लोगों को सम्बोधित किया। कवि की रचनाएं यद्यपि साधारण कोटि की हैं परन्तु कोई-कोई रचना बहुत सुन्दर और भावपूर्ण एवं सरस हुई है। लोग इन रचनाओं को संगीत के साथ गाते थे, उससे जनता आनन्द विभोर हो उठती थी। उनसे जनता का जहाँ मनोरंजन होता था वहाँ उससे शिक्षा भी मिलती थी। आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—नेमीश्वररास, हनुवन्त कथा, प्रद्युम्न रास,

१. मूल संघ जगतारणहार, शारदगच्छ तणो शुभसार।

आचाराज सकलकीर्ति मुनि गुणवन्त,
तास माहि गुण लहो न अन्त ॥
तिह को अमृत नाव अति चंग,
रत्नकीर्ति मुनि गुणी अभग।
अनन्तकीर्ति तास शिष्य जान,
बोलै मुखतें अमृत वान ॥
तास शिष्य जिन चरणा लीन,
ब्रह्म रायमल बुध को हीन।

× × ×
श्रीमद् हूवड वंश मण्डन मणि, महिचेतिनामा वणिक्।
तद्भार्या गुणमंडिताव्रतयुक्ता, चम्पा मीतीताऽभिधो ॥
तत्पुत्रो जिन पाद पंकज मधुपो रायादि मल्लो वृत्ती।

—भक्तामरस्तोत्र वृत्ति।

सुदर्शनरास, श्रीपालरास, भविसयत्तकहा रास, और भक्तामर स्तोत्र वृत्ति, परमहंस चौपई जंबूस्वामी चौपई, चंद्रगुप्त चौपई, आदित्यवार कथा और चिन्तामणि जयमाल।

ब्रह्म रायमल की सबसे पहली रचना नेमीश्वर रास है। जिसमें नेमिनाथ का जीवन परिचय अंकित है। रास की भाषा हिन्दी और गुजराती मिश्रित है। रचना काल सं० १६१५ श्रावण कृष्णा त्रयोदशी है^२।

दूसरी कृति हनुवन्त कथा है। जिसमें पवनञ्जयपुत्र हनुमान का जीवन परिचय दिया हुआ है। पवनञ्जय हनुमान के पिता थे। और अंजना देवी उनकी माता थी, जो राजा महेन्द्र की पुत्री थी। कवि की रचना यद्यपि साधारण है किन्तु कथानक सुन्दर है। दिन बीत गया सूर्य अस्त हो गया। पक्षी आकाश में शब्द कर रहे हैं। राजा पवनञ्जय अपने मित्रों के साथ महल की छत पर बैठे हुए हैं। उन्होंने सरोवर के किनारे पक्षी देखे, जो गम्भीर शब्द कर रहे थे। दशो दिशाओं में अंधेरा छा गया और चकवा चकवी में अन्तर हो गया—वे जुड़े-जुड़े हो गये। कवि के इस वर्णन में स्वाभाविकता है।

दिन गत भयो आथयो भान, पंखी शब्द करै असमान।
मित्र सहित पवनञ्जयराय, मन्दिर ऊपर बैठो जाय।
देखे पंखी सरोवर तीर, करै शब्द अति गहिर गहीर।
दसों दिशा मुख कालो भयो, चकवा चकवी अन्तर लयो ॥

कवि ने बालक हनुमान का ओजस्वी चित्र खींचा है। कवि कहता है कि जब बालक रूपी रवि (सूर्य) का उदय होता है तब सब अधकार दूर भाग जाता है। सिंह छोटा भी हो, तो भी वह दन्तियों के मारने में समर्थ होता ही है। सघन वृक्षों से व्याप्त वन कितना ही

२. सोलहसँ पद्मोत्तरै रच्यो जी रासु।

सांवली तेरसि सावणमासु, वरतँ जीव धुवासर भलो ॥

विस्तीर्ण क्यों न हो, तो भी अग्नि का एक कण उसे जलाने में सक्षम होता है। उसी तरह बालक भी अपने शूर-वीर स्वभाव को नहीं छोड़ता।

बालक जब रवि उदय कराय,
ग्रन्थकार सब जाय पलाय।

बालक सिंह होय अति सूरौ, दन्ति घात करे चकचूरो।
सघन वृक्ष वन अति विस्तारौ, रत्ति अग्नि करे वह छारौ।
जो बाल क्षत्रिय को होय, सूर स्वभाव न छांडे कोय ॥

इस तरह कवि ने कथा को सुन्दर एवं सरस बनाने का यत्न किया है। कथा का रचना समय सवत् सोलह सौ सोलह वैशाख कृष्णा नवमी शनिवार है^३।

तीसरी रचना प्रद्युम्नरास है, जिसमें यदुवंशी राजा श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार की जीवन कथा दी हुई है। जिसे कवि ने हरसौरगढ में सं० १६२५ में भाद्रपद शुक्ला दोड़ज बुधवार के दिन बनाकर समाप्त किया है। हर-सौरगढ में जिनैन्द्र का मन्दिर बना हुआ था और वहाँ के श्रावकदेव-शास्त्र गुरु के भक्त थे^४।

चौथी रचना सुदर्शन रास है, जिसमें चम्पापुर के सेठ सुदर्शन के पावन जीवन की भाँकी का निदर्शन है। ग्रंथ सूचियों में इसे शील रास कहा गया है। सेठ सुदर्शन शीलव्रत के संपालन में विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर भी अडिग रहा—अपने व्रत से जरा भी नहीं डिगा। उसी का कवि ने विस्तृत वर्णन दिया है। कवि ने उसे सवत् १६२६ में वैशाख शुक्ला सप्तमी के दिन समाप्त किया है^५।

३. भणई कथा मनि धरि हरप,
सोला सौ सोलौत्तर शुभ शाख।
रति वसत मास वैशाख, नवमी शनि अघारै पाख ॥
४. हो सोलह सौ अठवीस विचारो,
भादवा सुदि दुतिय बुधवारो।
गढ हरसौर महा भलो जी,
तिह में भला जिनैपुर थान।
श्रावक लोग वसै जी देव-शास्त्र, गुरु राखै मानतो ॥
५. अहो सोलहसँ गुणतीसह जी वर्ष,
वैशाख सातै जी ऊजलो पाख।
साहि अकव्वर राजई अहो,
भोगवै राज अतिइंद्र समान ॥

पाँचवीं रचना श्रीपाल रास है, जिसमें श्रीपाल और मैना सुन्दरी के चरित्र का चित्रण हुआ है। साथ में सिद्धचक्र व्रत के माहात्म्य का भी उल्लेख किया गया है। रास के पद्यों की संख्या २६७ है। ग्रन्थ सवत् १६३३ के शुभवर्ष के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को बनाकर समाप्त किया गया है^६।

छठवीं रचना भविष्यदत्त कथा है। भविष्यदत्त कथा पर अपभ्रंश संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। ग्रन्थ का कथानक प्रिय रहा है। इसमें श्रुत पंचमी व्रत का माहात्म्य बतलाया गया है, जिनैन्द्र भक्ति के प्रसाद से भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त द्वारा दिये गए भीषण दुखों का उन्मूलन कर सका। इस रास की रचना सांगानेर (जयपुर) में हुई है। कवि ने सांगानेर का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। उस समय वहाँ भगवानदास नामक राजा राज्य कर रहा था। वहाँ की प्रजा सुखी थी वहाँ के श्रावक धनी थे और अरहंत देव की पूजा करते थे। वहाँ का सघी जी का मन्दिर कलात्मक और मनोहर है, वहाँ और भी मन्दिर है। खेद है कि इस समय सांगानेर वीरान-सा नजर आता है। खण्डहरों को देख कर लगता है कि १६वीं १७वीं शताब्दी में यह एक अच्छा सम्पन्न नगर रहा होगा। कवि ने इस ग्रन्थ को सं० १६३३ कार्तिक सुदी चतुर्दशी शनिवार के दिन बनाकर समाप्त किया है^७।

सातवीं रचना परमहंस चौपई है, जो एक रूपक-काव्य है। ब्रह्म जिनदास ने भी परमहंस नामक रूपक-काव्य लिखा है, संभव है उसका कुछ प्रभाव इस पर भी हो, क्योंकि यह रचना बाद में रची गई है। इसमें परमहंस की विजय मोहादि शत्रुओं पर हुई है, उसका सविस्तर वर्णन दिया हुआ है। कवि ने इस ग्रंथ की रचना सं० १६३६ की ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी शनिवार के दिन

६. हो सोला सौ तीसा शुभ वर्ष, तिथि तेरस सित सोभिता।
हो अनुराधा नषित्र सुभसार, वटन जोग दीसै
भलहो ? भनै वार सनीचरवार।
७. सोलासै तेतीसासार कार्तिकसुदी चौदसि सनिवार।

तक्षकगढ़ (टोडा नगर) में की है। ग्रन्थ में ६५१ पद्य है, ग्रन्थ की यह प्रति दोसा भंडार की है। कवि ने तक्षक-गढ़ का वर्णन करते हुए लिखा है कि तक्षक गढ़ विशाल नगर था जो कूप बावड़ी, बाग आदि से अलंकृत था। चारो दिशाओं में बाजार था जिसमें कपड़ा, मोती आदि सभी जीवनोपयोगी सामान मिलता था। बड़ा ऊँचा जिन चैत्याल था, जो ध्वजा, चढ़ोवा व तोरण द्वारों से सुशोभित था। वहाँ श्रावकगण जिनपूजादि कार्यों में संलग्न रहते थे। कवि का विहार अनेक नगरों में हुआ है, सांगानेर, हरसोरगढ़, तक्षकगढ़ (टोडा नगर) आदि। कई रचनाओं में तो स्थान का नाम नहीं मिलता, जिससे यह बतलाना कठिन है कि वह कहाँ पर रची गई।

आठवीं रचना 'भक्तामरस्तोत्र वृत्ति' है। जिसे कवि ने महासागर के तट भाग में समाश्रित श्रीवापुर के चन्द्रप्रभ जिनालय में वर्णी कर्मसी के वचनों से भक्तामरस्तोत्र की वृत्ति की रचना वि. सं. १६६७ आषाढ़ शुक्ला पंचमी बुधवार के दिन की है।

इनके अतिरिक्त कवि की निम्न रचनाएं और ज्ञात हुई हैं। जबूस्वामी चौपई, चन्द्रगुप्त चौपई। आदित्यवार कथा और चिन्तामणि जयमाल, कवि की अन्य रचनाएं भी अन्वेषणीय हैं।

लक्ष्मीचन्द्र—कवि ने रचना में अपना कोई परिचय नहीं दिया, आपकी एक मात्र कृति 'दोहा अनुप्रेक्षा' है, जिसमें ४७ दोहे दिये हुए हैं। जिनमें अनित्यादि बारह भावनाओं का सुन्दर विवेचन किया गया है जो आत्म-प्रबोधन के लिए उपयोगी है। ग्रन्थ में रचना काल भी नहीं है, किन्तु उक्त रचना जिस गुच्छक में लिपिबद्ध है वह सं. १५७०

८. सोलास छत्तीस बखान, ज्येष्ठ सांवली तेरसि जान।
सोभे वार सनीचरवार, गृह नक्षत्र योग शुभसार।
९. चक्रवृत्ति मिमांस्तवस्य नितरां नत्वा (सु १)
वादीदुकम् ॥७

सप्त षष्ठ्यक्तिते वर्षे षोडशाख्ये हि संवते।
आषाढश्वेत पक्षस्य पंचम्या बुधवार के ॥११
श्रीवापुरे महासिन्धो स्तटभागं समाश्रिते।
प्रोत्तुंग-दुर्ग-सयुक्त चद्रप्रभ-सद्भानि ॥९

का लिखा हुआ है। अतएव रचना उसके बाद की नहीं हो सकती, किन्तु उससे पूर्ववर्ती है और वह संभवतः १५वीं शताब्दी की जान पड़ती है। रचना सुन्दर और गति शील है। पाठकों की जानकारी के लिए उसके कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं, जिनमें अनित्य, अशरण संसार, अशुचि भावना और एकत्व का स्वरूप दिया गया है।—

जल बुबुड जौविउ चवत्तु, धनु जोगवण तडि-तुल्लु।
इसउवियाणि वि मा गमाह, माणस जम्मु अमल्लु ॥५
जइ णिच्चु वि जाणिपइ, तो परिहरहि अणिच्चु।
ते काइं णिच्चु वि मुणहि, इय सुयकेवल वत्तु ॥६

अशरणभावना—

असरणु जाणहि सयलु जिय, जीवहं सरणु न कोइ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ, अप्पा अप्पउ जोइ ॥७

दंसण-णाण-चरित्तमउ, अप्पा सरणु मुणेइ।

अण्णु ण सरणु वियाणि तुहं, जिणवर एम भणेइ ॥८

एकत्वभावना—

इविकल्लउ गुण-गण-निलउ, बीयउ अत्थि ण कोइ।

मिच्छा दंसण मोहियउ, चउगइ हिडइ सोइ ॥११

जइ सद्दंसणु सोलहइ, जो परभाव चएइ।

इविकल्लउ सिव-सुह लहइ, जिणवर एम भणेइ ॥१२

अशुचिभावना—

सत्त घाउमउ पुगलवि, किमि कुलु असइ निवासु।

तहि णाणिउं किमइं करइ, जो छंडइ भव-पासु ॥१५

असइ सरीर मुणेहि जइ, अप्पा जिम्मल जाणि।

तो असइ वि पुगलचयहि एम भणंतिहु णाणि ॥१६

अनुप्रेक्षा की भाषा पुरानी हिन्दी है, दोहा भावपूर्ण और रोचक है। यह मूल रूप में अनेकान्त में प्रकाशित हो गई है, किन्तु उसे सम्पादित कर आधुनिक रूप में प्रकाशित करना चाहिए। कवि ने ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया और न कही अपना नाम हो अंकित किया, किन्तु गुच्छक में अंकित होने से उसे लक्ष्मीचन्द्र के नाम से दिया है। कवि की गुरु परम्परा अन्वेषणीय है।

कवि पाहल—ने अपना कोई परिचय और गुरु परम्परा एव ग्रन्थ का रचना समय नहीं दिया, जिससे उनके

सम्बन्ध में विशेष विचार किया जाता। आमेर भंडार के एक गुच्छक में उनकी एकमात्र कृति 'मनकरहा रास' उपलब्ध है। जिसमें आठ कड़वक दिये हुये हैं, कवि ने मंगलगान के साथ ही अपनी लघुता व्यक्त करते हुए अपने को बुद्धि रहित बनलाने हुए लक्षण और छन्द से रहित काव्य को अपने सम्बोधन निमित्त बनाने की सूचना की है। रचना सुन्दर और प्रसाद गुण को लिये हुए है। और रूपक द्वारा मन रूपी ऊंट की समझाने का प्रयत्न किया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि जब एक-एक इन्द्रिय का विषय उस उस इन्द्रिय वाले जीव का घातक है, तब जो पाँचों इन्द्रियों का भोगी है उसकी क्या दशा होगी' सो देख। मन की चंचलता से इन्द्रियाँ विषय की ओर दौड़ती हैं, उनमें संलग्न होकर जीव अर्जित अशुभ कर्मवश निम्न गतियों में जन्म लेता है, मरता है, दुख उठाता है। अतः उस दुख से छूटने और इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए मन, वचन और काय को दण्डित करते हुए, उनकी एकाग्रता बनाने के लिए आत्मा को शुभ ध्यान में लगाने की आवश्यकता है। तपश्चरण से ही स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है। ग्रन्थ की भाषा हिन्दी के विकसित रूप को लिए हुए है। ग्रन्थ का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है :—

सयल वि जिण बंदि वि मुणि अहिणंवि,
वि लक्षण छद विवज्जियउ ।
अप्पउ आहासमि कव्वु पयासमि,
जइ हउं बुद्धि विवज्जियउ ॥
जसु विसयहं उप्परि ठाईं बुद्धि,
तसु धम्म सुणत हं कवण सुद्धि ।
एक्कल्लउ इदिय जिणइं जासु,
पंच वि पुणु णरय हो विति वासु ॥
जिहि इंदो पसए णिवारियओ,
जल मज्झिमप्पु णोसारियओ ।
करि करणि पसंगो अइ पबंडु,

१. अली मातंग मृग सलमीन विषय इक इक में मरते हैं।
नतीजा क्या न पावें वे विषय पाँचों जो करने हैं।

मोगर घायं किउ खंडु खंड ॥
महुयर घाणिदिय गंध लुद्ध,
सो मुवउ सरोरुह मज्झि छुडु ।
णयणिदिय दोस पसंगएण,
अप्पाणउ दट्ठ पयंग एण ॥
परिभमइ कुरगउ तामरणि(णि),
गेयहो झुणि जम्म ण देइ कण्णु ।
पंचेदिय जीवहो दुक्खु दिति,
पंचेदिय दुग्गइ गमण लिति ॥
पंचेदिय पुट्ट अणिट्ट भाव,
पंचेदिय चंचल चल सुभाव ॥
अहवा पंचिदिय कवणु दोसु,
मणु हिडइ तिहुवणि णिरवसेसु ।

घत्ता—

मणु चंचलु भावइ उप्पहि धावइ बंधिवि जो ण बरेसइ ।
भविसायर पडियउ कम्मं णडियउ बुद्धि वि तित्थु मवेसइ ॥१
अन्तभाग :—
जइणीरिउ संजम डालहइं, तो मण करहु ण रइ करइ ।
सा विसय महावण वेल्लडी, तहिकारणि यह सुणु हणुइं ।
जिणु ण बहु पयत्ते भवियजणा, जिणकुमुअचव अविसणमणा ।
मण वयण काय एकी करेइ, सुहभाणें पुणु अप्पा बरेइ ।
गइ चउविह करइ करंतु सोइ,
सो करहु नाउ जे अचलु लोइ ।
लोय हो मइ कहियउ करहु धम्म,
धम्मं फेडिज्जइ असुह कम्म ।
कम्मं कोण णर सिविय जति,
जति वि पंचिदिय तउ करंति ।
तउ कर वि जिणंसेर संभवति,
सग्गाऽपदग्ग हु वहि रमंति ।
संभरणु करहु सम्मत्त लेहु,
लहु सग्ग पयाणउ जेम देहु ।
घत्ता—सम्मत्त धरिज्जहु मणु खंचिज्जहु,
करि वि सुणिम्मल विमलमई ।

पाहलु कवि बोलइ जसु मणु डोलइ,
सो किम पावइ परम गई ॥८

संत कबीर और चानतराय

डा० गंगाराम गर्ग

हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य अपनी विपुलता और व्यापकता की दृष्टि से गौरवपूर्ण स्थान रखता है। मध्य-युग में भारतीय जीवन और साहित्य में क्रान्ति लाने वाले दो प्रमुख साधक अवतीर्ण हुए—कबीर और तुलसी। दोनों के पथों में पर्याप्त भिन्नता होते हुए भी लक्ष्य में एकता थी। जन्म से ही क्रान्तिकारी, अक्खड़, फक्कड़ और मस्तमौला फकीर कबीर की विचारधारा से प्रभावित उत्तर भारत में दाहूपंथ, रामस्नेही, रैदासी आदि अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव होता रहा। सत और वैष्णव काव्य परम्पराओं के साथ-साथ मध्ययुग में तीसरी काव्य-परम्परा और विकसित हुई, वह थी जैन भक्ति काव्य परम्परा। बनारसीदास, जगजीवन, जगताराम, चानतराय, पार्श्वदास और बुधजन आदि अनेक जैन कवि अपनी भक्तिपूर्ण रचनाओं से इस काव्य-परम्परा को विकसित करते रहे। आगरा निवासी चानतराय (सं० १७३३—१७८३) अपनी सौ रचनाओं के अतिरिक्त ३२३ भक्ति-पूर्ण पदों के कारण जैन भक्ति परम्परा की प्रमुख कड़ी है। सत कबीर और चानतराय के काव्यालोचन के माध्यम से दो भिन्न-भिन्न काव्य परम्पराओं में व्याप्त समान द्रष्टिविन्दुओं को समझने से भारतीय संस्कृति की समन्वयवादिता भी प्रमाणित हो सकेगी।

ब्रह्म

कबीर आदि सभी सत निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उन्होंने ब्रह्म को अजर, अमर, निराकार, निरंजन, अक्षय और अचल कहा है। वह परमात्मा और परमानन्द भी है। ब्रह्म नित्य, निर्मल, अनादि और अनन्त है। चानतराय के ब्रह्म का स्वरूप निर्गुणियों के समान भी है :—
तुम तार करुणाधार स्वामी, आविदेव निरंजनो।

१. अनेकान्त, अक्टूबर १९६७, पृ० १७७, पं० परमानन्द जैन शास्त्री का लेख।

सार जग आधार नामी, भविक जन मन रंजनो।

निराकार जमी, अकामी, अमल देह अमंजनो।

करो 'चानत' मुक्ति गामी, सकल भव-भय-भंजनो। २०८।

... ..

परमात्म परमेश परमगुरु, परमानन्द प्रधान।

अलख अनादि अनन्त अरूपम, अजर अमर अमलान।

निरविकार अविकार निरंजन, नित निरमल निरमान।

जहो ब्रती मुन ऋणी सुखी प्रभु, नाथ धनी गुन जान।

कबीर और उनके सभी अनुयायियों ने इस्लाम धर्म से प्रभावित होकर ब्रह्म को समस्त खलक का कर्त्ता भी कहा है तथा उसे वैष्णवशाली प्रमाणित किया है। इस्लाम की तरह उन्होंने भी एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। चानतराय आदि जैन कवियों ने ब्रह्म को न तो सृष्टि का कर्त्ता ही कहा और न वैभवशाली। एकेश्वरवाद की अपेक्षा उनकी आस्था अनेकेश्वरवाद में रही। अवतारवाद, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि का तर्कसम्मत विरोध करते हुए चानतराय कहते हैं—“बुद्ध, निरंजन और अविकारी ब्रह्म गर्भ में क्यों आयेगा? अविनाशी ब्रह्म अंशों में कैसे विभाजित हो गया? यदि सभी प्राणियों में एक हो ब्रह्म अंश है तो एक सुखी और दूसरा दुःखी कैसे अथवा एक धनवान और दूसरा गरीब कैसे?”^१

चानतराय ने जैन परम्परा के अनुसार जिनेन्द्र के ४६ मूल गुणों की चर्चा भी की है।

सतगुरु और साधु:

सतगुरु और साधु दोनों को ही ईश्वर के समान आदर देना निर्गुण और जैन दोनों ही भक्तों की विशेषता रही है। दोनों ही भक्तों ने गुरु और साधुओं में क्रोध, मान, छल, लोभ, राग-द्वेष आदि दुर्गुणों का अभाव पाया है तथा उनको सत्य, तप, अपरिग्रह, सरलता, सत्यता व

२. जैन पद सग्रह, चतुर्थ भाग, पद १७८।

मधुरता आदि गुणों से विभूषित देखा है। महात्मा कबीर जानी गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्हें ईश्वर से भी बड़ा मानते हैं—

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार ।
लोचन अनंत उघाडिया, अनंत दिखावणहार ।
गुरु गोविन्द दोऊ लड़े, काके लागू पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय ।

छानतराय भी गुरु को ही उद्धारक मानते हुए उनके चरण-कमलों को नित्य प्रति हृदय में बसाने की प्रेरणा देते हैं:—

तारन तिरन जिहाज सुगुरु हैं,
सब कुटुम्ब डोबं जग तोई ।
छानत निशिदिन निरमल मन में,
रालो गुरु-पद-पंकज दोई ।

कबीर साधु-सेवा के अतिरिक्त दूसरी कोई हरि-सेवा ही नहीं मानते:—

जा घर साध न सेवियहि, हरि की सेवा नाहि ।
छानतराय साधुओं के गुण-गान को भी मोक्षप्रदायक मानते हैं:—

छानत भवि तिनके गुणगावें,
पावें - शिव - सुख दुख नसाहीं ।

नाम स्मरण

भारतीय भक्ति साधना में नाम स्मरण का महत्वपूर्ण स्थान है। तीर्थ, व्रत आदि में श्रद्धा रखने वाले सगुण भक्तों ने भी समस्त जप, तप, व्रत, तीर्थ, भोग, ज्ञान, वैराग्य आदि को घृष मानकर नामरूपी कल्पवृक्ष के नीचे बैठने में ही सुख और आनन्द माना है।^१ निर्गुण काव्य में तो उपासना की पद्धति ही एक है—नाम-स्मरण। कबीर अपनी भक्ति, सेवा, पूजा, बान्धव, भाई और उद्यम सर्वस्व राम के नाम-स्मरण को ही मानते हैं। उनके विचार से गम के नाम का स्मरण ही अज्ञान और तीनों तापो का विनाशक है, अतः उसे अमूल्य जानकर हृदय में धारण करना चाहिए—

राम नाम हिरदै धरि निरमोलिक हीरा ।
सो भो तिहूँ लोक तिमिर जाय त्रिविध पीरा ।

३. विनय पत्रिका पद १५५ ।

जैन भक्त छानतराय भी जिनेन्द्र के नाम-स्मरण को सुखद, दुःख भंजक, त्रय ताप-विनाशक, मंगलकारी और शान्तिदाता मानते हैं।^२ उनका कहना है—

जैन नाम भज भाई रे ।

जा दिन तेरा कोई नहीं, ता दिन नाम सहाई रे ।
अग्नि नीर ह्वै शत्रु वीर ह्वै, महिमा होत सवाई ।
दारिद जावें धन बहु आवै, जो मन नाम दुहाई रे । १२८।

नाम-स्मरण की पद्धति के सम्बन्ध में सगुण भक्तों का दृष्टिकोण कुछ उदार रहा। तुलसी का मत है कि भाव या कुभाव, उपेक्षा या आलस्य से—कैसे—भी राम का नाम लेने से तोनो लोको में मंगल हो जाता है।^३ सन्त कवियों के नाम-स्मरण के ढग में इतनी सरलता की गुजायश नहीं। कबीर के अनुसार नाम के प्रभाव के लिए उसके स्मरण में निरन्तरता, इकतारता और हृदय की पवित्रता होना अनिवार्य है। नाम-स्मरण के सम्बन्ध में छानतराय की भी यही धारणा है:—

छानत उत्तम भजन है कीजें मन रट कं ।

भव भव के पातक सबै, जेहँ तो कट कं । ७॥

... ..

ऐसा सुमरन कर मेरे भाई,

पवन यँभे मन कितहूँ न जाई । १०१।

बाह्याचार खंडन

बाह्याचार का खंडन कबीर आदि सभी सन्तों के काव्य का प्रमुख आदर्श था। वैष्णव, इस्लाम, बौद्ध और जैन आदि विविध धर्मों के अनुयायी वेष तीर्थ आदि बाह्याचार में उलझ कर परस्पर सौहार्द की भावना को बिल्कुल भूल गए थे। अतः सन्तो ने बाह्याचार का तीव्र खंडन कर मन की पवित्रता पर जोर दिया। जैन कवि बाह्याचार का उग्र विरोध तो नहीं कर सके, किन्तु बाह्याचार की अपेक्षा मन की पवित्रता को श्रेष्ठ अवश्य कहते रहे। छानतराय अपने कई पदों में प्रमुख जैन तीर्थ हस्तिनापुर और गिरिनार का जाने की प्रेरणा देते हैं,

४. छानत पद संग्रह, पद २३२ ।

५. भाव कुभाव अनख आलसहूँ,
राम जपत मंगल दिसि दसहूँ ।

—रामचरित मानस, बाल

जिनबाणी को मोक्ष की दात्री बतलाते हैं तथा स्वयं ही मन, वचन और कर्म से भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करते हैं। इन धार्मिक विधानों में रत रहते हुए भी प्रधानता मन की पवित्रता और निष्कामता को ही देते हैं:—

प्राणी ! लाल छाँडो मन चपलाई ।

धारं मोन दया जिन पूजा, काया बहुत तपाई ।

मन को शल्य गयो नहि जब लौं, करनी सकल गंवाई ।

वैष्णव, काजी, ब्राह्मण आदि की बाह्याचार की निन्दा करते समय कबीर की वाणी में उग्रता और तीखापन आ गया था। बुराई से घृणा करने वाले संत बुराई में लिप्त व्यक्तियों के प्रति अपना हृदय साफ नहीं कर सके। अस्पृश्यता की भावना को मिटाने के उद्देश्य से ब्राह्मण पर उबल पड़ते हैं—‘अरे ब्राह्मण, यदि तू ब्राह्मण का जाया है तो अन्य मार्ग से क्यों नहीं आया?’ पोथी पढ़ने वाले पंडित को कोसते हुए वे कहते हैं—‘अरे अभागे, तू किस दुर्बुद्धि का शिकार हुआ है जो राम का नाम नहीं लेता।’ कबीर के तीखे उपालम्भों से कुरान पढ़ने वाले काजी भी नहीं बच पाते:—

काजी कौन कतेब बखानं ।

पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहि जानं ।१५६॥

कबीर की इन तीखी उक्तियों में कितनी ही सच्चाई रही हो; किन्तु उनके कहने के ढंग से उन्हीं के प्रति समाज में कटुता बनी। इसी कारण मुल्ला और पंडित शायद अनुकूल प्रभाव भी ग्रहण न कर सके। जैन कवि जानते थे कि धार्मिक कृत्यों में विदित कर्मकाण्ड को कोस कर कटुता पैदा करने की अपेक्षा धर्मावलम्बियों को मन की पवित्रता की ओर प्रेरित करना अधिक लाभदायक होगा। यही उन्होंने किया। वैदिक युग में यज्ञ और हिंसा का विरोध करते हुए भी उनके प्रतिपादक ब्राह्मणों के प्रति उन्होंने कूटोक्तियाँ कभी नहीं कही। जैन कवि दयानंद राय मन की स्थिरता के बिना आसन, उपवास, ध्यान, योग की स्थिरता को बड़े सरल ढंग से समझाते हैं:—

६. जो तू बाधन बधनी जाया,

आन बाट हूँ क्यों नहि आया ।

७. पाडे कौन कुमनि तोहि लागी ।

तू राम न जपत अभागी । कबीर ग्रन्थावली

कर मनका लो आसन मार्यो, बाहिज लोक रिमाई ।

कहा भयो बक-ध्यान धरेतें, जो मन थिर न रहाई ।

मास मास उपवास किए तैं, काया बहुत सुलाई ।

क्रोध मान छल लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई ।

मन वच काय जोग थिर करके, त्यागो विषय-कषाई ।

‘द्यानत’ सुरग मोरव सुखदाई, सद्गुरु सीख बताई ।४७

सदाचार:—

संत सुधारवादी थे। सम्प्रदाय और जाति सम्बन्धी विविध भेदों को मिटाकर मानव को एक दूसरे के अधिक निकट लाने के लिए ही उनके काव्य का सृजन हुआ था। लोक सुधारक कबीर और अन्य संतों के काव्य में क्षमा, संतोष, निर्मोह, अक्रोध आदि विविध मानवीय प्रवृत्तियों पर प्रचुर मात्रा में साखिया और पद विद्यमान हैं। एक-एक मानवीय प्रवृत्ति के सम्बन्ध में प्रत्येक संत ने अलग-अलग ‘अंग’ लिखे हैं। आचार धर्म को प्रधानता देने वाले जैन धर्म के अनुयायी दयानंद, वृधजन, पार्श्वदास आदि जैन भक्त इस क्षेत्र में कैसे पीछे रहते। उन्होंने अपने पदों में भी सदाचार की बातें कही हैं। दयानंदराय शील के बिना जप और तप को भी निरर्थक समझते हैं—

रे जिय ! सील सदा दिढ़ राखि हिये !

जाप जपत तप तपत विविध विष,

सील बिना विषकार ।१३६॥

वह मन को पवित्र करने की एकमात्र औषधि सतसंग को मानते हुए उसके आचरण की प्रेरणा देते हैं—

दोष घटे प्रगटे गुन मनसा, निर्मल हूँ तजि चपलाई ।

‘द्यानत’ धन्य धन्य जिनके घट, सतसंगति सरथा आई ।

सभी संत और सगुण भक्तों ने तन-धन को नश्वर और परिजनों को स्वार्थी बतलाते हुए संसार की निन्दा की थी। उन्होंने सभ्यतः भौतिकता में अधिक लिप्त न हो जाने की घारणा से ही ऐसा कहा था। यदि ऐसा न होता तो उनमें कई संत और वैष्णव भक्त गृहस्थ न होते ! संसार से निवृत्त हो जाने अथवा उसे पूर्णतः त्याग देने का संकेत उनकी उक्तियों में दृढ़ता हमारी ही भूल होगी। सभी जानते हैं कि धन पुत्रादि में अधिक आसक्ति रखने से मानव कितना दानव बन जाता है। भौतिकता के प्रति अत्यधिक आसक्ति को दूर करने की

भावना से जैन भक्तों ने भी तन, धन और परिवार के सम्बन्ध में सतों की सी उक्तियाँ कही। छानतराय कहते हैं—

जुवती तन धन सुत भित परिजन, गज तुरंग रथ चाव रे ।
यह संसार सुपन की माया, आँख भींच दिखराव रे ।
भक्ति :

रूढ़ियों का विध्वंस कर मदाचार का प्रचार करने वाले निर्गुण सतों के काव्य में अनुशासनमूलक भक्ति भी अन्तर्निहित है। उन्होंने अपने उपास्य की आराधना प्रमुखतः दो भावों में की है—दास्यभाव और पत्नी भाव। दोनों ही भावों की चरम परिणति सगुण काव्य में हुई है। अपने आराध्य के प्रति कबीर की दास्यभावी अनन्यता देखिए :—

तारण तिरण तिरण तू तारण और न दूजा जानौं ।
कहै कबीर सरनाई आयो, आन देव नहि मानौ ॥११२॥

यह अनन्य भाव छानतराय में भी विद्यमान है :—
मात तात तू ही बड़ भ्राता, तो सौ प्रेम घनेरा ।

‘छानत’ तार निकार जगत तैं, फेर न ह्वै भव फेरा ।

कबीर ने ईश्वर का अपना पति मानकर उसकी

प्राप्ति के लिए पत्नी जन्य व्याकुलता और तडपन की प्रत्यक्ष अनुभूति की थी।

तलफे बिन बालम मोर जिया ।

दिन नहि चैन रात नहि निदिया,

तलफ तलफ के मोर किया ।

छानतराय की तडपन जैन भक्ति के परम्परा अनु-
सार राजमती के माध्यम से अभिव्यक्ति हुई है :—

भूषण वसन कुसुम न सुहावे कहा कछुं कित जाऊं ।

‘छानत’ कब मैं दरसन पाऊं लागि रहौं प्रभु पाऊं ॥२३६

ब्रह्म का निरूपण, नाम स्मरण की महत्ता, बाह्याचार का खंडन, मदाचार, भक्ति आदि विविध तत्त्वों की दृष्टि से कबीर और छानतराय की तुलना करने पर स्पष्ट है कि जैन काव्य का एक पक्ष अपनी संस्कृति और दर्शन की मौलिकता को सभाले हुए भी सत काव्य से भी सम-
कक्षता रखता है। वस्तुतः जैन भक्ति काव्य वह प्रयाग राज है जहाँ निर्गुण और सगुण काव्य की पवित्र धाराएँ अभिन्न भाव से मिल गई हैं। भारतीय संस्कृति की सम-
ग्रता और मध्ययुगीन हिन्दी भक्तिकाव्य की पूर्णता के लिए समन्वयवादी छानतराय पार्श्वदास आदि जैन भक्तों की रचनाओं का अध्ययन और विवेचन परम अनिवार्य है—

सदोपता

मुनि श्री कन्हैयालाल

स्वर्णकार अपनी दुकान में तन्मयता से कार्य कर रहा था। सहसा एक ग्राहक मोना खरीदने आ पहुँचा। स्वर्णकार गुंजा के साथ सोना तोलने लगा। गुंजा से रहा नहीं गया। तडककर अपना मानसिक व्यथा सुनाते हुए स्वर्णकार से कहने लगी—स्वामिन् ! मुझे इस अधम सोने के साथ क्यों तोल रहे हो ? कहाँ मैं कुलीन और कहाँ यह पातकी सोना। मेरा निवास सघनतम कानन है। मेरा घर (बेल) सर्वदा रहा-भरा रहता है। मेरी जाति ऊँची है। मैं उस घर में आनन्द की बहार लूट रही थी। सहसा एक दिन दुर्भाग्यवश इस नीच की संगति प्राप्त हुई और उसी समय मेरा मुह काला होगया।

स्वर्ण की यह सब कब सह्य था। उसने कठोर शब्दों में गुंजा से कहा—मेरे विरुद्ध व्यर्थ ही इतना विष क्यों उगल रही हो ? तुझे इतना गुमराह किसने कर दिया। यदि तेरे में ही कोई गुण है तो मेरे साथ अग्नि कुंड में एक छलांग भर। तेरे अहंकार का नशा कुछ ही क्षणों में बूलिसात हो जायगा।

स्वर्ण की चुनौती का प्रत्युत्तर देते हुए गुंजा ने कहा—अरे अधम ! तू मेरी समानता कर सकता है ? कहाँ मेरा गूरुत्व और कहाँ तेरा लघुत्व। मेरे बिना तेरा मोल भी नहीं होता। मदान्ध ! संसार उसी को जलाता है जो अवगुणी होता है। मुझ निर्दोष को तेरे साथ अग्नि कुण्ड में कूदने की क्या आवश्यकता ? सभी स्वर्णकार तुझे घबकते हुए अगारों में इसीलिए तो जलाने हैं कि तू अवगुण का पुनला है।

पांडे जीवनदास का बारहमासा

गिन्नीलाल जे .

हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वान और उनका साहित्य अभी तक अप्रकाशित ही है। पं० जीवनराम पाण्डे भी उन्हीं में से एक है। वे २०वीं शताब्दी के दिल्ली के विद्वान भट्टारकों के शिष्य हैं। वे भट्टारक ललितकीर्ति की शिष्य परम्परा में हुए हैं। यह भट्टारकीय पंडित थे और हिन्दी भाषा के विद्वान थे। इनकी बारहमासा नाम की एक रचना है। यद्यपि वह साधारण है, फिर भी उद्बोधक है।

पं० रूपरामजी के शिष्य पाण्डे जीवनराम जी थे, जो अन्तिम भट्टारक राजेन्द्रकीर्ति जी के समय में फतेहपुर शेखावटी के दिगम्बर जैन बड़े मन्दिर जी में रहते थे। वे जाति के ब्राह्मण थे और ज्योतिष व वैद्यक के अच्छे जानकर थे। वे मन्दिर जी में पूजापाठ भी किया करते थे। उनका लिखा हुआ एक गुटका^१ मन्दिर जी में है। उसमें ज्योतिष व वैद्यक की बहुत सी चीजें लिखी हुई हैं। समय-समय पर कितने ही विद्वान उसको देखकर कितनी ही चीजें उत्तारकर ले जाते हैं। उनका ही लिखा हुआ एक दूसरा गुटका अभी मेरे देखने में आया जिसमें जीवनदास, खुशालचन्द, बुधसूरदास, कनककीर्ति और विनादीलाल के पद हैं; हेमचंद मुनि लिखित राजमती की चूनड़ी है। उसी में पाण्डे जीवनराम जी का लिखा हुआ स० १६१० ज्येष्ठ वदी १० का बनाया हुआ नेमनाथजी का बारहमासा है जो आप सबकी जानकारी के लिए नीचे दे रहा हूँ...

प्रथम मनावूं शारदा, गुरु के लागों पांय।

नेमनाथ व्याहन चढ़े, हरषे रानो राय ॥१॥

छप्पन कोडि जादव मिले, इक दइयां महाराज।

बेखत उपजे हर्ष अति, धन ज्यों चाले गाज ॥२॥

उग्रसेन द्वारं गया, गये बघाई दार।

सज्जन जन हरष्यो हियो, बटी बघाई सार ॥३॥

हीरा, पन्ना बहु दिया, अस चुन्नी बहुलाल।

दिया, बघाई दार को, बहु आभरण भुभाल ॥४॥

१. अने० वर्ष ११ किरण १२ फतेहपुर के जैन मूनि लेख।

नोबत बाजं अति सुभग, भरे नगारा ढोल।

तुरही संख सुहावणां, बहु बांटत तंबोल ॥५॥

नेमि जिनन्द ठूकण चले, उग्रसेन घरि जाय।

नारी पुर की एक होय, गावें गीत रसाय ॥६॥

सब सखियन के झूलरे, राजल बंठी आय।

देख नेमि मन भावना, अंग-अंग विगसाय ॥७॥

पशु सबद सुन नेम जी, रथ सुं उरि वेग।

ककण डोरे तोरि के, रिपु जीतन लई तेग ॥८॥

पशु छड़ाये तुरत ही, वार कछु न लाय।

उज्जंती गिर चढ़ गये देव रिपि सब आय ॥९॥

टोंक पचमी ऊपरे, दीनो ध्यान लाय।

मोह जीत रिपु दल हने अंतर सुरत सलाय ॥१०॥

राजल सुन ये बातड़ी, गिरे तेवालो (मूर्छित) पाय।

सखियां चदन छिटकियो, वेग लई ज उठाय ॥११॥

राजल चाली नेमि पे, गिर पर पहुँची जाय।

हाथ जोड़ स्तुति करि, बहु विध शीश नवाय ॥१२॥

यह सजम बय है नहीं, तुम समझो चित मांहि।

द्वादश मास कंसे षमो, समझावो हम जांहि ॥१३॥

बारहमासा

दोहा—आसाठ मास सुहावणों, कुछ वरषे कुछ नाहिं।

नेमि पिया घर आइये, क्यूं तुम लोग हंसाहि ॥१४॥

चाल—आयो जु मास अषाढ प्रीतम,

पहले व्रत तुम नहि लियो।

छप्पन कोड भये जनेतो दुष्ट जन कप हियो ॥

बलभद्र और मुरारि संग ले बहुत सब सरभर करै।

गिरनारगढ़ सुं चलो नेमिजी राजमति चितवन करै ॥१५॥

उत्तर—आयो मास असाठ ही, मन नहि उलसै मोहि।

मुकत रमण हित कारणे, छाड़े घर सब तोहि ॥१६॥

यह जीव तो निस सुपन जानौ कहा बढाई कोजिये।

ये बंधु, भगनी, मात-पिता ही, सब स्वारथ लीजिये ॥

तिह बात हम सब त्याग दीनों, मोक्ष मारण पग धरै।

कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल, चित अपनो बसि करौ ॥
 प्रश्न—श्रावण आयो उमगि कै, घन आयो विगसाय ।
 तुम विन डर लागै सरस घर चालो हरषाय ॥१८
 श्रावण आयो सब न भायो कंथ चायो वामिनी ।
 चहुं ओर पवन भुकोरि करि है लख ददुंर सामनी ॥
 कोकिल बोलै हिया डोलै बीज चमकै मन डरै ।
 गिरनारि गढ़ सुं चलो नेमजी राजमति चितवन करै ॥
 उत्तर—दोहा—श्रावण आयो अति भलो हमको कहा विगार ।
 जीव जतन बहुतेँ करो, कोउ न राखन हार ॥२०
 यह जीव कोईयन राख सकै कालबलि सब घेर है ।
 इन्द्र श्रीर नरेन्द्र चकी, देव नर पशु लेर हैं ॥
 ताते कहा उर सुनो राजुल चित अपनो सरबरो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजुलचित अपनो बसि करौ ॥
 प्रश्न—भाद्रव वर्षा लग रही, पवन चले अति जोर ।
 नेमि पिया चलिये घरां, चिरह जगावन मोर ॥२२
 भाद्रव बरसं देह तनसै, बहुत पवन झकोर ही ।
 ये बूद आवैं मन न भावैं, बीज करिहै सोर ही ॥
 घरे आय के वत क्यों न धारो, बहुत वन में दुष घरै ।
 गिरनार गढ़ सुं चले नेमजी, राजमति चितवन करै ॥२३
 उत्तर—भाद्रव आयो समझि कै, करस्यो, तप बहु भांत ।
 मुक्ति रमण के कारणे, देह अपावन सात ॥२४
 जग मांहि सुष न एक राजल, दुःख मांहि भ्रम्यो फिरै ।
 गति च्यार मांहि अनंत सलि है, कालबसि जग यो फिरै ।
 सब रोग-सोग-वियोग भरि है मरन जामन बहु घरी ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल, चित अपनो बसि करौ ॥२५
 दोहा—आयो मास आसोज ही कैसे धरस्यो ध्यान ।
 घर चालो तुम वेग ही, करो न हठ सुग्यान ॥२६
 चाल—आसोज लागे सुख भागे, बूंद शीतल अति झरै ।
 कहुं बरसं कहुं नाहि बरषैं, पवन बाजे ठंड परै ॥
 तुम वेह प्रासुक रहो कैसे, चित छिन में डुले परै ।
 गिरनार गढ़ सुं चलो नेमजी, राजमति चितवन करै ॥२७
 दोहा—आयो मास आसोज ही, चित डुले नाहि मोहि ।
 ध्यान लगावूं सरस बहु, किस विधिमें सुष होहि ॥२८
 चाल—कैसे जु चित डुले राजुल समाधि योग लगायस्युं ।
 परमेष्ठि पञ्चम ध्यान त्याजं, मुक्ति पर ज्युं पायस्युं ॥
 जीव निसदिन फिरै हंडित, नकं दुष यों में परघो ।

कहे नेमनाथ मुनो जु राजुल, चित अपनो बसि करौ ॥२९
 दोहा—कातिक आयो फौज ले, मंगल गावत नारि ।
 कहुं खेले कहुं हंसि परै, कैसे धरस्यो भार ॥३०
 चाल—कातिक आयो फौज ल्यायो, कैसे चित तुम बसि करौ ।
 त्रिया गावे गीत सुरग मधुरे, आवो घर अब चित घरो ॥
 निस मांहि बीपक वेष तुमरो, तसि जिवरो चले परै ।
 गिरनार गढ़ सुं चलो नेमजी, राजमति चितवन करै ॥
 दोहा—कातिक आयो आज ही, मन नहीं तरसे मोहि ।
 पुद्गल स्युं भिन्न में रहों, कहा सीखबूं तोहि ॥३२
 चाल—तो जीव तरसे सुन्न राजुल, तन्न अपनों जानिये ।
 पुद्गल स्युं भिन्न भिन्न रहस्युं, नीर क्षीर समानिये ।
 हंस जल को भिन्न करि है, तैसे तन को मैं करघो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो बसि करौ ॥
 दोहा—मगसिर आयो जोर स्युं, लेय कटारी हाथ ।
 कसे अब तुम जायस्यो, मुक्ति रमण के साथ ॥३४
 चाल—आयो जु मगसर मास प्रीतम, पवन शीतल अति बहै ।
 जब षान पांन स्वाद लगि है नीर शीतल बहु बहै ॥
 तुम बाल बय में कैसे रहस्यो मोह बुड कैसे जरै ।
 गिरनारगढ़ सुं चलो नेमजी, राजमति चितवन करै ॥
 दोहा—मृगसिर आयो क्या भयो, तन बसि कीनों आज ।
 या घर को कछु हित नहीं, सिद्धन सों हम काज ॥३६
 चाल—यह देह वेह अपान है अति याह में कछु सार है ।
 यह चर्म चादर धंद राखी, मूत्र मल को ठार है ॥
 यह हाड़ पिजर माहि लागे, नेह या को हम ढरघो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजुल चित अपनो बसि करौ ॥३७
 दोहा—आयो पोस उछाहस्युं, घणों परेगो शीत ।
 मुक्त रमण तुम भूलि हो, आसो घर बहु भीत ॥३८
 चाल—आया जु पोस उछाह सेती, शीत अति देही बहै ।
 कहा उठोगे जब प्राण प्यारे, कौन बिध देही सहै ॥
 तुम तन कोमल है घनेरो, फौज काम की अति लरै ।
 गिरनारगढ़ सुं चलो नेमजी राजमति चितवन करै ॥
 दोहा—पोस मास आयो तुरत नाहीं हमरो काज ।
 अंतर ध्यान लगायस्युं मुक्ति रमण हित साज ॥४०
 चाल—आखव होय कहा प्रसोभै पवन शीतल अति लगै ।
 इन्द्रिय पंच पयार जहां तहां, राग-द्वेष स्युं चित भगै ॥

मद अष्ट पापी फिर जु साथी, द्रव्य पर चित न धरो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजल चित अपना वसि करो ॥
 दोहा—माघ महीना अति कठिन, पत्थर से गलि जात ।
 तुम शरीर कोमल बहुत, कैसे धीर रहात ॥४२॥
 चाल—आयो जु मास सु माघ प्रीतम, वर जमे है सागरा ।
 यह मन्ष देह कहाँ परी है, समझ चितमें तुम धरा ॥
 जब शीत दाह, आग चाहै कैसे मन में थिर रहे ।
 गिरनार गढ़ सु चलो नेमजी, राजमति चितवन करे ।
 दोहा—माघ ज आबो भावस्युं, रहस्युं संवर छाये ।
 मन धिर राखो आपणों, मुक्त रमण हित लाये ॥
 चाल—संवर अवर वाय राखो, सीत पालो ना लगे ।
 जहाँ छान छाऊं छीमा केटी, पंच इंद्री नही जगे ॥
 मद अष्ट पापी वार जाह, शीत स्युं में कहा डरो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजल चित अपने वसि करो ॥
 दोहा—फागुन मदस्युं गहगह्यो, आयो है सिरताज ।
 गौरी गावै गीत भी, कैसे रहसो लाज ॥४५॥
 चाल—आयो जु फागुन मास, प्रीतम, गौरी आवे गावती ।
 पिचकारी हाथों काय माता टफ बजावत ध्यावती ॥
 गावत गीत धमाल मधुरे, ध्यान तुम सबही हरै ।
 गिरनारगढ़ सु चलो नेमजी, राजमति चितवन करै ॥
 दोहा—फागुन आयो हर्ष के हमरो, कहा बिगार ।
 मुक्त रमण स्युं खेलस्युं, सब साख्यन स । सार ॥४७॥
 चाल—हु होरि खेलूं सुनो राजल घर अपने चावस्युं ।
 सखी पंच अपने संग लेकर अष्ट करम उडावस्युं ॥
 समकित कीच ब्यारि भरि २ मक्ति कामनी से परो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजल चित अपने वसि करो ॥
 दोहा—चैत्र मास बहु विध भलो, घर घर मंगलाचार ।
 रुत वसंत फूल सरस, घर चालो पिय सार ॥४८॥
 चाल—चैत्र जु आयो सबन भायो, कथ चायो कामनी ।
 फूलंगी कामन कथ घर में, खेले घर में रामनी ॥
 सब बाल और गोपाल कहई तुमस्युं अब हेत करै ।
 गिरनारगढ़ स्युं चलो नेमजी राजमति चितवन करै ॥
 दोहा—चैत्र मास में खेलस्युं मुक्त रमण के साथ ।
 तीन लोक जानै हमें ऐसे ध्याल कटात ॥४९॥
 चाल—लोक तीन में जानै राजल, पंच इद्रि वस करों ।

मद अष्ट कों चित टार वेई, सिद्ध सुमरण में धरों ॥
 जब होय कर्म को नास हितनी चित संजम तुम धरो ॥
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजल चित अपने वसि करो ॥
 दोहा—आयो मास वैशाख ही ग्रीष्म ऋतु दुखदाय ।
 गिरस्युं उतरो नेमजी, घरां चलो सुषदाय ॥५३॥
 चाल—आयो जु मास वैशाख ग्रीष्म नीर शीतल सुख करै ।
 तुम देह कोमल रहो कैसे घाम स्युं अति तन जरै ॥
 असे कठोर भये जु कव से, ममत ताजों के सिव वरै ।
 गिरनारगढ़ सु चलो नेमजी राजमति चितवन करै ॥
 दोहा—आयो अति उछाहस्यो, मास वैशाख महान ।
 धर्म करत तन नां जरै राजल निहचं जन ॥५५॥
 चाल—करै धर्म जो नर भाव सेतो, कहो नहीं कहा पाहवी ।
 दर्शन जान चारित्र धारै, ताते सिव-मग ध्यावहीं ।
 जहाँ दया धारै धर्म पालै, मोह रालं जीव हो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजल चित अपने वसि करो ॥
 दोहा—आयो जेठ जु चितस्युं, नमं जु नहि रहात ॥५६॥
 घाम परै अति दुख करै, संवर सब भाग जात ।
 चाल—आयो जु जेठ कठिन प्रीतम, धर्म कहो कैसे राखिये ।
 लूय बाज वदन दाजै, नहि झूठ किंचित भाषिये ।
 नहि चले पथी देश मारग भूष त्रषा अति दुख करै ।
 गिरनार गढ़ सु चलो नेमजी राजमति चितवन करै ॥
 दोहा—जेठ मास आयो तुरत कायर जावे भाग ।
 सूरवीर पहुँचै तुरत अरि सिर धावै भाग ॥५८॥
 चाल—नर जनम होणों बहुत दुर्लभ जौन आवक नहि परी ।
 दुर्लभ धर्म धरत जे नर, रत्नत्रय व्रत फूनि धरी ।
 दुर्लभ षोडश भावना पुनि, मुक्तिमार्ग कहा परचो ।
 कहे नेमनाथ सुनो जु राजल चित अपने वसि करो ॥
 दोहा—बारह मास पूरा हुआ, नेम न पधर्यो कोई ।
 राजल कूं समझावई, तुरत अजिका होई ॥६१॥
 चाल—राजल तब ही होय अजिका, सिद्ध ध्यान लगाईयो ।
 मद मोह त्यागो काम भागो, स्वर्ण षोडश पाइयो ॥
 प्रभु कर्म अष्ट जराय कैं, तुम मोक्ष मारग जावही ।
 पाँडे जीवन सुनो भविजन, रैन दिन जिन ध्यावहो ।
 इति : नेमनाथजी को बारहमासा सम्पूर्ण ।
 सं. १६१० का मीती जेठ वदि १० ॥ ★

कलिङ्ग का इतिहास और सम्राट् खारवेल : एक अध्ययन

परमानन्द जैन शास्त्री

कलिङ्ग का इतिहास :

प्राचीन समय में कलिङ्ग भी एक जनपद था^१। परन्तु सोलह जनपदों की सूची में उसका नाम नहीं है। उसका विकास और समृद्धि क्रमशः बढ़ती गई और वह अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई। उसकी समृद्धि का कारण जैन राजाओं का प्रजापालन, वात्सल्य और अहिंसक प्रवृत्ति थी। जैन शासकों की नीति सुखात्मिका और निर्भय बनाने वाली थी। यही कारण है कि वहाँ के निवासी परस्पर मर्गठिन और एकता के हामी थे। कलिङ्ग का द्रविड़ वनलाता है कि वह एक शक्तिशाली देश था। कलिङ्ग की सम्पन्नता, स्वाधीन वृत्ति और बलवत्ता ईर्ष्या की वस्तु थी। उसके बढ़ते हुए वैभव को कोई प्यार की दृष्टि से नहीं देखता था। कोई भी सम्पन्न देश उसके उत्कर्ष को सहन करना नहीं चाहता था। यही कारण है कि दूसरे राज्यों ने कलिङ्ग पर आक्रमण किये, किन्तु कलिङ्गवासी इतने स्वातन्त्र्य प्रिय और स्वाभिमानी थे कि अवसर पाते ही स्वतन्त्र हो जाते थे। उनकी एकता अनुकरणीय थी। कलिङ्ग का उल्लेख महाभारत और रघुवंश आदि में भी पाया जाता है। कलिङ्ग पर जरत कुमार और उसके वंशज अनेक राजाओं ने राज्य किया था। इस कारण कलिङ्ग की प्राचीनता स्पष्ट है।

कहा जाता है कि कलिङ्ग का भू-भाग गंगा से लेकर गोदावरी तक और समुद्र से लेकर दण्डकारण्य तक फैला हुआ था^२। उड़ देशके उत्तर में कलिङ्ग लोक में प्रसिद्ध है^३।

१. कलिङ्ग पाणिनी के समय में जनपद राज्य था, परन्तु १६ जनपदों की सूची में उसका नाम नहीं है। पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ. ७५
२. कूर्मपुराण आदि।
३. ओड़देशादुत्तरे च कलिङ्गो विश्रुतो भुवि।

—कविराम दिग्विजयप्रकाश १८१

कोल ब्रुक साहब के मत में गोदावरी नदी के तट का प्रदेश कलिङ्ग कहलाता था^४। टालेमि ने गंगासागर के निकट कलिङ्ग राज्य बतलाया है^५। जगन्नाथ के पूर्व भाग से लेकर कृष्णा नदी के तीरान्त में कलिङ्ग देश है और उसे वाममार्ग परायण बतलाया है^६। पूर्वी समुद्रतट पर कलिङ्ग देश था, जहाँ इस समय महानदी बहती है^७।

महाभारत आदि में कलिङ्ग के दो नगरों का उल्लेख है मणिपुर और राजपुर। बौद्ध ग्रन्थों में कलिङ्ग के दन्तपुर और कुम्भवती नाम के दो प्राचीन नगरों के नाम का उल्लेख मिलता है। पुन्नाटसघी जिनसेनाचार्य के हरिवंश पुराण में कलिङ्ग का केवल उल्लेख ही नहीं है, किन्तु वहाँ के शासकों का भी नामोल्लेख हुआ है। और उसी पुराण के २४वें पर्व के ११वें श्लोक में कलिङ्ग के जितशत्रु नामक राजा का उल्लेख करते हुए कांचनपुर नामक नगर का नाम दिया है^८। हरिवंश के जैन कथाकोष में दन्तपुर और धर्मपुर नगरों का नामोल्लेख हुआ है। भारतीय साहित्य में कलिङ्ग के अन्य नगरों के नाम अन्वेषणीय हैं।

कलिङ्ग में दक्षिण कौशल का समस्त राज्य भी शामिल था, किन्तु कुछ समय बाद उसका कुछ भाग

४. Colbrookes Essoges Vol. II P. 178
५. Indian Antiquary Vol. XIII, P. 363
६. जगन्नाथात् पूर्वभागात् कृष्णा तीरान्तर्ग शिवे।
कलिङ्गदेशः सम्प्रोक्तो वाममार्ग परायणः ॥

—शक्ति संगमतन्त्र

कलिङ्ग देश को वाममार्ग परायण लिखने का कारण वहाँ जैन साम्राज्य का होना है।

७. आसीन्नृपः कलिङ्गे पुरे कांचन नामनि।
जितशत्रु गणा ख्यातो जितशत्रुर्भिरुधया ॥

—हरिवंशपुराण २४—१

कलिंग से अलग हो गया था। इस कारण उसका नाम त्रिकलिंग पड़ गया था। मेगस्थनीज आदि विदेशी पर्यटकों ने अपने भू-भ्रमण वृत्तान्तों में उसे उत्तर कलिंग, मध्य कलिंग और दक्षिण कलिंग के नाम से उल्लिखित किया है। इन तीन विभागों की सीमाओं का वर्णन इस प्रकार है :—

कलिंग की सीमाएँ—वंशधारा नदी के किनारे से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक सब प्रदेश दक्षिण कलिंग कहलाता था। इसकी राजधानी कलिंगपत्तन थी। ऋषिकुल्या नदी से लेकर वंशधारा नदी तक का भू-भाग मध्य कलिंग कहा जाता था। इसकी राजधानी समापपुरी थी, जिसे वर्तमान में जौगढ़ कहते हैं। उत्तर कलिंग कुल्या नदी से प्रारम्भ होकर उत्तर में गंगा नदी के किनारे तक विस्तृत था जिसमें सिंहभूमि, मेदिनीपुर और बाकुरा जिला भी शामिल था। इसकी राजधानी वर्तमान भुवनेश्वर के निकटवर्ती खण्डगिरि और घौली के मध्यवर्ती स्थान में थी। उसका नाम तोषालि या तोपली था। इससे कलिंग की समृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है।

मेगस्थनीज ने कलिंग देश को महानदी और गोदावरी के बीच बतलाया है और लिखा है कि “कलिंग के लोग समुद्र के सबसे निकट रहते थे। इस देश की राजधानी पार्थलिस थी। इसके प्रबल राजा के पास ६०,००० पैदल, १०,००० घोड़े और ७०० हाथी थे”।

कलिंग में जैन संस्कृति:—कलिंग पर जैन राजाओं ने सभ्यतः सात सौ वर्षों तक राज्य किया है। जैन संस्कृति चूँकि अहिंसा प्रधान है इसलिए उसका दूसरों से वैर-विरोध होना बहुत कम संभव है। जैनियों के तीसरे तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के समय से लेकर सम्राट् खारवेल के समय तक तथा उसके कुछ बाद तक जैन साम्राज्य रहा है। यद्यपि बीच में कुछ समय तक दूसरों का भी राज्य रहा है किन्तु कलिंगवासी पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त करते गए।

भगवान् पार्श्वनाथ ने अंग, बंग और कलिंगादि देशों

८. प्राचीन कलिंग या खारवेल पृ० २

९. देखो, भारत के प्राचीन राजवंश भाग २ पृ० ६६

में विहार कर जैनधर्म का खूब प्रचार किया। पार्श्वनाथ के विहार स्थल देशों में अंग, बंग के साथ कलिंग का भी उल्लेख मिलता है”। आर्यमज्जु श्री मूलकल्प ६८३ ई० में तिब्बतीय भाषा में अनुवादित हुआ था। उसके एक अध्याय में ७७० ई० तक के भारतीय राजवंशों का वर्णन है। उसमें ऊँचे साधकों की गिनती में कलिंग के ऋषभ का नाम लिखा है”।

जैन तीर्थङ्करों के साथ जैन संस्कृति का मुद्द सहस्रवर्ष रहा है। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के साथ कलिंग की प्राचीन संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। खण्डगिरि में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं की मूलनायक के रूप में सम्मान प्राप्त है। पार्श्वनाथ की परम्परा के अनेक राजा जैन संस्कृति के उपासक थे, जिन्होंने कलिंग पर शासन किया है। पार्श्वनाथ की परम्परा में होने वाले राजा करकण्डु ने, जिसकी राजधानी दन्तपुर थी,^{१०} राज्य किया और तेरापुर में जैन मन्दिर बनवाए और पार्श्वनाथ की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। कपिष्ठ, अजातशत्रु, शत्रुसेन, जितारी और जितशत्रु नामक राजाओं ने राज्य किया और प्रजा का पुत्रवत् पालन किया”। इनमें जितारी का पुत्र राजा जितशत्रु

१०. अंग, बंग कलिंगे च कण्ठि कौकणे तथा। सकल कीर्तिकृत पार्श्वनाथ चरित्र।

११. देखो भारत के प्राचीन राजवंश, भाग २ पृ० ६६

१२. दन्तपुर या दन्तिपुर कलिंग का ही एक उपनगर है।

‘कलिंग विषये दिव्ये पुरं दन्तिपुरं गतः।’ हरिषेण कथा कोश २०७ पृ० ६४। बौद्ध ग्रंथों में लिखा है कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनका एक दांत कलिंग के राजा ब्रह्मदत्त को दिया गया था उन्होंने उसे सुवर्ण मन्दिर में रखा था। इसी दन्त के कारण कलिंग की राजधानी ने दन्तपुर नाम पाया। हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्र वसुकृत पृ० १६७

महावस्तु के अनुसार दन्तपुर कलिंग का प्रधान नगर था।

१३. कपिष्ठनामान्वयभूषणस्त्वभूदजातशत्रुतनयो स्ततोऽभवत्।

स शत्रुसेनोऽस्य जितारिरङ्गजस्तङ्गजोऽयं जित-शत्रुरीश्वरः॥

—हरिवंश पुराण ६६-५

कलिङ्ग का शासक था। वैशाली गणतंत्र के राजा सिद्धार्थ की छोटी वह्नि यशोदया से उसका विवाह हुआ था। इस कारण वह भगवान महावीर का फूफा था।

जितशत्रु भगवान महावीर के जन्मोत्सव के समय कुण्डपुर आया था। राजा सिद्धार्थ ने इसका खूब आदर-सत्कार किया था। उसके यशोदा नाम की पुत्री थी, जिसका विवाह वह महावीर के साथ करना चाहता था। परन्तु भगवान महावीर ने विरक्त होकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उस समय राजा श्रेणिक ने जितशत्रु मुनि के सम्बन्ध में पूछा तब गौतम गणधर ने कहा कि पृथिवी में प्रसिद्ध यह जितशत्रु राजा हरिवंश रूपी आकाश का सूर्य था और जिसने अन्य राजाओं की स्थिति को तिरस्कृत कर दिया था और उसने राज्य लक्ष्मी का स्वयं परित्याग कर जिनेन्द्र देव के समीप प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण की। और अन्य लोगों के द्वारा कठिन बाह्य और आभ्यन्तर तप का अनुष्ठान किया था। आज उसने घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त किया है। अतएव जिनमार्ग की प्रभावना करने वाले देवो ने उनकी पूजा की है, और मुनिराज ने कर्म-बन्धन से मुक्त हो अविनाशी पद प्राप्त किया^{१४}।

§ जितशत्रुः क्षितौ ख्यातो धरित्रीपतिरत्र यः ।
प्राप्त एव धरित्रीश ! भवतः श्रोत्र गोचरम् ॥१८७
हरिवंश नभो भानुराभूतनृपस्थितिः ।
राज्यश्रिय परित्यज्य प्रात्राजीज्जिन सन्निधौ ॥१८८
तपो दुष्करमन्येषा बाह्यमाध्यात्मिक च सः ।
कृत्वा प्राप्तोऽद्य घात्यन्ते केवलज्ञानमद् भुतम् ॥१८९
तेनाय ममरैः सर्वैर्जनमागौपबृंहकैः ।
स पुनर्वीरघिलाभार्य भक्तितोऽर्पयितो यतिः ॥१९०
—हरिवंशपुराण

१४. भवान् किं श्रेणिक वेत्ति भूपति,
नृपेन्द्रसिद्धार्थं कनीयसो पतिम् ।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया,
प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम् ॥ ६
जिनेन्द्र वीरस्य समुद्भवोत्सवे,
तदागतः कुण्डपुरं सुहृत्परः ।
सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता,

जितशत्रु ने कुमारगिरि पर दीक्षा ली और भगवान महावीर से पहले मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान महावीर का समवसरण अनेक बार कुमारगिरि पर गया और उनके उपदेश से कलिङ्ग की जनता में जैनधर्म का प्रचार और प्रसार हुआ। जैन संस्कृति में उनकी सुदृढ़ आस्था हुई। उस समय कलिङ्ग में जैनधर्म अत्यधिक रूप में प्रचलित था। उसके अधिष्ठाता श्रावकों की सख्या अन्य लोगों की अपेक्षा अत्यधिक थी और वहाँ के पहाड़ों में जैन श्रमणों का निवास था। उनके तप-तेज से कलिङ्ग गौरवान्वित हो रहा था।

मगध और कलिङ्ग दोनों प्रतिद्वन्द्वी राज्य थे। कलिङ्ग की समृद्धि और सम्पन्नता मगध की ईर्ष्या का कारण बनी, उससे मगध नरेशों ने अपनी समृद्धि में हकावटे अनुभव की।

नन्द की कलिङ्ग पर विजयः—फलतः मगध के राजा नन्दिवर्धन ने कलिङ्ग पर आक्रमणकर विजय प्राप्त की। नन्दिवर्धन अथवा कालाशोक एक दिग्विजयी सम्राट् था।

वह मगध के दक्षिण-पूरव समुद्र-तट पर कलिङ्ग देश को जीत कर उसने अपने साम्राज्य में मिला लिया। कलिङ्ग या उड़ीसा उस युग में जैनधर्म का अनुयायी

नृपोऽयमाखण्डलतुल्यविक्रमः ॥
यशोदयायां सुतया यशोदया,
पवित्रया वीरविवाहमङ्गलम् ।
अनेक कन्या परिवारयारुह-
त्समीक्षितुं तुङ्ग मनोरथं तदा ॥ ८ ॥
स्थितेऽथ नाथे तपसि स्वयंभुवि,
प्रजातर्कैर्वल्यविशाललोचने ।
जगद्धिभूत्यै विहरत्यपि क्षिति,
क्षिति विहाय स्थितवांस्तपस्यम् ॥
अमुष्य जाताद्य तपोबलान्मुनेरवाप्त,
कैवल्य फला मनुष्यता ।
मनुष्यभावो हि महाफल भवे,
भवेदयं प्राप्त फलस्तपः फलम् ॥
विहृत्य पूज्योऽपि मही महीयसां,
महामुनिर्माचित कर्मबन्धनः ।
इयाय मोक्षं जितशत्रुं केवली,
निरन्तर सोख्य प्रतिबद्ध मक्षयम् ॥
हरिवंश पुराण ६६—६, ७, ८, ९, १०, ११

हो चुका था। नन्द राजा वहाँ से विजय के चिन्ह रूप में जिन प्रतिमा ले आया था^{१५}। उस समय कलिंग मगध सम्राट् नन्द का अंग हो गया, नन्दिवर्धन विजय स्वरूप कलिंग में पूजा जाने वाली आदि जिन की प्राचीन मूर्ति को ले गया। यह मूर्ति पटना में पौने तीन सौ वर्षों तक रही। इससे स्पष्ट है कि नन्द राजा जैनधर्म का उपासक थे। यदि वे जैन धर्म का उपासक न हात, तो उतने सुदीर्घ काल तक पाटलीपुत्र में वह मूर्ति सुरक्षित नहीं रह सकती थी। उक्त दार्ढ्यकाल के बाद सम्राट् खारवेल उसे वापिस कलिंग ले गया और कुमारगिरि पर उसे महोत्सव के साथ प्रतिष्ठित किया और स्मृति में विजय-स्तम्भ भी बनवाया। उस समय कलिंग में जैन धर्म प्रतिष्ठित था।

नन्द के आक्रमण के पश्चात् कलिंग का जैन राजवंश सम्पन्न हो गया था। प्लिनी ने तत्कालीन कलिंगराज की शक्तिशाली सेना का वर्णन किया है^{१६}। कलिंग की सम्पन्नता और स्वतन्त्रता अशोक से सहन नहीं हुई। परिणाम स्वरूप ईस्वी पूर्व २६२ में उसने कलिंग पर आक्रमण कर दिया। अशोक की फौजों के साथ कलिंग की सेनाओं का दो वर्ष तक युद्ध चला। जब अशोक ने विजय के आसार घूमिल देखे तब अन्याय अत्याचार का आश्रय लिया। अनेक नगर अग्नि में भस्म हो गए, नगर के नगर वीरान करा दिए, भारी नर-संहार किया, तब किसी तरह उसे विजय मिल सकी। अशोक ने युद्ध में अपनी उच्छृंखल और बर्बर वृत्ति से कलिंग के जन-घन का बुरी तरह से विनाश किया। इस भीषण युद्ध में एक लाख आदमी मारे गए और डेढ़ लाख बन्दी हुए। और युद्धोत्तर उपरांत होने वाली महामारी आदि दुर्विपाक से लाखों व्यक्ति अपने प्राणों से हाथ धो बैठे। अशोक ने स्वयं १३वें लेख में यह स्वीकार किया है कि कलिंग युद्ध में श्रमण और ब्राह्मण उभय सम्प्रदाय की जनता को

बहुत दुःख भोगने पड़े। जिस राजाने अशोक की सेनाओं के साथ रक्षात्मक युद्ध किया था उसका नाम तक अशोक ने कहीं उल्लिखित नहीं किया।

अशोक के पश्चात् कलिंग दो सौ वर्षों में बहुत कुछ सम्पन्न हो गया था। अपना सब कुछ बलिदान करने के बाद भी कलिंगवासी अपनी स्वतन्त्रता को नहीं भूले। इससे स्पष्ट है कि कलिंगवासी अपनी स्वतन्त्रता के कितने हामी थे। उनकी स्वतन्त्रप्रियता और एकता स्पृहणीय थी। कलिंगवासियों का स्वाभिमान और परस्पर का वात्सल्य भी अनुकरणीय था।

ईस्वी पूर्व दूसरी या पहली शताब्दी में कलिंग का प्रतापी सम्राट् खारवेल हुआ। खारवेल जैन था। उड़ीसा का सारा राष्ट्र उस समय मुख्यतः जैन ही था^{१७}। जिसे अभिलेखों कलिंगाधिपति और कलिंग चक्रवर्ती कहा गया है। इसकी राजधानी कलिंग नगर थी। शिशुपालगढ़ नामक प्राचीन स्थान है, जो भुवनेश्वर से १॥ मील दक्षिण-पूर्व से अभिन्न माना गया है। अभिलेख के अनुसार कलिंग नगर के द्वार, प्राकार, भवन और उपवन तूफान में नष्ट हो गए थे। जिनकी मरम्मत खारवेल ने कराई थी। खारवेल ने दिग्विजय करके अपने राज्य को बहुत विस्तृत कर लिया था और उसकी प्रसिद्धि कलिंग सम्राट् के नाम से हुई। खारवेल के बाद उसके पुत्र ने राज्य किया।

सन् १९४७ में शिशुपालगढ़ में जो पुरातात्विक भू-उत्खनन हुआ था, उसमें उड़ीसा के जैन मुहंड राजाओं के राजत्व का स्पष्ट प्रमाण मिल गया है। इस भू-उत्खनन में मिली हुई एक स्वर्णमुद्रा के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए डा० अल्तेकर ने कहा है कि 'यह मुद्रा महाराजा-धिराज "धर्मदामधर" नामक किसी मुहण्ड राजा द्वारा प्रचलित की गई थी।' उन्होंने आगे बताया कि 'तब मुहण्ड राजा उड़ीसा में ईसा की तीसरी शताब्दी में शासन करते थे और वे जैन थे'।

डा० नवीनकुमार साहू ने प्रमाणित किया है कि

१७. भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७१६

१८. एन्सियेन्ट इंडिया नं. ५ शिशुपाल गढ़ उत्खनन रिपोर्ट

१५. कलिंग से जिनकी मूर्ति को विजय के चिन्ह रूप में ले जाने वाला नन्दिवर्धन था। खारवेल ने पौने तीन सौ वरस पीछे मगध से उसका बदला चुकाया।

'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पृ० ४१३।

१६. देखो, हिन्दी विश्वकोष भाग २ पृ० ३८२

उड़ीसा के मुरुण्ड राजाओं का राज्य ईसा की दूसरी शताब्दी के शेष भाग से ईसा की चौथी शताब्दी तक प्रचलित था^{१९}। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईस्वी सन् की चतुर्थ शताब्दी तक वहाँ जैनियों का राज्य प्रचलित था।

चतुर्थ शताब्दी में कलिंग छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था। जो गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गए थे। पाँचवीं शताब्दी के मध्य कलिंग में पितृ भक्त कुल के तथा दक्षिण कलिंग में माठर और वशिष्ठ वंशों के राजा क्रमशः सिंहपुर (वर्तमान सिंगपुरम्) और पूर्व में गोदावरी से राज करते थे। पर इनसे अधिक पराक्रमी गंग राजा थे जिनका कलिंग पर छठी शताब्दी से षोडश शताब्दी तक और बाद में १०वीं से १३वीं सदी तक अधिकार रहा है। इनके समय में यद्यपि किसी जैन राजा का पता नहीं चलता किन्तु जैन धर्म के धारक श्रावक अवश्य थे। छठी और सातवीं सदियों में कुछ समय के लिए शशाक हर्षवर्धन की भी सत्ता वहाँ रही है। उसी समय वहाँ चीनी यात्री युआनचयांग आया था। गंगों की राजधानी कलिंग नगर थी, जिसकी पहिचान वंशधारा नदी पर स्थित श्रीकाकुलम् जिले के मुखलिगम् और कलिंग पत्तनम् से की गई है^{२०}। कलिंग में समय समय पर अनेक छोटे-छोटे राज्य होते रहे जिनकी राजधानियाँ विभिन्न स्थानों में थी।

गुप्तोत्तर मध्य युग में उड़ीसा के विभिन्न प्रान्तों में प्रसिद्ध राज वंशों ने राज्य किया। उनमें गंगवंश, तोषल का भीमवंश, खिजली मंडल का भजवंश और कोशल-त्कल का सोमवंश थे। यह समय बौद्धों और जनों के अधःपतन का था। बौद्धधर्म तो अपने अस्तित्व के संरक्षण के लिए तांत्रिकता का आश्रय लेकर वज्रयान और सहजयान पंथों में परिणत हो गया। किन्तु जैन धर्म उस समय भी अपने संरक्षण में गतिशील बना रहा। उस समय कलिंग में उद्योत केशरी का राज्य था। यद्यपि वह शैव धर्मानुयायी था फिर भी जैन धर्म में उसका आकर्षण था। उस समय खण्डगिरि में नवमुनि गुफा और ललाटेन्दु

केशरी गुफाओं का निर्माण हुआ था। ललाटेन्दु केशरी गुफा से यह भी ज्ञात होता है कि देशीगण के आचार्य कुमुदचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र वहाँ यात्रार्थ आये थे^{२१}।

कलिंग में जैनधर्म का ह्रास

उद्योत केशरी के बाद वहाँ शैवों का प्रभुत्व अधिक बढ़ा, उससे जैन संस्कृतिको बड़ा धक्का लगा। अकेले भुव-नेश्वर नगरमें ईसवी सन् की ७वीं शताब्दी में सैकड़ों शिव मन्दिर बन गये थे^{२२}। कुछ समय बाद वहाँ ऐसी विकट परिस्थिति बनी, जिसमें जैनधर्म का निर्वाह करना भी कठिन हो गया। शैवधर्म का वह विषाक्त वातावरण दूसरे बौद्ध और जैन सम्प्रदायों की संस्कृति को नष्टभ्रष्ट करने पर कटिबद्ध हो रहा था, अब उन्हें धर्म परिवर्तन करना या अपना सर्वस्व छोड़ कर अन्यत्र चले जाना ये दो मार्ग ही शेष रह गये थे। जिन्होंने धर्म परिवर्तन कर लिया वह वहाँ रहे, और जिन्होंने धर्म परिवर्तन करने से इंकार किया उन्हें वहाँ से भागना पड़ा, या जीवन का बलिदान करना पड़ा। दक्षिण भारत में शैवों ने जो कुछ किया, इतिहासज्ञ उससे भलीभाँति परिचित है। उससे बदतर व्यवहार यहाँ किया गया। उड़ीसा में जैनों की संस्कृति और धर्म के विनष्ट होने के बावजूद धार्मिक और सांस्कृतिक सम्प्रदाय के साथ स्वोपाजित सम्पत्ति से भी हाथ धोना पड़ा। वहाँ जैनियों के साथ जो गुजरा उसका किंचित् अभास निम्न उल्लेखों से स्पष्ट है :

वामनघाटी प्रान्त के (१२वीं सदी) के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि मयूरभंज के भंजवंशी राजाओं ने श्रावकों को बहुत ग्राम दिये थे। उक्त वंश के सस्थापक वीरभद्र एक करोड़ साधुओं के गुरु थे। ये जैन थे और वहाँ की तांबे की खानि में इस स्थान के श्रावक काम करते थे। वहाँ के गाँवों में बहुत सी प्राचीन कीर्तियाँ अब भी मौजूद हैं। यह अंचल श्रावकों के आधीन था^{२३}।

२१. श्री श्रीमत् उद्योत केशरी देवस्य प्रवर्द्धमाने विजय-राज्ये संवत् १८ श्री आर्य सधे ग्रहकुल विनिर्गत देशीगणाचार्य श्रीकुलचन्द्र भट्टारकस्य तस्य शिष्य शुभचन्द्रस्य।
—नवमुनि गुफालेख

२२. हिन्दी विश्वकोष नागेश्वरसु भाग ३, पृ. १६५।

२३. बंगाल जर्नल ए० एस० ई० १८७१ पृ० १६१-६२।

१९. डा० साहू ए०, हिस्ट्री आफ उड़ीसा भाग २, पृ० ३३४

२०. हिन्दी विश्वकोष नागेश्वर वसु भाग ३, पृ. १६५

मैजर टिकल ने लिखा है कि सिंहभूमि श्रावकों के हाथ में थी किन्तु अब नहीं है, उस समय उनकी संख्या अन्य लोगों से कहीं अधिक थी। उनके देश का नाम शिखर भूमि था और पांचेत। उनको बड़ी तकलीफ देकर निकाल दिया गया।

कॉर्नेल डाल्टन ने बेंगल एथनोलोजी में लिखा है कि सिंहभूमि के कई हिस्से ऐसे दल के हाथ में थे, जो मानभूम में अपने प्राचीन स्मारक छोड़ गए। वहाँ पुराने लोग रहा करते थे। उनको श्रावक या जैन कहा जाता था। अब भी कोलहन को 'हो' जाति के लोग तालाबों को 'सरावक' (श्रावक सरोवर) कहते हैं। यहाँ के गृहस्थ श्रावकों ने जंगल के भीतर तबि की खानों का अन्वेषण किया था और उसमें अपनी शक्ति लगा दी थी।

बेणुसागर में कई प्राचीन जैन मन्दिर हैं।

सो साल के पहले सिंहभूमि के बहुत से स्थानों में सासकर 'पोड़ाहाट' में बहुत जैन लोग थे। इन्हे वहाँ के आदम निवासी लोग 'सराखु' (सराओगी) कहते हैं। उस समय के प्राचीन मन्दिर, मूर्ति, गुहा, पुष्करिणी आदि के अवशेष देखकर मालूम होता है कि वे ऐश्वर्यशाली और स्वाधीन थे। वहाँ मिट्टी के अन्दर रुपये, मोहरे, चित्रित, टूटे हुए काँच की चूड़ियाँ और मूल्यवान पत्थर की मालाएँ मिलती थीं।

सराकलोग डिम्बरी डूमर (गूलर) आदि फल में कीड़ा रहने के कारण उन्हें नहीं खाते हैं। और प्याज, गोभी, आलू भी नहीं खाते हैं। वे खण्डगिरि की यात्रा को आते हैं। इनके यहाँ एक कहावत प्रसिद्ध है 'डोंह डूमर पोढो छाती। एह चार नही खाँए श्रावक जाति।' इससे स्पष्ट है कि वे अहिंसा प्रेमी हैं। सराक लोग पार्श्वनाथ की पूजा करते हैं।

सम्राट् खारवेल—यह उस वंश का सबसे प्रसिद्ध और पराक्रमी राजा था। इसके चरित्र की उज्ज्वलता, कार्य-पटुता और सहनशीलता अद्भुत थी। खारवेल चेदि

वंश (महामेघवाहन वंश) का तीसरा राजा था। वह प्रारम्भसे ही वीर, निर्भय, धर्मनिष्ठ, विद्वान, रणकुशल और कलाप्रिय था। वह देखने में प्रभावशाली और सुन्दर था, उसका शरीर प्रशस्त लक्षणों से संयुक्त था। और वह अपूर्व तेजपुञ्ज का धारक था। उसका प्रकाश चारों दिशाओं में बिखर रहा था। सभी विद्याओं और कलाओं में पारंगत था। खारवेल के पिता का नाम 'वक्रदेव' था। हाथी गुफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने अपने जीवन के प्रारम्भिक १५ वर्ष राज्योचित शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत किये थे। खारवेल के पिता का स्वर्गवास उस समय हो गया था जब वे सोलह वर्ष के थे। प्राचीन काल में सोलह वर्ष की अवस्था में पुरुष बालक समझा जाता था। प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि खारवेल ने सोलह वर्ष की अवस्था में युवराज पदवी प्राप्त की। पश्चात् आठ वर्ष में उसने मुद्रा गणना, व्यवहार विधि (भीमासा तर्क आदि) तथा अन्य निद्याओं के सीखने में बिताये। और चौबीस वर्ष की अवस्था में वह कलिग का युवराज हो गया। खारवेल सम्राट् वेण की तरह एक विजयी सम्राट् था। उसका गृहस्थ जीवन भी राष्ट्रीय जीवन के समान सुखमय था। वह अशोक से भी बढ़कर था; क्योंकि उसने अशोक से भी अधिक विजय प्राप्त की थी, परन्तु अशोक जैसा नरसंहार नहीं किया था। वह एक प्रजावत्सल और कर्तव्यपरायण शासक था। उसने थोड़े समय में जो कार्य कर दिखाया, उसे अच्छे-अच्छे राजा लोग भी उतने अल्प समय में नहीं कर सके। २५वें वर्ष में खारवेल का राज्याभिषेक हुआ। खारवेल जब सिंहासनावृद्ध हुए, उस समय कलिग का राज्य वर्त-

४. कलिग का यह नया राजवंश चेदि-चेदि क्षत्रियों का था। यह चेदिवंश ऐर या ऐल कहलाता था। वैदिक लोग वास्तव में ऐल थे, आधुनिक बुन्देलखण्ड उनका जनपद होने से ही चेति या चेदि कहलाने लगा था। बुन्देलखण्ड से दक्षिण कौशल (छत्तीसगढ़) द्वारा चेदिवंश का कलिग तक चले आना स्वाभाविक था।

—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७१६।

५. वेणीमाधव बरुआ ओल्ड ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शंस पृ० ३००।

१. जर्नेल ए० एस० बंगाल ई० १८४० संख्या ६८६।

२. ए० एस० वी० १८६६ पृ० १७६-५।

३. उड़ीसा में जैनधर्म पृ० १४४-४५।

मान उड़ीसा प्रान्त जितना था और जनसंख्या ३५ लाख के लगभग थी। जनगणना कराने का यह कार्य संभवतः मौर्यों के समय से अथवा उससे पूर्व प्रचलित था। कलिंग की राजधानी अशोक के समय से तोपली थी। खारवेल ने अपनी नई राजधानी बनाने का कोई उल्लेख नहीं किया। किन्तु प्रशस्ति में राजधानी का उल्लेख कलिंग नगर के नाम से हुआ है^१।

खारवेल को कलंगाधिपति, कलिंग चक्रवर्ती कहा गया है। क्षेमराज, बुद्धिराज, भिक्षुराज, धर्मराज और राजषिकुल विनिसृत महाराजा आदि उसके विरुद्ध है।

खारवेल का विवाह कब हुआ इसका उल्लेख नहीं मिलता। उसकी दो रानियाँ थीं। एक वजिर घरवाली, जो पट्टमहिषी के नाम से ख्यात थी। और दूसरी सिधुला—राजा लालकस की पुत्री थी—जो हाथी सहस्र के पीत्र थे। ये दोनों ही रानियाँ बड़ी सती, साध्वी, रूप-शील सम्पन्न और धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ का सेवन करती थीं। खारवेल ने सिंहप्रस्थ सिधुला रानी के नाम पर हाथी गुफा के पास गिरिगुहा (रानी गुफा) नाम का प्रासाद बनवाया था यह गुफा अपने ढंग की एक ही है। जो महत्वपूर्ण है। इसका परिचय आगे दिया गया है। खारवेल ने अपने १३ वर्ष के राज्य काल में अपनी दिग्विजय द्वारा भारतवर्ष में ऐसी धाक जमा दी थी, जिससे कोई भी राजा उसकी ओर आख उठाकर नहीं देख सकता था। जहाँ वह बीर और पराक्रमी था वहाँ वह प्रजा हितैषी और उदार भी था। उसने प्रजा के हित के लिए जो-जो कार्य किये थे वे सब उसकी महत्ता के द्योतक हैं। वह जैनधर्म का दृढ़ श्रद्धालु होता हुआ भी अन्य सभी धर्म वालों के साथ समभाव रखता था। जैसा कि प्रशस्ति के निम्न वाक्य से स्पष्ट है—“सद्यपाषंड पूजिको सबदेवायतन संस्कारकारको” ये वाक्य उसकी महानता और समान धर्मता के सूचक हैं। खारवेल सबकी सहायता करता था और मन्दिरों का जीर्णोद्धार आदि कार्यों में सहयोग देता था। उसने अपनी प्रजा को कभी कष्ट नहीं होने दिया। यद्यपि वह बाहर दिग्विजय करने भी गया, तो भी राज्य व्यवस्था

सुचारु रूप से चलती थी। पौर और जानपद संस्थाएँ राज्य का कार्य इस तरह से सम्पन्न करती थीं, जिसमें प्रजा का हित सन्निहित रहता था। राज्य में प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। खारवेल का जीवन बड़ा ही महत्वपूर्ण था। उसने राज्य सम्पदा को अभिवृद्धि करते हुए भी उसमें उसकी आसक्ति नहीं थी। इसीसे उसने १३ वर्ष राज्य करने के उपरान्त उससे विरक्त हो गया और आत्म-साधना के पथ की ओर अग्रसर हो गया था। तथा व्रतादि के अनुष्ठान द्वारा इन्द्रिय दमन करने और कषायों को शमन करने तथा उनके रस को सुखाने का प्रयत्न करने लगा। यह कार्य उसने कितने वर्ष किया इसका कोई इतिवृत्त नहीं मिलता।

खारवेल के ऐतिहासिक महत्वपूर्ण कार्य

खारवेल के १३ वर्ष के राजत्व काल का विवरण और जीवन की खास घटनाओं का अंकन हाथी गुफा के शिलालेख में हुआ है। हाथी गुफा एक अकृत्रिम गुफा है जिसमें खारवेल का शिलालेख उत्कीर्ण हुआ है। शिलालेख में वर्षानुक्रम से राजत्व की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया गया है। शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ पढ़ने में नहीं आईं—वे घिस गई हैं, जो पंक्तियाँ पढ़ी जा सकीं उनसे बहुत कुछ सामग्री प्रकाश में आ पाई है। फिर भी कुछ पंक्तियाँ अभी अस्पष्ट हैं। इतिहास की दृष्टि से लेख बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

१—खारवेल ने राजधानी की तूफान से ध्वस्त प्राचीन इमारतों, कोट दरवाजों की मरम्मत कराई, खिविर ऋषि के बड़े तालाब का पक्का बाँध बंधवाया और उद्यान लगवाए।

२—खारवेल ने आंध्र के सातवाहन वंश के तृतीय राजा सातकर्णी के विरुद्ध आक्रमण कर उसे पराजित किया। उसने खारवेल का आधिपत्य स्वीकार किया। सातकर्णी को विजित करने के बाद खारवेल की सेना कलिंग वापिस नहीं आई, किन्तु दक्षिण में कृष्णा नदी के तट पर बसे हुए अशिक नगर में जा पहुँची। यद्यपि वहाँ के राजा बड़े पराक्रमी और शूरवीर थे, किन्तु वे खारवेल की शक्ति का मुकाबला न कर सके। अशिक नगर पर अपना आधिपत्य जमा, खारवेल ससैन्य वापिस आ गया।

१. शिलालेख की पंक्ति ३ में उल्लेख है।

तीसरे वर्ष वह कही नहीं गया परन्तु राजधानी में बहुत उत्सव एवं मनोरंजन के अनेक कार्य किये।

३—चतुर्थ वर्ष के प्रारम्भ में ही खारवेल ने अपने सैन्य सहित विन्ध्याचल की ओर प्रस्थान किया। उससे वह क्षुब्ध हो उठा। अरकडपुर में विद्याधरों के आवास को, जो कलिंग के पूर्व राजाओं ने बनवाये थे। उनका जीर्णोद्धार कराया। खारवेल ने रथियों के भोजको को परास्त कर अपने आधीन किया। वे छत्र भृगार छोड़कर खारवेल के चरणों में झुकने को बाध्य हुए। रथियों के भोजक—अर्थात् महाराष्ट्र के भोजपदवी वाले सरदार जिनका प्राचीन लिच्छवियों और शाक्यों आदि की तरह गणराज्य था, इसी कारण शायद प्रत्येक सरदार छत्र धारण करता था^१।

४—पंचम वर्ष में खारवेल अपनी राजधानी की शोभा एवं सज्जा बढ़ाने के लिए तनमुलिबाट नहर को बढ़ाकर राजधानी तक लाया, जिसे नन्द राजा ने तीन सौ वर्ष पूर्व बनवाया था।

५—छठवें वर्ष में खारवेल का राजसूय अभिषेक हुआ। तब उसने पौर और जानपद सभों को विशेष अधि-कार दिये। यद्यपि खारवेल सम्पूर्ण स्वत्वाधिकारी सम्राट् था, फिर भी उसने प्रजा की भलाई के लिए अनुग्रह किया—डा० जायसवाल जी के अनुसार उसने कानूनी वे सब रियायतें जो पौर और जनपदों को दी जाती थी, प्रजा हित की दृष्टि से प्रदान कीं।

सातवें वर्ष में खारवेल अपनी आयु के ३१ वर्ष पूर्ण कर चुका था।

६—आठवें वर्ष में खारवेल ने बड़ी सेना के साथ मगध पर आक्रमण किया और ससैन्य गोरथगिरि तक पहुँच गया, और उसे विजित कर, सेना ने राजगिर को घेर लिया। राजगिर के घेरे की बात सुनकर यवन राज देमेत्रियस (Demetrius) इतना भयभीत हुआ, कि दिमित या दिमेत्र घबड़ाई सेना और वाहनों को मुषिकल से बचा

कर मथुरा को भाग गया। खारवेल भी मथुरा पहुँचा, इससे पता चलता है कि खारवेल कितना पराक्रमी और प्रतापी था, उसका देशप्रेम और भुजविक्रम निस्सन्देह अद्वितीय था। खारवेल ने मथुरा में ब्राह्मणों को दान भी दिया था। और राजधानी को लौट आया।

७—नौवें वर्ष में खारवेल ने 'कल्पद्रुम' नामक महा-पूजा की और लोगों को किमिच्छिक दान दिया तथा घोड़े, रथ, हाथी आदि योद्धाओं को भी भेंट किये। ब्राह्मणों को भी दान दिया। यह पूजा चक्रवर्ती सम्राट् ही कर सकता है^२। खारवेल ने प्राची नदी के दोनों तटों पर महाविजय नाम का प्रासाद बनवाकर अपनी दिग्विजय को चिरस्थायी बना दिया। इसके निर्माण में अड़तीस लाख रुपया व्यय हुआ।

दसवें वर्ष में सेना को उत्तर भारत की ओर भेजा।

८—ग्यारहवें वर्ष में आव राजा द्वारा बसाई हुई पिथुंड या पिठुंड मण्डी (बाजार) को गधों के हल से जुतवा डाला और ११३ वर्ष पुराने तिमिरदेव (तामिल-देव) संघात को तोड़ डाला। इसी वर्ष खारवेल के प्रताप की आन मानकर दक्षिण के पाण्ड्य नरेश ने खारवेल का सत्कार किया और रत्नादि मूल्यवान वस्तुएँ भेंट स्वरूप उनकी सेवा में प्रेषित की।

९—बारहवें वर्ष खारवेल ने मगध पर पुनः आक्रमण किया, जिससे मगध में आतंक छा गया। यह आक्रमण अशोक के कलिंग आक्रमण के प्रतिशोध रूप में था। मगध नरेश बृहस्पति मित्र (पुष्प मित्र) खारवेल के पैरों में नतमस्तक हुए। उन्होंने अंग और मगध की मूल्यवान भेंट के साथ कलिंग के राज चिन्ह और कलिंग

३. किमिच्छकेन दानेन जगदाशः प्रपूर्ययः।

चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हयज्ञः कल्पद्रुमो मतः।

—सागारधर्मावृत २-२८

४. कलिंग तट के साथ-साथ दक्खिन की ओर बढ़ने पर आव नाम का एक छोटा-सा राष्ट्र था, जिसकी राज-धानी पिथुंड या पिठुंड थी। दूसरी शताब्दी ई० के रोमन भूगोल लेखकने लिखा है कि उक्त नगरी तमिल देश का द्वार मानी जाती थी।

—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा, पृ० ७९३।

१. भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७१७।

२. गोरथगिरि गया की सुप्रसिद्ध वारावर पहाड़ी है, यह उसके एक अभिलेख से सिद्ध हुआ है, भारतीय इतिहास की रूप-रेखा पृ० ७२०।

जिनकी प्राचीन मूर्ति, जिसे राजा नन्दि वर्द्धन मगध ले गया था प्रदान की। खारवेल उस सातिशय आदि जिन की मूर्ति को वापिस लेकर कलिंग आ गया और उसे महोत्सव के साथ विराजमान किया।

१०—तेरहवें वर्ष में खारवेल ने अर्हन् निषीदी के समीप पर्वत पर श्रेष्ठ प्रस्तर खानों से निकाले हुए और अनेक योजनों से लाये गए पाषाणोंसे सिंह प्रस्थ वाली रानी सिधुला के लिए निश्चय बनवाए।.....खारवेल ने वैडूर्यगठित चार स्तम्भ भी स्थापित किये, इसके निर्माण में पचहत्तर लाख रुपये व्यय हुए। सम्राट् खारवेल दिग्विजय से सन्तुष्ट होकर राज्य लिप्सा से विरक्त हो धर्म साधन की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने कुमारगिरि पर्वत पर जहाँ भगवान महावीर ने धर्मोपदेश दिया था। श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करते हुए जीवन को आत्म-साधना में लगाया। उसके बाद वह कब तक जीवित रहा, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका, खारवेल कम से कम १०-१५ वर्ष तो अवश्य ही जीवित रहा होगा।

उदयगिरि और खण्डगिरि

भुवनेश्वर से ५ मील शिशुपालगढ के उत्तर पश्चिम में उदयगिरि खण्डगिरि नाम के दो छोटे-छोटे पहाड़ हैं। उनकी ऊँचाई क्रमशः ११० फीट और १२३ फीट है। इन पहाड़ियों पर जैन श्रमणों के तपश्चरण करने के लिए अनेक गुफाएँ बनी हुई हैं। जिनकी संख्या १०० के लगभग है। इनमें दो बड़ी गुफाएँ हैं जो भगवान महावीर के समय से ही अर्हन्तो के ससर्ग से पावन हो चुकी थीं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हाथी गुफा है जिसमें चेदिवश के राजा खारवेल का लेख अंकित है। उस काल में यहाँ हजारों की संख्या में श्रमण तपश्चरण करते थे। भगवान महावीर के समय कुमारी पर्वत पर चतुर्विध सघ अनेक बार आया था। हजारों साधु यहाँ रहकर आत्म-साधना द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। सुधर्म स्वामी भी अपने ५०० शिष्यों के साथ कुमारगिरि पर और धर्मपुर आदि में विहार करते हुए आये थे। उदयगिरि का प्राचीन नाम कुमारगिरि था जिसके सम्बन्ध में कुछ विचार किया जाता है। हाथी गुफा की प्रशस्ति में भी कुमारगिरि का उल्लेख है। उस समय समूचा पर्वत

कुमारगिरि कहलाता था। कुमारगिरि प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है—निर्वाण भूमि है। जिसे उदयगिरि भी कहा जाता है। भगवान महावीर ने कुमारगिरि पर उपदेश दिया था। कलिंग के राजा जितशत्रु ने इसी पर्वत पर दीक्षा ली थी। और तपश्चरण द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया और अज्ञान-तिया कर्म का नाशकर मुक्ति पद प्राप्त किया। यह प्राचीन गाथाओं से स्पष्ट है :—

जिवसत्तूरायाणं जितारिपुत्तं कलिंग वासम्मि ।

बेहादि णि विण्णो कुमारगिरिम्हि पव्वइया ॥

किञ्चा तव स घोरें भाणगिणा वुड्ढघाड-कम्ममलं ।

पप्पा केवलणाण अणतरं णिव्वाणसुह सहइ ॥

(प्राचीन गुट के से उद्धृत)

कलिंग के धर्मपुर नगर में भगवान महावीर के द्वितीय गणधर सुधर्म स्वामी अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ आए थे। इनके उपदेश से वहाँ के राजा यम ने गर्दभ पुत्र को राज देकर अपने पाँच सौ पुत्रों के साथ जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। तथा तपश्चरण द्वारा बीजादि अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त की। और अन्त में उन्होंने कुमारगिरि से स्वर्ग प्राप्त किया था। सम्राट् खारवेल ने इसी पर्वत पर जैन श्रमणों के लिए अनेक गुफाओं का निर्माण किया था। और विशाल मन्दिर बनवाया था और उसमें आदि जिन की उस सातिशय मूर्ति को, जिसे कलिंग विजय के समय

१. अन्यदा विहरन क्वापि शिष्य पञ्चशतवृतः ।

धर्माख्यपुरसामीप्यं सुधर्मा मुनिराययी ॥६

× × ×

आहूय गर्दभाभिर्युक्तां प्राप्त स भूपतिः ।

राजपट्टं बवन्धास्य समस्तनृपसाक्षिकम् ॥१५

शतैः पञ्चभिरायुक्तः स्वपुत्राणां नृपै सह ।

अन्यैः सुधर्मसामीप्ये राजेन्द्रः स तपोऽगृहीत ॥१६

× × ×

एताभिलब्धिनिर्मुक्ता श्रामण्यं परिपाल्य च ।

धर्मादिनगरासन्नो कुमारादिगिरि मस्तके ॥६७

शतैः पञ्चभिरायुक्तो मुनीनां धर्मशालिनां ।

आराधना समाराध्य यमः साधु दिवे ययी ॥६८

—हरिवंश कथाकोष पृ० १३४

तथा भगवती आराधना गाथा ७७२

नन्द राजा ले गया था, पीने तीन सौ वर्ष बाद ला कर खारवेल ने महोत्सव के साथ प्रतिष्ठित किया था। सम्राट् खारवेल ने स्वयं भी इस पर्वत पर व्रत उपवासादि द्वारा आत्म-साधना का अनुष्ठान किया था। इन सब उल्लेखों से कुमारगिरि की महत्ता का आभास सहज ही मिल जाता है।

उदयगिरि पर जो महत्वपूर्ण गुफाएं हैं, उनमें से कुछ खास गुफाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

रानीगुफा—उदयगिरि की गुफाओं के मध्य में रानी हंसपुर नामक गुफा सबसे बड़ी और चित्ताकर्षक है। इसकी बनावट बड़ी सुन्दर है, इसे रानीगुफा के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि सम्राट् खारवेल ने इसे सिधुला-रानी के लिए बनवाई थी। यह गुफा दोमंजली है। इसकी कोठरियाँ दो पंक्तियों में सुशोभित है। गुफा का दक्षिण-पूर्व पार्श्व खुला हुआ है। नीचे की पंक्तियों में घाठ और ऊपर की पंक्ति में छः प्रकोष्ठ हैं। ऊपर की मंजिल में २० फुट लम्बा बरामदा है जो गुफा की विशेषता का निर्देशक है। इन्हीं बरामदों में प्रतिहारियों की मूर्तियाँ अत्यन्त स्पष्ट रूप में उकेरी गई हैं। बरामदे की छत को थांभने के लिए प्रस्तर स्तम्भ बनाए गये हैं। किन्तु वे अधिकांशतः जीर्ण-शीर्ण हो गए हैं। गुफा में पौराणिक आख्यानों, कथाओं, और मूर्तिकला को अभिव्यक्त करने वाले अनेक चित्र उत्कीर्णित हैं। दोनों ही मंजिलों में महत्वपूर्ण तक्षण कार्य हुआ है। नीचे की मंजिल के तक्षण कार्य का शिल्प भरहुत से भी सुन्दर है। मूर्तियों का तक्षण कार्य उनकी सजीवता और ओजस्विता का परिचायक है। जैसाकि सांची के द्वारों में अंकित है। इन सब बातों से रानी गुफा की महत्ता का सहज ही भान हो जाता है।

मंजूरीगुफा—इस गुफा में तीन कमरे हैं जिनका फर्श कुछ उभारको लिए हुए बनाया गया है। जिससे शयन करने वाले श्रमणों का शिर ऊंचा रहे। इसमें दो कमरे कुदपश्ची और कुमार वड्डुख ने बनवाए थे। जैसा कि उनके लेखों

१. ऐरस महाराजस कलिगाधिपतिनो महा.....वाह कुदपसिरिनो लेणम् ॥

२. कुमार वड्डुखस लेणम् ।

से स्पष्ट है। और तीसरा कमरा शायद खारवेल ने बनवाया था। गुफा के मध्य में एक महत्वपूर्ण उत्कीर्ण एक चित्र था जो अब नष्ट/प्राय हो गया है। इसका सम्बन्ध उस ऐतिहासिक घटना से जान पड़ता है, जब सम्राट् खारवेल मगध विजय करके कलिग जिनकी मूर्ति लाये और कलिग नगर में उत्सव के साथ प्रतिष्ठित किया था। यह चित्र इसी घटना को सद्योतित करता है। इससे उसकी महत्ता का स्पष्ट भान होता है।

गणेशगुफा—इसमें दो कमरे हैं, इस गुफा के चित्रों में रानी गुफा के चित्रों का; जो पौराणिक आख्यानों, कथाओं और मूर्तिकला को अभिव्यक्त करने वाले हैं उन अनेक चित्रों का सूक्ष्म रूप दिया हुआ है जिनका विषय और भाव वही है।

स्वर्गपुरी गुफा—इसमें दो बड़े कमरे और एक छोटा कमरा है, कमरों के बीच में गुफा का निर्माण कराने वाली रानी का लेख उत्कीर्णित है। यह गुफा हाथी गुफा के बाद बनी मालूम होती है। इस तरह उदयगिरि पर और भी अन्य गुफाएं हैं, जिनका परिचय लेख के भय से नहीं दिया जा सका।

खण्डगिरि

खण्डगिरि पर जितनी गुफाएं हैं उनमें कई गुफाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। उनमें तत्त्व गुफा और अनन्त गुफा सबसे अधिक महत्व की हैं।

तत्त्वगुफा में तीन द्वार और प्रस्तरासन, पार्श्वस्थ छिद्र और चोकोर स्तम्भ हैं। मध्य टोडियों पर भी अलंकरण दृष्टिगाचर होते हैं। नर्तकी और वीणापाणिनर, पुष्पमाल सहित अलंकृत नारी, तथा स्तम्भ के ऊर्ध्व भाग के शृंगो पर दाहिनी और सिंह और बाईं ओर हाथी हैं। और भी अनेक अलंकरण दिखाई देते हैं। इस कारण यह गुफा अपनी खास विशेषता रखती है।

अनन्तगुफा—इस गुफा के तौरणों के ऊपर दोनों ओर नाग हैं, इसी कारण इसे अनन्त गुहा कहते हैं।

३. अरहुत प्रसादाना(म्) कालिगा (न) म् समणानम् लेणं कारितं राजिनो ल (i) लाक (स)

हयिसहस-पयोतसधुनाकलिग-च [खा] रबेलस अग महषीया का लेण ।

प्रयाग

श्री पं० बलभद्र जैन

तीर्थ क्षेत्र:—

आद्य तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव ने जिन ५२ देशों की रचना की थी, उनमें कोशल देश भी था । उसके अन्तर्गत ही पुरिमताल नामक एक नगर था । भगवान् ने दीक्षा लेने से पूर्व अपने सौ पुत्रों को विभिन्न नगरों के राज्य दिए थे । उनमें वृषभसेन नामक पुत्र को पुरिमताल-पुर का राज्य दिया । जब भगवान् ने नीलजना अम्बरा की नृत्य करते हुए मृत्यु देखी तो उनके मन में ससार, शरीर और भोगों के प्रति निर्वेद हो गया । लौकान्तिक देवों ने इस पुण्य अवसर पर आकर भगवान् के वराग्य की सराहना की, अनुमोदन किया और प्रेरणाप्रद निवेदन किया, भगवान् राजपाट त्यागकर दीक्षा लेने अयोध्या से देव निर्मित पालकी 'सुदर्शन' में चल दिए । पालकी को सर्वप्रथम भूमिगोचरियों ने उठाया और सात कदम चले । पश्चात् विद्याधरों ने पालकी को उठाया । तदनन्तर देवों ने पालकी को उठा लिया और आकाश मार्ग से चले ।

आकाश में देव और इन्द्र हर्ष विभोर हो चल रहे थे और भूमि पर भगवान् की स्त्रियों—नन्दा और सुनन्दा, अन्य परिवारी जन और जनता शोकाकुल चल रही थी । साथ भगवान् के माता-पिता मरुदेवी और नाभिराय

इसके अलंकरणों को बारीकी से अध्ययन करने पर कई महत्व की बातों की जानकारी मिल सकती है । गुफागत अलंकरण बड़े ही सुन्दर और दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं ।

इस पर्वत पर नवमुनि गुफा है जिसमें इसकी दीवाल पर नौ तीर्थंकरों की पद्मासन मूर्तियां अंकित हैं । उनके नीचे यक्षिणी देवियां हैं । मूर्तियों के साथ तीन छत्र और दो चमरेन्द्र हैं । इसमें चार लेख हैं जिनमें १ लेख दशवीं शताब्दी का राजा उद्योतकेशरी के १८वें वर्ष का है । दूसरा लेख श्रीधर नाम के विद्यार्थी का है । और दो

भगवान् का दीक्षा कल्याणक देखने चल रहे थे ।

भगवान् पुरिमतालपुर के बाहर मिद्धार्थ नामक वन में पहुँच कर पालकी से उतर पड़े और सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करके एक वटवृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख होकर अपने हाथों द्वारा केश लुचन किया । इस प्रकार चैत्र कृष्ण नवमी के दिन सायंकाल को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में दीक्षा ले ली । और छह मास का योग लेकर उस वट वृक्ष के नीचे एक शिला पट्ट पर आसीन हो गए । दीक्षा लेते ही भगवान् को मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया । चार हजार राजा भगवान् के साथ दीक्षित हो गए । उनमें सम्राट भरत का पुत्र मरीचि भी था । देवों ने भगवान् का दीक्षा कल्याणक मनाया ।

इसी समय से पुरिमताल नगर के उस स्थान का नाम प्रयाग पड़ गया । आचार्य जिनसेन ने इस सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट शब्दों में कथन किया है ।

वे लिखते हैं:—

एकमुक्त्वा प्रजायत्र प्रजापति मपूजयत् ।

प्रदेशः स प्रजागात्र्यो यतः पूजार्थं योगतः । ६-६६

अर्थात् 'तुम लोगों की रक्षा के लिए मैंने चतुर भरत को नियुक्त किया है । तुम उसकी पूजा करो' भगवान् के

लेख और है ।

सलादेन्दु केशरीगुफा—भी दो मंजिली थी किन्तु उसका अग्रभाग और दीवालों का कुछ भाग गिर गया है । दीवालों पर तीर्थंकरों की मूर्तियां उत्कीर्णित हैं । इसमें एक संस्कृत का खंडित अशुद्ध लेख है, जिसमें लिखा है कि उद्योतकेशरी के राज्य के पांचवें वर्ष में कुमार पर्वत पर जीर्ण जलाशय और मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित कीं । इस तरह यह गुफा भी बहुमूल्य सामग्री को लिये हुए है जो दर्शकों के लिए उत्प्रेक्षणीय है । ★

ऐसा कहने पर प्रजा ने उनकी पूजा की। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान पूजा के कारण 'प्रयाग' इस नाम को प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने 'पद्म पुराण' में कहा है:—

प्रजाग इनि देशोऽसौ प्रजाम्योऽस्मिन् गतो यतः।

प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः।३-२८६।

भगवान वृषभदेव प्रजा से दूर हो उस स्थान पर पहुँचे थे, इस लिए उस स्थान का नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया। अथवा भगवान ने उस स्थान पर बहुत भारी त्याग किया था इस लिए उसका नाम 'प्रयाग' भी प्रसिद्ध हुआ।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भगवान ऋषभदेव के कारण ही इस स्थान का नाम 'प्रयाग' पड़ा और फिर पुरिमताल नगर भी प्रयाग कहलाने लगा। क्योंकि जैन साहित्य में ऋषभदेव के पश्चात् पुरिमताल नामक किसी नगर का नाम देखने में नहीं आया। भगवान प्रजापति कहलाते थे और प्रजा उन्हें हृदय से प्रेम करती, उनपर श्रद्धा रखती थी। इसलिए भगवान के सर्वस्व त्याग जैसी अपूर्व घटना के कारण 'प्रयाग' नाम पड़ा और वही स्थायी हो गया।

दीक्षा लेने के बाद भगवान यहाँ पर केवल छह मास तक ही रहे। इसके पश्चात् वे विभिन्न देशों में विहार करते रहे। ठीक एक हजार वर्ष पश्चात् वे पुनः इसी स्थान पर पधारे। भगवज्जिनसेनाचार्य के शब्दों में 'मौनी, ध्यानी और मान से रहित वे अतिशय बुद्धिमान भगवान धीरे-धीरे अनेक देशों में विहार करते हुए किसी दिन पुरिमताल नामक नगर के समीप जा पहुँचे। वहाँ शकट नामक वन में वट वृक्ष के नीचे एक शिला पर पर्यङ्कासन में विराजमान हो गए। उन्होंने ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मों का नाश कर दिया और फाल्गुण कृष्ण एकादशी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान को निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। सम्पूर्ण देवों और इन्द्रों ने वहाँ आकर केवलज्ञान की पूजा की और केवलज्ञान का महोत्सव मनाया, इन्द्र की आज्ञा से देवों ने उसी स्थान पर समवसरण की रचना की। उस समय उस नगर का

नरेश वृषभसैन अनेक राजाओं के साथ भगवान के पास पहुँचा और दीक्षा लेकर भगवान का प्रथम गणधर बना। तब इस युग में प्रथम तीर्थंकर का प्रथम उपदेश यही पर हुआ। भगवान ऋषभदेव ने धर्मचक्र प्रवर्तन प्रयाग में ही किया।

भगवान की दीक्षा के कारण इस नगर का नाम बदल कर प्रयाग हो गया और जिस वट वृक्ष के नीचे उन्हें अक्षय ज्ञान लक्ष्मी प्राप्त हुई वह वट वृक्ष 'अक्षयवट' कहलाने लगा।

नन्दि संघ की गुर्वावली में अक्षय वट का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—“श्री सम्मेदगिरि—चम्पापुरी—ऊर्ज-यन्तगिरि—अक्षय वट—आदीश्वर दीक्षा सर्वसिद्ध क्षेत्र कृत यात्राणा। इसमें अक्षय वट को तीर्थ स्थान माना है।

इस प्रकार दीक्षा और ज्ञान कल्याणक यहाँ मनाए गए। इसलिए यह सदा से जैन तीर्थ क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध रहा है।

यह स्थान प्राकृतिक सुषमा से समृद्ध है। गंगा-यमुना और सरस्वती का यह संगम स्थल है। इन तीन नदियों की श्वेत, नील और रक्त धाराएँ मिलकर एक दूसरे में समाहित हो गई हैं। यह अक्षयवट इस त्रिवेणी संगम के तट पर खड़े हुए किले के भीतर है। इसमें तो सदेह नहीं है कि वह मूल अक्षयवट समाप्त हो गया, किन्तु उसकी वंश परम्परा के द्वारा अब तक एक अक्षयवट विद्यमान है। पहले पातालपुरी गुफा में कुछ पंडे लोग एक सूखी लकड़ी को कपड़े में लपेट कर और उसे अक्षयवट कहकर भक्त जनता को उसका दर्शन कराते थे। किन्तु अब कहते हैं, अक्षयवट का पता चल गया और अब सप्ताह में दो दिन उसके दर्शन कराये जाते हैं। यमुना किनारे के फाटक से यहाँ आ सकते हैं।

इस स्थान की यात्रा करने से भगवान ऋषभदेव की स्मृति मन में जाग उठती है और मन अनिवर्चनीय भक्ति-भाव से प्लावित हो उठता है।

पुरातत्त्व—यहाँ किले में एक प्राचीन स्तम्भ है। भगवान ऋषभदेव की कल्याणक भूमि होने के कारण मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने इसका निर्माण कराया था। उस स्तम्भ को मूल से अशोक स्तम्भ कहने लगे हैं। इसके

ऊपर त्रियदर्शी—जो सम्प्रति की उपाधि थी—उसकी रानी, सम्राट् समुद्रगुप्त, बोरवल और जहांगीर के लेख भी खुदे हुए हैं ?

यहाँ चाहचन्द गुहल्ला सरावगियान में एक पार्श्व-नाथ पचायती मन्दिर है। इसके सम्बन्ध में यह अनुश्रुति है कि इस मन्दिर का निर्माण नौमी शताब्दी में हुआ था। इस प्रकार यह मन्दिर ११०० वर्ष प्राचीन है। यद्यपि समय समय पर मन्दिर का जीर्णोद्धार होता रहा है, अतः प्राचीनता के चिह्न पाना कठिन है। किन्तु परम्परागत अनुश्रुति इस प्रकार की है।

कुछ वर्ष पूर्व किले की खुदाई में कुछ जैन तीर्थंकरों और यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ निकली थीं। जैन समाज ने सरकारसे लेकर ये मूर्तियाँ इसी मन्दिरमें विराजमान कर दी हैं। ये मूर्तियाँ केवल पुरातत्त्व की दृष्टि से ही, नहीं बल्कि कलाकी दृष्टिसे भी बड़ी मूल्यवान हैं। शासन देवताओं में क्षेत्रपाल, मारुत्पिणी अम्बिका की पाषाण मूर्तियाँ हैं तथा छह शासन देवियों की धातु मूर्तियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त पाँच तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई थीं। ये सभी प्रतिमाएँ चतुर्थकाल की कही जाती हैं। इनमें एक प्रतिमा पार्श्वनाथ की है। इसकी अवगाहना प्रायः साढ़े चार फुट की है। इसका पाषाण रत्नादार है ऊपर फण है। फण के अगल-बगल में पुष्पमाल धारिणी देवियाँ हैं। और फण के ऊपर ऐरावत हाथी है। किम्बदन्ती है कि यह प्रतिमा किले में खुदाई करते समय निकली थी। हिन्दुओं ने इसे अपने भगवान की मूर्ति कहकर ले जाना चाहा। किन्तु जब जैनों को इसका पता चला तो हिन्दू लोग इसे लेने नहीं आये। किन्तु अधिकारी ने यह शर्त लगा दी कि यदि यह जैनों की प्रतिमा है तो इसे एक ही व्यक्ति उठाकर ले जाय। तब एक धार्मिक सज्जन रात भर सामायिक करते रहे और सुबह भगवान की पूजा करने के बाद मूर्ति लेने पहुँचे। और शुद्ध भाव से भगवान का स्मरण करके इसे उठाया तो यह आसानी से उठ आई। किले के बाहर से वे उसे गाड़ी में रखकर ले आये और इस मन्दिर में लाकर विराजमान कर दिया। प्रतिमा काफी विशाल और बज्रतदार है और साधारणतः एक आदमी इसे किसी

प्रकार उठा नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त शेष चार प्रतिमाएँ भगवान ऋषभ-देव की हैं, सभी बलुए लाल पत्थर की हैं। अवगाहना प्रायः चार से पाँच फुट है। इन प्रतिमाओं की विशेषता इनके जटाजूट हैं, जो मूर्त ही दर्शक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। इनकी केश विन्यास शैली विविध प्रकार की है। किसी की जटायें स्कन्धों पर छितरी हुई हैं किसी का जटाजूट शैव साधुओं का है; किसी का जटा गुनगुना है, जिस पवार स्त्रियाँ स्नान के पश्चात् गीले बालों का जूटा बांध लेती हैं। किन्तु लहरानी हुई केश-गति अथवा जटाजूट का तक्षण-कौशल इतना वागीक और वैविध्यपूर्ण है कि केशों की रेखाएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।

सामान्यतः तीर्थंकर प्रतिमाओं के केशकृन्तल घुंघराले और छाटे होते हैं। उनके जटा एवं जटाजूट नहीं होते। किन्तु भगवान ऋषभदेव की कुछ प्रतिमाओं में इस प्रकार के जटा-जूट अथवा जटा देखने में आती हैं। इसका कारण यह है कि तीर्थंकरों के बाल नहीं बढ़ते, ऐसा नियम है किन्तु ऋषभदेव के उपस्थान रूप का वर्णन करते हुए कुछ आचार्यों ने उन्हें जटायुक्त बताया है। आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण में उल्लेख आया है।

सप्रलम्ब जटाभार भ्राजिष्णु जिष्णु रावभी।

रुद्र प्रारोह शाखाओ यथा न्यग्रोधपावपः।।६-२०४
लम्बी लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय ऐसे बट वृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे, जिसकी शाखाओं से पाये लटक रहे हो।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण पद्मपुराण में वर्णन करते हैं :—

वातोद्धता जटातस्य रेजुराशुलमूर्तयः।

धूमालय इव सद्ध्यान बन्धि सवतस्य कर्मणः।३-२८८
हवा से उड़ती हुई उनकी जटाएँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानों समीचीन ध्यानरूपी अग्नि से जलते हुए कर्म के धूम की पत्ति हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषभदेव की प्रतिमाओं का जटाजूट संयुक्त रूप परम्परानुकूल रहा है। इन प्रतिमाओं की रचना शैली, तक्षण कौशल, भावाभिव्यक्ति

और अलंकरणादि का सूक्ष्म अध्ययन करने पर लगता है कि ये सभी प्रतिमाएं एक ही काल की हैं और उस काल की हैं, जब मूर्तिकला का पर्याप्त विकास हो चुका था।

किले के भूगर्भ से इतनी प्रतिमाओं के मिलने से अवश्य ही निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

१—अत्यन्त प्राचीन काल में इस स्थान पर जैन मन्दिर था। यह मन्दिर भगवान के दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणकों के रूप में स्थान पर उनकी स्मृति में बना था। जैन जनता में तीर्थ क्षेत्र के रूप में मान्य रहा और जैन लोग तीर्थ-यात्रा के लिए यहाँ आते रहे। किन्तु बाद में किस काल में इस मन्दिर का विनाश हो गया या किया गया यह कहना कठिन है।

२—प्राचीन काल में तीर्थंकर प्रतिमाओं के साथ शासन देवताओं की मूर्ति बनाने का भी रिवाज था और उनकी मान्यता भी करते थे।

३—मूर्तियों के पाठ-मूल में लेख अंकित करने की प्रथा कुषाण काल में निश्चित रूप से प्रचलित हो गई थी। साधारण अपवादों को छोड़कर मूर्तियों पर लेख अंकित किये जाने लगे थे। कुषाण काल मूर्ति-कला के विकास की दृष्टि से स्वर्ण युग कहा जाता है। इस काल की मूर्तियाँ पर्याप्त विकसित अवस्था में पाई जाती हैं। अग-सोष्ठव, केशविन्यास और शरीर के उभारों में रेखाओं

का सूक्ष्म अंकन कुषाण कालीन प्रतिमाओं में मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कि जहाँ सम्राट् सम्प्रति ने स्तम्भ निमित्त कराया और जहाँ प्राचीन जैन मन्दिर था, वहीं प्राचीन वट वृक्ष था। वहीं भगवान के दोनों कल्याणक मनाये गये। और त्रिवेणी संगम का निकटवर्ती प्रदेश— जहाँ किला खड़ा हुआ है जैन तीर्थ क्षेत्र था।

राजनैतिक इतिवृत्त—प्रयाग प्राचीन काल में काफी समय तक कौशल राज्य के अन्तर्गत रहा। पश्चात् यह पाटिलपुत्र साम्राज्य का एक अंग बन गया। सम्भवतः राजनैतिक इकाई के रूप में प्रयाग का स्वतन्त्र अस्तित्व कभी नहीं रहा, किन्तु शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से इसका महत्व अवश्य रहा है। शाहशाह अकबर ने अपने राज्य को बारह सूत्रों में विभाजित किया था। शासन की दृष्टि से उसने सगम पर एक मजबूत किला भी बनवाया। वह वहाँ बहुत समय तक रहा भी और उसी ने प्रयाग का नाम बदलकर इलाहाबाद कर दिया।

हिन्दू तीर्थ—हिन्दू भी प्रयाग को अपना तीर्थ मानते हैं। त्रिवेणी संगम में स्नान करने को वे बड़ा पुण्यप्रद मानते हैं। हर छह वर्ष पीछे अर्ध कुम्भ और बारह वर्ष पीछे कुम्भ होता है। उस समय लाखों यात्री यहाँ स्नान करने आते हैं।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अग्रिम है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संस्था का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यापियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में अट्ठा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनायें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

खण्डार के सेन परम्परा के लेख

रामवल्लभ सोमाणी

खण्डार सर्वाईमाधोपुर के पास है। यहाँ के दुर्ग के पास चट्टान में ५ शिलालेख है। इनमें से एक वि० सं० १२३० और शेष लेख १५वीं और १६वीं शताब्दी के हैं। इन लेखों को ढूँढ़ने का श्रेय डा० रामचन्द्र राय को है। जयपुर के पास भामडोली ग्राम से वि० सं० १२१२ का मुंभे जो शिलालेख मिला था उसे मैंने महावीर जयन्ति स्मारिका १९७१ के पृष्ठ सं० ७७-७८ पर प्रकाशित करवाया है और इसका मूल भाग अनेकान्त वर्ष २४... अंक १ पृ० ३७ पर भी प्रकाशित हुआ है।

खण्डहर के वि० सं० १२३० के २ पंक्तियों के लेख में सागरसेन, कुमारसेन और छत्रसेन के नाम हैं। यहाँ पहाड़ी को काट कर जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। इस १२३० वि० के लेख को मैं महत्वपूर्ण मानता हूँ। इसका सुपाट्य अंश इस प्रकार है :—

१—ॐ श्री मूलसधे परमानन्दाद्याचार्य श्री सागर-
सेनस्य शिष्यस्याः।

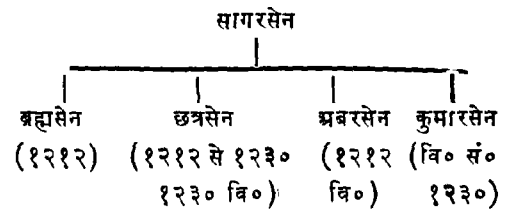
२—कुमारसेन छत्रसेन स्या कारित देव-स्थानं ।
सं० १२३० ।

इस लेख से कुमारसेन और छत्रसेन की तिथि वि० सं० १२३० स्पष्ट हो गई है। वि० सं० १२१२ के भामडोली जयपुर के लेख में आगे का आधा भाग बहुत ही बुरी तरह से धिस जाने से अस्पष्ट हो गया है। इसमें जो साधुओं का वर्णन है वह इस प्रकार है :—

“आचार्य श्री भट्टारकः सागरसेन । तस्यशिष्य मय मण्डलाचार्य धुर्यं ब्रह्म (सेन).....वा श्री छत्रसेन देव पादार (?) तस्य धर्मभ्राता पंडित अम्बरसेन तस्य भ्राता श्री.....सर्वं संघ सेनाम्नाय प्रणमति नित्यं ।”

छत्रसेन नामक एक साधु का उल्लेख अर्थूणा के वि० सं० ११६५ के लेख में है किन्तु निस्संदेह ये छत्रसेन कोई भिन्न रहे होंगे। अब खण्डहर के वि० सं० के लेख के बाद यह स्थिति स्पष्ट हो गई है कि छत्रसेन वि० सं०

१२३० तक जीवित थे। इनकी वंशावली इस प्रकार दी जा सकती है :—



इन लेखों से पता चलता है कि सेन परम्परा के साधुओं का कार्य क्षेत्र जयपुर के आसपास १२वीं शताब्दी के पूर्व से था। किशनगढ़ के पास अराई नामक ग्राम से नैषिधकाओं के लेखों में सेन परम्परा के साधुओं के नाम हैं जो १०वीं शताब्दी में उस क्षेत्र में विचरण करते थे। कोटा, संग्रहालय में बड़ी संख्या में जैन प्रतिमाएँ संग्रहीत हैं। इनमें कुछ लेख मुक्त भी हैं। इनमें सम्भवतः सेन परम्परा के लेख भी थे। इसके अध्ययन के बाद ही इस पर विस्तार से लिखा जा सकता है। ऋटूरु में एक विशालकाय जैन तीर्थंकर की बैठी हुई प्रतिमा है जो अब तक खुले में पड़ी है। इस क्षेत्र में और भी प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

खण्डहर से प्राप्त अन्य लेखों में सं० १५६८ के ३ लेख हैं। इनमें से सलहदी के राज्य में अग्रवाल जाति के श्रेष्ठियों द्वारा निर्माण कार्य का उल्लेख है। वि० सं० १५६४ का एक अन्य लेख और है इसमें मानसिंह तोमर के पुत्र विक्रमादित्य के राज्य का उल्लेख है। पुष्करगण के सेन परम्परा के साधुओं का उल्लेख है। लेख की ३ पंक्ति में अश्वसेन ४थी में विक्रमसेन तथा संघसेन व ५वीं पंक्ति में विमलकीर्ति आदि के नाम हैं। भामडोली से प्राप्त १२वीं शताब्दी के एक अन्य लेख में जो ६ पंक्तियों की है जिसकी ६ पंक्ति में पुष्करगण के लेख हैं।

मध्य प्रदेश में “काकागंज” का जैन पुरातत्व

कस्तूरचन्द्र ‘सुमन’ एम. ए.

भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला एवं पुरातात्विक सामग्री में मध्यप्रदेश का एक विशिष्ट स्थान रहा है। इस प्रदेश में जहाँ बौद्ध और बौद्ध संस्कृतियों को अपने विकास करने के अवसर उपलब्ध हुए हैं, जैन संस्कृति भी उन्हीं के साथ परलपित, पुष्पित और विकसित होती रही है। मध्यप्रदेश में बुद्धोत्पत्ति, गौतमपूर्व जैनो का भण्डार है। काकागंज में निर्मित जैन मन्दिर इसी आम्नाय के लोगो द्वारा बनवाया गया था। यह जैन वर्तमान में मध्यप्रदेश के सागर गहर में बसा हुआ है। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर ११ पत्थरों का संस्कृत भाषा में अंकित एक अभिलेख भी उपलब्ध है, जिसमें बताया गया है कि मूलसूत्र में बलात्कारण-मरस्वनीगच्छ कुद-कुन्दाचार्याम्नाय के गोलापूर्व ज्ञान के अन्तर्गत सिधई घासीराम हुए हैं। वे वननीया वन के थे। उनके वंश में श्री दिमन द्वारा बनाया गया है—संवत् १६११ के फाल्गुन माह के शुक्ल पक्ष में चतुर्दशी बुधवार के दिन इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई गई थी। अभिलेख में यह भी बताया गया है कि उस समय अग्नेज बहादुर का वहाँ राज्य था। अन्त में मंगल कामना की गयी है।

काकागंज मन्दिर अभिलेख निम्न प्रकार है :—

- (१) संवत् १६११ फाल्गुन मासे सु (शु) मे सु (शु) कल पक्ष (क्षे)
- (२) १४ बुधवार के नादिन पत्ता पतिष्ठ (प्रतिमा प्रतिष्ठा (कृता) शानी
- (३) क कृत श्री मूलसूत्रे बलात्कारण सगु(स्व)ती
- (४) ... (गच्छे कुद) कुदाचार्याम्नाय वैरया गोत्राय
- (५) क व श्री गोलापूर्वक वनीह्वा (वननीया) श्री सिधई (घई)
- (६) घासीराम तस्य पुत्र दोय २ जेष्ठ पुत्र लुषर
- (७) दुतिय पुत्र मोनीगम माया वपतां जेष्ठ पुत्र
- (८) मायो मुना तस्य पुत्र दोय २ श्री सिधई चि—

- (९) मन जज्ञ करता दुतिय पुत्र श्री सिधई दिम—
- (१०) न सागरमये (ध्ये) गज काकाकौ, राज्य श्री अ
- (११) गरेज बहादुरकौ सुभ (शुभ) संवत् मंगल ददात् (पु)।

लिपि :—बस अभिलेख की लिपि प्राचीन नागरी है। अभिलेख में श के स्थान में स का उपयोग किया गया है। भाषा में कहीं-कहीं विकृत रूप दिखाई देते हैं।

काकागंज.—इस नाम से ऐसा ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में यहाँ किसी धनिक का निवास था। वे अपने क्षेत्र के सम्माननीय व्यक्ति भी रहे हैं। उनका सम्मान देने के लिए संभवतः लोग काका कहकर पुकारते थे। गज शब्द के विभिन्न अर्थों में ‘खजाना’ अर्थ भी एक है, जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि यह स्थान उनका संभवतः खजाने के रूप में रहा है; और इसी कारण इसे काकागंज के नाम से कालान्तर में संभवतः सम्बोधित किया जाने लगा था। वर्तमान में प्रचलित काकागंज नाम काकागंज का विगड़ा रूप ही दिखाई देता है।

मूर्तिलेख

इस शिखर युक्त मन्दिर में दो वेदिकाएँ हैं। प्रथम वेदी पर पाच मूर्तियाँ विराजमान हैं। इनमें दो प्रतिमा प्रो पर लेख भी अंकित हैं।

मूर्तिलेख क्रमांक (१) आदिनाथ प्रतिमा—लम्बा २।१ फुट ऊँचाई में सफेद सगमर्भर पाषाण से निर्मित, पद्मासन मुद्रा में वृषभ चिह्न से युक्त एक सौम्य आदिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा मन्दिर निर्माता दिमन के बड़े भाई सिधई चिमन द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी। प्रतिष्ठा काल वही मन्दिर प्रतिष्ठा का निर्देशित किया गया है। लेख तीन पक्तियों में संस्कृत भाषा में नागरी लिपि से अंकित किया गया है।

लेख का पूरा पाठ निम्न प्रकार है—

- (१) संवत् १६११ क फाल्गुन मासे सु (शु) मे

सुक्ल (शुक्ल) पक्षे (चिन्ह) वारस १२ बुधवासरे तादिन पतिष्ठकं (प्रतिष्ठापितं) श्री

(२) सवाई सिधै चिमनलाल जू वैक वनीनहा श्रीमूल सधे बलात्कारणने सर (सु) तीगळे (छे) कुदकुद आचार्य

(३) आम्नाय मुकाम सागर काकागंज ।

गंज A mina, (2) A Treasury A (3) : A Cow-house, (4) A mart a place where grain is stored for sale.

श्री आप्ते जी; संस्कृत अंग्रेजी शब्द कोष १९५५ ई० पृ० १७८ ।

मृत्तिलेख क्रमांक २—पादर्वनाथ प्रतिमा

सप्त फणावली से युक्त लगभग १३' ऊंची सफेद सम-मर्मर पापाण से निर्मित यह प्रतिमा पद्यासन मुद्रा में विरामान है । यह प्रतिमा लोकधन मूलधन नामक चर्च-रिया बरा के श्रावकों द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी । प्रतिमा के आसन पर मूल लेख निम्न प्रकार अंकित है :—

(१) संवत् १९११ के फाल्गुन मासे सु० (शु) मे (चिन्ह) सु (शु) वल पक्षे वारस १२ बुधवा-सरे ता दिन

(२) प्रतिष्ठाक लोकधन ली मूलधन चर्चरिया श्री मूलसधे बलात्कारणने सरस (स्व) ती

(३) गळे (छे) कुदकुदाम्नाय.....

मृत्तिलेख क्रमांक ३—चन्द्रप्रभ प्रतिमा

द्वितीय वेदी पर सफेद सगमर्मर पापाण से निर्मित पद्यासन मुद्रा में लगभग १३' फुट ऊंचाई में चन्द्र चिन्ह से युक्त शान्त मुद्रा में यह प्रतिमा स्थित है । प्रतिमा के आसन पर तीन पंक्तियों का संस्कृत भाषा में नागरी लिपि में निम्न लेख उपलब्ध है :—

(१) संवत् १९११ के फाल्गुन मासे (चिन्ह) सु (शु) मे सु (शु) वल पक्षे १२ बुधवासरे

(२) तादिन पतिकं ? सागर काका (चिन्ह) गंज सिधै चिमनलाल.....।

(३)...श्री मूलसधे बलात्कारणने सरस (सु) ती गळे (गण्डे).....।

इस लेख से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर में विराजमान दोनों वेदियों पर क्रमशः आदिनाथ एवं चन्द्रप्रभ प्रतिमाएं सिधई चिमनलाल के द्वारा एक ही समय प्रतिष्ठित कराई गयी थीं । मृत्ति लेखों से मन्दिर के द्वार पर अंकित लेख की तिथि चतुर्दशी न होकर द्वादशी ही ज्ञात होती है क्योंकि दिन दोनों का एक है । दिवसोत्प्लेख से यह कथन ठीक प्रतीत होता है । हो सकता है शीघ्रता में मने ही १२ अंको को १४ अंक पढ़ लिया हो ।

अतिसय :— गभीरिया निवासी श्री दुलीचन्द्र जी नाहर बी० ए० सागर से ऐसा ज्ञात हुआ है कि इस मन्दिर की व्यवस्था को देखते हुए जैन श्रावकों ने आदिनाथ प्रतिमा को यहाँ से स्थानान्तरित करना चाहा था किन्तु उक्त प्रतिमा को जैसे ही उठाने का प्रयास किया जाता कि प्रतिमा से पसीने के कण निकलने लगते थे । उक्त अतिशय के कारण तत्पश्चात् प्रतिमा को स्थानान्तरित नहीं किया गया ।

सम्भावनायें— उक्त मन्दिर की व्यवस्था को देखते हुए, सुव्यवस्थित व्यवस्था हेतु मेरे निम्न विचार हैं, जिन पर आशा है सागर समाज विचार करेगी । सर्वप्रथम मन्दिर के निकटवर्ती स्थान को व्यवस्थित बनवा दिया जाय । उसमें २-३ कमरे निकाल दिये जायें । नतीजा व्यवस्था हा । इसी स्थान पर उदासीन आश्रम का ब्रतियो से रहने के लिए निवेदन किया जाय । उनके रहने से पूजनादि व्यवस्था सुन्दर बन जावेगी । एक-दो कमरे यदि यात्रियों के लिए रहें तो बाहरी लोग यही आकर ठहरने से मन्दिर को भी कुछ लाभ मिलता रहेगा । इस शीति मन्दिर की जीर्ण स्थिति सुधरने में देर न लगेगी ।

अभी यहाँ एक घर ही केवल जैन श्रावकों का है । यदि ब्रतियो का यहाँ निवास हो जावेगा तो श्रावकों का आवागमन भी बढ़ जावेगा । सुधार के लिए खर्च अवश्य है जिसके लिए श्रीमान दानवीरों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे इस मन्दिर के जीर्णोद्धार हेतु दान देकर पुण्यार्जन करे । आशा है मन्दिर की समुचित व्यवस्था हेतु सागर समाज तो अवश्य ही विचार करेगी । परन्तु अन्य जैन दानवीर भी यथाशक्ति आर्थिक सहयोग देकर अपनी जैन संस्कृति की सुरक्षा कर कृतार्थ करेंगे ।

राजगिरि या राजगृह

परमानन्द जैन शास्त्री

राजगिरि या राजगृह एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है, जो पटना से लगभग ६० मील पूर्व में स्थित है। इसे गिरिव्रज भी कहते हैं। रामायण काल में इसे गिरिव्रज कहा जाता था^१, और महाभारत काल में भी यह गिरिव्रज जरासंध की राजधानी था। यह पर्वतों के मध्य में बसा हुआ था। राजगृह को शिशुनाग वंश की राजधानी बनने का सौभाग्य मिला है। इसे पंचशैलपुर^२ और कुशाग्रनगर^३ भी कहा जाता था। भगवान महावीर और बुद्ध ने यहाँ अनेक वर्षावास बिताये थे। यहाँ बौद्धों और जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। बौद्धों, जैनियों और हिन्दुओं के अनेक मन्दिर बने हुए हैं। बौद्ध मन्दिरों में वर्मा, जापान और थाईलैण्ड के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। यहाँ के गृद्धकूट पर्वत पर बुद्ध अपना वर्षा काल बिताते थे। और अपना उपदेश भी देते थे। इस कारण यह उनका भी प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। यह जैन श्रमणों की केवल तपोभूमि ही नहीं है किन्तु निर्वाण भूमि भी है। भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम इन्द्रभूति, सुधर्मस्वामी और जंबूस्वामी आदि अनेक मुनि पुंगवों का निर्वाणस्थल

है। राजगिरि के पंच पहाड़ों पर जैनियों के अनेक मन्दिर मौजूद हैं। इस कारण जैनियों का यह प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। विपुलगिरि, ऋषिगिरि और वैभार आदि पर्वतों पर सहस्रों जैन श्रमणों ने कठोर तपश्चरण किया है। विपुलगिरि पर तो अब से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन अभिजितनक्षत्र में सूर्योदय के समय प्रातःकाल भगवान महावीर का सबसे पहला धर्मोपदेश हुआ था^४—धर्मतीर्थका प्रवर्तन हुआ था—संसारके समस्त जीवों को कल्याण का मार्ग मिला था और पशुओं को भी अभयदान मिला था। श्रावण कृष्णा प्रतिपदा महावीर के शासन की जन्म तिथि है, जो वर्ष का पहला महीना, पहला पक्ष और प्रथम दिन बतलाया गया है^५।

कनिष्क साहब ने लिखा है कि—‘प्राचीन राजगृह पाँचों पर्वतों के मध्य में वर्तमान था’ काशीप्रसाद जायसवाल ने ‘मनियारमठ’ वाली पाषाण मूर्ति का लेख पढ़कर बतलाया था कि यह लेख पहली शताब्दी का है और उसमें सम्राट् श्रेणिक तथा विपुलाचल का उल्लेख है^६। किन्तु वर्तमान राजगिरि पुराने राजगिरि से कुछ हट कर

१. एन्शियेन्ट जागरफी आफ इंडिया बाई कनिष्क पृ० ५३०

२. पंचशैलपुरे रम्ये विउले पव्वदुत्तमे ।

णाणा-दुम-ममाइण्णे देव-दाणव वदिदे ॥

धवला० पृ. १ पृ० ६१

सुर खेयरमणहरणे गुणणामे पंचशैलणयरम्मि ॥

तिलो० प० १-६५

३. राजगृह को कुशाग्रनगर भी कहते थे, क्योंकि वहाँ के पहाड़ कुश समूह से वेष्टित थे। विमलसूरि ने पउमचरित में कुशाग्रनगर रूप में ही उसका उल्लेख किया है—‘कुसगगनयरं समणुपत्तो

—पउमचरित २, ६८

४. सावण बहुले पाडिव रुद्धमुहत्ते सुहोदए रविणो ।
अभिजिस्स पढम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ॥

तिलो० प० १-७०

सावण बहुल पडिवदे रुद्धमुहत्ते सुहोदए रविणो ।

अभिजिस्स पढम जोए तत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥

धव० १ पृ० ६३

५. वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले ।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि ॥

धव० पु. १ पृ० ६३

वासस्स पढम मासे सावण णामम्मि बहुलपडिवाये ।

अभिजीणक्खत्तम्मिय उपपत्ती धम्म तित्थस्स ॥

तिलो० प० १-६६

बसा है। पुन्नाट संघी जिनसेनाचार्य के हरिवंश पुराण में भी इसका नाम 'पंच शैलपुर' दिया है। यह मुनिसुव्रत भगवान के जन्म से पवित्र है। और शत्रु सेनाओं के लिए दुर्गम है। ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलाचल, बलाहक, जिसे छिन्न पर्वत भी कहा गया है और पांचवां 'पाण्डु' है, इन पांचों पर्वतों के कारण इसे पंच शैलपुर कहा जाता था। बौद्ध ग्रंथों में इनके नाम वेपुल्ल, वेभार, पाण्डव, इसिगिलि (ऋषिगिरि) और गिज्झकूट नाम उल्लिखित मिलते हैं।

ऋषिगिरि—पूर्व दिशा में चौकोर आकार को लिए हुए है। पूर्व काल में इस पर्वत पर अनेक ऋषिगण कठोर तपश्चरण करते थे, और तपश्चरण से आन्तरिक कर्म-शत्रुओं का क्षय करने के योग्य आत्म-शक्ति का विकास करते थे। बौद्धों के मज्झिमनिकाय नामक ग्रंथ से प्रकट है कि—'इस पर्वत की काल शिला पर कुछ निर्ग्रन्थ (दिग्भ्रमर साधु) अतापन योग द्वारा आत्म-साधना का

अनुष्ठान कर रहे थे। तब बुद्ध ने उनसे पूछा कि—'आपलोग इतना कठोर तपश्चरण क्यों कर रहे हो? तब उन्होंने कहा कि भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं—वे सब जानते देखते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि—'तुमने पहले जो पाप किये हैं, उनकी कठोर तपश्चरण से निर्जरा कर दो; क्योंकि मन-वचन-वाय को रोक देने से पाप बन्ध नहीं होता, और तप से पुरातन पापों की निर्जरा होने से कर्म क्षय होता है और कर्म क्षय से दुःखों का क्षय होता है, उससे वेदना का अभाव होता है। तब बुद्ध कहते हैं कि यह बात मुझे अच्छी लगती है और मेरे मन को ठीक मालूम होती है।' इसके चारों ओर भरने निकलते हैं।

इस पर्वत पर इस समय दो मन्दिर हैं। एक प्राचीन दूसरा नवीन। प्राचीन मन्दिर में श्यामवर्ण महावीर स्वामी की चरण पादुका है। और नवीन मन्दिर श्रीमती पंडिता, चन्दाबाई जी द्वारा का बनवाया हुआ है, जिसमें

१. 'पंचशैलपुरं पृतं मुनि सुव्रत जन्मना ।
यत्परध्वजिनीं दुर्गं पंचशैलपरिष्कृतसू ॥५२
ऋषिपूर्वागिरिस्तत्र चतुरस्रः स निर्भरः ।
दिग्गजेन्द्रं इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥५३
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृति राश्रितः ।
दक्षिणा परदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥५४
सज्ज चापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः ।
शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तर दिग्न्तरे ॥५५
फल-पुष्प-भरान्मलतापावपशोभिताः ।
पतन्निर्भरसंघात हरिणो गिरयस्तु ते ॥५६
—हरिवंशपुराण-३
'ऋषिगिरि रैन्द्राशायां चतुरस्रोयाम्यदिशि च वैभारः ।
विपुलगिरि नैऋत्या मुभी त्रिकोणो स्थितो तत्र ॥
धनुराकारश्छिन्नो वारुणवायव्यसौम्यदिक्षु ततः ॥
वृत्ताकृतिरैशान्यां पांडु सर्वकुसाग्रवृत्ताः' ॥
—धवला० पु० १, पृ० ६२
'चउरस्सो पुब्बाए रिसिसैलो दाहिणाए वेभारो ॥
णहरिदि दिसाए विउलो दोण्णित्तिकोणट्टिदायारा ॥
चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभायेसु ।
ईसाणाए पडूं वण्णासव्वे कुसगापरियरणा ॥'
—तिलो० प० १, ६६, ६७

२. "एकमिदाहं महानाम समये राजगृहे विहरामि
गिज्झकूटे पव्वते । ते खोपन समयेन संबहुला निग्गंठा
इसिगिलियकालसिलायं उब्भत्थका होति आसन
परिक्षिप्तता, अत्थेक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका
वेदना वेरयति । अथ खोस महानाम सायणह समयं
पटिसत्त्लाण बुद्धितो येन इसिगिलि पस्सयकालसिला
—येन ते निग्गंठा तेन उपसंक्रमि उपसंक्रमिता ते
निग्गंठे एतदवोचायः । किन्हु तुम्हें आबुसो निग्गंठा
उब्भट्टका आसन पट्टिक्खिता, ओक्कमिका दुक्खा
तिप्पा कटुका वेदना वेदिय याति, एवं बुत्ते महा-
नाम ते निग्गंठा मं एतदवोचुं, निग्गंठो आबुसो नाठ-
पुत्तो सव्वण्णु सव्वदस्सावीअपरिसं ज्ञान दस्सनं
पक्खु पट्ठितंति । सो एवमाह—अत्थि खोवो निग्गंठा
पुव्वे पावं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाम दुक्करि कारि-
कायनिज्जरेथ यं पतेत्य एतारिह कायेनसंवृत्ता;
मनसासंवृत्ता, तं आपति पापस्स कम्मस्स अकारण
आयति अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया, दुक्ख-
क्खयो दुक्खक्खया वेदनाक्खयो वेदनाक्खया सव्वं
दुक्खं निज्जरणं भविस्सति । तं च पन अम्हाकं
रुच्चति चेव खमति च तेन च अम्हा अवि मनाति ।"
—मज्झिमनिकाय १९२-६३

मुनिमुक्तस्वामी की विशाल प्रतिमा विराजमान है। इसे लोग दूसरा पर्वत 'रत्नगिरि' के नाम से पुकारते हैं। परन्तु इसका प्राचीन नाम ऋषिगिरि ही जान पड़ता है। इस द्वितीय पर्वत पर एक मन्दिर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी है जिसमें अभी शान्तिनाथ, वासु पूज्य और पार्श्वनाथ की चरण पादुकाएं प्रतिष्ठित हैं।

२. वैभारगिरि—यह निकोने आकार को लिए हुए दक्षिण दिशा में विद्यमान है, अनेक ऋषि पुत्रों की तपस्या से यह भी पवित्र हो चुका है। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग आया था, उसने लिखा है कि—'यहां पर बहुत से निर्ग्रन्थ साधु देये गये।' इससे स्पष्ट है कि उस काल में भी वहाँ साधु तपश्चरण करने थे।

इस पर एक ही मन्दिर है, जिसमें एक चौबीसी प्रतिमा, महावीर स्वामी, नेमिनाथ और मुनि मुक्त की श्याम-वर्ण पाषाण की प्राचीन प्रतिमाएं हैं। नेमिनाथ के चरण-चिह्न भी हैं। सातवीं शताब्दी तक वैभार गिरि पर जैन स्तूप विद्यमान था, और गुप्तकालीन कई जैन मूर्तियां भी थी। सोनभद्र गुफा में यद्यपि गुप्तकालीन लेख हैं पर इम गुफा का निर्माण मौर्यकाल के जैन राजाओं ने किया था। इस पर जो मन्दिर बने हुए है, उनके ऊपर का भाग तो प्राधुनिक है किन्तु उनकी चौकी प्राचीन है। जनता इसे पावना पर्वत मानती है। इस पर्वत पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तीन श्वेताम्बरीय मन्दिर हैं जिनमें एक मन्दिर धन्नाशानिभद्र का भी कहलाता है।

विपुलगिरि—यह दक्षिण और पश्चिम दिशा के मध्य में मात्र तक स्थित है, और त्रिकोणाकार है। इस पर वर्तमान में चार दिग्म्बर जैन मन्दिर हैं। नीचे छोटे मन्दिर में श्यामवर्ण कमल के ऊपर भगवान महावार की चरणपादुका है। मन्दिर भी पुराना है। मध्यवाले मन्दिर में चन्द्रगुप्त की श्वेतवर्णवाली मूर्ति विराजमान है। वेदी के नीचे दोनों ओर हाथी उत्कीर्ण हैं, बीच में एक वृक्ष है। बगल में एक और सं० १५४८ की प्रतिष्ठित आठवें तीर्थंकर की मूर्ति है। यहां श्यामवर्ण की एक प्राचीन

मूर्ति महावीर भगवान की भी है, जिसे लोग आठवीं शताब्दी की बतलाते हैं। अन्तिम मन्दिर की वेदिका में भी महावीर की श्वेतवर्ण प्रतिमा विराजमान है। बगल में एक श्यामवर्ण मुनिमुक्त प्रतिमा और दूसरी ओर उन्हीं के चरण हैं। विपुलगिरि के नीचे छह कुण्ड हैं सीता कुण्ड, सूरजकुण्ड, रामकुण्ड, गणेशकुण्ड, चन्द्रमाकुण्ड और शृंग-ऋषि कुण्ड। इस पर्वत पर पहला और अन्तिम मन्दिर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है।

विपुलगिरि का वैशिष्ट्य—इस पर्वत का खास विशेषता यह है कि यहां जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर को केवल ज्ञान होने के पश्चात् उनकी सबसे पहली धर्म देशना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र में हुई थी। धर्मतीर्थ का प्रवर्तन हुआ था। ससार के समस्त जीवों के लिए हितमार्ग का प्रदर्शन हुआ था—सर्वोदय तीर्थ की पावन धारा प्रवाहित हुई थी। महावीर के प्रमुख गणधर इन्द्रभूति, भूधम स्वामी और अग्निम केवली जैव स्वामी का निर्वाण इहीं विपुल गिरि पर हुआ था। और वैताव्य मुनि को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। जीववर कुमार ने भी विपुलाचल से मोक्ष प्राप्त किया था। और भी अनेक साधुओं ने तपश्चरण द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्ति की थी। महावीर की इस मभा का प्रचलन श्रोता मगध नरेश बिम्बिसार या श्रेणिक था, जिसने बौद्ध धर्म का परित्याग कर महावीर के पादमूल में क्षात्रिक सम्यक्त्व प्राप्त किया था। इतना ही नहीं किन्तु श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार, मधुकुमार और वारिषेण ने यही प्रवृत्त्या (दीक्षा) ग्रहण की थी। साथ ही श्रेणिक के सेनापति श्रेण्ठी पुत्र जम्बूकुमार ने

१. तपो मामे मिते पक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने।

निर्वाणं प्राप सौधर्मो विपुलाचलमस्तकात् ॥

२. विपुलादि गिरी स्थित्वा ध्यानेनायं मुनीश्वरः।

निहत्यप्राति कर्माणि केवलज्ञानं प्राप्तवान् ॥

विदित्वाऽऽसन्न कम्पेन वैशाखस्य मुनेरिदम्।

केवलज्ञानमुत्पन्नं सहसाऽगुः सुरेश्वराः ॥

—हरिषेण कथाकोष ८, २१, २२

३. विपुलाद्रौहताशेषकर्मशिर्माग्रि मेध्यति।

इष्टाष्टगुणसम्पूर्णो निष्ठितात्मा निरञ्जनः ॥

—उत्तरपुराण ७५, ६८७

1. Indian Historical quarterly Vol. XXV. P. 205-210.

2. Journal of the Bihar and Orissa Res Soc. Vol. XXII June 1935.

केरल नरेश को युद्ध में विजित करके मगधराज की श्री वृद्धि की, उसी जम्बूकुमार ने एक ही रात्रि में विवाहित स्त्रियों को विजित कर महावीर सघ में जिन दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण द्वारा कर्मशृङ्खला को तोड़कर केवलज्ञान प्राप्त किया और जनता को धर्म मार्ग बतलाकर इसी विपुलगिरि से आत्म-सिद्धि को भी प्राप्त किया था। और भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य इस पर्वत पर होते रहे हैं। इससे इस पर्वत की पवित्रता और महत्ता का मूल्यांकन हो जाता है। इसे लोग पहला पर्वत मानते हैं।

बलाहक (छिन्न या स्वर्णगिरि)—यह पर्वत इन्द्र वज्र के आकार का है और तीनों दिशाओं को घेरें हुए है। इस पर दो मन्दिर हैं। एक मन्दिर फीरोजपुर निवासी लाला तुलसीराम ने बनवाया है। इस नये मन्दिर में शान्तिनाथ की श्यामवर्ण प्रतिमा विराजमान है, और नेमिनाथ तथा आदिनाथ के चरण चिन्ह हैं। यहाँ एक खड्गासन प्राचीन मूर्ति भी है। पुराने मन्दिर में भगवान महावीर के चरण चिन्ह हैं। यह मन्दिर छोटा-सा है, और प्राचीन है। आजकल लोग इसे चौथा नवीन पर्वत कहते हैं। इस पर भी एक श्वेताम्बर मन्दिर है।

पांडुक—पाँचवां पर्वत पांडु या पांडुक है जो गोलाकार और पूर्व दिशा में स्थित है। यहाँ एक मन्दिर है, जिसमें शान्तिनाथ और पार्श्वनाथ की प्राचीन प्रतिमाएँ और आदिनाथ के चरण चिन्ह विराजमान हैं। महावीर स्वामी की एक खड्गासन प्राचीन मूर्ति भी है। कलकत्ता निवासी सेठ रामवल्लभ रामेश्वर जी ने एक नये मन्दिर का भी निर्माण कराया है। इसे उदयगिरि के नाम से पुकारते हैं। और गणना में इसे तीसरा पर्वत मानते हैं। यहाँ एक श्वेताम्बर मन्दिर है और स० १८१६ तथा स० १८२३ में प्रतिष्ठित अभिनन्दन, सुमतिनाथ और पार्श्वनाथ के चरण स्थापित हैं।

मनियार मठ—राजा श्रेणिक ने राजगृह में विशाल-काय एक किला बनवाया था। जिसके निशान अब भी मौजूद हैं और इसे मगध देश की राजधानी बनाया था। उस समय इसका विस्तार बहुत विशाल था। तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध आदि के कारण इसका यश सुदूर देशों में फैला हुआ था। कनिष्क साहब ने लिखा है

कि “प्राचीन राजगिरि उक्त पाँचों पर्वतों के मध्य में बसा हुआ था।” इन पर्वतों के मध्य की घाटी में एक स्तूप के खड्गभाग मिलते हैं। अब वह ईंटों का टीला मात्र है। लगभग २० फुट ऊँचा होगा। उसके ऊपर एक छोटा-सा जैन मन्दिर है, जो सन् १७८० का बना हुआ था, इसे ‘मनियार मठ’ कहते हैं : इसी मनियार मठ के पास एक पुराने कुएं को साफ करते समय तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। उनमें एक मूर्ति मायादेवी की थी और दूसरी सप्तफण मण्डित दिगम्बर मूर्ति पार्श्वनाथ की प्राप्त हुई थी। यहाँ जैतियों की दो गुफाएँ हैं। एक सप्तपर्णी की और दूसरी सोनभद्र गुफा। यह गुफा बंभारगिरि के उत्तर तरफ जैन मन्दिर के नीचे है।

सोनभद्र गुफा पहली है। इस गुफा के भीतर जाने के द्वार के दाहिनी ओर एक शिलालेख दो पंक्तियों में तीसरी-चौथी शताब्दी का है।

“निर्वाण लाभाय तपस्विद्योग्ये शुभे गृहेऽहं प्रतिमा प्रतिष्ठे।
प्राचार्यरत्न मूनि बरदेवः विमुक्ति ए कारय दीर्घतैजः।।”

एक छोटी सी मूर्ति किसी तीर्थंकर की उत्कीर्णित है। बंभारगिरि के नीचे सात भरने हैं—कुण्ड हैं। जिनके नाम गंगा, यमुना, अनन्तऋषि, सप्तऋषि, ब्रह्मकुण्ड, कश्यप ऋषि, आस कुण्ड और मारकुण्ड।

राजगिरि के नीचे दिगम्बर जैन धर्मशाला और दो मन्दिर हैं। जिनमें एक मन्दिर दिल्ली निवासी ला० न्यादरमल धर्मदास जी ने एक लाख रुपये की लागत से ६ फरवरी १९२५ में बनवाया है। इसमें पाँच वेदिकाएँ हैं। दूसरा मन्दिर गिरीडीह निवासी स्व० सेठ हजारीमल किशोरीलाल ने बनवाया है, जिसकी प्रतिष्ठा स० १८४१ माघ शुक्ला १३ है। इसकी बगल में पार्श्वनाथ स्वामी की स० १५४८ की जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित दो मूर्तियाँ विराजमान हैं। एक श्वेताम्बर मन्दिर और धर्मशाला है। बौद्ध मठ और हिन्दू मन्दिर भी हैं। इस तरह राजगिरि जैन बौद्ध और हिन्दू तीर्थ स्थान बन गया है। इस वन्दनीय तीर्थ स्थान से जनता का बड़ा हित हुआ है। मगधराज के समय राजगिरि की जो शोभा थी वह उसके विनाश से जाती रही है।

मूक-साहित्य-सेवा श्री पन्नालाल जी अग्रवाल

श्री माईदयाल जैन, बी. ए. आनर्स बी. टी.

साहित्य सेवा या सरस्वतीदेवी की पूजा के अनेक ढंग और विभिन्न तरीके हैं। पुस्तक लेखन, प्रकाशन, पत्र-पत्रिका का सम्पादन तथा प्रकाशन और पुस्तकालय तथा संग्रहालय खोलना तो सर्वविदित है। साहित्यकारों तथा कवियों को राजाश्रय, पुरस्कार तथा सहायता देना भी साहित्य सेवा है। साहित्यकारों के लिए सुविधाओं का प्रबन्ध करना और उसको साहित्यिक सामग्री भेंट करने से भी साहित्यकारों को बड़ी आसानी हो जाती है। साहित्यिक संस्थाओं के संचालन के लिए द्रव्य देना भी आवश्यक है। साहित्यकार समस्त संसार में प्रायः आर्थिक संकटों से घिरे रहते हैं, इसलिए उनके जीवन काल में उनकी आर्थिक कठिनाइयों से बचाने की बड़ी आवश्यकता है और यह काम साहित्यकारों के देहान्त के पश्चात् आदर सम्मान करने से कहीं अधिक जरूरी है। बड़े नामी साहित्यकारों के साथ-साथ छोटे या कम ख्याति प्राप्त स्थानीय लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहन देना और उनकी सहायता करना भी साहित्यिक परम्परा को जारी रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार सेना में सेनापतियों के अतिरिक्त सिपाही और दूसरे बीच के कप्तान इत्यादि होते हैं, इसी प्रकार देश की साहित्यिक सेवा केवल चन्द बड़े-बड़े साहित्यकार ही नहीं करते, वरन् छोटे-छोटे सह-साहित्यकार तथा मध्यम श्रेणी के सैकड़ों कवि और लेखक भी सेवा करते हैं, जिनकी आवश्यकताएं भी बड़े-बड़े साहित्यकारों के समान हैं। यदि उनकी समुचित देखभाल न की जाय या उनको प्रोत्साहन न दिया जाय तो साहित्यकारों की परम्परा को हानि पहुँच सकती है। अच्छी-अच्छी पुस्तकों की बीस-तीस प्रतियाँ मंगाकर पुस्तकालयों तथा विद्वानों को भेंट करने से भी साहित्य का प्रचार होता है और प्रकाशकों तथा लेखकों को लाभ होता है। बम्बई में स्वर्गीय प्रसिद्ध

दानवीर सेठ माणिकचन्द्र जी अच्छे जैन ग्रन्थों की चार सौ प्रतियाँ तक मंगाकर मन्दिरों तथा विद्वानों इत्यादि को भेंट कर दिया करते थे। इनके अतिरिक्त साहित्य-सेवा के और भी ढंग हो सकते हैं।

पर हमारे देश के साहित्योद्धार का एक और आवश्यक मार्ग भी है। यहाँ बहुत-सा प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य अभी हस्तलिखित है और शास्त्र भण्डारों में बन्द पड़ा है। ऐसे जैन शास्त्र भण्डार तो सैकड़ों की संख्या में हैं। हस्तलिखित होने के कारण एक ही ग्रंथ की कई प्रतियों में पाठ भेद भी हैं और लेखक की अशुद्धियाँ, लोप तथा प्रक्षेपन भी हैं। इसलिए किसी प्राचीन ग्रंथ को प्रकाशित करने से पहले यह आवश्यक है कि दस-पाँच स्थानों से उस ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ इकट्ठी करके तुलना की जाय और शुद्ध पाठ की प्रेस कापी तैयार की जाय। शास्त्र भण्डारों का प्रबन्ध अच्छा न होने से सम्पादकों को अनेक प्रतियों का मिलना कठिन है। इसलिए भारत के प्राचीन साहित्य के उद्धार के लिए यह आवश्यक है, कि जहाँ-जहाँ अच्छे पुराने शास्त्र भण्डार हैं, वहाँ ऐसे उत्साही साहित्य-प्रेमी हों जो अपने यहाँ के प्राचीन ग्रंथों को प्रकाशन संस्थाओं या योग्य संस्थाओं को आवश्यकतानुसार सुविधापूर्वक पहुँचा सकें, जिससे प्राचीन ग्रंथ शुद्ध पाठ तथा अनुवाद के साथ प्रकाशित हो सकें वरना अशुद्ध पाठ होने से व्यर्थ का अनर्थ होगा और लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी।

इस लेख के द्वारा ऐसे ही एक साहित्य-सेवा का परिचय साहित्य जगत को कराया जा रहा है, जो ३०-३५ वर्ष से इस ढंग से सरस्वती की आराधना या साहित्य-सेवा कर रहे हैं। बहुत प्राचीन ग्रंथों के उद्धार, अनुवाद और नवीन साहित्य की तैयारी में इन्होंने इस रूप से सहयोग दिया है। इसका कुछ व्यौरा आगे दिया जायगा।

इनका नाम श्री पन्नालाल जी जैन है जो दिल्ली के रहने वाले हैं। यद्यपि इनकी अपनी शिक्षा बड़ी ऊंची नहीं है, पर साहित्यकारों तथा विद्वानों के सत्संग का लाभ इनको युवावस्था से प्राप्त रहा है, इसलिए साहित्य-सेवा की भावना इनमें काफी है। दिल्ली के दो-तीन प्राचीन जैन मन्दिरों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के अनेक विषयों के सहस्रों प्राचीन ग्रंथ, गुटके, पोथियाँ और स्त्रोत्र आदि हैं, जो हजार, डेढ़ हजार वर्ष तक के पुराने हैं। इन शास्त्र भण्डारों के पूरे उपयोग का सुदिन तो अभी नहीं आया है, पर हाँ, इनकी देखभाल तथा रक्षा जिन महानुभावों के हाथों में है, वे काफी जागरूक, समझदार और साहित्यिक कर्तव्य का पालन करने वाले हैं। श्री पन्नालाल जी भी एक ऐसे ही योग्य व्यक्ति हैं। जो यहाँ के शास्त्रों को जैन साहित्य के उद्धार कार्य में अभिरुचि रखने वाले किसी भी विद्वान या संस्था को चाहे वह भारत का हो या भारत से बाहर का, समय-समय पर आवश्यकतानुसार ग्रंथ भेजते रहते हैं। इनकी साहित्य-सेवा का क्षेत्र बड़ा विशाल है। आपके सहयोग से नीचे निम्ने ग्रंथों के प्रकाशन में सहायता मिली है :—

१. बीर सेवा मन्दिर, सरसावा जिला सहारनपुर—
द्वारा प्रकाशित, (१) अध्यात्मकमल मार्तण्ड, (२) पुरातन जैन वाक्य सूची, (३) आप्तपरीक्षा, (४) न्यायदीपिका, (५) बनारसी नाममाला, (६) विवाह क्षेत्र प्रकाश।

२. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा प्रकाशित—(१) वरांगचरित्र, (२) हरिवंशपुराण, (३) जम्बूस्वामीचरित, (४) प्रमाण प्रमेयकलिका।

३. भारतीय ज्ञानपीठ बनारस द्वारा प्रकाशित—
(१) मदन पराजय, (२) महापुराण, (३) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, (४) जैन जागरण के अग्र-दूत, (५) नत्त्वार्थवृत्ति, (६) वसुनन्दि श्रावकाचार, (७) सर्वार्थसिद्धि, (८) उपासकाध्ययन।

४. अम्बादास खरे दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, कारंजा द्वारा प्रकाशित—(१) पाहुड़ दोहा, (२) सावयधम्म दोहा।

मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित—(१) वृहत अंग्रेजी सूची, श्री कालिदास कपूर द्वारा लिखित, (२)

हिन्दी सेवी संसार, श्री अद्भुत शास्त्री द्वारा लिखित, (३) आज के हिन्दी-सेवी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर बम्बई द्वारा प्रकाशित, (४) अर्थ कथानक, आदि।

६. जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर द्वारा प्रकाशित—
(१) तिलोयपण्णत्ती के दो भाग, (२) कुन्द-कुन्द प्राभृत संग्रह।

७. जर्मन विद्वान एच. बी. ग्लासीनेप्प द्वारा लिखित
—डेर जैनिसमस।

८. प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद द्वारा प्रका-
शित—(१) हिन्दी का सर्वप्रथम आत्मचरित, अर्द्ध कथा-
नक, (२) प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य।

९. दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत द्वारा प्रकाशित—

१. आदि पुराण, २. चन्द्रप्रभपुरा, ३. चिदविलास, ४. इनके अतिरिक्त आत्मावलोकन मौयेंसाम्राज्य के जैनवीर, महर्षि शिवन्नतलाल जी लिखित जैनधर्म। इस लेख के लेखक द्वारा लिखित ज्योतिप्रसाद और श्री कामता प्रसाद जी द्वारा लिखित जैनतीर्थ और उनकी यात्रा इत्यादि की तैयारी में भी इन्होंने सामग्री भेजकर सहायता की। सरसरी तौर से और बाह्य रूप से देखने में ये सेवायें जैन साहित्य की सेवा तक सीमित मालूम होंगी, पर इनमें साम्प्रदायिकता का नाम तक भी नहीं।

श्री पन्नालालजी को स्वयं भी कुछ लिखने का शौक है और उन्होंने दिल्ली की जैन सस्थाएं नामक पुस्तिका लिखकर प्रकाशित की थी। मुद्रित जैन ग्रन्थों की एक सूची भी उन्होंने तैयार की है जो 'प्रकाशित जैन साहित्य' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। कभी-कभी आपके लेख भी अनेकान्त, वीरवाणी, जैनमित्र, जैन संदेश, जैन गजट, वीर आदि में निकलते रहते हैं।

जिस प्रकार श्रद्धेय बनारसीदासजी चतुर्वेदी के पास प्रसिद्ध साहित्यकारों के सहस्रों पत्र सुरक्षित हैं, उसी प्रकार श्री पन्नालाल जी के पास भी पिछले पचास वर्ष के सैकड़ों पत्र उन जैन विद्वानों, लेखकों तथा सुधारकों के हैं, जिन्होंने जैन समाज में नवजीवन का संचार किया है। इन पत्रों के प्रकाशन की बड़ी आवश्यकता है। अब उनके प्रयत्न से तथा पूज्य मुनि विद्यानन्दजी की प्रेरणा

एवं सहयोग से वरिस्टर चम्पतरायजी के पत्रों का सकलन तथा जीवनी मेरे द्वारा संकलित एवं लिखी जाकर तैयार हो गई है और अब वह शीघ्र प्रकाशित हो जायगी। उनके संग्रह किये हुए पत्रों का यह पहला संग्रह जैन साहित्य जगत में जा रहा है। आशा है भविष्य में इसी प्रकार के दूसरे संग्रह भी प्रकाशित हो जायेंगे।

साहित्यकारों को प्रेरणा करके काम लेने में आप बड़े कुशल हैं। जिन दिनों आप जैनमित्र मण्डल दिल्ली के मन्त्री थे, तब आपने महर्षि शिवव्रतलाल जी से “जैनधर्म” लिखाया था। और सुधारक बाबू सूरजभान जी वकील तथा ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी से ट्रेक्ट और पुस्तकें लिखाई। पच्चीसों जैन लेखकों के परिचय मुझसे लिखाकर दिगम्बर जैन सूरत के साहित्यांक में प्रकाशित कराये।

पिछले दिनों भारत सरकार के तत्वावधान में दिल्ली के लाल किले में सांस्कृतिक सम्मेलन हुआ था, उसकी साहित्यिक प्रदर्शनी में श्री पन्नालालजी दिल्ली के जैन भण्डारों के कुछ अमूल्य प्राचीन ग्रन्थों और चित्रों को दिखा रहे थे।

दिल्ली की कई साहित्यिक तथा शिक्षा सस्थाओं के आप उत्साही कार्यकर्ता रहे हैं और अपने कर्तव्यों को

बड़ी सलग्नता से निभाया पर जब आपने उनके कुछ दूसरे, अधिकारियों की पदलोलुपता और अनीति को देखा, तो उस काम से आपने हाथ खींच लिया। श्री पन्नालाल जी अत्यन्त मिलनसार, निहायत सादे, प्रेमी, धर्म परायण और सरल स्वभाव के हैं। ‘गुणिव प्रमोद’ आपका आदर्श वाक्य है। युवावस्था में पदार्पण ही इन पंक्तियों के लेखक का परिचय आपसे हुआ था, और तब से वह बराबर बढ़ता चला जा रहा है।

आपका जन्म माघ शुक्ला द्वादशी सम्बत् १९६० को हुआ था। आपके पिता लाला भगवानदासजी थे और आपका जन्म नसीराबाद छावनी में हुआ था पर बचपन से ही आप दिल्ली आ गये थे। आपको स्वास्थ्य, योग्य पुत्र, आज्ञाकारी धर्मपत्नी और आर्थिक निश्चितता आदि सभी सुख प्राप्त हैं। आयु में मुझसे दो वर्ष छोटे हैं। इसलिए मैं आपकी दीर्घायु की शुभकामना करता हुआ यही चाहता हूँ कि स्वतन्त्र भारत में प्राचीन साहित्य के उद्धार और नवीन साहित्य के निर्माण का जो महान कार्य हो रहा है, उसमें आप पूर्ववत् अधिक से अधिक सहयोग दें और दूसरे नवयुवक आपकी साहित्य-सेवा के इस ढंग को अपनावें। विद्वानों को भी श्री पन्नालालजी की सेवाओं का खूब उपयोग करना चाहिए। ●

विश्वमैत्री-दिवस

भारत जैनमहामण्डल की सूचनानुसार कार्यक्रम १२ सितम्बर ७१ को मनावें

प्रिय महोदय !

विश्वमैत्री दिवस ५ सितम्बर ७१ को मनाने के लिए मण्डल की ओर से आपको कार्यक्रम की रूपरेखा सहित एक परिपत्र भेजा था, मिला होगा। कई शाखा सभाओं एवं कार्यकर्ताओं के सुझाव के कारण ५ सितम्बर की तिथि में परिवर्तन करना आवश्यक लगा और १२ सितम्बर ७१ को विश्वमैत्री दिवस मनाने का निर्णय किया गया है।

अतः कृपया पिछले परिपत्र की तिथि सुधारते हुए अब विश्वमैत्री दिवस १२ सितम्बर १९७१ को ही मनावें ताकि देश भर में एक ही दिन सब जगह यह कार्यक्रम सम्पन्न हों।

१५ ए, हार्निमन संकल,
भारत इंडुरंश बिल्डिंग, दूसरा माला,
फोर्ट, बम्बई-१

निवेदक :
रिषभदास रांका
प्रधानमंत्री।

वीर-शासन-जयन्ती महोत्सव सानन्द सम्पन्न

आज दिनांक ६ जुलाई सन् १९७१ को प्रातःकाल आठ बजे वीर-सेवा-मन्दिर की ओर से वीर-शासन जयन्ती का उत्सव प्रसिद्ध उद्योगपति लाला राजेन्द्रकुमार जी की अध्यक्षता में दि० जैन लालमन्दिर में मनाया गया। श्रोताओं की उपस्थिति से लालमन्दिर के दोनों हाल भरे हुए थे। साथ ही समाज के विद्वानों की भी अच्छी उपस्थिति थी। मुनि श्री १०८ ऋषभसागर जी और मुनि श्री १०८ शान्तिसागरजी भी पधारे थे। जैन बाल आश्रम के छात्रों ने सुन्दर भजन सुनाये।

पं० परमानन्द जी शास्त्री के मगलाचरण के बाद श्री प्रेमचन्द जी मंत्री वीर सेवा मन्दिर ने वीरशासन जयन्ती के मनाने का प्रयोजन और उसके इतिहास पर प्रकाश डाला। पश्चात् पं० हुकुमचन्द जी वरुणा सागर ने कविता पाठ किया। पं० बलभद्र जी ने वीर शासन पर प्रकाश डालते हुए उसकी उत्पत्ति और महत्ता पर विवेचन किया। सा० प्रेमचन्द जी जनावाच ने अपने भाषण में वीर शासन के सिद्धान्त अहिंसा पर विवेचन किया। इसके बाद बाबू यशपाल जी ने अपने भाषण में वीर शासन की महत्ता प्रकट करते हुए श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी सभी सम्प्रदायों की एकता पर प्रकाश डाला। डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अपने भाषण में वीर शासन का अच्छा विवेचन किया। पश्चात् मुनि ऋषभ सागर जी ने अपना संक्षिप्त भाषण दिया, अनन्तर मुनि शान्तिसागरजी ने वीरशासन का जयघोष करते हुए आत्मतत्त्व पर प्रकाश डाला। अनन्तर श्री गिरनार जी तीर्थ क्षेत्र पर मुनि श्री महावीर कीर्ति के साथ किये जाने वाले अभद्र व्यवहार की निन्दा की और क्षोभ व्यक्त किया गया और उस पर समाज की ओर से निम्न प्रस्ताव पास हुआ।

‘श्री दि० जैन लालमन्दिर दिल्ली में आयोजित जैन समाज की विशाल सभा श्री गिरनार जी सिद्धक्षेत्र (जूनागढ़) पर पूज्य आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी के साथ वहाँ के बाबाओं द्वारा हुए घोर अभद्र व्यवहार के प्रति अपना अत्यन्त दुःख और क्षोभ व्यक्त करती है तथा आपसे प्रार्थना करती है कि धर्मनिरपेक्ष सरकार में इस प्रकार धार्मिक गुरुओं के साथ निन्दनीय व्यवहार करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाये जिससे भविष्य में इस प्रकार के कार्यों की पुनरावृत्ति न हो।’

नोट :—प्रस्ताव की कापी महामहिम माननीय राज्यपाल गुजरात प्रदेश अहमदाबाद को भेजी गई।

अन्त में सभा के अध्यक्ष और कमेटी के उपाध्यक्ष ने सबका आभार प्रकट किया। मंत्री वीर सेवा मन्दिर ने अध्यक्ष का आभार प्रकट करते हुए जनता को धन्यवाद दिया, और भगवान महावीर की जयध्वनिपूर्वक उत्सव समाप्त हुआ।

—प्रेमचन्द जैन

संशोधन

गत वर्षके अनेकान्त की संयुक्त किरण ५-६ में ‘धनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य’ शीर्षक लेख प्रकाशितहुआ है। उसमें भूल से डा० हीरालाल जी जैन का नाम छपने से रह गया है। कृपा कर पाठकगण उसमें डा० हीरालाल जी का नाम और बढ़ा कर पढ़ें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

साहित्य-समीक्षा

१. भविष्यदत्त कथा तथा अपभ्रंश कथा काव्य—
लेखक डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री । प्रकाशक भारतीय ज्ञान-
पीठ, ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली-६, मूल्य
२० रुपया ।

प्रस्तुत ग्रंथ एक शोध प्रबन्ध है, जिस पर लेखक को
आगरा यूनिवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री मिली
है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सान ग्रन्थाय हैं जिनमें अप-
भ्रंश भाषा और उसके साहित्य का सुन्दर वर्णन दिया
है । साथ ही भविष्यदत्त कथा का भी परिचय दिया गया
है । भविष्यदत्त कथा और उसकी परम्परा का विवरण
देते हुए अपभ्रंश के प्रमुख कथा काव्यों का—“विलासवई
कथा, जिणदत्त कथा, सिद्धचक्र कहा, सिरिपाल कहा
आदि का भी—परिचय दिया है । लोककथा की सामान्य
प्रवृत्तियों और लोक तत्त्व का विश्लेषण करते हुए वस्तु
तत्त्व का अच्छा विवेचन किया गया है । यह सब होते
हुए भी लेखक ने भविष्यदत्त कथा के रचनाकाल पर बिना
किसी प्रमाण के उसका रचनाकाल विक्रम की १४वीं
शताब्दी बतलाने का प्रयत्न किया है । जो किसी तरह
भी उचित नहीं कहा जा सकता । जबकि डा० हर्मन
जेकोबी ने घनपाल की भविष्यदत्त कथा का रचना काल
१०वीं शताब्दी बतलाया है ।

लेखक को मोती कटरा आगरा के भण्डार से सं०
१४८० की लिखी हुई प्रति मिली । उसमें सं० १३६३ की
एक दूसरी लिपि प्रशस्ति भी लिखी हुई थी । जिसे साहू
वाधू अग्रवाल ने घनपाल की उक्त कथा को सं० १३६३
लिखवाया था । लेखक महाशय ने उस पर से ग्रंथ का
रचनाकाल विक्रम की १४वीं शताब्दी निश्चित कर
दिया । आप लिखते हैं कि—“विक्रम सं० १३६३ पौष
शुक्ला द्वादशी को यह कथा काव्य लिखकर पूर्ण हुआ
था । आधुनिक काल गणना के अनुसार निर्दिष्ट तिथि
१६ दिसम्बर १६३६ ई० है । इससे स्पष्ट है कि काव्य
का रचना काल चौदहवीं शताब्दी है ।” पर लेखक ने

विचार का थोड़ा भी कष्ट नहीं किया जब कि इस ग्रंथ
के कर्ता कवि घनपाल है, जो धर्कट वंश में उत्पन्न हुए
थे । उनके पिता का नाम माएसर (मातेश्वर) और
माता का नाम घनश्री था । जबकि सं० १३६३ में ग्रन्थ
की प्रतिलिपि कराने वाले दिल्ली के अग्रवाल वाधू साहू
थे । उस समय दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक का राज्य था
मैंने एक लेख ‘घनपाल की भविष्यदत्त कथा के रचना काल
पर विचार शीर्षक लिखा था ।” जो अप्रैल सन् १८६६ के
अनेकान्त के अंक एक में छपा था । उसके पढ़ने से तो
लेखक को अपनी भूल का स्पष्ट पता चल गया था, फिर
भी अपनी पुस्तक में उसका संशोधन नहीं किया । किन्तु
भविष्यदत्त कथा का रचना काल चौदहवीं शताब्दी सिद्ध
करने के लिये विबुध श्रीधरमुनि कृत (सं० १२३०)
में भविष्यदत्त कथा रचित ग्रंथ के साथ तुलना
कर यह निष्कर्ष निकाला कि घनपाल की भविष्य-
दत्त कथा पर इसका प्रभाव है । आपने दोनों की
तुलना करते हुए बतलाया है कि “घनपाल ने उसका
अनुकरण किया है ।” परन्तु लेखक ने यह विचार नहीं
किया कि दोनों ग्रंथों के कथानकों में समानता होने पर
भी भाषा गत और कथानक शैली का भेद बना हुआ है ।
घनपाल की भविष्यदत्त कथा की भाषा प्रौढ और विशद
है, उसमें काव्यत्व की झलक स्पष्ट है । जबकि विबुध
श्रीधर की भविष्यदत्त कथा की भाषा सीधी-सादी है, वह
चलती हुई है । इतना होते हुए भी आप लिखते हैं कि—
“कल्पनात्मक वैभव, विम्बार्थ योजना, अलंकरणता और
सौन्दर्यानुभूति की जो झलक घनपाल की भविष्यदत्त कथा
में लक्षित होती है वह इस काव्य में नहीं है ।” इतना
होने पर भी आप उक्त कथा में अनुकरण की बात कहते
हैं । वह कैसे फलित हो सकती है ? जबकि उस ग्रंथ का
रचना काल १०वीं शताब्दी माना जाता है । तब अनु-
करण की बात कैसे घटित हो सकती है ? यह तो कल्पना
तब मानी जा सकती है जब सं० १३६३ की लिपि

प्रशस्ति को मूल ग्रन्थकार की मान ली जाये। अतः उक्त प्रशस्ति के आधार पर धनपाल की भविष्यदत्त कथा को विक्रम की १४वीं शताब्दी की रचना मानना किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता।

ज्ञानपीठसे शोध प्रबन्ध छपनेसे पहले मैंने उसके रचना काल पर विचार लेख को डा० गोकुलचन्द्र जी को बतलाया था, और उन्होंने कहा था कि सशोधन हो जायगा। फिर भी सशोधन नहीं हुआ, वह ज्यों का त्यों छपा दिया गया, शोध प्रबन्धके निर्णायको ने भी उस पर विचार नहीं किया। लेखक को भूल जात होने पर भी उसका सुधार नहीं किया गया, आशा है डा० देवेन्द्रकुमार उसका संशोधन करेंगे। शोध-प्रबन्धों में इस तरह की स्थूल भूलों का रह जाना बड़ा खटकता है।

ज्ञानपीठ का प्रकाशन सुन्दर है। पाठकों को उसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

२. द्विसन्धान महाकाव्य (संस्कृत हिन्दी टीका सहित) मूलधनजय कवि। सम्पादक प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, सुभाषमार्ग दिल्ली। पृष्ठ संख्या ५०६ मूल्य १५) रुपया।

प्रस्तुत काव्य का नाम द्विसन्धान काव्य है, जिसे राघवपाण्डवीय काव्य भी कहते हैं। इस ग्रन्थ में रामायण और महाभारत की कथा इस कौशल से लिखी गई है कि उसके एक अर्थ में राम का चरित्र निकलता है तो दूसरे में कृष्ण चरित्र। इस रूप में लिखा गया यह काव्य सर्वश्रेष्ठ काव्य है। यह कृति गृहस्थ कवि धनजय की रचना है। रचना बड़ी सुन्दर और दो अर्थों की प्रतिपादक है। यद्यपि बाद के विद्वानों ने द्वैचर्यक अनेक काव्य रचे हैं, परन्तु उनमें धनजय की यह कृति सबसे प्राचीन और गम्भीर अर्थ की द्योतक है। ग्रंथ में १८ सर्ग हैं जिनके ११०४ श्लोकों में इस महा काव्यको रचना हुई है। इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरावालाने किया है अनुवाद सामान्यतया अच्छा और सरल है। ग्रन्थ की दो टीकाएँ हैं उनमें से मूल के साथ विनयनन्द के प्रशिष्य और देवनन्द के शिष्य नेमिचन्द्र की पद कौमुदी नामकी संस्कृति टीका भी दे दी गई है। इसकी दूसरी टीका राघव पाण्डवीय भी प्रकाशित है जिसके कर्ता परवादधरद्व

रामभट्ट के पुत्र कवि देवर है। ये दोनों टीकाएँ आरा जैन सिद्धान्त भवन में मौजूद हैं।

डा० हीरालाल और डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस ग्रन्थ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना अंग्रेजी और हिन्दी में लिखी है। कवि ने अपना कोई परिचय और गुरु परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रस्तावना में धनजय कवि की अन्य कृति विषाहार स्तोत्र (आदिनाथ स्तोत्र) और धनजय नाममाला है। इस ग्रन्थ के १८वें सर्ग के १४६वें श्लोक में श्लेषरूप में धनजय के पिता का नाम वासुदेव और माता का नाम श्रीदेवी और गुरु का नाम दशरथ उपलब्ध होता है। जो दशरूपक के कर्ता से भिन्न हैं। कवि धनजय का समय डा० हीरालालजी और डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में ८०० ई० अनुमानित किया है, जो उचित जान पड़ता है क्योंकि विक्रम की ९वीं शताब्दी के विद्वान और षट्खण्डागम तथा कसायपाहुड की धवला जयधवला टीकाओं के कर्ता वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका की पुस्तक ६ पृ० २३७ में धनजय नाममाला का एक पद्य उद्धृत किया है। जो इस प्रकार है :—

“हेतावेवं प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये।

प्रादुर्भावे समाप्ते च इति शब्दः प्रकीर्तितः॥”

इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत धनजय उसके बाद के विद्वान नहीं हो सकते।

ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ ने किया है, प्रकाशन उसके अनुरूप हुआ है। पाठकों को मंगाकर उसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

३. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन—लेखक श्रीचन्द्र जैन। प्रकाशक सुशील वोहरा, वोहरा प्रकाशन, चैनसुखदास मार्ग, जयपुर पृष्ठ संख्या १६० मूल्य १३ रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने संस्कृति और सभ्यता का तथा इनके पारस्परिक भेदकत्त्व, संस्कृति के अवान्तर रूप, लोक जीवन में संस्कृति का सम्बन्ध, जैन संस्कृति का विश्लेषण, जैन कथाओं में गुम्फित सूक्तियाँ। संस्कृति की विशेषताएँ और मूल तत्त्व, जैन संस्कृति की आपेक्षिक

प्राचीनता। वैदिक संस्कृति एवं जैन संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन। जैन धर्म का आशय। जैन कथा साहित्य, जैन कथाओं में अध्यात्मवाद। जैन कथाओं में चित्रित सामाजिक जीवन। आदि विषयों पर लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। कथाओं के सांस्कृतिक अध्ययताओं के लिए पुस्तक उपयोगी है। प्रकाशन सुन्दर और गेटप मनोहर है, परन्तु पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है।

४. लोक विजयग्रन्थ—सानुवाद और विस्तृत विवेचन सहित। सम्पादक डा० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, एच० डी० कालेज आरा (बिहार) प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट। प्राप्ति स्थान, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, चमेली कुटीर, १।१२८ डुमराव कालोनी भस्सी, वाराणसी-६, मूल्य दस रुपया।

इस लोक विजय ग्रन्थमें अंक संख्या के निर्धारण द्वारा मानव के सुख-दुःख, समर्थ-महर्ष, वर्षा-वायु, सुभिक्षदुर्भिक्ष, रोग, घन-आश्रय-रस निष्पत्ति, समृद्धि आदि की सही जानकारी प्राप्त करानेका प्रयास किया गया है। ग्रंथमें लोक विजयग्रन्थको बनाने, देश और दिशा दोनों ध्रुवों के द्वारा गणित करके फला देश निकालने का अच्छा विवेचन किया गया है। डा० साहब ने उदाहरण देकर उसे स्पष्ट किया है डा० नेमिचन्द्र जी ने ५३ पृ० की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना और परिशिष्टों द्वारा इस विषय को अत्यन्त सुगम बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि ग्रन्थ की मूल गाथा ३० है, और वे प्रतापगढ़ के वैद्य जवाहरलालजी से मुख्तार साहब को प्राप्त हुई थीं। इसमें सन्देह नहीं कि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है, परन्तु उसके अनुवाद और विस्तृत विवेचन के बिना उसके समझनेमें कठिनाई होती थी। पर डा० साहबने अपने विवेचन से उसे सरल एवं सुगम बना दिया है। इसके लिए डा० साहब का आभार मानना आवश्यक है। ग्रन्थ का मूल्य दस रुपया है। ज्योतिष के अध्ययताओं और सुभिक्ष दुर्भिक्षादि के फला देश जिज्ञासुओं के लिए ग्रन्थ उपयोगी है। मंगाकर पढ़ना चाहिए। वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट का यह प्रकाशन सुन्दर है।

५. सत्प्ररूपणा सूत्र—(हिन्दी अनुवाद सहित) मूल लेखक आचार्य पुष्पदन्त, सम्पादक और अनुवादक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, प्राचार्य स्याद्वद महाविद्यालय

काशी। प्रकाशक गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, १।१२८ डुमराव कालोनी भस्सी वाराणसी, मूल्य ५) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य पुष्पदन्त प्रणीत सत्प्ररूपणा सूत्र दिया हुआ है। आचार्य पुष्पदन्त चन्द्रगुहा निवासी आचार्य घरसेन के विद्या शिष्य थे। उनसे महा कर्मप्रकृति प्राभूत पढ़कर प्रवचन वात्सल्य से प्रेरित होकर प्रस्तुत सत्प्ररूपणा सूत्र रचे और जिन पालित को दीक्षित कर तथा पढ़ाकर उन्हें आचार्य भूतबलि के पास भेजे। आचार्य भूतबली ने उन्हें पाकर और पुष्पदन्त को श्रुत्वायु-जान कर महाकर्म प्रकृति प्राभूत के विच्छेद के भय से द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर, जीवस्थान, खुदाबन्ध, बन्धस्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्धरूप षट्खण्डागम सूत्रों की रचना की। आचार्य पुष्पदन्त ने घर सेनाचार्य से प्राप्त ज्ञान को सत्प्ररूपणा के रूप में सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया था। यद्यपि यह सत्प्ररूपणा घबला टीका और उसके हिन्दी अनुवाद के साथ श्रीमाब सेठ लक्ष्मीचन्द्र सितारवाव जैन साहित्योद्धारक फण्ड अमरावती से षट्खण्डागम की प्रथम पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है। किन्तु वह पुस्तक इस समय प्राप्य नहीं है। इस कारण इसे प्रकाशित करना आवश्यक था। श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने उक्त सूत्रों का सकलन और हिन्दी अनुवाद किया और उसमें कुछ उपयोगी शका समाधान को सन्निहित कर स्वाध्यायी जनों के लिए सुलभ कर दिया है। साथ ही प्राक्कथन लिखकर तो उसे और भी उपयोगी बना दिया है। प्राक्कथन में षट्खण्डागम और प्रज्ञापना के सम्बन्ध में भी विचार किया है। किन्तु वह बहुत संक्षिप्त है, उसके सम्बन्ध में और भी प्रकाश डालना जरूरी है। जिससे पं० दलसुख मालव-गनिया का वह प्रामाणिक उत्तर ही न हो, किन्तु पाठकों को क्षेत्रों की तरह दिगम्बर शास्त्रों को अपना बनाने की भावना का भी निदाकरण हो सके। और समाज में तथा विद्वानों में उसके संरक्षण की भावना भी जागृत हो सके।

वर्णी ग्रन्थमाला का यह प्रकाशन सुन्दर है। छपाई सफाई उत्तम है। यह ग्रन्थ मन्दिरों, ग्रन्थ भण्डारों, पुस्तकालयों और स्वाध्यायी जनों को मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिए।

—परमानन्द शा



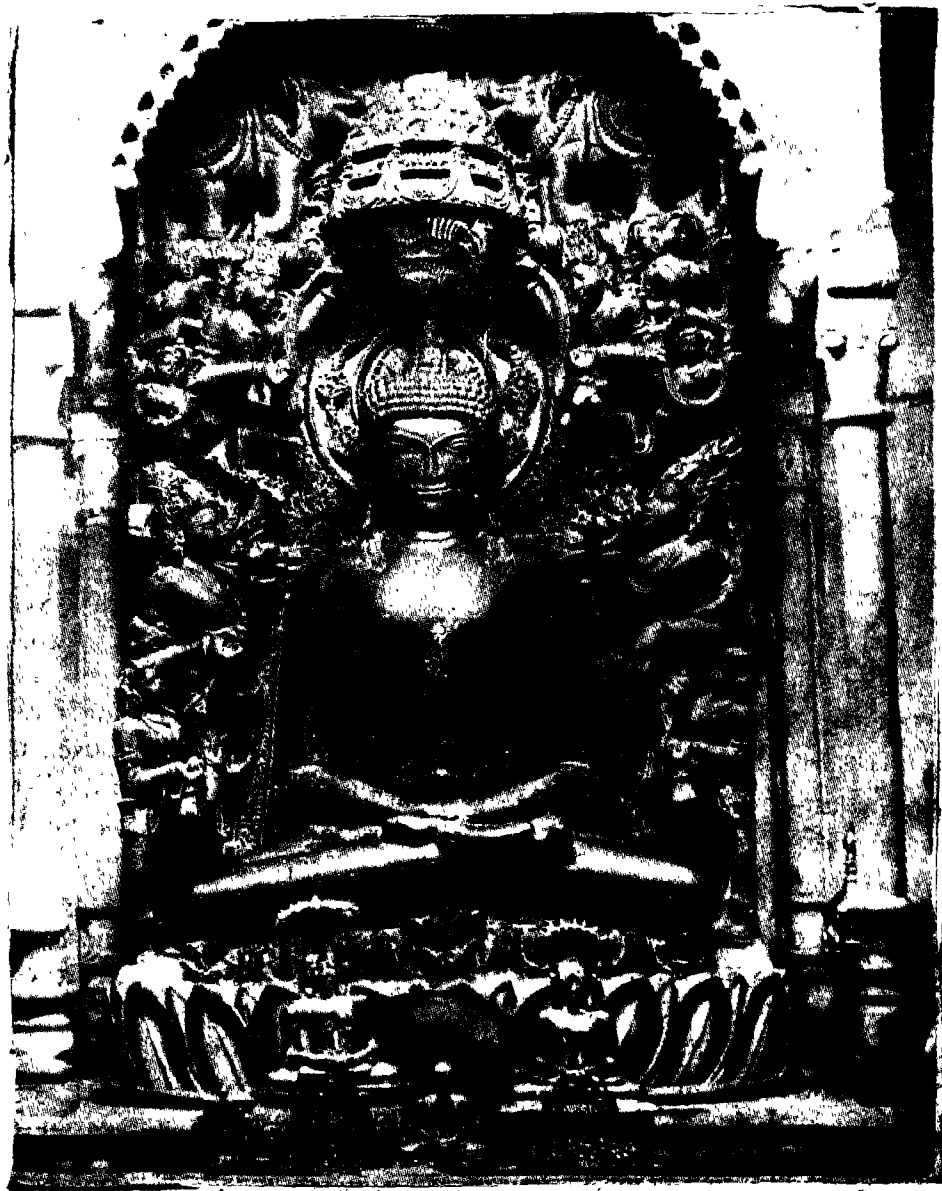
कल्पवक्ष पर कमलासोन नेमिनाथ तार्थकर, राजघाट, वाराणसी

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनशास्त्र-सूची . प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है । सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची । संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, मजिन्द ।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर, विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिन्द ।	६-००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित ।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, मानुवाद और श्री जुगल किशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित ।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित	१-५०
युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था । मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिन्द ।	१-२५
श्रीपुरपाश्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित ।	७५
शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिन्द ।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह. उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिन्द ।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपवेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अनित्यभाषना : आ० पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभावन्दीय) —मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त ।	२५
अवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य	१६
अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित ।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । स. पं० परमानन्द शास्त्री । सजिन्द ।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु० ।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिन्द	५-००
कसायपाट्ट सुत : मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण जूणिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

अनेकान्त

वर्ष २४ : किरण ३



कलचुरि कालोन भगवान् भादिनाथ की भव्य मूर्ति (श्री नोरज के सौजन्य से प्राप्त)

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१.	शान्तिनाथ जिनस्तवन—मुनिपद्मनन्द	६७
२.	जैबशिल्प में सरस्वती की मूर्तियाँ —भारुतिचन्दन प्रसाद तिवारी	६८
३.	शिलालेखों में गोलापूर्वान्वय— परमानन्द जैन शास्त्री	१०२
४.	उपदेशीय पद—कविवर दानतराय	१०६
५.	शोधकण—श्री नीरज जैन	११०
६.	कलचुरि कालीन एक नवीन जैन भव्य शिल्प —कस्तूरचन्द 'सुमन'	११२
७.	अभय कुमार—परमानन्द शास्त्री	११४
८.	पुनीत आगम साहित्य का नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तलोकन—ड० बालकृष्ण 'अकिचन' एम० ए० पी० एच० डी०	१२१
९.	विशाल कीर्ति व अजित कीर्ति— डा० विद्याधर जोहरा पुरकर	१२५
१०.	श्रावक की ५३ क्रियाएँ—वंशीधर एम० ए०	१२६
११.	अपभ्रंश का जयमाला-साहित्य— डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	१२८
१२.	आत्म विजय की राह—श्री ठाकुर	१३०
१३.	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	१३६

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीग्रार्डर से शीघ्र भिजवा दें, अन्यथा बी. पी. से १.२५ पैसे अधिक देना पड़ेगा।

जिन ग्राहकों ने अपने पिछले २३वें वर्ष का चन्दा अभी तक भी नहीं भेजा है, वे अब २३वें और २४वें दोनों वर्षों का १२ रुपया मनीग्रार्डर से अवश्य भिजवा दें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
बीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज
बिल्डी

पुस्तक प्रकाशकों से

जैन समाज में अनेक संस्थाएँ जैन साहित्य का प्रकाशन कार्य कर रही हैं। बीर सेवा मन्दिर की लायब्रेरी अन्वेषक विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अनेक शोध-खोज करने वाले विद्वान अपनी धीसिस के लिए योग्य सामग्री बीर सेवा मन्दिर के पुस्तकालय से प्राप्त करते हैं। विद्वानों को चाहिए कि वे अधिक से अधिक लाभ उठावें। प्रकाशकों को चाहिए वे अपने-अपने प्रकाशन की प्रतियाँ भिजवा कर पुण्य लाभ लें।

व्यवस्थापक
बीर सेवामन्दिर, दरियागज
बिल्डी

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक अनेकान्त

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमाणमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमपनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४
किरण ३

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६७, वि० सं० २०२७

{ जुलाई-अगस्त
१९७१

शान्तिनाथ जिनस्तवन

जयति जगदीशः शान्तिनाथो यदीयं,
स्मृतमपि हि जनानां पाप-तापोप-शान्त्यै ।
विविधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्न-
द्युति चल मधुपाली चुम्बितं पादपद्मम् ॥५॥
—मुनि पद्मनन्दि

शान्ति जिनेश जयो जगतेश, हरे अघताप निशेश की नाई ।
सेवत पाय सुरासुरराय, नमै सिरनाथ महो तल ताई ॥
मौलि लगे मनिनोल दिपे, प्रभु के चरणों भलकं वह भाई ।
सूचन पाय-सरोज-सुगन्धि, किधो चलि ये अलिपंकति आई ॥

अर्थ—देव समूह के मुकुटों में प्रकाशमान नील रत्नों की कान्तिरूपी चंचल भ्रमरों की प्रकृति से-संशित जिन शान्तिनाथ जिनैन्द्र के चरणकमल स्मरण करने मात्र से ही लोगों के पापरूप सन्ताप दूर करते हैं वे लोक के अधिनायक भगवान शान्तिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त हों ॥५॥

जैन शिल्प में सरस्वती की मूर्तियाँ

मारुतिनन्धन प्रसाद तिवारी

जैन सम्प्रदाय में चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त समस्त देव समूह किसी न किसी रूप में अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्धित प्रतीत होता है। जैनों ने सर्वोपरि स्थान तीर्थंकरों को दिया और शेष समस्त देवताओं को उन्हीं से सम्बद्ध करके उनके अनुयायी या सेवक के रूप में कल्पित किया। डॉ० मट्टाचार्य के विपरीत डा० यू० पी० शाह की धारणा है कि सरस्वती की गणना १६ विद्यादेवियों के अन्तर्गत नहीं की जानी चाहिए, वरन् उसे स्वतंत्र देवी रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए^१। सरस्वती को अन्य कई नामों से भी सम्बोधित किया जाता है, यथा, श्रुतदेवता, शारदा, भारती, भाषा, वाक् वाक्देवता, वागीश्वरी, वाग्वादिनी, वाणी, ब्राह्मी। जैनधर्म के ज्ञान व बुद्धि की देवी सरस्वती की श्रद्धा इस विषय से अज्ञानता रूपी अन्धकार के नाश के लिए की जाती है। श्रुतदेवता के रूप में सरस्वती सभी तीर्थंकरों की शिक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है। जैन शिल्प में सरस्वती को मुख्यतः द्विभुज, चतुर्भुज या बहुभुज (षड्भुज या अष्टभुज) मूर्तिगत किया गया है। सरस्वती की विभिन्न भुजाओं में प्रदर्शित आयुधों में वीणा (येन केन वादन की मुद्रा में), अक्षमाला, वरद या अभयमुद्रा प्रमुख है। प्रतिमाओं में देवी को सामान्यतः कमलासन पर ललितासन मुद्रा में आसीन, जिसमें देवी का एक पाद नीचे लटका रहता है, या कभी खड़ा प्रदर्शित किया जाता है। देवी का वाहन हंस, जिसका स्थान कभी-कभी मयूर भी ले लेता है, को देवी के समीप ही कहीं उत्कीर्ण किया जाता है।

मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त कुषाण युगीन सरस्वती मूर्ति इस समय लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय में संग्रहीत (नं० २४) पर स्थित है। मूर्ति (१.६३" × २.३") में द्विभुज सरस्वती को समकोण चतुर्भुज के आकार की पीठिका पर दोनों पैर ऊपर किये पलथी मारकर बैठी हुई चित्रित किया गया है^२। शीर्ष भाग जो प्रभामण्डल से युक्त था, संप्रति भग्न हो गया है। वाम वक्षस्थल भी खंडित है। वाम भुजा में एक पुस्तक प्रदर्शित है और

दाहिनी ऊपर उठी भुजा, जो संप्रति खंडित है, संभवतः अभय मुद्रा में रही होगी। कटिप्रदेश में पीले वस्त्रों से सुसज्जित है। दोनों कलाईयों में कंगन हैं। स्कन्ध वस्त्रों से ढंके हैं। दोनों पाश्वों में एक उपासक आकृति उत्कीर्ण है, जिनकी केश रचना वृत्तों के रूप में निमित्त है। पीठिका पर कुषाण कालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण लेख के आधार पर इस मूर्ति को १३२ ईसवी शती में तिथ्यंकित किया गया है। इस प्रतिमा के अतिरिक्त कुषाण युग में प्रतिष्ठित अन्य कोई उदाहरण नहीं प्राप्त होता। साथ ही सरस्वती प्रतिमा का गुप्त युगीन उदाहरण भी अप्राप्त है।

सरस्वती की कांस्य प्रतिमा

सरस्वती वृषट्टों और निचले वस्त्रों से युक्त कांस्य प्रतिमा वसंतगढ़ संग्रह से उपलब्ध होती है^३। द्विभुज

१. Shah, U. P., Iconography of the Jain Goddess Sarasvati, Jour. University of Bombay, Vol. X (New Series) Pt. 2. Sept. 1941, p. 212.

२. Smith, Vincent A, The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura, Varanasi, 1969; Bajpai, K. D., Jain Images of Sarasvati in the Lucknow Museum, Jaina Ant. Vol. XI, No. II, Jan. 1946, pp. 1-4.

३. Shah U. P., Bronze Hoard from Vasantgarh, Lalit Kala, Nos. 1-2, April 1955-March 1956, p. 61.

सरस्वती की दांयी भुजा में कमल और बांयी लटकी भुजा में पुस्तक उत्कीर्ण है। देवी पूर्ण विकसित कमलासन पर खड़ी है, जिनके दोनों ओर एक मंगल कलश स्थित है। यह मूर्ति मथुरा के कुषाण युगीन उदाहरण में प्राप्त होने वाली विशेषताओं का निर्वाह करती हुई प्रतीत होती है। किन्तु कुषाण कालीन प्रतिमा के विपरीत यह चित्रण सरस्वती को खड़ा प्रदर्शित करता है। मकरमुख और सूर्यवृत्ति से अलंकृत मुकुट देवी के मस्तक पर स्थित है। पृष्ठभाग में विशिष्ट प्रभामण्डल से युक्त देवी प्रीवा में दो हारों, एकावलि आदि अलंकरणों से सुसज्जित है। डॉ० यू० पी० शाह शैली और प्रतिमा शास्त्रीय विवरणों के आधार पर इस मूर्ति को सातवीं शती ईसवी के बाद तिथ्यांकित करना उचित नहीं समझते हैं।

ब्रिटिश संग्रहालय की सरस्वती मूर्तियाँ

सरस्वती की दो मनोज्ञ प्रतिमाएं संग्रहित ब्रिटिश संग्रहालय में हैं।^५ ग्यारहवीं या बारहवीं शती में प्रतिष्ठित त्रिभंग मुद्रा में खड़ी एक मूर्ति (२६" × १४") स्टुअर्ट ब्रिज संग्रहालय (न० ८४) से सम्बन्धित है। सम्भवतः राजपूताना से प्राप्त होने वाली इस चतुर्भुज मूर्ति में दोनों दाहिने हाथ खण्डित हैं। ऊर्ध्व वाम हस्त में मनिकों की माला और विचली बांयी भुजा में पुस्तक उत्कीर्ण है। इस भव्य और जीवन्त अंकन में पृष्ठ भाग में ऊपर की ओर पांच तीर्थंकर आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। दोनों पार्श्वों में उत्कीर्ण सेवक आकृतियों के नीचे पालथी मारे दो उपासक आकृतियों को चित्रित किया गया है जो मूर्ति के दानकर्ताओं की आकृतियाँ प्रतीत होती हैं।

दूसरी आदमकद मनोज्ञ प्रतिमा (५१" × २०") में उत्कीर्ण लेख वारदेवी के इस चित्रण को परमार शासक भोज के शासन काल में प्रतिष्ठित बतलाया है। भूरे रंग के प्रस्तर में उत्कीर्ण इस अंकन के लेख के आधार पर इसे १०३४ ई० में तिथ्यांकित किया गया है। कंगन, पायजेब और कटि प्रदेश में अलंकरणों से सुसज्जित देवी

विशिष्ट परिधानों से युक्त है। दाहिने भाग में दो सेवक आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं जिनमें से एक के बाँयें हाथ में एक दण्ड प्रदर्शित है जिसे उसने द्वारपाल की तरह पकड़ रखा है और दूसरी तुन्दली बीनी आकृति की दाहिनी भुजा में आम्र फल चित्रित है। वाम पार्श्व में पुनः एक लम्बोदर ठिगनी आकृति उत्कीर्ण है, जो सिंह पर आसीन है।

बड़ौदा संग्रहालय की सरस्वती मूर्तियाँ

बड़ौदा संग्रहालय में स्थित एक छोटी चतुर्भुज सरस्वती प्रतिमा को त्रिभंग मुद्रा में कमल पर खड़ा प्रदर्शित किया गया। इसकी ऊर्ध्व दाहिनी भुजा में वीणा और ऊर्ध्व वाम भुजा में पुस्तक चित्रित है। वरद मुद्रा प्रदर्शित करता वाम हस्त अक्षमाला धारण किये है और दाहिनी भुजा में एक घट अंकित है। समीप ही वामपार्श्व में उसके वाहन हंस को मूर्तिगत किया गया है। मुकुट और निचले वस्त्रों से युक्त सरस्वती के दोनों ओर चाँवर-धारी स्त्री आकृतियाँ अंकित हैं। देवी के दोनों पार्श्वों में उत्कीर्ण रथिकाओं में चार-चार स्त्री आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें से दो के अतिरिक्त सभी खड़ी हैं। देवी के मुकुट के ऊपर भी एक स्त्री आकृति उत्कीर्ण है। इस प्रकार मुख्य प्रतिमा को जोड़कर १० देवियों का चित्रण करने वाले इस अंकन के संबंध में डा० यू. पी. शाह की धारणा है कि ये सभी आकृतियाँ स्वयं सरस्वती के ही विभिन्न स्वरूपों का अंकन हैं, जैसा कि ग्रंथों के उल्लेखों और दो आकृतियों की भुजाओं में स्थित वीणा से भी पुष्ट होता है। दिलवाड़ा के विमल-वशही मंदिर और जैन चित्रों में प्राप्त सरस्वती अंकन से तुलनात्मक अध्ययन के उपरांत डा० शाह ने इसे ११५० से १२२५ ईसवी के मध्य तिथ्यांकित किया है।

नागपुर संग्रहालय की तीर्थंकर मूर्ति :

सरस्वती की एक अन्य विशिष्ट अभिलिखित मूर्ति (११ × ४१) जिसे अकोला जिले के रज्जपुर खिनखिनी^६

४. Chanda, Ramaprasad, Medieval Indian Sculpture in the British Museum, London 1936, p. 45.

५. Shah, U. P., Jain Sulptures in the Baroda Museum, Bull. Baroda Mus., Vol. I, Pt. II, Feb. to July 1944, p. 28.

६. Jain, Balchandra, Jaina Bronzes from Rajnapur Khinkhini, Jour. Indian Museums, Vol. XI, 1955, p. 17.

नामक स्थल से प्राप्त किया गया था, संप्रति केन्द्रीय संग्रहालय, नागपुर की निधि है। मध्यप्रदेश से प्राप्त होने वाली इस प्रतिमा में ललितासन मुद्रा में कमल पर आसीन देवी की वाम भुजा में पुस्तक व दाहिनी में एक संक्षिप्त दण्ड, संभवतः लेखनी प्रदर्शित है। अलङ्करण विहीन यह मूर्ति निर्मिती की दृष्टि से उत्कृष्ट है। देवी के शीर्ष भाग में पद्मासीन तीर्थंकर की आकृति उत्कीर्ण है, जो त्रिछत्र अशोक की पत्तियों और दुन्दुभि से अलंकृत है।

बीकानेर संग्रहालय की सरस्वती मूर्ति

एक अन्य मनोज्ञ और विशाल चित्रण व बीकानेर के पल्लु नामक स्थल से प्राप्त होता है और संप्रति बीकानेर संग्रहालय में संग्रहीत है। ११वीं शती में तिथ्यांकित श्वेत मकरान के संगमरमर में उत्कीर्ण इस चतुर्भुज प्रतिमा (५६॥ × ३७॥) में देवी के शीर्ष भाग में कई आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिन सबके ऊपर तीर्थंकर आकृति का चित्रण हुआ है। देवी के हाथों में सनाल कमल, पुस्तक, अक्षमाला (वरदमुद्रा और अक्षमाला) और कमण्डलु प्रदर्शित हैं। इसी प्रकार का एक अन्य चित्रण दिगम्बर मंदिर से भी उपलब्ध होता है, जिसमें सरस्वती के निचले दाहिने हाथ से वरदमुद्रा प्रदर्शित है। तारग के अजितनाथ मंदिर की उत्तरी और पश्चिमी भित्तियों पर भी मिलती जुलती आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।^{१४} जोधपुर स्थित सेवगोदी नामक स्थल से भी दो ऐसी प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं, जो काफी खण्डित हैं।^{१५} विमल-वशहो मंदिर के स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक अन्य चित्रण में देवी की निचली दाहिनी भुजा, जो संप्रतिभग्न है, में संभवतः कमण्डलु चित्रित था।^{१६} इसके प्रतिरिक्त अन्य विशेषताएं पूर्ववत् हैं।

७. Srivastava, V. S., Catalogue and Guide to Ganga Golden Jubilee Museum, Bikaner, Bombay, 1961, p. 13.

८. Shah, U.P., Iconography of Sarasvati, JUB, Vol. X, p. 208.

९. Loc. Cit.

१०. Loc. Cit.

राणकपुर की सरस्वती मूर्ति

द्विभुज सरस्वती का एक अन्य उदाहरण जोधपुर राज्य के राणकपुर नामक स्थल के चतुर्भुज मन्दिर से प्राप्त होता है।^{१७} त्रिभंग मुद्रा में खड़ी सरस्वती को दोनों हाथों से वीणावादन करते हुए चित्रित किया गया है और देवी के दाहिने चरण के समीप उत्कीर्ण हंस आकृति वीणावादन से उत्पन्न संगीतमय वातावरण में लीन प्रतीत होता है। इसी स्थल से प्राप्त होने वाली चतुर्भुज प्रतिमा में उसके निचले हाथों में अग्रय मुद्रा और कमण्डलु प्रदर्शित हैं और ऊपरी दो भुजाओं में अक्षमाला व वीणा चित्रित हैं।^{१८} एक अन्य मूर्ति में हंस पर आरुढ़ सरस्वती आकृति को दो ऊपरी हाथ में वीणा और पुस्तक और निचले दोनों हाथों में अक्षमाला व कमण्डलु से युक्त चित्रित किया गया है। सरस्वती को हंस पर आरुढ़ चित्रित करना इस प्रतिमा की अपनी विशेषता है। एक अन्य चित्रण अचलगढ़ से उपलब्ध होता है, जिसमें देवी की भुजाओं में प्रदर्शित प्रतीकों के क्रम में कुछ अन्तर को छोड़कर शेष बातों में यह अंकन उपयुक्त प्रतिमाओं के समान है।

बम्बई संग्रहालय की सरस्वती मूर्ति

सरस्वती मूर्ति के दो अन्य उदाहरण भारतीय ऐतिहासिक शोध संस्थान बम्बई (St. Xavier's College) के संग्रहालय में स्थित हैं।^{१९} पहली पीतल की मूर्ति (६.८" ऊँची) में चतुर्भुज देवी को ललितासन मुद्रा में आसीन प्रदर्शित किया गया है। गुजरात से प्राप्त होने वाले इस अंकन में सरस्वती का वाहन हंस, देवी की बायीं गोद के समक्ष उत्कीर्ण है। ११वीं शती में तिथ्यांकित इस चित्रण में देवी की भुजाओं में अक्षमाला, कमण्डलु, पुस्तक और एक विशिष्ट वस्तु (ladle) उत्कीर्ण है। देवी के दोनों

११. Shah, U.P., Iconography of Sarasvati, JUB, Vol. X, p. 199-200.

१२. Shah, U.P., ibid, p. 209.

१३. Sankalia, H.D., Jaina Iconography, New Indian Antiquary, Vol. II, 1939-40, p. 510

पाश्वर्षों में एक स्त्री सेविका आकृति उत्कीर्ण है, जिसके हाथ में कमण्डलु चित्रित हैं। देवी के दाहिने छुटने के नीचे सामने एक उपासक ऋषि आकृति अंकित है। दक्षिण भारत से प्राप्त होने वाली दूसरी पीतल की प्रतिमा को १५वीं शती में निर्मित बतलाया गया है। ४.२॥ ऊँची प्रतिमा में चतुर्भुज सरस्वती को कमल पर आसीन चित्रित किया गया है जो एक वर्गाकार पीठिका पर स्थित है : पीठिका के अग्रभाग में सरस्वती का वाहन हंस उत्कीर्ण है। देवी के ऊपरी दाहिने और निचले हाथों में अंकुश और पाश प्रदर्शित हैं, किन्तु शेष भुजाओं में अक्षमाला और कोई वृत्ताकार वस्तु चित्रित है। देवी के मस्तक पर स्थित मुकुट के ऊपर कलश उत्कीर्ण है।

हैदराबाद संग्रहालय की सरस्वती मूर्ति

चतुर्भुज सरस्वती की एक अन्य खड़ी मनोमल प्रतिमा अदिलबाद जिले के महुर नामक स्थल से प्राप्त होती है, जो संप्रति हैदराबाद संग्रहालय में शोभा पा रही है। अत्यन्त अलंकृत इस मूर्ति में देवी के हाथों में पुस्तक, अक्षमाला, वीणा और अंकुश या वज्र चित्रित हैं। पृष्ठ-भाग में भामण्डल से युक्त देवी का वाहन हंस पीठिका पर उत्कीर्ण है। पीठिका पर सरस्वती के दोनों ओर एक स्त्री-पुरुष आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। प्रतिमा

के ऊर्ध्व भाग में दोनों ओर दो पाश्वर्तनाथ की आसीन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनके मस्तक पर सात फणों का घटा-टोप प्रदर्शित है। पीठिका पर उत्कीर्ण लेख इस चित्रण को १३वीं शती में प्रतिष्ठित बतलाया है।

इन मुख्य चित्रणों के अतिरिक्त सरस्वती की कई द्विभुज, चतुर्भुज और बहुभुज प्रतिमाएँ दिलवाड़ा जैन मन्दिरों, कुभारिया, देवगढ़, अचलगढ़, भरतपुर आदि स्थलों से उपलब्ध होती हैं, जिनका विस्तृत अध्ययन डा० यू. पी. शाह ने किया है।^{१५} इस बात के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं कि सरस्वती को कुछ समय के लिए यक्षिणी के रूप में भी कल्पित किया गया था, जो स्वरूप शिल्प में, मुख्यतः मध्यभारत में ही प्रचलित रहा है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि यक्षिणी के रूप में विद्या और बुद्धि की देवी सरस्वती से उसका कोई संबंध नहीं होता है। देवगढ़ से एक ऐसा चित्रण उपलब्ध होता है जहाँ इसे तीर्थंकर अभिनन्दन की यक्षिणी के रूप में अंकित किया गया है। इस बात की पूर्ण पीठिका पर उत्कीर्ण लेख से होती है। ऐसे ही १०७० ईसवी में तिथ्यांकित एक चित्रण में सरस्वती को छठे पद्मप्रभ की यक्षिणी के रूप में उत्कीर्ण किया गया है। काफी कुछ खण्डित यह प्रतिमा ब्रिटिश संग्रहालय लंदन में संग्रहीत है।

१४. Rao, S. Hanumantha, Jainism in the Deccan, sour. Indian History, Vol. XXVI, 1948, Pts. 1-3 (Nos. 76-78), p. 47.

१५. See. U.P. Shah's Iconography of Jain Goddess Sarasvati, JUB, Vol. X, (New Series) Pt. 2, Sept. 1941, pp. 195-217.

घरती में अनाज बोते समय किसान को कुछ आत्म विश्वास की आवश्यकता होती है। वह सुन्दर मूल्यवान भविष्य पर भरोसा जो करता है। तब क्या धर्म का आचरण करने के लिये मानव को आत्म-विश्वास की आवश्यकता नहीं होती? आत्म-विश्वास के बिना उसका धर्माचरण भी ठीक नहीं हो पाता।

क्या तू महान बनना चाहता है यदि हाँ, तो अपनी आशा लताओं पर नियंत्रण रख, उन्हें बे लगाम अश्व के समान आगे न बढ़ने दे। मानव को महता इच्छाओं के दमन करने में है, गुलाम बनने में नहीं। एक दिन आयेगा जब तेरी इच्छाएँ ही तेरी मृत्यु का कारण बनेंगी।



शिलालेखों में गोलापूर्वान्वय

परमानन्द जैन शास्त्री

भारतीय इतिहास में शिलालेखों, ताम्रपत्रों, मूर्ति-लेखों, प्रशस्तियों और दानपत्रों आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें उल्लिखित इतिवृत्तों से अनेक उपजातियों विद्वानों और राजाओं आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। ग्रामवाल, खण्डेलवाल, और पोरपट्ट (परवार) आदि समाजों के उल्लेखों की तरह गोला पूर्व समाज के भी अनेक महत्त्वपूर्ण लेख उपलब्ध होते हैं। जिनमें उक्त जाति के विविध वंशों के गृहस्थों और विद्वानों के नाम मिलते हैं। जिनसे पता चलता है कि समाज में १२वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक के लोग धर्म कार्य में निरत रहते थे—अपने यथेष्ट कर्तव्य का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करते थे। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश जबलपुर नगर के पास 'बट्टरीवंद' में १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का लेख शान्तिनाथ की मूर्ति के नीचे दिया हुआ है। उसमें बतलाया है कि—'वेल्ल प्रभाटिका गाँव में गोलापूर्व जाति का महाभोज नाम का श्रावक था, जो माधवनन्दि के शिष्य सर्वधर का पुत्र था। उसने शान्तिनाथ का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा चन्द्रकराचार्याम्नाय देशीगण के आचार्य सुभद्र के द्वारा हुई थी'। गयाकर्णदेव यशःकर्ण

का पुत्र था। इसने विक्रम संवत् ११७२ से १२०८ तक राज्य किया है। इसके राज्यकाल में इसका पुत्र नरसिंह-देव युवराज था। गयाकर्ण का विवाह मालवा के राजा उदयादित्य की नातिन अलहन देवी से हुआ था। जो मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा विजयसिंह की कन्या थी। इसी के राज्यकाल में उक्त मन्दिर और मूर्ति का निर्माण किया गया था।

महोबा, खजुराहा, छतरपुर, पपोरा, मदनशपुर (अहार) नावई, जखोरा, धुलेवा आदि स्थानों के १२वीं १३वीं शताब्दी के प्रचुर मूर्तिलेख पाये जाते हैं, जिनमें गोलापूर्व समाज के विभिन्न वंशों एवं गोत्रों के गृहस्थों के नामों का उल्लेख मिलता है और उनके द्वारा निर्मित मन्दिरों और मूर्तियों के उल्लेख पाये जाते हैं। जो इस उपजाति की प्रतिष्ठा एवं धार्मिक भक्ति के द्योतक हैं।

पपोरा के संवत् १२०२ के दोनों मूर्तिलेख चन्देलवंशी राजा मदनवर्मदेव के राज्य समय के हैं।

महोबा के नेमिनाथ मन्दिर में भी मदन वर्मा के समय का संवत् १२११ का एक लेख है। और खजुराहो के जैन मन्दिर के सं० १२१५ के एक लेख में भी मदन-वर्मा का नाम अंकित है। इसका राज्य बहुत दिनों तक रहा है। इसके राज्य के लेख संवत् ११८६ से १२२० तक के उपलब्ध हैं। महोबा के पास 'मदन सागर' नाम का जो तालाब है, वह इसी ने बनवाया था। यह बड़ा

१. स्वस्ति..... वदि ६ भौमे श्रीमद्गयाकर्णदेव विजय-राज्ये राष्ट्रकूटकुलोद्भवमहासामन्ताधिपतिश्रीमद् गोल्हणदेवस्य प्रवर्द्धमानस्य । श्रीमद् गोलापूर्वाम्नाये वेल्ल प्रभाटिकामुष्कृतात्मनाये तर्कतार्किक चूडामणि श्री मन्नाधवनन्दिनानुगृहीतस्साधु श्री सर्वधरः तस्य पुत्रः महाभोजः धर्मनाथाध्ययन रतः । तेनेद कारित रम्य शान्तिनाथस्य मन्दिरं । स्वलाभ्यमसंज्जक सूत्र-धारः श्रेष्ठि नामा वितानं च महाश्वेत निर्मितमति-सुदरं ॥ श्रीमच्चन्द्रकराचार्याम्नाय देशीगणान्वये समस्त विद्याविनयानंदित विद्वज्जनाः प्रतिष्ठाचार्य श्रीमत्सु-भद्राश्विनं जयंतु ॥

—(इन्किप्शनस आफ दि कलचूरि चेदि ॥ पृ. ३०६)

२. 'संवत् १२०२ आषाढ़ वदी १० बुधे श्री मदनवर्म देवराज्ये भोपालनगरवासी गोलापूर्वान्वये साहु टुडा सुत साहु गोपाल तस्य भार्या माहिणी सुत सान्नु प्रणमति नित्यं जिनेशचरणारविंदं पुण्य प्रतिष्ठाम्' ।
३. श्री मदनवर्म देवराज्ये सं० १२११ आषाढ़ सुदी ३ शनीदेव श्री नेमिनाथ, रूपकार लक्ष्मण । See Canningham Report XXI पृष्ठ ७३ ए.

वार और पराक्रमी राजा था। इसने गुजरात प्रान्त के राजा को युद्ध में पराजित किया था। मदनवर्मा ने 'मदन-पुर' सन् १०५५ वि० सं० १२११ में बसाया था। वहाँ उसी समय का बड़ा जैन मन्दिर (सन् १०५५ वि० सं० १२११ का) बना हुआ है। यह मन्दिर शान्तिनाथ के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान शान्तिनाथ की साढ़े आठ फीट ऊँची एक विशाल खड्गासन मनोमय प्रतिमा विराजमान है, जिसकी चमकदार पालिश आज भी प्राचीनता का उद्घोष कर रही है। मदनपुर में तीन ही जैन मन्दिर और तीन ही वैष्णव मन्दिर हैं। मदनवर्मा के राज्यकाल में अनेक जैन मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण हुआ। जैनधर्म पर उनकी महती कृपा रही है।

छतरपुर के पचायती मन्दिर में साढ़े चार फुट की भगवाहनावाली भगवान नेमिनाथ की कृष्ण पाषाण की पद्मासन प्रशान्त मूर्ति सवत् १२०५ माघ शुक्ला पंचमी की प्रतिष्ठित है, जो उक्त मदनवर्मा के राज्य में प्रतिष्ठित हुई है। इसी तरह आहार क्षेत्र में समुपलब्ध अनेक मूर्तियाँ उक्त राजा के राज्य काल की—(सं० १२०२, १२०३, १२०३, १२०३, १२०३, १२०६, १२१३ और १२१८ की प्रतिष्ठित पाई जाती हैं। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि उक्त राजा के राज्यकाल में गोलापूर्व समाज द्वारा अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न हुए हैं। जिन सबको संकलित कर एक अच्छी पुस्तक लिखी जा सकती है। इनके अतिरिक्त आहार में सवत् १२३७, १२३७, १२८८, १५२४, १७२० और १८६१ की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ भी उपलब्ध हैं।

भाँसी जिले के ललितपुर के पास जतारा नाम का एक गांव है, जो किसी समय अच्छा सम्पन्न कस्बा रहा है, पर वहाँ अब जैनियों के घर अल्प हैं और वे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। यहाँ के मन्दिर में सब प्रतिमाएँ दीवाल के सहारे विराजमान हैं। १५ प्रतिमा पद्मासन और १६ खड्गासन हैं जो भोंयरे में (तलघर में) अवस्थित हैं। मन्दिर में अनेक सुन्दर व कलात्मक मूर्तियाँ पाई जाती हैं। भोंयरे की एक खंडित मूर्ति पर निम्न

लेख पाया जाता है, जो गोलापूर्व जाति के लिए बड़े महत्व का है। लेख सं० ११६६ का है। पूरा लेख पढ़ा नहीं जा सका, पर जितना पढ़ा गया है वह इस प्रकार है :—

'सं० ११६६ चैत सुदि १३ सोमे गोलापूर्वान्वये साधु सिद्ध तस्य पुत्रः श्रीपाल भार्या लल्ली तयो पुत्राः श्रीचन्द्र.....सुतरणमल्लः तयोः भार्या.....'

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में नोगांव से ५ मील की दूरी पर स्थित राज्य सप्रहालय धुवेला में तीर्थंकरों की अनेक महत्वपूर्ण पाषाण प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। उनमें से यहाँ तीन मूर्तियों (नेमिनाथ, मुनिमुन्ननाथ और शान्तिनाथ प्रतिमा) के प्रतिमा लेख क्रमशः नीचे दिए जाते हैं।

१ गोलापूर्वकुलेजातः साधुत्वा [ले] [गुणा] न्वितः :- तस्य देवकरो पुत्रः पद्मावतीप्रिया प्रियः । [१॥] तयोर्जातो सुतो सि (शि) —

२ स्तो(ष्टो) सी(शी)ल व्रत विभूषितो ॥ [२॥] मल्हनस्य व [धूरासील्प] त्यसी (श)ला पतिव्रता । श्रेष्ठि वीवी तनूजा च प्रबुद्धा बि(वि) नयान्विता [॥३॥] लष्म (क्ष्म) णाद्यास्तया जाताः पुत्राः गुण [गणान्विताः] ३ द्या जिनचरणाराधनोद्यताः ॥ [४॥]

कारितश्च जगन्नाथ [नेमि] नाथो भवांतकः । नै [लोक्यश] रणं देवो जगन्मंगलकारकः । [५॥] सम्बतु (त) ११६६ वैशाख सुदि रवो रो [हिण्याम्] ।

यह लेख कृष्ण पाषाण की मस्तक विहीन नेमिनाथ प्रतिमा के पाद पीठ पर स्थित है। जिसमें उसकी प्रतिष्ठा कराने वाले के परिवार का परिचय अंकित है। इस लेख का उद्देश्य गोलापूर्व कुल के साधु वाले के पुत्र देवकर के पुत्र मल्हन के द्वारा वि० सं० ११६६ में वैशाख सुदि द्वितीया रविवार के दिन भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई। देवकर के दो पुत्र थे मल्हन और जल्हन। सेठ वीवी मल्हन के समुर थे। मल्हन के तीन पुत्र थे जिनमें लक्ष्मण सबमें ज्येष्ठ था।

दूसरा लेख भी उक्त सं० ११६६ वैशाख सुदि २ रविवार का है, जिसमें बतलाया है कि गोलापूर्व कुल में समुत्पन्न श्रीपाल के पुत्र जीण्हक के पुत्र सुल्हन द्वारा २०वें तीर्थंकर मुनि मुन्ननाथ की प्रतिमा की जो काले

४. देखो, मध्य भारत का जैन पुरातत्त्व नाम का मेरा लेख, अने० का छोटेला जैन विशेषांक पृ० ६३।

पाषाण की पद्यासन है। प्रतिमा का ऊपरी भाग खण्डित है। प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख है। सुल्हण की माता रुक्मणी और पत्नी का नाम श्री था। मूल लेख निम्न प्रकार है :—

१. गोलापूर्व कुले जातः साधु श्रीपाल संज्ञकः। तत्सुतो

जनि जीण्हकः समय गुणभूषितः ॥[१॥]

२. रुक्मिण्यां जनितस्तेन सत्पुत्रः सुल्हणाभिषः।

श्री संज्ञिका प्रियातस्य समग्रगुण धारिणी ॥[२॥]

मुनि सुव्रतनाथस्य विवं (बिम्बा) त्रैलोक्य—

३. पूजितः कारित सुल्हणेदमात्मश्रियेमिव वृद्धये ॥[३॥]

संवत् ११[६६] वैशाख सुदि २ रवौ ॥

यह प्रतिमा भी काले पाषाण की कायोत्सर्गात्मक है। जिसे गोला पूर्व जाति में समुत्पन्न घर्मवत्सल स्वयंभू के दो पुत्र थे, स्वामी और देवस्वामी। देव स्वामी के दो पुत्र थे, शुभचन्द्र और उदयचन्द्र। देवस्वामी और उसके दोनों पुत्रों ने शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा कराई। यह लेख सं० १२०३ का चंदेलवंशी राजा मदनवर्मदेव के राज्य-काल का है। लेख की तीसरी पंक्ति में दुम्बर अन्वय के साहु जिनचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र और हरिश्चन्द्र के पुत्र लक्ष्मीधर शान्तिनाथ को सदा प्रणाम करते हैं।

३-१—सिद्ध गोलापूर्वान्वये साधुः स्वयंभू घर्म-वत्सलः। तत्सुतो स्वामिनामा च देवस्वामि गुणान्वितः ॥[१॥] देवस्वामि—

२. सुतो श्रेष्ठो मु(श)भचन्द्रोदय चन्द्रकः (को)।

कारितं च जगन्नाथ शान्तिनाथो जिनोत्तमः ॥[२॥]

धम्मसि(शे)पि १४।

३. तथा दुम्बरान्वये साधु जिनचन्द्र तत्पुत्र हरिश्च[न्द्र]

तत्सुत लक्ष्मीधर श्री सा(श)न्तिनाथं प्रणमति

४. लक्ष्मीधरस्य धम्मसिधज श्री मदनवर्मदेव राज्ये

सं० १२०३ फः० सुदि ६ सोमे।

गंज वासोदा मध्य प्रदेश के विदिशा (भेलसा) जिले की एक तहसील है। जो मध्य रेलवे के बीना-भोपाल सेक्शन पर स्थित है। यहाँ व्यापार की अच्छी मण्डी है। यह नगर १४वीं से १६वीं शताब्दी तक खूब सम्पन्न रहा है। यहाँ जैनियों का अच्छा प्रभाव रहा है। यहाँ ५-७ मन्दिर हैं अच्छा शास्त्र भण्डार है यहाँ अनेक विद्वान और

स्वाध्याय प्रेमी सज्जन रहे हैं। वृत्ती ब्रह्म रायमल जी को भी यहाँ रहने का अवसर मिला है। लोगों में धार्मिक लगन है। यहाँ के मन्दिरों में जो मूर्तियों का परिकर है उसमें गोलापूर्व, पोरपाट (परिवार) और गोलालारे भगवान बघेरवाल और जैसवाल हूमडवंश लककचुक आदि जातियों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ और यत्र हैं। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी हैं। जो अन्य-अन्य स्थानों में प्रतिष्ठित हुई हैं, वे भी यहाँ विराजमान हैं। इस सब से वासोदा की महत्ता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनमें से यहाँ गोलापूर्वों से सम्बन्धित कुछ मूर्तिलेख यत्रलेख नीचे दिये जाते हैं :—

‘सं० १३१६ में जेठ वदी ५ पंचमी सोमवार को गोल-पूर्व गोत्र (जाति) के पंडित काट्हासाह और उनकी पत्नी गौडलनी के पुत्र चौ० चाकलिया और संघवी लोटा भार्या बालदे पुत्र गंगा पुत्री भान्ती नित्य ही प्रणाम करते हैं। यह लेख इस जाति के महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि यह विक्रम की १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ का है, उस समय भी गंज वासोदा की ख्याति थी। इस शताब्दी की और भी अनेक मूर्तियाँ होनी चाहिए, जिसके लिए मूर्ति लेखों का संकलन होना बहुत जरूरी है। बाकी लेख १६वीं १७वीं शताब्दी के हैं।

“सं० १३१६ जेठ वदी ५ सोमे गोलापूर्वगोत्रे पं० काट्हा साह भार्या गौडलनी पुत्र चौ० चाकलिया सं० लोटा भार्या बालदे पुत्र गंगा पुत्री भान्ति नित्यं प्रण-मति ।”

“सं० १५१५ फागुन सुदी ६ रवौ श्रीमूलसंघे भट्टारक जिनचन्द्र देवास्तदाम्नाये गोलापूर्व नीरा.....।”

“सं० १५२४ चैत्रवदी १ शुक्ले भ० श्रीसिंहकीर्ति तदाम्नाये गोलापूर्वान्वये साह लजेडा भार्या छोसिर पुत्र पटवारी चांदन भ्रातासाखमा पटवारी भादे तस्य भार्या साध्वी दिउला पुत्रसाह नेनसी पुत्र कौरसी सा० लाहा भार्या साध्वी घनसिर प्रणमति ॥

यंत्रलेख—सं० १५३७ फागुन सुदी १३ मूलसंघे भ० पद्मनन्दी भ० शुभचन्द्र भ० जिनचन्द्र तदाम्नाये मडलाचार्य श्री सिंहनन्दी तदाम्नाये गोलापूर्वाम्नाये सा० पसा मा० रजा तस्माः कुलो समुत्पन्ने पुत्र अरुहासः भा० छोला

कनिष्ठ भदुचंद भा० घोमा, ग्रहदास पुत्र ५.....। ग्रहदासः प्रणमति ।

“सं० १५४१ सोमे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भ० पद्मनन्दी देवा, तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे श्री जिनचन्द्रदेवा मंडलाचार्य श्री सिंहनन्दी देवा तस्याम्नाये श्री गोलापूर्वान्वये चौधरी वीधा भा० महाश्री पुत्र चौधरी फ़ला द्वि० पुत्र घनपा तृ० पु० जिना चतु० पुत्र घरमसी पूला पंचपरमेष्ठी यंत्र कारितं ॥”

“सं० १५४१ वर्षे फाल्गुणसुदि ५ मंगलदिने भ० श्री प्रभाचन्द्रदेव तस्स चेली वाई उदैसिरि, गोलापूर्वान्वये लिखितं यंत्र । सिद्ध शुभं भवतु मंगलं प्रणमति नित्यम् । (वासोदा वीचिका मंदिर)

सं० १६६४ वैशाख सुदी ६ गुरी भ० ललितकीर्ति भ० धर्मकीर्ति उपदेशात् तस्य शिष्य प० गुनदास गोलापूर्वान्वये कोठिया गोत्रे सं० नेमिदास भार्या कुटरि पुत्र ४, जेठा पुत्र खड्गसेन भा० मादनदे द्वि० पुत्र सं० कासोरदास भा० लालमति पुत्र प्रताप भा० खेमावति तृतीय पुत्र सं० हरखोल भा० मायादे पुत्र मानसिंह, चतु० पु० सं० जगपति नित्यं प्रणमति ।

सं० १५४१ का० सु० १४ सोमे मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भ० श्री पद्मनन्दी शुभचन्द्र जिनचन्द्र तदाचार्याम्नाये मंडलाचार्य श्री सिंहनन्दी तस्याम्नाये गोलापूर्वान्वये साह रजा भा० पदमशिरि पुत्र साह महाराज भा० मनी पुत्र घनपाल भा० भजो पुत्र नरपति भा० गालसी द्वि० पुत्र रतनसी भा० प्योसिरि तृ० पुत्र जयसिंह घनपारेण यंत्र कारापितं (वासोदा बूढ़ेपुरा मन्दिर) ।

इनके अतिरिक्त अनेक स्थानों के मन्दिर हैं जो गोला पूर्व समाज के पूर्वजों द्वारा बनवाए हुए हैं । इन बातों से इनकी समृद्धि का आभास सहज ही मिल जाता है ।

जैन समाज की ८४ उपजातियों से बूंदेलखण्ड में तीन उपजातियाँ मध्य प्रान्त में निवास करती हैं । उनमें से यहाँ सिर्फ गोलापूर्व जाति के सम्बन्ध में ही विचार किया जाता है । उपजातियों का इतिवृत्त १०वीं शताब्दी से पूर्व का नहीं मिलता । इन उपजातियों में कितनी ऐसी

भी जातियाँ थी जिनका उल्लेख पूर्व में था, बाद में विनष्ट हो जाने से उनका इतिवृत्त नहीं मिलता । कितनी ही जातियों का उल्लेख प्रशस्तियों और मूर्तिलेखों में मिलता है । पर उनका कोई परिचय नहीं मिलता । ये उपजातियाँ ग्राम नगरादि के नाम पर बसी हैं । जैसे अग्रोहा से अग्रवाल, खण्डेला से खण्डेलवाल, पद्मावती से पद्मावतीपुरवाल, वधेरा से वधेरवाल आदि । पर अधिकांश जातियों का मूलरूप क्षत्रियत्व है, बाद में व्यापार आदि करने के कारण ये वैश्य या वनिया एवं वणिक् कहलाने लगे ।

इस जाति का विकास कब और कैसे हुआ, यह अभी अज्ञात है । उपलब्ध हो जाने पर इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी बाद में दी जा सकेगी । गोला पूर्वों का विकास गोलागढ़ से हुआ है । गोलागढ़ की पूर्व दिशा में रहने वाले गोलापूर्व कहलाये । गोलागढ़ के समीप रहने वाले गोलालारे और गोलागढ़ में सामूहिकरूप में निवास करने वाले ‘गोलसिघारे’ कहे जाते हैं । गोलागढ़ एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है । जो पहले ग्वालियर स्टेट में था और अब खनियाघाना स्टेट में अवस्थित है । यहाँ के जैनियों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ अनेक स्थानों पर उपलब्ध होती हैं ।

कविवर नवल शाह ने अपने वर्द्धमान पुराण में ‘गोइलगढ़’ से गोलापूर्वों की उत्पत्ति बतलाई है । किन्तु वह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती । कवि ने गोलापूर्वों के जो गोत्र बतलाए हैं, उनमें कई गोत्र ऐसे हैं जो गाँव या नगर के नाम पर बने हैं । उदाहरण के लिए ‘चदेरिया’ भरत पुरिया, हीरा पुरिया, कनक पुरिया, सिरसपुरिया, घमोनिया और भिलसैया । इनके अतिरिक्त और भी कई गोत्र ऐसे हो सकते हैं जो गाँव या नगर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं ।

इस जाति के लोगों का निवास मध्य प्रदेश में अधिक पाया जाता है । सागर, दमोह, जबलपुर जिलों के ग्रामों में भी निवास उपलब्ध है । शाहगढ़, हीरापुर, तिगोडा, भंगवा, कारोटीरन, नीमटोरिया, गढ़ा कोटा मुनवाहा, रूरावन, निवार, वक्स्वाहा, वमोरी, खड्गरी छतरपुर, पन्ना, कटनी, सीहोर, भोपाल आदि अनेक छोटे बड़े स्थानों में इस जाति की आबादी पाई जाती है । हाँ, सभी स्थानों के मन्दिर शिखर बन्द पाये जाते हैं । पर उन

गीतों में उनका विकास जैसा चाहिए वैसा न हो सका ।

संसार के परिणमनशील होने से प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय परिणमन भी होता रहता है । सुख दुख, उत्थान और पतन की अवस्थाएँ प्रत्येक पदार्थ में होती हैं । समाज के कर्णधारों को चाहिए कि वे सामाजिक स्थिति का अध्ययन करें, उनमें संगठन और प्रेम भावना को विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

समाज में अनेक ग्रन्थकार हुए होंगे और वर्तमान में हैं । यहाँ गोलापूर्व समाज के कुछ ग्रन्थ और ग्रन्थारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

हरिषेण चक्रवर्ती का जीवन परिचय अंकित करने वाले कई ग्रन्थ संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में पाये जाते हैं । प्रस्तुत हरिषेण कथा के कर्ता कवि शंकर हैं इसमें हरिषेण चक्रवर्ती के जीवन परिचय के साथ उनके पुत्र हरिवाहन का जीवन परिचय भी अंकित किया है और हरिवाहन का कैलाश पर्वत पर दीक्षा लेने तथा तपश्चरण द्वारा आत्म साधना करने का भी उल्लेख किया है । जो मूलमय सरस्वती गच्छ बलात्तारण के विद्वान थे और भीमदेव पांडित के पुत्र थे । इनकी जाति गोलापूर्व थी । कवि ने ग्रन्थ में दो भट्टारकों का नामोल्लेख किया है । प्रभाचन्द्र और रत्नकीर्ति । यह प्रभाचन्द्र दिल्ली पट्ट के विद्वान थे जो अजमेर के भट्टारक पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे । और जिनका प्रतिष्ठोत्सव दिल्ली में हुआ था । कथानक बड़ा सुन्दर और मनमोहक है । ग्रंथ में ७११ पद्य हैं । किन्तु गुच्छक अपूर्ण, जीर्ण और अशुद्धियों से भरा हुआ है । इसके सपादनार्थ दूसरी प्रति की आवश्यकता है । जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है । कवि ने इस ग्रन्थ को वि० सं० १५२६ भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा सोमवार के दिन पूरा किया है । ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है ।

१. संवत् पन्द्रह सङ्ग हो गए,

वरिस छव्वीस अधिक तह भए ।

भादवमुदि परिवा ससिधार,

दिक्खा परवु तह अक्खिउ सार ।

अब यह कट्ठु संपूरण भयउ,

सिरि हरिषेण संघ कह जयउ ॥

मुखदेव—गोलापूर्व जाति के पचविसों में बिहारीदास के पुत्र थे । उनकी एक ही कृति 'वनिकप्रिया प्रकाश' है । जिसका रचनाकाल सं० १७६७ है । पुस्तक में व्यापार सम्बन्धी वस्तु के क्रय-विक्रय की शुभ-अशुभ बातों का समावेश किया गया है, जैसा कि निम्न पद्यों से प्रकट है ;—

वनिक प्रिया में शुभ अशुभ सबही दियो बताइ ।

जिहि जैसी नोकी लगै तैसी कीजो जाइ ॥३२०

संवत् सत्रहसै सत्रह वरष संवत्सर के नाम ।

कवि करता मुखदेव कहि लेखक मायाराम ॥३२१

भठ्यानन्द पंचाशिका—यह आदिनाथ स्तोत्र (भक्ता-मर स्तोत्र) का पद्यानुवाद है, जो हिन्दी भाषा में किया गया है और जिस पर ग्वालियरी भाषा की पुट है । इसकी एक सचित्र प्रति, जो सं० १६६५ की लिखी हुई है । श्वे० मुनि कान्तिसागर के पास थी । प्रति जीर्ण-शीर्ण है । मुनि जी ने लिखा है कि "यह दुर्लभ अनुवाद है, जिसकी यह एक मात्र प्रति उपलब्ध हो सकी है" । इसका समुल्लेख अद्यावधि प्रकाशित किसी भी हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में नहीं हुआ । अनुवाद बहुत ही मधुर और ग्वालियरी भाषा के प्रभाव को लिए हुए है । अतः जितना महत्त्व इस कृति का धार्मिक दृष्टि से है उससे कहीं अधिक भाषा की दृष्टि से है ।

ग्वालियर मंडल की भाषा के मुख को उज्ज्वल करने

२ दोहा—गोला पूर्व पचविसे वारि बिहारीदास ।

निके मुन मुखदेव कहि वनिकप्रिया प्रकाश ॥२

वनिकनि को वनिक प्रिया भडसारिका हेत ।

आदि अन्न श्रोता सुनौ, मनो मत्र सो देत ॥३

माह मांस कातक करै, सेवतु सोषै साठ ।

मते याह के जो चले कबहू न आवे घाट ॥४

३. "धनुदास हू सो देव सै निरु कजारै कही,

भठ्यानन्द स्तुति पंचाशिका का नामु है ॥"४६

४. इस हिन्दी पद्यानुवादकी एक सचित्र प्रति ऐलक पन्ना-

लाल दि० जैन सरस्वती भवन व्यावर में मौजूद है ।

जिसका भाषा पद्यानुवाद सन्मति सन्देश वर्ष ११

अंक दो-तीन में छप चुका है ।

वाली अधिकतर रचनाएँ जैनोंकी देन हैं। अनुवाद की भाषा पर दृष्टि केन्द्रित करने से स्पष्ट प्रतीत होना है कि कवि धनराज या धनुदास ने मंडलीय भाषा का प्रयोग करते समय बहुत सावधानी से काम लिया है। इसका शब्द चमन भद्भुत है। क्या मजाल है कि कठिन शब्द आ जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि की संस्कृत और तात्कालिक मंडलीय भाषा पर अच्छा अधिकार था। भावों के व्यक्त करने में कही भी शैथिल्य नहीं आने दिया है।

भक्तानन्द पचाशिका के अंतिम पद्य से ज्ञात होता है कि कवि ने भक्तामर स्तोत्र के एक-एक पद्य का एक-एक दिन में अनुवाद किया है।

“एक-एक काण्ड को सवेधा एकु एकु कं कं,
एकु एकु वासर में एकु-एकु नितकी।
द्वय कर जोरि धनराज कहै साधुनि सौं,
प्रसाधु समुद्र कीजै जानि मन हित सौं॥

अडतालीस पद्य तो मूल भक्तामर स्तोत्र के पद्यानुवाद के हैं और अन्त के दो पद्यों में अपने विषय में स्वल्प सूकेत किया है। जिससे जान पड़ता है कि कवि के पिता का नाम ‘राजनन्द’ था और वह ग्वालियर मंडलान्तर्गत स्योपुर (शिवपुरी) के निवासी थे। उनकी जाति गोला-पूर्व थी। धनराज या धनुदास का परिवार संस्कृत साहित्य में रुचि रखता था। खड्गसेन ने लिखा है कि धनराज के पाँच भाई थे, जिनके नाम गोपाल, साहिव, हसरज आदि हैं। उन सब में धनराज कवि धीर और अनेक गुणों का आकर था। (“तेषां मध्ये कविर्धोरः धनराजो गुणालयः”) प्रस्तुत खड्गसेन (असिसेन) धनराज के पितृव्य श्री जिनदास का पुत्र था—“जिनदासमुतोऽसिसेनः”)। असिसेन संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान् था। उसने भक्तामर स्तोत्र के एक-एक पद्य पर पन्द्रह-पन्द्रह पद्यों की जयमाला लिखी है।

भक्तामर स्तोत्र जयमाला—इसमें भक्तामर स्तोत्र के एक-एक पद्य का अनुवाद १५-१५ पद्यों में किया गया है। अनुवाद बड़ा ही सुन्दर और सरस है। कवि का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार था। कवि की जाति गोलापूर्व है और वह धनराज के पितृव्य जिनदास के पुत्र थे।

उनका नाम असिसेन या खड्गसेन था। ग्रन्थ में असिसेन नाम से उल्लेख किया गया है।

कवि धनराज या धनुदास ने अपना उक्त हिन्दी पद्यानुवाद संवत् १६७० में स्योपुर में पूर्ण किया था। जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है :—

“सबनु नवसैं सात सात पर सुन् धीर,
पउष सिसातू गुरती..... कीयो अत की।
स्योपुर धानक विराजै राजनन्द धनुदास,
साकी मनु भयो भवि शिवामृत की॥”

असिसेन ने संस्कृत पद्यों की जयमाला कब बनाई, उसका समय ज्ञात नहीं हुआ।

अनुवाद हो चुकने के २४ वर्ष बाद सं० १६९४ में मनोहरदास कायस्थ द्वारा प्रति में ५० चित्र बनाये गये हैं। जिनमें ४८ चित्र तो ४८ काव्यों के हैं। चित्र कला की दृष्टि से स्योपुर के इतिहास में—ग्वालियर मंडल के चित्र कम महत्व के नहीं हैं। यद्यपि ये चित्र मुगल शैली शाहजहाँ के समकालीन हैं। चित्र पूरे पत्र पर हैं। मध्य में जहाँ कहीं भी स्वल्प स्थान मिला, भक्तामर के मूल पद्य दिये हैं और अधोभाग में धनराजकृत अनुवाद दिया है।

प्रथम चित्र में ऊपर के भाग में मानतुगाचार्य एक चौकी पर विराजमान हैं जिनके सम्मुख कमण्डल अवस्थित है, पृष्ठभाग में ‘ग्रह मानतुगाचार्यः’ शब्द अंकित हैं आचार्य करबद्ध प्रार्थना की मुद्रा में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति कर रहे हैं। सामने ही उनकी खड्गासनस्थ नग्न प्रतिकृति अंकित है। चरणों में उभय और मुकुटधारी अमर नत मस्तक है। मध्य में ‘भक्तामर प्रणतमौलिमणि प्रभाणा’ पद अलिखित हैं। ऋषभदेव के बाएँ हाथ के पास देवताओं के मस्तक में धारित मुकुट की मणियों की प्रभा बिखर रही है। ऋषभदेव के चित्र के बाये भाग में चौगति का चित्रण है, ऊपर ‘आलम्बन’ और निम्न भाग में ‘भवजले पतिताजनानां’ प्रतिलिपित है। पत्र के नीचे भाग में ‘दलित पापतमोवितान’ लिखकर काले रंग से समुद्र बनाया गया है जिसमें एक मानवाकृति तैरती हुई बतलाई गई है।

इस तरह चित्र में प्रथम पद्य का सम्पूर्ण भाव खूबी के

साथ दर्शाया गया है जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित करता है।

इस तरह प्रत्येक चित्र भी भावपूर्ण है और पद्यगतभाव को प्रस्फुटित करने वाले हैं। सभी चित्र दिगम्बर मुद्रा के परिचायक हैं। ४८ चित्र मूल रचना के हैं। ४९वाँ चित्र धनराज का है जो अपने गुरु से इसका पाठ सुन रहे हैं। एक विशाल व्यास की पीठ पर किसी मुनि का चित्र है और सामने पाँचों बन्धु जिज्ञासा की मुद्रा में करबद्ध अवस्थित हैं। यह चित्र श्वेत रंग का है। शेष सभी चित्र रंगीन हैं। यद्यपि भक्तामर की सचित्र प्रतियाँ और भी मिलती हैं, परन्तु वे बाद की हैं। यह ग्रन्थ गोलापूर्व समाज की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके संरक्षण का उपाय गोलापूर्व समाज को करना आवश्यक है। यह समाज का दुर्भाग्य है कि वे अपने पूर्वजों की कृतियों का भी संरक्षण नहीं कर सकते। आशा है कि समाज ऐसी महत्त्वपूर्ण कृतियों के संरक्षण में सावधान होगा। इस प्रति का इस लिए महत्त्व अधिक है कि उसे अनुवाद कर्त्ता धनराज ने स्वयं १६९५ में लिखवाई थी। यह प्रति स्व. मुनि कांति सागर जी के संग्रहालय में सुरक्षित थी।

वर्धमान पुराण—के रचयिता कवि नवलशाह हैं। वे भी गोलापूर्व जाति में उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र प्रजापति था और वैक बड़ चंदेरिया था। इनके पूर्वज पहले भेलसी ग्राम में रहते थे जो ओरछा स्टेट में स्थित था उनमें भीषम साहु प्रसिद्ध थे। उनके चार पुत्र थे—वहोरन सहोदर, अहमन और रतनशाह। एक दिन पिता और पुत्रों ने विचार किया कि धन का सदुपयोग करने के लिए कुछ धार्मिक कार्य करना चाहिए। तब सुन्दर जिन मन्दिर बनवाया गया और जिन मूर्ति प्रतिष्ठित की गई। और पंच कल्याणक रथोत्सव प्रतिष्ठा धूमधाम से सम्पन्न हुई। चार संघ को दान दिया गया। उस नगर का चौधरी लोधी था। उसने और चतुर्विध सघ ने भीषम साहु को 'सिषई' का पद प्रदान किया। यह घटना संवत् १६५१ के अग्रहन महीने में घटित हुई थी। उस समय बुन्देलखण्ड में नृप जुझार का राज्य था, इनके पिता वीरसिंह देव बड़े पराक्रमी और सुयोग्य शासक थे। घामोनी, भांसी और दतिया के किले इन्होंने ही बनावाये

थे। जैसा कि ग्रन्थ के निम्न दोहे से प्रकट है:—

सौरह सौ इक्यानवें अग्रहन शुभ तिथिवार।

नृप जुझार बुन्देलकृत तिनके राज संभार ॥ ३०२

राजा जुझारसिंह वीर सिंहदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे।

अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्य के उत्तराधिकारी हुए थे। उनकी मृत्यु सं० १६८४ में हुई थी। उस समय ओरछे का राज्य बहुत विस्तृत था।

पश्चात् कवि के पूर्वज न भेलसी ग्राम को छोड़कर गज मलहरा के पास खटोला नामक ग्राम में बस गए थे। वही पर कवि ने १७४ वर्ष बाद सवत १८२५ में चैत्र शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन प्रातःकाल वर्द्धमान पुराण या चरित की रचना की।

कवि ने आ० सकलकीर्ति के वर्द्धमान पुराण के अनुसार पद्यात्मक रचना की है। जिसमें भगवान महावीर के जीवन की भांकी का चित्रण किया गया है। ग्रंथ में महावीर जीवन की कोई खास घटना का उल्लेख नहीं है, इस कारण उसमें कुछ नवीनता नहीं दिखाई देती। हाँ, उसमें यथास्थान जैन सिद्धांत का विवेचन किया गया है। उसमें काव्यगत विशेषता है। ग्रन्थ में १६ अधिकार हैं। जिनमें महावीर के पूर्वभवों से लेकर महावीर जीवन तक वर्णन दिया है।

कवि ने इस ग्रन्थ को राजा छत्रमाल के पती, हृदय-शाह के नाती और सभासिंह के द्वितीय पुत्र हिन्दूपत^१ के राज्य में रचना की है जैसा कि उसके निम्न दोहे से प्रकट है:—

छत्रमाल पंती प्रबल नाती श्री हृदयेश।

सभासिध सुत हिन्दूपत, करहि राज्य इहि देश ॥३११

इति भीति व्यापे नहीं, परजा अति आनन्द।

१. हृदयशाह का स्वर्गवास १७९६ में हुआ। उनके नौ पुत्रों में सभासिंह सबसे बड़ा था। सभासिंह ने सं० १७९६ से १८०९ तक राज्य किया। सं० १८०९ में वह दिवंगत हो गया। सभासिंह के तीन पुत्र थे, अम्बरसिंह, हिन्दूपत और खेतसिंह। सं० १८१५ में हिन्दूपत ने अमानसिंह को मरवा दिया और आप राजगद्दी पर बैठ गया। हिन्दूपत सं० १८३४ में दिवंगत हुआ। इसने ९ वर्ष राज्य किया।

भाषा पढ़े पढ़ावही खटपुर आवक बुन्द ॥३१२
ग्रंथ रचना में प्रेरक—

गोलापूर्व समाज के पूर्वज घर्मनिष्ठ व्यक्तियों ने जहाँ देव-गुरु की भक्ति द्वारा जिन मंदिर निर्माण, जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा, रथोत्सव और चतुर्विध सघ को दानादि का परिचय दिया है। वहाँ उन्होंने श्रुतभक्ति को भी नहीं भुलाया। अनेक ग्रन्थ रचे और और दूसरे विद्वानों से बनवाकर मंदिरादि में भेंट दिये हैं, और लिखकर या लिखवाकर व्रतीपात्रों को भी प्रदान किये हैं। इससे उनकी श्रुतभक्ति भी प्रकट है। यहाँ ग्रंथ बनवाने का एक उदाहरण मात्र दिया जाता है—

केवल कल्याणार्चा (समवसरण पाठ) की रचना कविवर रूपचन्द जी ने सवत् १६६२ में की थी। पंडित रूपचन्द जी भट्टारकी पंडित होने के कारण पांडे कहलाते थे। वे कुह नाम के देश में स्थित सलेमपुर के निवासी थे। अग्रवालान्वयी मामट के पाँच पुत्रों में से एक थे।

१. श्रीमत्सवत्सरेऽस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्य राज्ये-
ऽतीतेदृगनंदभद्रांशुकृत परिमिते (१६६२) कृष्णपक्षे
ष (?) मासे देवाचार्यप्रचारे शुभनवमतिथौ सिद्ध-
योगे प्रसिद्धे, पौनर्वस्वित्पुडस्थे (?) समवसृति मह
प्राप्तमाप्ता समाप्ति ॥३४॥

आपका संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार था। आपकी यह कृति बड़ी सुन्दर है। प्रस्तुत ग्रन्थ चकत्तान्वयी शाह जहाँ के राज्यकाल में रचा गया है।

कुन्दकुन्दान्वय में नन्दिसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के भट्टारक सिंहकीर्ति घर्मकीर्ति के पट्टघर भारती-भूषण जगत्भूषण हुए। जो ग्वालियर के पट्टघर और अच्छे विद्वान थे। उन्हीं की आम्नाय में गोलापूर्ववंश में दिव्यनयन हुए। उनकी पत्नी का नाम दुर्गा था। उससे दो पुत्र हुए, केवलसेन और घर्मसेन। दिव्यनयन के द्वितीय पुत्र मित्रसेन की पत्नी यशोदा से भी दो पुत्र उत्पन्न हुए। प्रथम पुत्र परम प्रतापी एव यशस्वी भगवानदास का जन्म हुआ, जो सघ का नायक और घर्मात्मा था। दूसरा पुत्र 'हरिवंश' भी घर्मप्रेमी और गुण सम्पन्न था। भगवानदास की पत्नी का नाम केशरिदे था। उससे तीन पुत्र हुए। महासेन, जिनदास और मुनिसुव्रत। सघाधिप भगवानदास ने जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा करवाई थी। और सघराज की पदवी प्राप्त की थी। वह दानमान में कर्ण के समान था। इन्हीं भगवानदास की प्रेरणा से पंडित रूपचन्दजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ समवसरण पाठकी रचना की है। इसमें कवि ने भगवानदास की जो प्रशंसा की है वह अतिशयोक्ति को लिए हुए है।

उपदेशी पद

कविवर छानतराय

मिथ्या यह संसार है, मूठा यह संसार है रे ॥देक॥
जो बेही षट्स सों पोष, सो नहि सग चल रे।
औरन को तोहि कौन भरोसो, नाहक मोह करे रे ॥१॥
सुख की बातें बूझ नहीं, दुखको सुख लखे रे।
मूढो माहीं माता डोले, साधों पास डरे रे ॥२॥
मूठ कमाता मूठी खाता, मूठी जाय जप रे।
सच्चा साईं सूझे नाहीं, क्यों करि पार लगै रे ॥३॥
जमसों डरता फूला फिरता, करता मे मैं रे।
छानत स्याना सो ही जाना, जो प्रभु ध्यान करे रे ॥४॥

शोध कण

श्री नीरज जैन

(१)

अनेकान्त के गत अंक (वर्ष २४ किरण १) में श्री मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी के लेख "जैन शिल्प में बाहुबली" के अन्तिम पैरा में बाहुबलि एवं भरत के अंकन या चित्रांकन का प्रसंग आया है। इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि प्राचीन पाषाण कला कृतियों में दो जगह मुझे भगवान आदिनाथ के साथ भरत और बाहुबली की प्रतिमाएँ एक ही खिला-फलक पर प्राप्त हुई हैं।

(१) मड़ावरा (जिला भासी उ० प्र०) के बजार के मन्दिर में सिरों से लाई गई एक प्रतिमा बीच की वेदी पर प्रतिष्ठित है जिसमें बीचोंबीच भगवान आदि जिनेंद्र विराजमान हैं तथा उनके दोनों ओर बाहुबलि और भरत का अंकन है। भरत-बाहुबलि दोनों ही मोक्षगामी महापुरुष थे और प्रथम तीर्थ-कर आदिनाथ के शासन काल में ही कर्म कालिमा से विनिर्मुक्त होकर सिद्ध लोक में विराजमान हो गए थे। इसलिए अरहन्त अवस्था की उनकी प्रतिमा बनाने या पूजे जाने में कोई शास्त्रीय विरुद्धता नहीं आती।

(२) कलचुरी राजाओं की कला-क्रीडास्थली

बिलहरी (जिला जबलपुर म० प्र०) में ग्राम के बाहर स्कूल के पास एक छोटे से वीरान मन्दिर में किसी प्राचीन मन्दिर की द्वार शिला (चौखट) लगी हुई है। यह चौखट कलचुरी कालीन किसी आदिनाथ मन्दिर की है। इस पर सुन्दर और कला-पूर्ण तक्षण किया गया है। इस द्वार के ऊपरी भाग में, ललाट बिंब की तरह, तीन प्रतिमाओं का अंकन हुआ है। बीच में युगादिदेव भगवान आदिनाथ विराजमान हैं। एक ओर लता बेल और ब्यालों से आवेष्ठित महायोगी बाहुबलि का अंकन है और दूसरे किनारे पर भरत को प्रतिष्ठित किया गया है। यहां भरत को भी बाहुबलि की ही तरह अरहन्त अवस्था में ध्यानारूढ़ खड्गासन दिखाया गया है। उनकी पीठिका में लांछन की जगह पर चक्र अंकित है जो इस बात का सहज ही ज्ञान करा देता है कि ये कोई तीर्थकर नहीं हैं वरन् आदि देव के सुपुत्र और बाहुबली के भ्राता, चक्रवर्ती सम्राट् भरत ही हैं।

इस प्रकार भरत बाहुबलि का अंकन पाषाण प्रतिमाओं में भी प्राप्त हुआ है। शोध करने पर संभव है अन्यत्र भी ऐसे शिल्पावशेष प्राप्त हों।

(२)

अनेकान्त वर्ष २४ किरण १ के इसी अंक में श्री कस्तूरचन्द "सुमन" एम. ए. का लेख—“त्रिपुरी की कलचुरी कालीन जैन प्रतिमाएँ”—एक सुन्दर लेख है। सम्बन्ध में दो तथ्य विचारणीय हैं।

(१) त्रिपुरी की जिन जैन प्रतिमाओं का लेख में

वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त अन्य अनेक कलचुरी कालीन जैन प्रतिमाएँ वर्तमान तेवर ग्राम में व उसके आस पास बिखरी पड़ी हैं।

मुनि कान्तिसागर वाले मूर्ति संग्रह में, जो सम्प्रति संभवतः जबलपुर के शहीद स्मारक में कहीं दबा पड़ा है,

त्रिपुरी से प्राप्त अनेक सुन्दर जैन प्रतिमाएं थीं। अभी दो वर्ष पूर्व तेवर ग्राम के पास खेत जोतते समय कलचुरी कालीन सात आठ सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई थी जो बाद में जबलपुर ले आ गई थीं। इनमें भी जैन मूर्तिकला का उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व था। तेवर ग्राम की वापिका पर, तालाब के मन्दिर की बाह्य भित्ति पर, ग्राम के मन्दिरों में तथा एक दो लोगों के घर पर कुल मिलाकर लगभग आठ दस जैन तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा इतनी ही जैन शासन देवता प्रतिमाएं दो वर्ष पूर्व तक पड़ी थीं। तीन शासन देवता मूर्तियों का चित्र भी सागर-विश्व-विद्यालय की पत्रिका में मैंने प्रकाशित कराया था।

(२) जबलपुर में हनुमान ताल के बड़े जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित जिस प्रतिमा का लेख में वर्णन है, वह सच-मुच ही कलचुरी कालीन जैन मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इतनी सुन्दर और सज्जा पूर्ण तीर्थंकर प्रतिमाएं बहुत ही कम उपलब्ध हुई हैं। सच तो यह है कि इस प्रतिमा के परिकर को सज्जा और वैभव का सही अंदाजा, बिना मूर्ति का दर्शन किये लग ही नहीं सकता। मैंने इस प्रतिमा का एक चित्र गत वर्ष लिया था जो इस नोट के साथ प्रकाशित हो रहा है। कलचुरी कलाकारों की अद्भुत तक्षण प्रतिमा की एक आंकी इस चित्र से पाठकों को मिल जायगी।

लेख के विद्वान लेखक ने इस प्रतिमा को तीर्थंकर पद्म प्रभु की प्रतिमा लिखा है। मैं उनकी इस धारणा से सहमत नहीं हूँ।

पीठिका पर अंकित कमल इस प्रतिमा का चिह्न नहीं है, वह तो सज्जा का एक अंश और अर्चना का प्रतीक मात्र है। कुण्डलपुर के बड़े बाबा की मूर्ति में तथा खजुराहो, देवगढ़ आदि की अनेक प्रतिमाओं में कमल का ऐसा ही अंकन भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की पीठिका पर पम्पा जाता है।

वास्तव में यह मनोहारिणी मूर्ति, युगादिदेव भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा है। मूर्ति के कांधे पर लहराती जटाएँ इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। भगवान् आदिनाथ के दीर्घकालीन, दुर्द्धर तपश्चरण के कारण उनकी प्रतिमा में जटाएँ बनाने की परम्परा मध्यकाल तक प्रचलित रही है। जटाओं के अंकन के इस रहस्य का उल्लेख आदि पुराण में इस प्रकार वर्णित है—

चिरं तपस्थतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभूवुराम्।

ध्यानाग्निदग्ध कर्मेण्यनिर्यदधूमशिखा इव ॥

—(आदि पुराण पर्व १, श्लोक ६)

दूसरी बात जो इस मूर्ति के सम्बन्ध में मेरी समझ में आती है वह है इसकी स्वरूप भिन्नता। सम्भवतः आज से सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्व यह मूर्ति अंशतः खण्डित अवस्था में तेवर ग्रामवासी उसके आस पास के किसी स्थान से उठा कर लाई गई होगी। मूर्ति को पुनः स्थापित करते समय किसी स्थानीय कारीगर ने उसकी खण्डित आकृति को संवारने की कोशिश की है। मुख की आकृति, आँखें, हाथों की अंगुलियाँ तथा पैर ध्यान से देखने पर, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जिस कला कुशलता से मूर्ति का परिकर, विद्याधर तथा इन्द्र अंकित किए गए हैं, मूल प्रतिमा के आकार तथा अनुपात में उस दक्षता की छाह नहीं है। ध्यान से देखने पर भासित होता है कि शीर्ष भाग को छोड़कर प्रतिमा का पूरा आकार एक अंगुल नीचा उतार कर पुनः तराशा गया है। कुछ भी हो, यह बात निर्विवाद है कि कलचुरी कालीन देव प्रतिमाओं में इतनी ऐश्वर्य शाली और वैभवपूर्ण प्रतिमाएं बहुत कम मिली हैं।

इसी मन्दिर में रखी हुई जिस पद्मावती प्रतिमा का लेख में उल्लेख किया गया है वह प्रतिमा नवीन है और उसे लेखक के प्रमाद वश ही कलचुरी कालीन प्रतिमाओं के साथ जोड़ लिया गया ज्ञात होता है।

कलचुरि कालीन एक नवीन जैन भव्य शिल्प

कस्तूरचन्द 'सुमन' एम. ए.

जबलपुर दि० ८ जुलाई ७१ नवभारत दैनिकपत्र में लखनादोन (सिवनी) म० प्र० मौर्यकालीन एक प्राचीन जैन प्रतिमा उपलब्ध होने के समाचारों के साथ शिल्प का चित्र भी प्रकाशित कराया गया है। यह जैन शिल्प, लखनादोन के मूला काछी परिवार के शारदाप्रसाद हर-दिया के बगीचे में जमीन के मात्र दो फुट नीचे से दि० ७-७-७१ को उपलब्ध हुआ है। प्रतिमा का अंकन ४ फुट ऊंचे और सवा दो फुट चौड़े शिलाखण्ड पर हुआ बताया गया है।

प्राचीन जैन केन्द्र : जिस स्थल विशेष से यह भव्य शिल्प उपलब्ध हुआ है, उसके २/३ फरलांग के समीपवर्ती क्षेत्र में अन्य खण्डित मूर्तियाँ और कलाकृतियाँ उपलब्ध होती रही हैं तथा आज भी यदा कदा उपलब्ध होती है। इन उपलब्धियों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह शहर प्राचीन भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा है। इस उपलब्धि ने यह भी प्रभावित कर दिया है कि १०-११वीं शती के निकट यह शहर जैन संस्कृति का भी प्रमुख केन्द्र रहा है।

समय : स्व० रायबहादुर हीरालाल ने अपनी पुस्तक "इन्स्क्रिप्शन्स इन सी० पी० एण्ड बरार" के पृ० ६६ में लखनादोन से ही उपलब्ध एक द्वार शिलाखण्ड पर अंकित अभिलेख की उपलब्धि निर्देशित की है। उन्होंने प्राप्त अभिलेख के जैन मन्दिर का होने की संभावना प्रकट करते हुए लिखा है कि लेख में मन्दिर निर्माता को अमृत सेन का प्रशिष्य और त्रिविक्रमसेन का शिष्य बताया गया है। निर्माता का नाम अदृश्य है। लेखक ने लेख की लिपि के आधार पर लेख को १०वीं शताब्दी के होने की संभावना भी व्यक्त की है।

इस उल्लेख से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शहर में १०वीं शती के आसपास अवश्य ही कोई जैन मन्दिर निर्मित

रहा है। सम्प्रति उपलब्ध मूर्ति सम्भवतः उसी मन्दिर में प्रतिष्ठित रही है। इस उपलब्धि से स्व० रायबहादुर द्वारा प्रकट की गयी संभावना कि यह लेख जैनों का है, न केवल पुष्ट होती है बल्कि उक्त संभावना को सत्य निरूपित करती है। इस भाँति इस भव्य शिल्प को १०वीं शती के आसपास का तिथ्यांकित किया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

शिल्प मौर्य कालीन नहीं, कलचुरि कालीन है : अन्य स्थानों में प्राप्त मौर्यकालीन कलाकृतियों से यह पूर्ण समानता रखती है, यह तर्क देते हुए डा० सुरेशचन्द्र जैन आदि ने इस शिल्प को मौर्यकालीन बताया है किन्तु 'रत्नेश' जी लामटा द्वारा डा० सुरेश जैन से प्राप्त शिल्प चित्र को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि इस कृति का बहुत कुछ वैसा ही अंकन हुआ है, जैसा कि अंकन कल-चुरि कालीन हनुमान ताल जबलपुर के जैन बड़े मन्दिर में स्थित प्रतिमा में दिखाई देता है। जबलपुर से प्राप्त एक ऐसा ही जैन शिल्प नागपुर संग्रहालय में भी विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि 'उपलब्ध प्रतिमा' कल-चुरिकालीन है, मौर्यकालीन नहीं।

परिकर : अब तक महावीर नाम से प्रसिद्ध कलचुरि कालीन दो प्रतिमाएँ ही भव्यता में ज्ञात थीं। इसमें एक नागपुर संग्रहालय में विद्यमान है जिसे १०वीं शती का बताया गया है (देखिए-नागपुर संग्रहालय स्मरणिका, १९६४ ई०, पृ० ३६ पर अंकित चित्र)।

द्वितीय मूर्ति हनुमान ताल जैन मन्दिर में विराजमान है जिसे मैंने अनेकान्त (वर्ष २४ कि० १ वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज देहली ६) में प्रकाशित अपने लेख में अलंकरण के रूप में अंकित आसन में तीन कमला-कृतियों को देखकर पद्मप्रभ कहा है जबकि जैन नवयुगक

समाज जबलपुर द्वारा प्रकाशित आचार्य रजनीश के अमृत कणः १९६६ में प्रकाशित पुस्तिका के मुख्य पृष्ठ पर अंकित उक्त प्रतिमा के मनोज्ञ चित्र में स्कन्धों पर लटकती हुई केश राशि से ऐसा ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर की है।

लखनादौन से प्राप्त नयनाभिराम शिल्प के शिरोपरि-कलाकृति से पूर्व चित्रण अंकित है। चित्रण के दोनों पार्श्वों में उड्डायमान अपनी पत्नियों से युक्त दो गंधर्वों का चित्रण ध्यानाकर्षक है। ऐसे गंधर्व न तो हनुमान ताल की मूर्ति में अंकित है और न नागपुर संग्रहालय की मूर्ति में ही। गंधर्वों के नीचे दोनों ओर कमलाकृतियों पर अंकित अलंकृत हाथी चित्रित किये गये हैं। हाथियों पर अपनी पत्नियों सहित सवार ऐसे प्रतीत होते हैं मानो इन्द्र ऐरावत हाथी पर सवार होकर अपनी पत्नी इन्द्राणी के साथ जिनेन्द्र स्तवन के लिए आया हो। इस प्रतिमा पर उपलब्ध इस अंकन से ऐसा प्रतीत होता है कि हनुमान ताल तथा नागपुर संग्रहालय की प्रतिमाओं का कुछ ऊपरी अंग हट गया है, मेरी समझ में उन प्रतिमाओं में भी ऐसी ही आकृतियाँ अवश्य ही रही हैं। उन पर अंकित सवार तीन हाथी इस बात की ओर संकेत भी करते हैं। नागपुर की प्रतिमा में मिलाव करने पर जबलपुर हनुमान ताल की प्रतिमा का नीचे का आसन वाला अंग भी टूटा हुआ ज्ञात होता है। क्योंकि नागपुर संग्रहालय की प्रतिमा में आसन पर तबग्रह आकृतियाँ भी मूर्तिगत हो गयी हैं। चिह्न दोनों में नहीं है। नागपुर संग्रहालय में प्रतिमा महावीर के अंकन के नाम से स्थित है परन्तु किसी प्रमाण या लाछन के अभाव में प्रतिमा का ऐसा नामांकन करना उचित नहीं है। इन दोनों

प्रतिमाओं के नीचे दिख पद्य का अंकन ध्यानावर्षक है।

तीनों प्रतिमाओं के परिकर को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि नागपुर एवं जबलपुर की प्रतिमाएँ किसी एक ही कलाकार की कृतियाँ हैं, उनके प्राप्त स्थल से कभी यह बात तर्क संगत प्रतीत होती है किन्तु लखनादौन की प्रतिमा किसी अन्य कलाकार की कृति ही ज्ञात होती है। लखनादौन मूर्ति के परिकर में कमलाक्षी हाथियों के नीचे मध्यस्थ आकृति के दोनों ओर चँवरधारी आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। ये आकृतियाँ अलंकारों से विभूषित हैं। मस्तक पर किरीट, कानों में कुण्डल, भुजाओं में मृजबध, गले में मालाएँ दिखाई देती हैं।

आसन के नीचे पीठिका के मध्य में प्रतिमा लाछन की आकृति सी उत्कीर्ण है जिससे प्रतिमा महावीर की ज्ञात होती है। लाछन के नीचे धर्म चक्र अंकित है। चक्र के दोनों ओर स्त्री एवं पुरुष की मानवाकृतियाँ हैं। धर्म-चक्र के दोनों ओर अलंकृत दो स्तम्भ हैं जिन पर प्रतिमा का आसन आधारित दिखाई देता है। स्तम्भों के पास धर्म चक्र के दोनों ओर शिरो का प्रदर्शन भी है जो तीर्थंकर के सिंहासन पर आसीन होने की पुष्टि करते हैं।

प्रतिमा : इस मंगोदारी आकृति के पृष्ठ भाग में एक कमल अलंकरण वाला प्रभासण्डल है। भगवान की केश रचना मुच्छको के रूप में निमित्त है। श्रीवत्स चिह्न का अस्पष्ट संकेत मिलता है। मूर्ति के मुखमण्डल पर प्रदर्शित-मंदहास्य, शांति एवं विरक्ति के भाव चित्ताकर्षक हैं। कण्ठ में प्रदर्शित तीन रेखाएँ मानो संकेत कर रही हैं कि त्रिरत्न धारण करके ही शिव रमणी को वरण किया जा सकता है। पद्मासन मुद्रा में ध्यान निमग्न यह प्रतिमा महाकाशाल में एक अमूर्ती कृति है।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें छाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरो, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

अभयकुमार

परमानन्द जैन शास्त्री

अभयकुमार शिशुनागवंशी राजा बिम्बसार (श्रेणिक) और नन्दश्री का पुत्र था^१। नन्दश्री वेणुग्राम के सेठ की विदुषी कन्या थी। वह बड़ी चतुर रूप और लवण्य सयुक्त सती साध्वी थी। श्रेणिक का विवाह उसी के साथ हुआ था। अभयकुमार उन्हीं दोनों का पुत्र था। वह आठ वर्ष की अवस्था तक अपनी ननिहाल में ही रहा। उसके पश्चात् माता और पुत्र दोनों ही राजगृह आ गए। अभयकुमार बाल अवस्था से ही चतुर बुद्धिमान और प्रतिभा सम्पन्न था। उसकी प्रतिभा विवेकशालिनी थी। कितना ही कठोर एवं भयावह कार्य सामने क्यों न आ जाय, फिर भी वह उससे घबराता नहीं था। वह सहनशील और तेजस्वी था। कठिन कार्य आने पर ही वह उस पर विचार करता और उसे हल करने के लिए अनेक उपाय काम में लाता। परन्तु वह कभी निराश नहीं हुआ।

उसने अपनी बाल अवस्था में नन्दिग्राम ब्राह्मणों की विपदाओं का निराकरण किया था। उससे उसकी बुद्धिमत्ता का पता चलता है। यहाँ दो-तीन उद्धरण पाठकों की जानकारी के लिए दिये जाते हैं।

राजा श्रेणिक ने नन्दिग्राम के ब्राह्मणों के पास एक

१. तस्स णं सेनियस्स रन्तो पुत्ते नंदाएदेवीए अत्तए अभए नाम कुमारो होत्था।

—निरवावलिका सूत्र २३

तस्साण सेणियस्स पुत्ते नंदाएदेवीए अत्तए अभए नाम कुमारो होत्था।

—ज्ञाताधर्मकर्थाय श्रु० १ अ० १

नोट—बौद्धों की धेरी गाथा अट्ठकथा में अभयकुमार को उज्जैन की पद्मावती वेश्या का पुत्र बतलाया है। किन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन परम्परा में उसे नन्दश्री का ही पुत्र बतलाया गया है।

बकरा भेजा। और कहा कि इसे खूब खिलाओ-पिलाओ, परन्तु यह ध्यान रखना कि इसका एक तोला भी वजन न बढ़े। विप्र लोग इस आज्ञा से परेशान थे कि यदि बकरे को खूब खिलाया-पिलाया जायगा तो वह मोटा हो जायगा, उसका वजन बढ़ जायगा। और उसे खिलाया-पिलाया न जाय तो वह दुर्बल हो जायगा। तब उन्होंने अभयकुमार से कहा कि आप हमारी इस समस्या को हल करें। कुमार ने उन्हें दिलासा दी और कहा कि घबराओ नहीं जो मैं उपाय बताता हूँ उसे करो, तुम दिन में बकरे को खूब खिलाओ-पिलाओ, किन्तु रात्रि में २-३ घंटे के लिये गोदड़ के सामने बांध दो, इससे उसका वजन नहीं बढ़ेगा और न कम होगा। चुनांचे एक सप्ताह बाद जब उस बकरे को तोला गया तो उसका वजन न बढ़ा और न घटा—समवस्थित रहा—जितना था उतना ही रहा।

बिम्बसार ने नन्दिग्राम के ब्राह्मणों को आज्ञा दी कि अच्छा बढ़िया दूध गाय, भैंस, बकरी आदि किसी भी पशु का न हो, और न तारियल आदि फलों का हो। कई घड़े दूध भिजवाओ। ब्राह्मण लोग इस आज्ञा को मुनकर स्तब्ध रह गए। उन्होंने विचार किया कि दूध जिन पशुओं का होता है, उसका उन्होंने निषेध कर दिया। अब हम इस आज्ञा का पालन कैसे कर सकेंगे। वे सब घबड़ा गए। और वे अभयकुमार के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि राजकुमार अबकी आज्ञा तो ऐसी कठोर आई है कि हम उसके पालन करने में सर्वथा असमर्थ हैं। अतः आप हमें कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिनसे हमारी रक्षा हो सके। अभयकुमार ने कहा आप घबड़ाइये नहीं, आपका कार्य हो जायगा। राजकुमार ने कच्चे जौ की शलियां मंगवाकर उनका दूध निकलवा कर घड़ों में भरवा दिया और राजा बिम्बसार के पास भिजवा दिया।

पुनः बिम्बसार ने नन्दिग्राम वालों को यह आज्ञा दी कि एक कूष्माण्ड (कुम्हड़ा-कद्दू) जो घड़े के पेट बराबर हो, कम या अधिक न हो, शीघ्र भिजवाओ। अन्यथा ग्राम खाली कर दो। इस आज्ञा को सुनकर सभी घबड़ाये। और कुमार अभयके पास जाकर बोले, कुमार ने एक मिट्टी का बड़ा घड़ा मगवाया और कद्दू की फलवाली वेल उसमें डाल दी, वह कद्दू दिन पर दिन बढ़ता गया, जब वह घड़े के पेट के बराबर हो गया तब उसे राजा श्रेणिक के पास भिजवा दिया। राजा बिम्बसार ने विचारा कि नन्दिग्राम के ब्राह्मण तो इतने दुद्धिमान नहीं हैं, जो मेरी सब आज्ञाओं को पूरा करें। कोई न कोई बुद्धिमान पुरुष उस ग्राम में जरूर आया है, जिससे ब्राह्मणों की रक्षा हो रही है और उसने इस बात का पता लगाने के लिए गुप्तचर भेजे। उन्होंने जाकर पूछ-ताछ की, एक जामुन के पेड़ पर कुछ बालक जामुन खा रहे थे। इन आदिमियों को आते हुए देखकर कुमार ने लड़कों से कहा कि इनसे और कोई बात न करे, मैं उनसे सब बात करूंगा। जब वे पास में आये तो कहने लगे कि कुछ जामुन हमें भी दोगे। कुमार ने कहा आप कैसे जामुन चाहते हो। गरम-गरम या ठंडे। क्योंकि मेरे पास दोनों प्रकार के फल हैं। उन्होंने कहा गरम-गरम चाहिए। कुमार ने पके हुए जामुनों को तोड़कर और मसलकर नीचे डाल दिये, उन्होंने उनकी धूल साफ कर फूंक-फूंककर खाए। कुमार ने कहा कि हमने आपके कहे अनुसार गरम-गरम जामुन दिये, आप लोग इन फलों को खूब फूंक मार-मार कर तथा ठंडा करके खाएं, कहीं ऐसा न हो कि इनकी आंच से आपकी दाढ़ी-मूछें जल जाएं।

इस पर उन राजपुरुषों ने लज्जित होकर कहा— 'अच्छा, अब आप हमें ठंडे फल दे।

तब अभयकुमार ने उन्हें कच्ची-कच्ची जामुनें देनी आरम्भ कीं।

अभयकुमार की वाक्चतुरी, तेजस्विता, मुख का सौन्दर्य आदि अन्य बालकों से असाधारण उनके बहुमूल्य वस्त्रों को देखकर वे राजपुरुष समझ गए कि यह कोई असाधारण बुद्धि वाला राजकुमार है। उनको यह समझते देर न लगी कि यह राजकुमार नन्दिग्राम का नहीं

है। उन्होंने अपने मन में अनुमान कर लिया कि सम्राट के कठिन प्रश्नों का उत्तर इसी राजकुमार ने दिया था न कि ब्राह्मणों ने। पश्चात् उन्होंने नन्दिग्राम में जाकर राजा श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र, उनकी रानी नन्दश्री तथा उसके पिता सेठ इन्द्रदत्त अपने सेवकों सहित ठहरे हुए हैं। अतः अब वे लज्जित तथा आनन्दित होकर वहाँ से गिरिब्रज लौट गए। वहाँ पर उन्होंने सम्राट को नमस्कार कर अभय की जो-जो चेष्टाएं देखी थीं, वे सब कह सुनाई। उन्होंने महाराज से कहा :—

महाराज हम उस कुमार को देखकर पहले ही समझ गए थे कि यह असाधारण बालक नन्दिग्राम का नहीं हो सकता। यह सब लड़कों से तेजस्वी प्रतापी और राज-लक्षणों से मंडित था। उपस्थित बालकों में उसके समान अन्य किसी में वैसे तेज दृष्टिगोचर नहीं हुआ। बाद में लोगो से बात चीत करने पर हमें उसका यथार्थ परिचय भी मिला गया। अब आप जैसा उचित समझे सो करें।

एक दिन राज्यमंत्री वर्षकार ने सम्राट से निवेदन किया कि राजकुमार अभय की विलक्षण प्रतिभा के समाचार मिले हैं सम्राट्। ऐसी विलक्षण बुद्धि तो बड़े-बड़े विद्वानों में नहीं होती। उन्हें शीघ्र बुलवाना चाहिए।

सम्राट् तुम्हारा कथन ठीक है, वर्षकार! मैं भी कुमार को यहा बुलवाने की बात सोच रहा था, किन्तु कुमार को बुलवाने का ढंग भी ऐसा विलक्षण रखूंगा कि उसमें कुमार को अपनी बुद्धि की एक और परीक्षा देनी होगी। अच्छा, नन्दग्राम भेजने के लिए एक दूत को बुलवाओ।

दूत—मैं नन्दिग्राम जाने के लिए उपस्थित हूँ महाराज! सम्राट् तुम अभी नन्दिग्राम चले जाओ, वहाँ जाकर तुम कुमार अभय से मिल कर कहना कि आपको महाराज ने बुलाया है। किन्तु उन्होंने यह आज्ञा दी है कि आप मार्ग से आवें, न उन्मार्ग से आवें, न दिन में आवें न रात में आवें। भूखे पेट न आवें, भफरे पेट भी न आवें, न किसी सवारी में आवें। और न पैदल ही आवें, किन्तु गिरि ब्रज नगर शीघ्र ही आवें।

“जो आज्ञा सम्राट् !”

दूत कह कर वहाँ से चला गया, उसने नन्दिग्राम पहुँच कर अभयकुमार को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर महाराज का सन्देश ज्यों का त्यों कह सुनाया। सम्राट् द्वारा कुमार के बुलाए जाने का सन्देश सारे नन्दिग्राम में फैल गया। इस समाचार को सुन वहाँ के सब ब्राह्मण घबरा गए। और सोचने लगे कि अब हमारी रक्षा किसी प्रकार नहीं हो सकती। अब तक तो कुमार ने हमारे जीवन की रक्षा कर ली; किन्तु अब कुमार के चले जाने पर हम लोगों को सम्राट् के कोपानल में भस्म होना ही पड़ेगा। हे ईश्वर! सम्राट् ने कुमार को बुला कर बड़ा अनर्थ किया है। हे परमात्मा, हम लोगों से ऐसा क्या पाप बन गया है जिसके परिणाम स्वरूप हम दुख ही भोग रहे हैं। भगवन्! हमारी रक्षा करो। इस तरह रोते-चिल्लाते हुए ब्राह्मणकुमार अभय की सेवा में उपस्थित हो, रोने लगे। उनकी दुखी अवस्था देख कुमार बोले—

ब्राह्मणो! आप इतना खेद क्यों करते हैं? सम्राट् ने मुझे जिस प्रकार आपने को आज्ञा दी है मैं उनके पास उसी प्रकार जाऊँगा। गिरिव्रज में भी आप लोगों का पूरा ध्यान रखूँगा। आप लोग किसी बात की चिन्ता न करें।

ब्राह्मणों की धैर्य बढ़ाकर और समझा बुझा कर कुमार ने समस्त सेवकों को तैयार करने के लिए अपने नाना सेठ इन्द्रदत्त से कहा। उनकी आज्ञा के साथ उनके सभी अनुचर जाने के लिए तैयार हो गए। सेठ इन्द्रदत्त एक रथ पर पृथक् बैठे। कुमार ने अपने लिए जो रथ मगवाया उसके बीच में एक छोटा बघवा दिया।

दिन समाप्त होने पर जब संध्याकाल हुआ, तब कुमार ने गिरिव्रज की ओर अपने समस्त सेवकों और अग्रदूतों सहित रथ हकवा दिया। चलते समय रथ का एक पहिया मार्ग में चलाया गया और दूसरा पहिया सड़क के बगल में उन्मार्ग में डाल दिया गया। कुमार ने चलते समय चने का आधा पेट भोजन किया और रथ के उस छोटे में बैठ गए। इस तरह अनेक ब्राह्मणों के साथ अभय कुमार आनन्दपूर्वक गिरिव्रज पहुँच गए।

अभयकुमार के सायंकाल तक गिरिव्रज पहुँचने का समाचार नगर में पहुँच ही चुका था, इस कारण नगर

निवासियों की बड़ी भारी भीड़ उनके दर्शन करने के राजमार्ग पर एकत्रित थी। नगर की स्त्रियाँ तो मार्ग के प्रत्येक मकान की छत पर जमा हो गई थी। आगे-आगे बाजा बजता जा रहा था, जिससे मार्ग में भीड़ बराबर बढ़ती ही जाती थी। उत्सुकता वश स्त्रियों में तो उनको देखने की होड़ मी लग गई थी। कोई स्त्री तो रसोई बनाने का कार्य बीच ही में छोड़कर छज्जे की ओर भागी और कोई एक स्त्री अपने बालक की एक आँख में काजल लगाकर दूसरी आँख में ही छोड़ बाजों का शब्द सुन बालक को उठाकर भागी। कोई नारी अपने पैरों में लाल मेहदी लगा रही थी, वह मेहदी से अपने सारे फर्श को खराब करती हुई अपने बाला खाने में जा पहुँची। इस तरह नारियों के ठट्ठ के ठट्टे छज्जों, बालाखानों, अट्टा-गियों और चौखण्डों में जमा हो गए। और वे बड़ी उत्सुकता से कुमार को देखने लगी। बालक, वृद्ध और युवा सभी कुमार को देखने के लिए अत्यन्त उत्साह से जमा हो गए।

जनता की अपार भीड़ के साथ कुमार की सवारी भी नगर में आगे-आगे बढ़ती जाती थी। बाजों के पीछे-पीछे बंदी जन कुमार की विरुदावली का वखान कर रहे थे। स्थान-स्थान पर नगरवासी जन राजकुमार की प्रशंसा कर रहे थे। इस तरह राजमार्ग से जाते हुए कुमार अभय राजसभा के पाम जा पहुँचे। उन्होंने रथ से उतर कर अपने नाना सेठ इन्द्रदत्त के साथ राजसभा में प्रवेश किया। आज कुमार के आगमन के कारण दिन छिप जाने पर भी राजसभा पूरी भरी हुई थी।

राजकुमार ने सभा में सम्राट् की रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान देखकर उन्हें नमस्कार कर उनके चरण छुए। सम्राट् ने उनको खँचकर अपनी गोद में बैठा लिया। स्वागत सत्कार के बाद कुमार ने सम्राट् से निवेदन किया, “पिता जी! मेरी आप से एक प्रार्थना है, आप आज्ञा दें तो निवेदन करूँ।”

सम्राट् बिम्बसार प्रसन्न होकर बोले—

“अवश्य कहो बेटा! क्या कहना चाहते हो।”

तब अभयकुमार ने कहा—

“पिता जी! मेरा निवेदन यह है कि नन्दिग्राम के

ये विप्रगण आपकी सेवा में आ रहे हैं। यदि उन्होंने अनजाने में कोई अपराध कर भी दिया है, तो आप अपने वडूप्पन का ध्यान कर उन्हें क्षमा कर दें। मेरी आप से यह विनय है। मैं उनको अभयदान दे चुका हूँ।”

अभयकुमार के इनके शब्दों को नन्दिग्राम के ब्राह्मण भी सम्राट् के चरणों में गिर पड़े, और उनसे विनय पूर्वक क्षमा मागने लगे। तब सम्राट् ने कहा—

“अच्छा, कुमार! जब तुम इनको अभयदान दे चुके हो तो हम भी इनको अभय करते हैं।”

फिर सम्राट् ने ब्राह्मणों की ओर मुख करके कहा—

‘विप्रगण! आप प्रसन्नता में नन्दिग्राम चले जावें। अब आपको किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। आपके अधिकार में किसी प्रकार की भी कमी नहीं की जावेगी।’

महाराज के शब्द सुनकर ब्राह्मणों ने कहा—

“सम्राट् की जय हो, कुमार अभय की जय हो। हमें आप ने जीवन दान दिया। आपका कल्याण हो।”

नन्दिग्राम के ब्राह्मण वहाँ से अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने गाँव चले गए।

युवराज पद

गिरि व्रज की राजसभा को आज विशेषरूप से सजाया गया है। सुन्दर पताकाओं और तोरणों से खम्भों को अलंकृत किया गया। अच्छे और नए फर्श बिछा कर उसे और भी सुन्दर बना दिया, आसनों की संख्या भी बढ़ा दी गई, जिससे जनता आसानी से बैठ सके। प्रातःकाल से ही जनता ने राजसभा में आना प्रारम्भ कर दिया। नगर निवासी उत्साह पूर्वक राजसभा में आ रहे थे। १० बजे बजते राजसभा भवन ठमाठस भर गया किन्तु आने वालों का ताता लगा ही रहा। राज्याधिकारियों का भी आना प्रारम्भ हो गया। और ठीक दस बजे सभा भवन अन्दर और बाहर दोनों जगह भर गया। सभा भवन भरने पर प्रधान सेनापति भद्रसेन और महामात्य वर्षकार आकर अपने आसनों पर बैठ गए। राजमहल के द्वार से राजकुमार अभय को साथ लिए हुए सम्राट् बिम्बसार आते हुए दिखाई दिए। उनको देखते ही जनता ने जोर से सम्राट् बिम्बसार (श्रेणिक) की जय और राजकुमार

अभय की जय के नारों से सभा भवन गूँज उठा। दोनों अपने-अपने आसनों पर बैठ गए। तब महामात्य वर्षकार ने कहा—

‘सम्राट्! राज्याधिकारी! पौरजानपद तथा उपस्थित महानुभाव! सब उपस्थित महानुभाव सुने। मुझे अत्यन्त प्रमन्नता है कि राजकुमार अभय का आज सब की ओर से स्वागत करने का अवसर प्राप्त हुआ है। कुमार में विलक्षण चातुर्य, पराक्रम और श्रौतिक साहस है। सात वर्ष की आयु में लोकोत्तर गुणों की प्राप्ति बिना पूर्वपुण्य के नहीं हो सकती। नन्दिग्राम के ब्राह्मणों की रक्षा करने में उन्होंने अपने बुद्ध, चातुर्य का जो परिचय दिया है इससे उन्होंने हमारी श्रद्धा को भी जीत लिया है। नगर निवासी उनसे अत्यधिक प्रेम करने लगे हैं। उनका जनप्रिय स्वभाव, न्यायप्रियता, दयालुता, और चमत्कारीणी बुद्धि आदि लोकोत्तर गुणों के कारण उन्हें मगध साम्राज्य का युवराज बना दिया जाय। आप लोग मेरे इस प्रस्ताव पर विचार करें। नगर के प्रमुख लोगों ने वर्षकार के प्रस्ताव का समर्थन ही नहीं किया प्रत्युत समस्त पौरजानपद की ओर में घोषणा की गई, कि सब नागरिक इस प्रस्ताव के पक्ष में हैं।’

सम्राट् ने कहा आप लोगों ने कुमार के गुणों का वर्णन कर उन्हें युवराज पद देने का विचार किया। इसे मैं कुमार के अतिरिक्त अपना भी सम्मान मानता हूँ, मुझे गौरव है कि मैं ऐसे सुयोग्य पुत्र का पिता हूँ। महामात्य वर्षकार का राजकुमार अभय को युवराज बनाने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया जाता है।

अभयकुमार का न्याय—

एक दिन बिम्बसार की राजसभा में व्यावहारिक ने निवेदन किया कि हे देव! एक अभियोग नीचेके न्यायालयों से होता हुआ मेरे पास आया था, पर वह इतना जटिल है कि मैं भी उसका न्याय करने में असमर्थ हूँ। इसलिए उसे सम्राट् की सेवा में उपस्थित करने की अनुमति चाहता हूँ।

सम्राट् की आज्ञानुसार अभियोग उपस्थित किया गया। राजसभा के एक कक्ष में बिठलाई हुई दो भद्र महिलाओं को राजसभा में उपस्थित किया गया। दोनों

महिलाओं की आयु २४-२५ वर्ष के लगभग होगी वे दोनों महिलाएं सम्राट के सम्मुख उपस्थित हुईं। राजसभा के लोग उनके शारीरिक सौन्दर्य और रत्नजडित वस्त्र-भूषणों से विस्मित हुए। व्यावहारिक बोला—अभियोग इन दोनों महिलाओं का है। इनमें बाईं ओर की महिला का नाम वसुमित्रा और दाहिनी ओर वाली महिला का नाम वसुदत्ता है। ये दोनों सुभद्रदत्त सेठ की पत्नियां हैं।

सम्राट ने कहा सेठ सुभद्रदत्त का तो अभी अभी देहावसान हुआ है। वह मगध के ग्राम के निवासी थे। और विदेशों से अपार धन सम्पत्ति कमाकर अभी अभी राजगृह में आकर बसे थे।

व्यावहारिक ने कहा—यह दोनों सुभद्रदत्त सेठ की पत्नियां हैं। सम्राट ने कहा, इन दोनों में यह छह मासका बालक किसका है? व्यावहारिक बोला, राजन्! सारा भगड़ा तो इसी पर है। ये दोनों ही उसे अपना-अपना बालक बतलाती हैं। सम्राट ने कहा साक्षियों से किसका पक्ष अधिक पुष्ट एवं प्रमाणित होता है।

व्यावहारिक बोला—सेठ सुभद्रदत्त राजगृह में कुल दो मास से आया था। अतएव जो कुछ साक्षिया मिलती हैं वे केवल दो मास के अन्दर की मिलती हैं। साक्षियों से यह ज्ञात होता है कि इस बालक पर दोनों का समान प्यार रहा है। लडके को ऊारी दूध पिलाया जाता है, इसलिए दूध की साक्षी का तो अभाव है। दोनों उसे अपने अपने पेट का उत्पन्न बालक कहती हैं। देखने वालों का कहना है कि बच्चे पर दोनों का समान प्यार है। सम्राट ने कहा कि सुभद्र तो राजगृह के एक गांव का निवासी था उस गांव से कुछ साक्षिया नहीं मंगवाई गईं। व्यावहारिक ने कहा—कि देवी गांवसे भी साक्षिया मंगवाई थी किन्तु वे तो और भी अधिक असन्तोषजनक हैं। उनसे केवल इतना ही सिद्ध हुआ है कि मेठ सुभद्रदत्त उस गांव का निवासी था और दोनों सेठानिया उसकी परिणीता बधुएं थीं। वह इन दोनों को साथ लेकर सार्यवाह के साथ अपना एक निजी पोत लेकर सुवर्णद्वीप व्यापार करने गया था और फिर वापिस गांव नहीं गया। सम्राट ने कहा कि इसका अर्थ तो यह हुआ कि उसके यह बच्चा कहीं यात्रा में हुआ और उसने अपनी यात्रा राजगृह में

आकर समाप्त की।

व्यावहारिक ने कहा—ऐसा ही है देव?

सम्राट तब तो यह अभियोग बड़ा पेचीदा है। इसका निर्णय करना सुगम कार्य नहीं है। सम्राट ने अभयकुमार की ओर देखकर पूछा, क्यों अभयकुमार! क्या तुम इस अभियोग का निर्णय कर सकोगे? अवश्य कर सकूंगा पिता जी!

सम्राट ने व्यावहारिक से कहा—

“अच्छा व्यावहारिक—इस अभियोग को युवराज के सम्मुख उपस्थित करो, वही इसका निर्णय करेंगे।”

व्यावहारिक ने दोनों सेठानियों को अभयकुमार के सामने उपस्थित किया। अभयकुमार ने उनमें से एक से पूछा।

अभयकुमार—वसुमित्रा देवी, तुम उस परमपिता की साक्षी पूर्वक अपनी बात कहो।

वसुमित्रा—मैं उस परमपिता परमात्मा की सपथ-पूर्वक कहती हूँ कि यह बालक सुमित्र मेरी कोख से उत्पन्न हुआ है। मैं ही इसकी माता हूँ, वसुदत्ता नहीं।

अभयकुमार—वसुदत्ता देवी अब तुम्हें क्या कहना है?

वसुदत्ता—मैं भी उस परमपिता परमात्मा की सपथ-पूर्वक कहती हूँ कि यह बालक सुमित्र मेरी कोख से उत्पन्न हुआ है और मैं ही इसकी माता हूँ, सुमित्रा नहीं।

अभयकुमार—मालूम होता है तुम लोग सच्ची बात नहीं बतलाओगी?

यह तो अशक्य है कि बालक दोनों की कोख से उत्पन्न हुआ हो। किन्तु इस पर दावा दोनों करती हैं। क्योंकि बच्चे की जो माता सिद्ध होगी वही उसकी अधिकारिणी बनेगी और सेठ सुभद्रदत्त की अपार संपत्ति पर उसी का अधिकार होगा। किन्तु इस तथ्य का कोई पता नहीं लगता। मैं तो इस बच्चे को आधा आधा काट कर दोनों को दिए देना हूँ। यह कह कर अभयकुमार ने बच्चे के पेट पर नगी तलवार रख दी। वसुमित्रा यह देखकर घाड़े मार-मार कर रोने लगी। उसने अभयकुमार की तलवार पकड़कर उससे कहा—

“युवराज! बच्चे के दो टुकड़े मत करो। इसे आप वसुदत्ता को ही दे दे। मैं इस पर अपने दावे क

वापिस लेती हैं। और वसुदत्ता के पास ही इसका मुल देख लिया करूंगी।”

यह कहकर वसुमित्रा अभयकुमार के पावों में पड़ गई, किन्तु वसुदत्ता इस सारे दृश्य को खड़ी-खड़ी देखती रही। इस पर अभयकुमार उस बच्चे को छोड़कर बोले—

“यह सिद्ध हो गया कि बच्चा वसुमित्रा का है, मैं बच्चा वसुमित्रा को देता हूँ।”

उन्होंने वसुदत्ता की ओर देखकर कहा—

निर्दयी राजसी ! तू बच्चे की माता बनने का ढोंग करती है और उसकी गर्दन पर तलवार देखकर पत्थर की मूर्ति के समान खड़ी रही। मैं तुम्हें असत्य बोलने के अपराध में देश निर्वासन का दण्ड देता हूँ। सेठ सुभद्रदत्त जी समस्त सम्पत्ति का एकमात्र अधिकार वसुमित्रा और उसके पुत्र का होगा।

व्यावहारिक ने सम्राट् से निवेदन किया है कि देव ! एक अभियोग और है वह भी मेरी समझ में नहीं आया। सम्राट् ने कहा, अच्छा उसे भी सामने उपस्थित करो।

व्यावहारिक ने एक आकृति वाले दो व्यक्तियों के साथ एक स्त्री को उपस्थित किया। स्त्री अत्यधिक सुन्दर थी, उनको उपस्थित करके व्यावहारिक बोला, अन्नदाता ! यह अभियोग कोशल जनपद के अयोध्या नगर से सम्राट् प्रसेनजित ने स्वयं भेजा है, बहुत प्रयत्न करने पर भी वे उसका निर्णय नहीं कर सके, तो उन्होंने आपके पास भेज दिया।

सम्राट्, अच्छा कहो क्या अभियोग है ?

इस अभियोग में वादिनी यह स्त्री है। इसका नाम भद्रा है, यह अपना मामला स्वयं उपस्थित करेगी।

इस पर सम्राट् उस महिला से बोले—क्यों देवी ! तेरा क्या अभियोग है ? भद्रा—देव ! इन दोनों में से एक व्यक्ति मेरा पति है, एक व्यक्ति नकली है जो मेरे पति का रूप बनाये हुए है। कृपया मुझे नकली व्यक्ति से छुड़ा कर मुझे मेरा असली पति दिलवा दे।

सम्राट्—यह तो बड़ा पेचीदा मामला है। व्यावहारिक—तभी तो महाराज प्रसेनजित ने आपके पास भेजा है।

सम्राट्—क्या इन तीनों व्यक्तियों के विषय में इनका

पिछला वर्णन भी भेजा गया है। व्यावहारिक—भेजा गया है श्रीमान्। सम्राट् अच्छा उसे पढ़ कर सुनाओ।

व्यावहारिक—जैसी श्रीमान् की आज्ञा ! मैं इसे पढ़ कर सुनाता हूँ।

इस स्त्री भद्रा का पति बलभद्र अयोध्या निवासी सच्चरित्र किसान है, इसका अयोध्या के एक धनिक व्यक्ति बसंत के साथ गुप्त सम्बन्ध हो गया था। बाद में एक त्यागी महात्मा के महत्वपूर्ण उपदेश से इसने शीलव्रत ले लिया और बसंत का साथ छोड़ दिया। बसंत ने उस पर बहुत डोरे डाले, किन्तु यह उसके वश में न आई। बाद में बसंत को इस स्त्री के लिए पागल दशा में गलियों में घूमते हुए देखा गया। कुछ समय बाद बसंत अयोध्या से गायब हो गया। और बलभद्र का आकार बनाकर एक अन्य व्यक्ति असली बलभद्र को घर से निकालने लगा। इसके उपरान्त यह पता लगाना असम्भव हो गया कि असली बलभद्र कौन है ?

सम्राट्—यह अभियोग तो पहले से भी अधिक पेचीदा है। फिर उन्होंने अभयकुमार की ओर देख कर पूछा, क्यों कुमार ! तुम इस अभियोग का निर्णय कर सकोगे ? कुमार—संभवतः कर तो सकूंगा।

सम्राट्—अच्छा देवी ! तुम्हारे अभियोग का निर्णय युवराज करेंगे।

दोनों बलभद्रों का एक सा रूपरंग देख कर पहले तो अभयकुमार चकरा गये बाद में उन्होंने भद्रा की सहायता से उन दोनों व्यक्तियों के शरीर की सूक्ष्म जाँच-पड़ताल की। किन्तु उनका उनको लेशमात्र भी अन्तर न मिला। अन्त में सोचते हुए उनके हृदय में एक विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने दोनों बलभद्रों को एक सीखचेदार काठरी में बन्द कर दिया, फिर उन्होंने एक तूबी अपने सामने रख कर उन दोनों बलभद्रों से कहा—सुनो बलभद्रों ! तुम दोनों में से कोठे के सीखचे में से निकल कर जो कोई भी इस तूबी के छिद्र से निकल जावेगा, और उसी को भद्रा मिलेगी।”

कुमार के इन वचनों को सुनकर असली बलभद्र को बड़ा दुःख हुआ, और उसे विदवास हो गया कि अब भद्रा मुझे कभी नहीं मिलेगी : क्योंकि मैं तूबी के छेद से निकल

नहीं सकता। किन्तु कुमार के वचनों से नकली बलभद्र को बड़ा हर्ष हुआ। उसने अपने शरीर को अत्यन्त पतला करके सीखचो से बाहर निकल कर ज्योंही तूबी के अन्दर प्रवेश किया, ज्यों ही अभयकुमार ने तलवार का एक भरपूर हाथ मार कर नकली बलभद्र को मार डाला। पश्चात् उसने असली बलभद्र को कोठरी से निकाल कर उसे भद्रा के साथ अयोध्या जान की अनुमति दे दी। कुमार की विलक्षण न्याय बुद्धि देखकर सारी सभा में हर्ष छा गया। महामात्य वर्षकार ने कुमार की इस विलक्षण बुद्धि के लिए बघाई प्रदान की। कुमार के इन निष्पक्ष कार्यों से उनकी कीर्ति बहुत बढ़ गई। लोग उसकी न्याय परायणता को देखकर सभी उसकी प्रशंसा करने लगे। कोशल के पश्चात् अन्य देशों से भी अभियोग उनके पास आते थे, जिनका वह अपनी प्रतिभा से शीघ्र निर्णय कर दिया करता था।

अभयकुमार राज्य कार्यों के अतिरिक्त, कौटुम्बिक कार्यों में, गृह कार्यों में और रहस्यमय कार्यों के निश्चय करने में पूछने योग्य था। वह स्वयं राज्य शासन, राष्ट्र-देश, कोष, कोठार (अन्त भंडार) सेना, बाहन, नगर और अन्तःपुर की देख-रेख करता था।

जैन मान्यतानुसार अभयकुमार श्रेणिक भभसार (बिम्बसार) का मनोनीति मंत्री था।

श्रेणिक का चलना के साथ विवाह भी अभयकुमार की बुद्धिमत्ता से हुआ था।

अभयकुमार अपनी बुद्धिमत्ता के कारण राज्य के संरक्षण में भी उचित मार्ग का अवलम्बन करता था। उसके इन कार्यों से प्रजा बड़ी सन्तुष्ट रहती थी और उसके प्रति हार्दिक प्रेम प्रदर्शित करती थी।

अभयकुमार ने श्रेणिक के राजनैतिक संकट भी अनेक बार टाले थे। एक बार उज्जैनी के शासक चण्डप्रद्योत ने अन्य चौदह राजाओं के साथ राजगृह पर आक्रमण किया

था। किन्तु अभयकुमार ने जहाँ शत्रु शिविर लगना था वहाँ उसने पहले ही सुवर्णमुद्राएं गड़वा दी थी। जब चण्डप्रद्योत ने राजगृह को घेर लिया, तब अभयकुमार ने उसे एक पत्र लिखा था कि आपका हितैषी होकर बता रहा हूँ कि आपके सहचर राजा श्रेणिक से मिल गये हैं, वे बाध कर श्रेणिक को सम्हालने वाले हैं, उन्होंने श्रेणिक से बहुत धन राशि प्राप्त की है। यदि आपको विश्वास न हो तो अपने शिविर के स्थान को खुदवा कर देखिये उससे आपको स्वयं विश्वास हो जायगा। चण्डप्रद्योत ने जब उस स्थान को खुदवाया तब उन्हें सुवर्ण मुद्राओं का ढेर प्राप्त हुआ। इससे चण्डप्रद्योत ने अपना घेरा उठा लिया और उज्जैनी चला गया।

अभयकुमार ने राज्य रक्षा के लिए अनेक कार्य किये हैं। इसी से लोक में उनकी महत्ता थी।

जैन मान्यतानुसार अभयकुमार ने भगवान महावीर से जैन दीक्षा ली और कठोर तपश्चरण किया और मुक्तिपद प्राप्त किया। यह मान्यता सन्देहास्पद है। इसकी जांच करने की आवश्यकता है। जैन ग्रन्थों में अभयकुमार को जैन धर्मी और महावीर के पास जाने और दीक्षा लेने का स्पष्ट उल्लेख है।



४. प्रद्योत नृपतेः संन्यस्ततो राजगृह परम् ।

पर्यवेष्टयत भूगोलं पयोधिमल्लैरिव ॥१२२

अथेत्य प्रेषयामास लेख प्रद्योतभूपतेः ।

अभयो गुप्त पुरुषैः परुषेतरभाषिभिः ॥१२३

× × × ×

तेनावन्तीश वच्मि त्वामेकान्तहितवाञ्छया ।

सर्वे श्रेणिकराजेन भेदितास्त्व भू भुजः ॥१२४

दीनाराः प्रेषिताः सन्ति तेभ्यस्तान् कर्तुमात्मसात् ।

ते तानादाय बद्ध्वा त्वामर्यायिष्यन्तिमत्पितुः ॥१२६

तदावासेषु दीनारा निरवाताः सन्ति तत्कृते ।

खानयित्वा पश्यको वा दीपे सत्यग्निमीक्षते ॥१२७

विदित्वैव स भूपस्यकस्या वा समचीखन्त ।

लब्धास्तत्र च दीनारास्तान् दृष्ट्वा स पलायितः ॥

योगशास्त्र ११

१. जाता धर्मकथाय प्रथम श्रुतस्कथ १ अध्याय ।

२. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति पत्र ३८

३. त्रिषष्टि टाला का पुरुष चरित्र

५. थेरीगाथा-अट्टकथा खण्ड १ पृ० ८३-८४ ।

पुनीत आगम साहित्य का नोतिशास्त्रीय सिंहावलोकन

डा० बालकृष्ण 'अकिञ्चन' एम. ए. पी-एच. डी.

विश्व के धार्मिक साहित्य को जैन साहित्य एव दर्शना का महत्त्व निर्विवाद है। जैन धर्मावलम्बियों में जितना ऊँचा स्थान आगमों का है, उतना सम्भवतः अन्य का नहीं। इन पुनीत आगमों का निर्माण तो स्वयं भगवान् अर्हन्त ने किया था किन्तु बाद में उन्हें सूत्र रूप में अर्थ मागधी भाषा में निबद्ध उनके गणधरों ने किया। कारण यह था कि दुर्भिक्षों एवं विपलवों आदि आपत्तियों के कारण आगम साहित्य विखंडित होता रहा था। भगवान् महावीर जी के निर्वाण के लगभग ६८० या ६६३ वर्ष पश्चात् (ई० सं० ४५३-४६६) के वलभी सम्मेलन में आगम लिपिबद्ध किये गये, अतः निश्चित है कि भगवान् महावीर की भाषा का मूल अर्थ मागधी में उस समय तक पर्याप्त अन्तर अवश्य आ गया होगा। जो हो ये सूत्र दिव्य ज्ञान के महान स्रोत हैं। श्री भगवत्शरण उपाध्याय के विश्व साहित्य की रूप-रेखा पृ० ५०६ के अनुसार तो “इन ग्रन्थों की सीमा में सारा मानव ज्ञान जैसे सिमट कर आ गया है।”—इसका सम्पादन बलभी परिषद के द्वारा ४६ ग्रन्थों में हुआ है। इनमें—

१. आचारंग, सूयगडंग इत्यादि १२ अंग;
२. ओववाइय, रायसपेणइय इत्यादि १२ उपांग;
३. चउसरण, आउरपच्चकरवाण इत्यादि १० पइन्ना
४. निसीह, महानिसीह इत्यादि ६ छेयसुत्त; और
५. उत्तरज्झयण, दसवेयालिय इत्यादि ४ मूलसुत्त हैं।

जैन शास्त्रों के अनुसार अंगों और मूल सूत्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है आचारंग। प्राचीनतम जैन सूत्र भी यही है। इस सूत्र की महिमा सम्पूर्ण जैन साहित्य में एक स्वर में गाई गई है। भाव निदर्शन के लिए एक उद्धरण प्रस्तुत है—

“नत्थि कालास णागमो। सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिक्कला, अप्पियववहा, पियजीविणो जीवि-
सकामा। सव्वेसि जीविषं पियं।

अर्थ—मृत्यु का आना निश्चित है। सब प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, सभी सुख चाहते हैं, दुख कोई नहीं चाहता, मरण सभी को अप्रिय है। सभी जीना चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी जीवन की इच्छा रखता है, सबको जीवित रहना अच्छा लगता है।

जैन साहित्य में मूल सूत्रों का वही माहात्म्य है जो बौद्ध साहित्य में धम्मपद का। इसके उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) के प्रथम अध्याय में ‘विनय’ का वर्णन इस प्रकार है—

मा गलियस्सेव कसं वयपमिच्छे पुणो पुणो।

कसं व दट्ठमाइन्ने, पावणं परिवज्जे।।

अर्थात्—मरियल छोड़े को बार-बार कोड़े लगाने की जरूरत होती है, वैसे मुमुक्षु को बार-बार गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करनी चाहिए। जैसे अच्छी नस्ल का घोड़ा चाबुक देखते ही ठीक रास्ते पर चलने लगता है, उसी प्रकार गुरु के आशय को समझकर मुमुक्षु को पाप कर्म त्याग देना चाहिए।

यही पर तीसरे अध्ययन में अप्रमाद की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि “टूटा हुआ जीवन-तन्तु फिर से नहीं जुड़ सकता, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद न कर। जरा से ग्रस्त पुरुष का कोई शरण नहीं है, फिर प्रमादी-हिंसक और अयत्नशील जीव किसकी शरण जायेंगे।

बाईसवें अध्ययन में सती का अपने ऊपर आसक्त श्रमण रथनेमि को फटकारना कितना कल्याणकारी तथा प्रभावोत्पादक है—“हे रथनेमि ! यदि तू रूप से वैश्रमण, चेष्टा से नलकूवर अथवा साक्षात् इन्द्र ही क्यों न बन जाय, तो भी मैं तुझे न चाहूँगी। हे यश के अभिलाषी ! तू जीवन के लिए वसन की हुई वस्तु का पुनः सेवन करना चाहता है। इससे तो मर जाना श्रेयस्कर है। जिस किष्की भी नारी को देखकर यदि तू उसके प्रति आसक्ति भाव

प्रदक्षित करेगा तो वायु के भोके से इधर-उधर डोलने वाले तृण की भांति तेरा चित्त कहीं भी स्थिर न रहेगा।”

इसी प्रकार पच्चीसवें अध्ययन में ब्राह्मण तपस्वी आदि के लक्षण तथा कर्म महिमा इस प्रकार गाई गई है—“इस लोक में जो आग्नि की तरह पूज्य है, उसे कुशल पुरुष ब्राह्मण कहते हैं। मिर मुड़ा लेने से श्रमण नहीं होता, ओंकार जाप करने से ब्राह्मण नहीं होता। जंगल में रहने से मुनि नहीं होता और कुश चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं कहा जाता। समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है। कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, धर्म से वैश्य और कर्म से ही मनुष्य शूद्र कहा जाता है।

स्पष्ट है कि आगम साहित्य नैतिक कथनों का अपूर्व खंडार है। ये कथन दिक्कालातीन, सार्वदेशिक एवं सार्वभौमिक सत्य हैं। जैन धर्म की अक्षय विधि होते हुए भी ये मानव मात्र की निधि हैं। इनकी महिमा का अधिक। धारणान न करने हुए कुछ बहुमूल्य कथन उद्धृत करना अधिक उपयोगी होगा—

१. “(महापुरुष वह है) जो लाभालाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान-अपमान में समभाव हो।”
२. “स्वार्थ-रहित देने वाला दुर्लभ है, स्वार्थ-रहित जीवन निर्वाह करने वाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देने वाला और स्वार्थ-रहित होकर जीने वाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।”
३. जैसे विडाल के रहने के स्थान के पास चूड़ों का रहना प्रशस्त नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास स्थान के बीच में ब्रह्मचारियों का रहना क्षम्य नहीं है।”
४. “लोहे के कांठों से मुहूर्त मात्र दुःख होता है, वे भी (शरीर से) सुगमता पूर्वक निकाल जा सकते हैं, परंतु कटुवचन कठिनाई से निकलते हैं जो बर बड़ाने और महाभय उत्पन्न करने के लिए बोले जाय।”
५. “क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, कपट मित्रों का नाश करता है और लोभ सब कुछ विनष्ट कर देता है।”

६. “सांसारिक धर्मों से विरत जो कोई जगत् में विचरते हैं, उन्हें सबके साथ वही वर्तव्य करना चाहिए जो वे (दूसरों से अपने प्रति) कराना चाहते हैं।”

आगम वाटिका इस प्रकार के नीति-कुसुमों की दिव्य गंध से सतत सुसुवासित है। आवश्यकता इस स्वस्थ एवं सुगंधित पवन को, मन-प्राण और जीवन में उतारने की है।

आगमों की व्याख्या साहित्य में नीति :

आगमों के सकलन के पश्चात् दूसरी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक आगम साहित्य के समझने-समझाने के लिए नियुक्ति, भाष्य, टीका, चूर्ण इत्यादि टीका-साहित्य की विपुल सृष्टि हुई। इसमें भी प्रसंगवश हमें कहीं-कहीं पद्यमय नीति कथन प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ माणिक्यशेखर सूरि ने आवश्यक निमुक्ति की अपनी दीपिका में कुछ सुन्दर नीति बच कहे हैं :—

जहां खरो चंदन भारवाही, भारस्स भागी न हू चंदनस्य ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्य भागी न हू सोगईए ॥
हयं नाणं कियाहीण, हया धन्नाणओ किया ।

पासंतो पगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ।

संजोगसिद्धोइ फलं वयंति, न हू एगचक्केण रहो पयाइ ।

अधो यो पगू य वणे समिच्चा, ते सपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥

—प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० २०५ पर उद्धृत

अर्थात् जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा भार का ही भागी होता है, चन्दन का नहीं, उसी प्रकार चरित्र से हीन ज्ञानी और केवल ज्ञान का ही भागी होता है सद्गति का नहीं। क्रिया रहित ज्ञान और अज्ञानी की क्रिया नष्ट हुई समझनी चाहिए। (जंगल में आग लग जाने पर) चुपचाप खड़ा हुआ पगु और भागता हुआ अन्धा दोनों ही आग में जल मरते हैं। दोनों के सयोग से सिद्धि होती है। एक पहिए से रथ नहीं चल सकता।

निशीथभाष्य के कामासक्ति सम्बन्धी दो कथन देखिए :—

“कानी आंख से देखना, रोमांचित हो जाना, शरीर में कम्प होना, पसीना छूटने लगना, मुंह पर लाली दिखाई पड़ना, बार-बार निश्वास और जमाई लेना” ये स्त्रीभे

आरक्त पुरुष के लक्षण हैं। कामासक्त स्त्रियों की पहचान भी देखिए :—

“सकटाक्ष नयनो से देखना, बालों को संवारना, कान और नाक को खुजलाना, गुह्य अंग को दिखाना, घर्षण आलिंगन तथा अपने प्रिय के समक्ष अपने दुश्चरित्रों का बखान करना, उसके हीन गुणों की प्रशंसा करना, पैर के अंगूठे से जमीन खोदना और खखारना—” ये पुरुष के प्रति आसक्त स्त्री के लक्षण समझने चाहिए।

आगमोत्तर कालीन जैन-धर्म साहित्य में नीति—
(१०वीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक) :—

आगम युगीन जैन ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं व्यावहारिक नीति उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से रत्नशेखरसूरि के ‘व्यवहार शुद्धि प्रकाश’ बहुत उत्तम है। यहाँ आजीविका के साथ उपाय पुत्र, ऋण, परदेश आदि जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर सुन्दर विचार प्रस्तुत किया गया है।

प्राकृत भाषा का कथा-साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध है। यद्यपि इस वाङ्मय का अधिकांश धर्म प्रचार के लिए गढ़ा है किन्तु उनमें व्यवहार नीति का अंश भी प्रचुर मात्रा में समाहित है। नीति शिक्षा प्रायः छन्दोबद्ध रहती है। इसमें उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया गया है।

देवभद्र सूरि के प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘कहारयण कोस’ (कथारत्न कोष) में धन की महिमा इस प्रकार गाई गई है :—

परिगलइ मई मइलिजई जसो नाइवरंति सयणा वि ।

आलस्स च पयट्टइ विप्फुरह मणम्मि रणरणओ ॥

उरुछरइ अणुच्छाहो पसरइ सव्वाणिओ महावाहो ।

किं किं व न होइ दुहं अत्थविहीणस्य पुरिमस्स ॥

अर्थात् धन के अभाव में मति भ्रष्ट हो जाती है, यश मलिन हो जाता है, स्वजन भी आदर नहीं करते, आलस्य आने लगता है, मन उद्विग्न होता जाता है, काम में उत्साह नहीं रहता, समस्त अंग में महा दाह उत्पन्न हो जाता है। धनहीन पुरुष को कौन-सा दुःख नहीं होता ?

कुमारपाल प्रतिबोध का एक सुभाषित इस प्रकार है :—

सीहह केसर सइहि, उरु सरणागओ सुहडस्स ।

मणि मत्थइ आसीविसह किं घिप्पइ अमुयस्स ॥

अर्थात्—सिंह की जटाओं, सती स्त्री की जघाओं, शरण में आये हुए सुभट और आशीविष सर्प के मस्तक की मणि को कभी नहीं स्पर्श करना चाहिए।

सुमतिसूरि के ‘जिनदत्ताख्यान’ में पर स्त्री दर्शन के त्याग का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

ते कह न वंदणिज्जा, जे ते वट्ठण परकलत्ताइ ।

धाराहयव्व वसहा, बच्चति महि पलोयंता ॥

अर्थात् ऐसे लोग क्यों वन्दनीय नहीं जो स्त्री को देख कर वर्षा से आहत वृषभों की भाँति नीचे जमीन की ओर मुह किए चुपचाप चले जाते हैं।

प्रश्न शैली में पृथ्वी को स्वर्ग बनाने वाले चार पदार्थों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

उच्छूगामे वासो सेयं सगोरसा साली ।

इट्ठा य जस्स भज्जा पिययम ! किं तस्स रज्जेण ? ।

हे प्रियतम ! ईख वाले गांव में वास, सफेद वस्त्रों का धारण गोरस और शालि का भक्षण तथा इष्ट भायों जिसके निकट हो उसे राज्य से क्या प्रयोजन ?

यहाँ अनेक गाथाओं में स्त्री-पुरुषों के स्वभावादि के सम्बन्ध में सुन्दर कथन है। एक गाथा का व्यंग्यार्थ कितना सत्य एवं व्यवहार सिद्ध है :—

धन्ना ता महिलाओ जाणं पुरिसेसु किंतिमो नेहो ।

पाएण जओ पुरिसा महुयरसरिसा सहावेणं ॥

अर्थात् पुरुषों से कृत्रिम स्नेह करने वाली स्त्रियाँ भी धन्य हैं क्योंकि पुरुषों का स्वभाव भी तो भीरों जैसा ही होता है।

हरिभद्रसूरि के उपमपद (उपदेश पद) की प्रश्नोत्तर शैली दो गाथा में देखिए—

धो धम्मो जीवदया, किं सोल्लमरोगयाउ जीवस्स ।

को सोहो सव्भावो किं पडिब्बं परिच्छेओ ।

किं विसमं कज्जगी, किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही ।

किं सहुगेज्ज सुयणो, किं दुग्गेज्जे खलो लोओ ॥

अर्थात् धर्म क्या है ? जीव दया ! मुख क्या है ? आरोग्य। स्नेह क्या है ? सद्भाव। पांडित्य क्या है ? हितहित का विवेक। बिषम क्या है ? कार्य की गति।

प्राप्त क्या करना चाहिए; शुभ गुण। सुख से प्राप्त करने योग्य क्या है? सज्जन पुरुष। कठिनता से प्राप्त करने योग्य क्या है? दुर्जन पुरुष।

जयसिंह सूरि के 'धर्मोपदेशमाला' में दो कटु सत्य देखिए—

अपात्रे रमते नारी, गिरीवर्षति माधवः ।

नीचमाश्रयते लक्ष्मीः प्राज्ञः प्रायेण निर्धनः ॥

अर्थात्—नारी अपात्रमें रमण करती है, मेघ पर्वत पर बरसता है, लक्ष्मी नीच का आश्रय लेती है और विद्वान प्रायः निर्धन रहता है।

रज्ज्वाबैति न रज्ज्वन्ति लैति हिययाइ न उण अप्पेति ।

छप्पणय बूढीओ जुवईओ दो बिसरिसाओ ॥

अर्थात्—स्त्रियां दूसरेका रंजन करती है, लेकिन स्वयं रंजित नहीं होतीं। वे दूसरों का हृदय हरण करती है, लेकिन अपना हृदय नहीं देतीं। दूसरों की छप्पन बुद्धियां उनकी दो बुद्धियों के बराबर है।

क्षण में दरिद्रता मिटाने वाले भद्र अभद्र धंधों की एक सूची देने वाली गाथा इस प्रकार है :—

खेतं उच्छूण समुद्वेवणं, जोणिपोसणं चैव ।

निबईणं च पसाओ खणेण निहणंति दारिद्रं ॥

अर्थात् ईख की खेती समुद्र यात्रा (विदेश में जाकर घषा करने) योनि पोषण (वेश्या वृत्ति) और राज्य कृपा—इन चार उपायों से क्षण भर में दरिद्रता नष्ट हो जाती है। आदर्श के कथनों के उस युग में भी यथार्थ की इतनी स्पष्टोक्ति, साहस ही कही जायगी। ऐसे और भी अनेक कथन सहज सुलभ हैं।

स्त्री के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है—

महिला ह्नु रत्तमेता उच्छुखंडं च सक्करा चैव ।

हरइ विरसा सा जीघियपि कसिणाहिरल्लख ॥

अर्थात् जब महिला आसक्त होती है तो उसमें गन्ने के पोरे अथवा शक्कर की भांति मिठास होता है और जब वह विरक्त होती है तो काले नाग की भांति उसका विष जीवन के लिए घातक होता है। एक अन्य प्रसिद्ध कथन लीजिए—

पढम पि आवयाण चित्तेयव्वो नरेण पडियारो ।

न हि गेहम्मि पलित्ते अवडं खणित्तरइ कोई ॥

अर्थात् विपत्ति के आने के पहले ही उसका उपाय सोचना चाहिए। घर में आग लगने पर क्या कोई कुआ खोद सकता है।

मलधारी हेमचन्द्र सूरि की 'उपदेशमाला' ५०५ मूल गाथाओं की एक दूसरी उपयोगी रचना है।

उसका यह कथन कितना विचित्र है—

जायमानो हरेद्भार्यां वर्धमानो हरेद्धनं ।

प्रियमाणो हरेत् प्राणान् नास्ति पुत्र समो रिपुः ॥

अर्थात् पुत्र पैदा होते ही भार्या का हरण कर लेता है, बड़ा होकर धन का हरण करता है, मरते समय प्राणों का हरण करता है। इसलिए पुत्र के समान और कोई शत्रु नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कथन अटपटा होते हुए भी लौकिक अनुभव की दृष्टि से बावन तोले पाव रस्ती है। इस प्रकार के सहस्रो नीति परक उपयोगी कथन प्राचीन जैन ग्रन्थ मजूषाओ में सुरक्षित हैं। इन कथनों का प्रचार और प्रसार धर्म की अपेक्षा लौकिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय हित-साधन की दृष्टि से कहीं अधिक आवश्यक है। काश, भ्रष्टाचार के इस अंधेरे युग में जंनागमों के नैतिक कथनों का पुनीत प्रकाश फैल पाता।

कमल पराग का लोभी एक भौंरा उसके अन्वर बन्द हो यह सोच रहा था कि रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदय होगा, कमलकलिका खिलेगी और मैं पुनः रस ले उड़ जाऊँगा। दुःख है कि इतने में एक हाथी ने उस कमलनी की मुखा में बसा लिया। यही वशा विषयी जीवन की है।

विशालकीर्ति व अजितकीर्ति

विद्याधर जोहरापुरकर

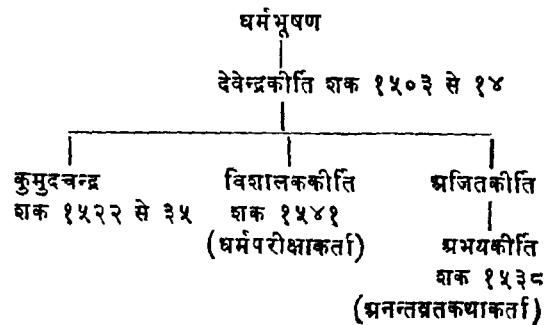
मराठी में विशालकीर्ति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा उपलब्ध है। लेखक ने अपने गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति बताया है किन्तु रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया। रचना मराठी में होने से लेखक के गुरु कारंजा के भट्टारक होंगे ऐसा अनुमान स्वाभाविक था किन्तु कारंजा में देवेन्द्रकीर्ति नाम के छः भट्टारक हुए हैं अतः कौन से देवेन्द्रकीर्ति लेखक के गुरु थे यह स्पष्ट नहीं हो सका। रचना की हस्तलिखित प्रति शक १६१० की प्राप्त है। इसके पूर्व भी कारंजा में दो देवेन्द्रकीर्ति हुए थे अतः यह बात अनिश्चित रही थी। डा० सुभाषचन्द्र अक्कोके के प्रबन्ध 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' (सुविचार प्रकाशन मंडल, पूना द्वारा १९६८ में प्रकाशित)।

महाराष्ट्र में नान्देड नगर के निकट पूर्णा नदी के तीर पर उखलद ग्राम है। यहाँ के जिनमन्दिर की मूर्तियों के लेखों का सारांश एन्युअल रिपोर्ट आफ इन्डियन एपिग्राफी (भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा संकलित) के वर्ष १९५८-५९ के प्रकाशन में दिया है। इनमें से क्र० बी २१६, २६६ तथा २७० से उपयुक्त प्रश्न सुलझने में मदद मिली है। यह सारांश हमने जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ (जो भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा अभी-अभी प्रकाशित हुआ है) में लेख क्र० २६० से २६२ के रूप में संकलित किया है। तीनों लेखों की तिथि शक १५४१ अर्थात् सन १६२० दी गयी है। प्रथम लेख में प्रतिष्ठापक आचार्य का नाम विशालकीर्ति अंकित है, दूसरे लेख में उन्ही का नाम मूलसंघ-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण इस संप्रदाय नाम के साथ है तथा तीसरे लेख में देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विशालकीर्ति ऐसा उनका उल्लेख है। अर्थात् धर्मपरीक्षा की उपलब्ध प्रति के लगभग ७० वर्ष पूर्व ये विशालकीर्ति हुए थे। उनकी इस निश्चित तिथि के मालूम हो जाने से अब यह कहा जा सकता है कि वे कारंजा के देवेन्द्रकीर्ति नामक द्वितीय भट्टारक के शिष्य होंगे जिनकी ज्ञात तिथियाँ शक १५०३ से १५१४ तक हैं (भट्टारक सम्प्रदाय, जीवराज ग्रंथमाला शोलापुर १९५८ पृष्ठ ५०-५१)। इन देवेन्द्रकीर्ति के पट्टशिष्य कुमुदचन्द्र की ज्ञात तिथियाँ शक १५२२ से १५३५ तक हैं। अतः कुमुदचन्द्र के गुरुबन्धु के रूप में विशालकीर्ति

का शक १५४१ में उल्लेख सुसंगत ही होगा। कुमुदचन्द्र के शिष्य वीरदास का मराठी सुदर्शन चरित्र उपलब्ध है।

मराठी में अभयकीर्ति द्वारा शक १५३८ में रचित अनन्तव्रतकथा का हमने संपादन किया था (सन्मति मासिक, बाहुबली-कोल्हापुर, मई ५८)। इनके गुरु का नाम अजितकीर्ति बताया गया है। इस नाम के कुछ भट्टारक लातूर की परम्परा में हुए हैं किन्तु उनका समय शक १५३८ से काफी बाद का है। अतः अभयकीर्ति किस स्थान की परम्परा से सम्बद्ध थे यह स्पष्ट नहीं हो पाया था। उखलद के ही शिलालेखों के उपयुक्त सारांश में क्र० बी २६६-७ पर प्राप्त विवरण से यह प्रश्न भी सुलझ सकता है। यह जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ में लेख क्र० २४२-३ के रूप में संकलित है। इनमें से दूसरे लेख में तिथि नहीं है किन्तु धर्मचन्द्र-धर्मभूषण-देवेन्द्रकीर्ति-अजितकीर्ति यह परम्परा दी गई है। कारंजा के भट्टारकों की परम्परा से मिलान करने से स्पष्ट होता है कि इसमें उल्लिखित धर्मभूषण के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति उपयुक्त द्वितीय देवेन्द्रकीर्ति ही हैं जिनकी ज्ञात तिथियाँ शक १५०३ से १५१४ तक हैं। इनके शिष्य अजितकीर्ति थे अतः वे शक १५३८ के अनन्तव्रतकथारचयिता अभयकीर्ति के गुरु होना सुसंगत है। इन दो लेखों में पहला लेख शक १५०६ का बताया गया है। इसमें धर्मभूषण के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति के किसी शिष्य का नाम उल्लिखित है किन्तु यह अधूरा है—इसका उत्तरार्ध कीर्ति है, पूर्वार्ध पढ़ा नहीं गया है।

उपयुक्त चर्चा से निष्पन्न गुरुशिष्यपरम्परा इस प्रकार दिखाई जा सकेगी—



बंशीधर शास्त्री एम. ए.

पुराण साहित्य में श्री जिनसेनाचार्य कृत भाविपुराण का महत्त्व सर्वविदित है। इसके उत्तरवर्ती साहित्यकारों तथा आचार्यों ने इसके विषय, परम्परा, शैली आदि का अनुकरण किया है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के डा० एस० भट्टाचार्य ने इसे भारत एवं भारतीय जीवन का विश्वकोष बताया है।

इसमें आदिनाथ भगवान का सपरिवार पूर्ण चरित्र प्रस्तुत किया गया है। उनके पुत्र भरत का पूर्ण विवरण दिया गया है। भरत ने किस प्रकार चक्रवर्ती पद प्राप्त किया, उन्होंने दान देने योग्य पात्र ढूँढने हेतु किस प्रकार परीक्षण किया, उन्हें उनके कर्त्तव्यों का किस प्रकार भान कराया आदि का विस्तृत वर्णन ग्रन्थ में किया गया है। भरत तद्भव मोक्षगामी अवश्य थे किन्तु गृहस्थावस्था में उनके द्वारा किये गए सभी कार्य मान्य एवं विधेय नहीं हो जाते।

उन्होंने चारों ओर विजय प्राप्त कर दान देने की सोची थी लेकिन उसके लिए कौन योग्य पात्र हो इसके लिए एक परीक्षण का आयोजन किया। इन्होंने जिनको दया, प्रवण, हिंसा से बचने वाले समझा उन्हें ब्राह्मण वर्ण के रूप में स्थापित किया और उन्हें गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया, क्रियान्वय क्रिया आदि करने का उपदेश दिया है।

यद्यपि आदिपुराण से प्राचीन किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थ में इन क्रियाओं को करने का उपदेश नहीं मिलता है फिर भी भरत ने इनकी भूमिका बताते हुए कहा कि श्रावकाध्याय संग्रह में वे क्रियाएँ तीन प्रकार की कही गई हैं सम्यग्दृष्टि पुरुषों को उन क्रियाओं का पालन अवश्य करना चाहिए।

५३ गर्भान्वय क्रियाएँ इस प्रकार बताई गई हैं —

१. आधात, २. प्रीति, ३. सुप्रीति, ४. धृति, ५.

मोद, ६. प्रियोद्भव, ७. नामकर्म, ८. बहिर्यानि, ९. निषधा, १०. प्राशन, ११. व्युष्टि, १२. केशवाप, १३. लिपि-संख्या व संग्रह, १४. उपनीति, १५. व्रतचर्या, १६. व्रता-वतरण, १७. विवाह, १८. वर्ण लाभ, १९. कुलचर्या, २०. गृहीशिता, २१. प्रशान्ति, २२. गृह त्याग, २३. दीक्षाद्य, २४. जिनरूपता, २५. मौनाध्ययन वृत्तान्त, २६. तीर्थकृत भावना, २७. गुरुस्थानाम्युपगम, २८. गणोपग्रहण स्वगुण स्थान संक्रांति, ३०. निःसंगत्वात्मभावना, ३१. योग निर्वाण संप्राप्ति, ३२. योग-निर्वाण साधन, ३३. इन्द्रोप-पाद, ३४. अभिषेक, ३५. विधिदान, ३६. सुखोदय, ३७. इन्द्र त्याग, ३८. अवतार, ३९. हिरण्योत्कृष्ट जन्मता, ४०. मन्दरेन्द्र अभिषेक, ४१. गुरुपूजोपलम्भन, ४२. योवराज्य, ४३. स्वराज्य, ४४. चक्रलाभ, ४५. दिग्विजय, ४६. चक्राभिषेक, ४७. साम्राज्य, ४८. निष्क्रान्ति, ४९. योगसन्मह, ५०. आर्हत्य, ५१. तद्विहार, ५२. योगस्थान, ५३. अग्र निवृत्ति।

ये क्रियाएँ इस जीव के एक भव में सम्पन्न नहीं होंगी अपितु तीन भवों में सम्पन्न होगी। पहली क्रिया से ३२वीं क्रिया तक मनुष्य भव में, ३३वीं क्रिया से ३७वीं क्रिया तक स्वर्गलोक में एवं ३८वीं क्रिया से ५३वीं तक फिर मनुष्य भव में जन्म लेने पर होगी। पहली से १३वीं क्रिया मनुष्य के माता-पिता द्वारा की जावेगी। एक जीव इसी क्रम से मनुष्य बने, फिर इन्द्र बने, फिर मनुष्य भव धारण कर चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर बने तब ये क्रियाएँ पूर्ण हो। इस पूरे अवसर्पिणी काल में केवल ३ चक्रवर्ती ही तीर्थंकर बन पाए हैं। उन्होंने अपने पूर्व भवों में ये क्रियाएँ की हों ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। स्त्रियों के लिए इन क्रियाओं का विधान ही नहीं है। अतः इन क्रियाओं को प्रत्येक सम्यग्दृष्टि करे ऐसा सम्भव नहीं हो सकता एक प्रश्न यह भी उठता है

कि द्वितीय बार मानुष्य भव धारण करने पर प्रथम बीस क्रियाएँ करने का विधान क्यों नहीं किया गया :

लगता है कि ये सब क्रियाएँ भरत ने अपनी राजकीय सत्ता के बल पर प्रजाजनो को करने की कह दी है लेकिन न तो इनका कभी प्रचलन रहा है और न किसी प्राचीन शास्त्र में उल्लेख मिलता है ।

इस प्रसंग में एक तथ्य और विचारणीय है । भरत ने भी ऋषभदेव से जाकर निवेदन किया कि मैंने ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया है और उन्हें व्रतचिह्न सूत्र दिया है लेकिन आपके रहते हुए मेरा यह करना ठीक है या नहीं ? इस विचार से मेरा चित्त डोलायमान हो रहा है । भगवान् ऋषभदेव ने कहा कि :—

पापसूत्रधरा धूर्तः प्राणिमारणतत्पराः ।

वत्स्यद्युगे प्रवत्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः ।

सर्ग ४१ श्लोक ५३

द्विजातिसर्जनं तस्मान्नाद्य यद्यपि बोधकृत ।

स्यादोष बीजमायस्यां कृपाखण्डप्रवर्तनात् ॥

सर्ग ४१, श्लो० ५४

अर्थ—पाप के चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत को धारण करने वाले और प्राणियों के मारने में तत्पर धूर्त ब्राह्मण आगामी युग में समीचीन मार्ग के विरोधी होंगे । आज ब्राह्मणों की रचना भले ही दोष रूप न हो किन्तु आगे पाखण्ड मतों के प्रवर्तन करने में दोष का बीज रूप है ।

यज्ञोपवीत पापसूत्र का विशेषण देकर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हें ये विधान नहीं लगाना ।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने शासन काल में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण ही स्थापित किए थे और उन्होंने इन क्रियाओं को करने का कथन नहीं किया ।

भरत द्वारा वर्णित ५३ क्रियाओं का किसी भी प्रामाणिक श्रावकाचार में उल्लेख नहीं मिलता । हाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने रयणसार में श्रावक के लिए निम्न ५३ क्रियाएँ बताई हैं :—

गुणवयतवसमपडिमादान जहागालाणं धनतामिधं ।

बंसणणाणवरित्तं किरिया तेवण्ण सावया ॥

भणिया ३६

मूलगुण ८, व्रत १२ तप १२, समता, प्रतिमा ११, दान ४, जलगालन, रात्रिभोजन त्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये श्रावक की ५३ क्रियाएँ हैं । इन क्रियाओं का जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है ।

यदि हम ठीक से विचार करें तो धार्मिक जीवन की दृष्टि से इन क्रियाओं का उपयोग एव महत्त्व है । धार्मिक जीवन में गर्व, विवाह, चोटी या मूँज की डोरी या सूत की डोरी या घोवती धारण करने का कोई महत्त्व नहीं है ।

यह बात ठीक है कि भरत द्वारा वर्णित ५३ क्रियाओं का जैन शासन में न महत्त्व रहा, न प्रचलन ही रहा फिर भी कुछ भाई आदिपुराण में इसका उल्लेख होने के कारण इन्हें अपनाने के लिए कहते हैं । इनमें से कई क्रियायें जैसे गर्व विवाह आदि, सामाजिकता के कारण से होती हैं उनके अतिरिक्त अन्य क्रियायें नहीं होती । आदि पुराण में कई ऐसी घटनाओं का (मधमांस का सेवन, पर स्त्री हरण) उल्लेख किया गया है जो त्याज्य है, हम उन्हें करने लग जावे यह तो ठीक नहीं है ।

मुझे तब आश्चर्य होता है जब कई विद्वानों से भी यह सुनने को मिलता है कि यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का वर्णन आदि पुराण में मिलता है । जब उनसे इसके विस्तार में चर्चा की जाती है तो यह कह देते हैं कि पूरा प्रसंग हमारा देखा हुआ है ।

पाठकों एवं विद्वानों से अनुरोध है कि वे इसका ठीक अध्ययन कर समाज के सामने वास्तविक स्थिति रखें । संभव है मेरी समझ में कहीं भूल रह जाय; क्योंकि भूल रह जाना संभव है । भूल को भूल स्वीकार नहीं करना महाभूल है इसलिए विद्वत्गण इस विषय में अधिक प्रकाश डालें ।

अपभ्रंश का जयमाला-साहित्य

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

अपभ्रंश में साहित्य की अनेक विधाएं मिलती हैं, पर आजतक समुचित मूल्यांकन नहीं किया गया। यहाँ ऐसे ही एक उपेक्षित विधा का निर्देश किया जा रहा है। जयमाला का साहित्य केवल जैन साहित्य की ही देन है। क्योंकि अनेक प्रकार की पूजाओं की विविध राग-रागिनियों में पद्यबद्ध करने का कार्य जैन विद्वान् एवं आचार्य बहुत समय से करते चले आ रहे हैं। यह पुष्प जयमाला प्रायः जिनमूर्ति के कलशाभिषेकोत्सव के अनन्तर पूजा-स्तवन के रूप में गाई जाती रही है। केवल शब्द व अर्थ की दृष्टि से ही नहीं साहित्य की दृष्टि से भी ये महत्वपूर्ण हैं।

प्रस्तुत जयमाला मध्य प्रदेश के भानपुरा के शास्त्र-भण्डार के गुटके से प्रतिलिपि की गई है। भाषा और भाव दोनों ही रूपों में रचना सुन्दर है। रचना के लेखक ब्रह्म नेमिदत्त हैं। ये मूलसंघ के आ० मल्लिभूषण के शिष्य थे। नेमिदत्त ने सिंहनन्दी का भी स्मरण किया है। रचना २५ छन्दों में निबद्ध है। लेखक ने अपना परिचय स्वयं इन शब्दों में दिया है—

श्रीमूलसंघ मंगलकरण, मल्लिभूषणगुरु नमि विमल।
सिरिसिंहणंदि अभिर्णंदि करि, जेभित्त पभणह सकल ॥

ब्रह्मनेमिदत्त मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कार-गण के विद्वान् भ० मल्लिभूषण के शिष्य थे। इनके सम्बन्ध में पं० परमानन्द जी शास्त्री ने प्रकाश डालते हुए लिखा है—‘आपकी ये सब रचनाएं वि० सं० १५७५ से १५८५ तक रची हुई जान पड़ती हैं। इससे आप सोलहवीं शताब्दी के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे।’ माला-रोहिणी के नाम से प्रकाशित यह रचना कहीं-कहीं त्रुटित

१. पं० परमानन्द जैन शास्त्री: ब्रह्मनेमिदत्त और उनकी रचनाएं, अनेकान्त, वर्ष १८, किरण २, जून १९६५, पृ० ८२-८४

थी, इसलिए पाठकों की जानकारी के लिए पूर्ण पुष्प-जयमाला प्रकाशित की जा रही है। प्राप्त जयमालाओं में यह रचना प्राचीन प्रतीत होती है। सम्भवतः इससे पूर्व की रचना अभी तक नहीं मिली। इससे रचना का महत्व और भी बढ़ जाता है। भाषा सरल और प्रसाद गुण से युक्त है। अपभ्रंश भाषा के लालित्य के निर्देशन की दृष्टि से भी रचना महत्वपूर्ण मानी जा सकती है।

सयल जिनेसर जयकमल पणविधि जणि जयकार।
फुल्लमाल जिणवर तणी पभणउं भविणतार ॥१॥
सिरि रिसभ अजिय संभव अभिर्णवण
सुमति जिनेसर पापणिकवण।

पउमप्पह जिण णामें गज्जउं,
सिरि सुपासु चन्दप्पह पुज्जउ ॥२॥
पुप्फयंतु सीयल पुज्जिज्जह जिणि सेयांसु मणिहि भाविज्जइ
वासुपुज्जुजिणपुज्जुकरेप्पिणु, विमलुअणंतुधम्मसाएप्पिणु ॥
सातिकुणु अरमल्लिजिनेसर, मुणिसुव्वय परमेसर।
नमि नेमोसरपाय पुज्जंसिउ,
भवसायरहुं पाणिय देसित्थं ॥४॥

पासणाह भवपासणिवारणु, वड्ढमाणजिणु तिहुवणतारणु।
ए चउवीस जिनेसर बंदिवि, सिवि गामिणि सारव
अभिर्णंदि ॥५॥

सिरिमूलसंघ महिमारयणायर, गुरु णिगांथ णमउं सुयसायर
सिरिजिणफुल्लमाल वक्खाणउं,
नरभब तणउं सार फल माणउं ॥६॥

आर्या—भी भविण भव भवहरण तारण चरण समत्थ।
जाती कुसुम करंज लिहि फुज्जहु जिण बोहत्थ ॥७॥

त्रिभंगी छद—जाती सेवती बरमालती चंपय जुत्ती बिकसती
बब्बर श्रीमाला गधविलासा कुज्जय धवला सोभंती ॥
रसुप्पल फुल्लहि कमलनवल्लहि जूहीजुल्लहि जयवन्ती ॥
मक्कंढकयं बहि वमणयकुंदहि नाना फुल्लहि महकंती ॥८॥

सगमोक्खसुहकारिणी मालजिणिवह सार ।
 विणउ करेप्पिणु मंगियह जिम लागह भवपार ॥६॥
 मोक्तिकदाम छंद—समोगर फुल्ल महक्कइ माल,
 मधुक्कर दुवकहि गधरसाल ।
 सुपाइल पारियजाइ बिचित, जिणजर पुज्जहु लोयपबिल ॥
 सयल सुराधिप पुत्तिजउ, पुज्जहु सिरि जिणवेउ ।
 धणकणजणसपय लहुहु, दुक्ख तणउ होइ छेउ ॥११॥
 मोक्तिकदाम छंद—
 सुरासुरकिण्णर खेयर भूरि, जिणिउ पयच्चहि णच्चहि नारि,
 सुअपचछर गार्वाहि सोक्खहधाम,
 जिणिवह सोहइ मोलियदाम ॥
 भवियणजण जिणपयकमल माल महघिय लेहु ।
 णियलच्छिय फलु करहु दुक्ख जलंजलि देहु ॥१३॥
 त्रिभंगी—दुक्ख देहु जलंजलि जिण कुसुमांजलि,
 दुज्जहु भवियण सोक्खकरं ।
 जिणभवणि पवित्तं णिम्मल चित्तं,
 मिलियउ चउवीसह संघवरं ॥१४॥
 इहु अवसर सार गुणह भंडार णवि लाभइ बहु पुण्ण विणं ।
 जिणवरणयमाला फुल्लिविसाला, लिज्जइच्चंचलजाणिधण ॥
 धणु जोडवणु कच्चणु रयणु परियणु भवणु वि सव्वु ।
 जलवुडवु करि कण जिम चंचलु म करहु गधु ॥१६॥
 पंचचामर छंद—म जाहु गधु देहु दव्वु लेहु माल णिम्मली
 तुषारहारचंदगोर किन्ती होइ उज्जली ॥
 सुरिर्विवदमूर्तारिव खेयारिव पुज्जिया ।
 जिणिवपायपोममाल सव्व दोस वज्जिया ॥१७॥

नित जिन भवियण जिणभवणि करहु महोस्सवसार ।
 मनवीछिय संपय लहुहु पुप्प पावहु भवपार ॥१८॥
 सोमराजी छंद—भवस्सेवपार महावुक्खहार,
 तिलोक्ककसारं जणाणंदकारं ।
 परं देवदेवं सुरिदेण सेवं जिणिव अणिवं जजं धम्मकंदं ॥१९॥
 बलि बलि अवसर णवि मिलइ णवि दोसइ धिर काइ ।
 जिणधम्महि मणु दिदु करहु काल गलंतहु जाइ ॥२०॥
 पंचचामर छंद—गलति भक्ति जाइ कालु मोहजालु वड्ढई ।
 सु होहि जाणु भव्व भाणु अग्गि जेम कड्ढई ।
 जिणिवचंद पायपुज्ज धम्मकज्ज किज्जई ॥
 सुपत्तदाणु पुण्णगणु वयणिहाणु लिज्जई ॥२१॥
 लिज्जए फलु णियक्कल तणउ लच्छियचपलसहाओ ।
 सिरि जिणपुज्ज करेवि लहु मनि धरि णिम्मलओ ।
 त्रिभंगी—मणि भाउ धरेप्पिणु पुज्ज,
 करेप्पिणु मालामहोच्छव णिम्मलाओ ।
 जिणि भवणि करिज्जइ घणु वेच्चिज्जइ सुह संचइ उज्जलाओ
 णाणाविह तूरहि गभीरहि भेरोभं भा सह सुहो ।
 कंसालाहि तालाहि मगलधबलाहि माला जिणिवह लेहु लाहो ।
 मालाजिणिवह तणिय लेहु लाहु तिहुवण तारण भवियण जण ।
 उपगारसार संपयसुहकारण रोगसोगवालिहदुक्खु ।
 णवि नीडओ आंअई जिणवरपायपसायजीव
 वांछियफलापावइ ॥
 श्रीमूलासघमंगलकरण मल्लिभूषण गुरु णवि विमल ।
 सिरिसिंहणवि अभिणदि करि नेमिदत्त पभणई सकल ॥
 इति श्री जिन माला समाप्ता श्रीरस्तु ॥

सफल साधना

साधक ! तेरी मंजिल बहुत दूर है । उसे पाने के लिए तू साधना करता रह । साधना का मार्ग बड़ा विषम है । प्रत्येक कदम पर तीक्ष्ण कांटे बिछे हुए हैं । तेरी गति में बाधक बनने वाली विषया के बड़े-बड़े पहाड़ खड़े हैं । तेरी अमूल्य निधि को लूटने के लिए राग-द्वेष आदि जबरदस्त तस्कर घूम रहे हैं । तुझे पराजित करने के लिए क्रोध आदि योद्धा अवसर निहार रहे हैं । काम-पिशाच अपनी सशस्त्र सेना सहित तुझे पराजित करने के लिए विस्फारित बदन तेरी प्रतीक्षा कर रहा है, शीत और ताप भी तुझे विचलित करने के लिए अपना अतुल पराक्रम दिखा रहे हैं । अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग भी तेरी परीक्षा करने के लिए समुद्यत हैं ।

फिर भी साधक ! सावधान रहना, घबराना मत, बढ़ते जाना । समुद्र चाहे अपनी मर्यादा छोड़ दे, समुद्र चाहे डगमगा जाए । सूर्य पूर्व दिशा को छोड़कर पश्चिम दिशा में उदित होने लगे, तो भी तू अपनी साधना से विचलित न होना । अनुकूल और प्रतिकूल कष्टों का सामना करते हुए भी आगे बढ़ते रहना । तेरी साधना अवश्य सफल होगी ।

आत्म-विजय की राह

श्री 'ठाकुर'

आज से पच्चीस शताब्दी पूर्व की घटना है। उन दिनों श्रावस्ती एक प्रसिद्ध महाजनपद थी। वह कोशल की राजधानी थी। महाराज प्रसेनजित कोशल के अधिपति थे। उन दिनों श्रावस्ती में बड़े-बड़े घनकुबेर रहते थे, जिनके सौधों पर स्वर्णकलश और ध्वजाएं लहराती थीं। जितनी ध्वजाएं लहराती थीं; उतनी कोटि स्वर्ण-मुद्राओं का वह स्वामी समझा जाता था। ऐसे भी घनकुबेर वहाँ थे, जिनका स्वर्ण चहबूच्यों में भरा रहता था और उनके स्वर्ण की गिनती शकटों में भार से की जाती थी।

ऐसे ही घनकुबेरों में एक थे समन्तभद्र, जिनके साथ सुदूर देशों में जाते थे और वहाँ की सम्पदा लाकर उनके चहबूच्यों में जमा करते रहते थे। श्रेष्ठी समन्तभद्र, देव, पितरों और ब्राह्मणों का बड़ा भक्त था। वैदिक क्रिया-काण्डों में उसकी अग्राध आस्था थी। वह वैदिक धर्म का नेता था।

तीर्थङ्कर महावीर अपने शिष्य परिकर सहित श्रावस्ती पधार रहे हैं, यह समाचार जब से प्रचारित हुआ है, तब से श्रावस्ती के ब्राह्मणों की उत्तेजना का कोई पार नहीं था। नगर के चतुष्पथों, हाटों और वीथियों में अपनी अनर्गल बातों से अपने अदम्य क्षोभ का प्रदर्शन कर रहे थे। श्रेष्ठी समन्तभद्र के आवास में न जाने कितनी परिषदे आयोजित की गई और उनमें तीर्थङ्कर महावीर के अलौकिक प्रभाव से वैदिक जनों की न जाने कितनी योजनाएँ बनी और बिगड़ी।

तभी समाचार मिला कि श्रेष्ठो समन्तभद्र का कनिष्ठ पुत्र मणिभद्र श्रावस्ती से दो गव्यूति दूर जाकर भगवान महावीर के दर्शन करके लौटा है। यह दुःसवाद पवन के रथ पर आरुढ़ होकर नाना रूपों में श्रावस्ती के हर कोने में फैल गया। सारी योजना विच्छिन्न सी होती हुई प्रतीत

होने लगी। समन्तभद्र ने सुना तो मर्माहत होकर बैठे रह गये। यज्ञ-विधान का प्रमुख नेता आचार्य माण्डव्य उनके पास बैठा हुआ सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति के समवेत रोष का प्रदर्शन कर रहा था। वह रक्त नेत्रों से देखता हुआ कह रहा था—'सेठ ! यह मायाचार है। ब्राह्मण इसे सहन नहीं कर सकते। उनमें अभी तक ब्रह्म तेज विद्यमान है। वे अपने इस तेज से तुम्हें और तुम्हारे वंश को भस्म करने की शक्ति रखते हैं। तुमने ही मणिभद्र को निर्गन्त नाथ-पुत्र के पास भेज कर वैदिक पक्ष को आघात पहुँचाया है। आज समाज तुम्हें वहिष्कृत करता है।

सेठ अपराधी की भाँति इस प्रताड़ना को सुन रहा था। उस वृद्ध के नेत्रों में दुःख, ग्लानि और पश्चात्ताप आँसू बनकर बह रहे थे। वह करुण मूर्ति बना हुआ आचार्य माण्डव्य के चरणों को अपने अविरत आँसुओं से प्रक्षालन करता हुआ कह रहा था—'आचार्य! मुझे क्षमा करें। मैं जानता हूँ मेरे पुत्र मणिभद्र का गुरुतर अपराध अक्षम्य है। किन्तु आप विश्वास करें, उसके इस अपराध में मेरा कोई हाथ नहीं है। मैं उसे भयानक दण्ड दूँगा। आप अपने निर्णय को वापिस ले लें भविष्य में मेरे परिवार का कोई सदस्य ऐसा अपराध नहीं करेगा। आचार्य क्षमा कर दें।' यों कहते-कहते उसका कण्ठ पश्चात्ताप और वेदना के आधिक्य से रुद्ध हो गया। वह आगे कुछ न बोल सका। वातारण में उसकी वाष्परुद्ध हिचकियाँ ही सुनाई पड़ती रहीं।

किन्तु आचार्य माण्डव्य पर सेठ की इस करुण विनय का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वैदिक धर्म, महर्षियों की पवित्र वाणी और यज्ञ परम्परा के रक्षक के रूप में उनका दायित्व महान था। ब्रह्मा के मुख से निर्गत वेदग्रन्थों की अपौरुषेय वाणी में ससार के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान अन्तर्निहित है। वेद बाह्य कोई ज्ञान-विज्ञान नहीं है। उसी

अपौरुषेय ज्ञान का विरोध वह निगूँठ महाश्रमण कर रहा है और निर्गन्ध के दर्शन सेठ पुत्र मणिभद्र कर चुका है, इससे बड़ा अपराध संसार में दूसरा कोई नहीं हो सकता, और यह सेठ उसी मणिभद्र का पिता है, वह वैदिक परम्परा का नेता है। इससे इस अपराध की गुफता और अधिक बढ़ गई है। वह क्षमा नहीं किया जा सकता, किसी मूल्य पर भी नहीं। आचार्य ने सोचा और बड़ी दृढ़ता से बोले—श्रेष्ठी ! अपने अपराध की गम्भीरता से तुम भी इनकार नहीं करोगे। क्या मणिभद्र तुम्हारी प्रेरणा के बिना वहाँ जाने का साहस कर सकता था। एक और तुम हमारे साथ होने का कपटाचार कर रहे हो और दूसरी ओर तुम उस निर्गन्ध को निमन्त्रण देकर श्रेष्ठी समाज में सम्मान पाने का प्रयत्न कर रहे हो। तुम्हारे इस अनाचार को ब्राह्मण समाज कभी क्षमा न करेगा और उसने जो निर्णय किया है, उसे कभी वापिस नहीं लेगा।

सेठ समन्तभद्र जानता था कि आचार्य माण्डव्य का शासन कठोर है, उनका निर्णय अपरिवर्तनीय है। किन्तु वह निराश नहीं हुआ। उसने आचार्य के चरणों को कस कर पकड़ लिया और गिड़गिड़ाते हुए कहने लगा—आचार्य ! आप जो भी प्रायश्चित्त दे, वह मुझे स्वीकार है। किन्तु आप अपना निर्णय वापिस लौटा लीजिए। मैं मणिभद्र को अभी प्रकोष्ठ में बन्द कर देता हूँ। और उसे तभी मुक्त करूँगा, जब तीर्थंकर महावीर श्रावस्त त्याग कर दूर पहुँच जायेंगे। मैं अपने पुत्र मणिभद्र के प्रायश्चित्त स्वरूप नगर के ब्राह्मणों में से प्रत्येक को सहस्र मुद्रा दूँगा, स्वर्ण मण्डित सींगे वाली गाये दूँगा, ब्रह्म भोज दूँगा। और जो आप आज्ञा देंगे, वह सब करूँगा। किन्तु आप अपना निर्णय लौटा ले। आचार्य ! अपना निर्णय लौटा ले।

आचार्य ने प्रायश्चित्त की अन्तिम बातें ध्यान से सुनीं। उन्होंने वहाँ एकत्रित नगर के प्रमुख ब्राह्मणों की ओर देखा। उनकी आँखों में आचार्य ने पढ़ा—प्रायश्चित्त स्वीकार्य है। आचार्य की वणी में कोमलता आ गई—‘समन्तभद्र ! तुम वैदिक समाज के नेता हो। सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की दृष्टि तुम्हीं पर केन्द्रित है। तुम्हीं उसके

आधार हो। अपने पुत्र मणिभद्र पर कठोर दृष्टि रखो, ब्राह्मण समाज तुम्हारे प्रायश्चित्त से सन्तुष्ट है। वह अपने निर्णय को वापिस लेता है।

सेठ सुन कर अत्यन्त आल्हादित हो गया। उसने उठ कर सभी ब्राह्मणों का चरण स्पर्श किया और सबको सन्तुष्ट करके बिदा किया।

(२)

कुमार मणिभद्र एकान्त में बन्दी था। परिवार का कोई सदस्य सेठ के कोप के भय से उसके पास जाने का साहस नहीं कर सकता था। कुमार सुबह से भूखा-प्यासा पड़ा हुआ था। वह सोच नहीं पा रहा था कि उसका अपराध क्या है, जिसका यह भयानक दण्ड दिया जा रहा है। वह मातृ विहीन था, घर में सबसे छोटा था। सबका प्रेम पात्र था। किन्तु आज उससे सभी विमुख हो रहे हैं, सभी उसके प्रति निष्ठुर हो रहे हैं। क्यों है यह सब। उसने बहुत सोचा, किन्तु उसकी समझ में कोई कारण नहीं आया।

रात चारदण्ड व्यतीत हो चुकी थी। मणिभद्र की आँखों में नींद का नाम न था। भूख और प्यास से उसकी दशा सोचनीय हो रही थी। इस सम्पन्न समृद्ध परिवार में वह आज एकाकी था, असहाय, अवश। किन्तु सन्तोष का एक सम्बल भी था उसके पास। जब से वह त्रिलोक-पति भगवान् महावीर के दर्शन करके लौटा है, उनका वह भुवन मोहन रूप उसकी आँखों के आगे फिर रहा है। वह अपनी आँखें बन्द करके उसी रूप को निहार रहा है। उस रूप में अनन्त करुणा और जगत को अभय-दान की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है। और मणिभद्र उस दिव्य मन्दाकिनी की शीतल धारा में आलोडन कर रहा है। संसार का कोई ताप, कोई आकुलता अब उसे स्पर्श नहीं कर रही है। उसे सकट की इस बेला में भी अनिर्वचनीय शान्ति का अनुभव हो रहा है।

तभी दरवाजा खुलने की आवाज से वह चौक उठा, उसने नेत्र खोलकर देखा—स्वर्ग की एक देवाङ्गना उसके निकट आ रही है। विस्मय से वह अवाक् रह गया। वह उस दिव्य रूप को अपलक निहारता रहा। तभी वह देवी बोली—‘कुमार ! तुम्हारे पिता तुम्हारे शत्रु बन ग

हैं। किन्तु अब तुम मुक्त हो।”

किन्तु देवी! आप कौन हैं? जो इस भाग्यहीन की मुक्ति का वरदान बनकर अवतरित हुई हो? क्या आप स्वर्ग की देवी है या नाग कन्या है?

सुनकर देवी के होठ सम्पुट मन्द हास्य से कुछ विकसित हो गए, मानो कली चटक उठी हो, वह सस्मित बोली—मैं देवी नहीं साधारण मानवी हूँ। किन्तु इन बातों की भी भीमांसा का यह अवसर नहीं है। तुम यहाँ से शीघ्र निकल जाओ। परिचय का अवसर फिर भी मिल सकेगा। यदि किसी को ज्ञात हो गया तो तुम्हारी मुक्ति असम्भव हो जायगी। यह चाबी लो और पिछवाड़े के द्वार से उद्यान में होकर निकल जाओ। यों कह कर उसने चाबी कुमार के हाथ में दे दी।

किन्तु चाबी देने समय हाथ का स्पर्श हो गया जिससे दोनों के शरीर रोमांचित हो उठे। कुमार प्रातःकाल से इस असम्भावित कारण से खिन्न था—मन में सोचने लगा—काश! मैं यही इसी बन्धन में पड़ा रहूँ और यह दिव्य बाला इसी प्रकार मुक्ति का सन्देश लेकर मुझे चाबी थमाती रहे। कुछ क्षण दोनों ही आत्मविस्मृत से वहीं खड़े रहे। तभी वह बाला सयत होकर बोली—“कुमार! बिलम्ब करने से अनर्थ की सम्भावना है। शीघ्रता करना ही श्रेयस्करो है।”

किन्तु कुमार की इच्छा जाने की नहीं हो रही थी। उस दिव्य रूपराशि के सम्मोह ने उसे जड़ बना दिया था। किन्तु उस रूपवती का बार-बार का आग्रह भी टाला नहीं जा सकता था, अतः वह अनिच्छा से अवश्य चल दिया। किन्तु वह बार-बार मुड़कर देखता जाता था और जब तक वह दृष्टि से ओझल न हो गया, वह बाला भी उसी ओर जाने वाले को अपलक देखती रही जब वह ओझल हो गया तो एक गहरी निश्वांस उसके अनचाहे की निकल गई।

(३)

वसुभूति कौशांबी का नगर सेठ था। उसका व्यापार सुदूर देशों में था। नगर का वह प्रतिष्ठित नागरिक था। जैनधर्म पर उसकी अगाध आस्था थी, भगवान महावीर के प्रति उसकी असदिग्ध भक्ति थी। लक्ष्मी उसके चरणों

की दासी थी, किन्तु उसका जीवन अत्यन्त नीरस हो गया था। उसकी धर्मपरायण पत्नी का सबसे देहान्त हुआ था, उसके जीवन का सारा रस सूख गया था और व्यापार से भी प्रायः विरक्त हो गया। उसकी एकमात्र सन्तान उसकी पुत्री रत्नमाला थी। उसका सारा मोह उसी पर था। किन्तु पुत्री भी उसके विराग का ही कारण बन गई थी। वह सोलह साल बसन्तों का सम्पूर्ण सौरभ अपने अंगों में भरकर गदराये आदमी की तरह मधुर और सुरभित हो गई थी। किन्तु यौवन जैसे उसके लिए उपेक्षा की वस्तु था। यौवन की दहलीज पर खड़े होकर भी मादकता कभी उसके मन में नहीं जागो थी। बल्कि वह जीवन के शैशव काल से ही संयम और साधना के मार्ग की पथिक बन गई थी। वह विराग का पाथेय लेकर एक सध्वी की तरह अपने मार्ग में बढ़ती जा रही थी। विकार उसके मन में कभी अंकुरित नहीं हो पाये। साधना की दीप्ति ने उसके अंग-प्रत्यंगों को एक अनिवर्चनीय लावण्य से जगमगा दिया था। किन्तु उस लावण्य में प्रशान्त मोहन था, उन्माद का उत्ताप नहीं; एक मोहक स्निग्धता थी, जिसमें से पावकता की धाराएँ अजस्र वेग में निसृत होती थी।

पिता ने अपनी लाडली पुत्री से अनेक बार विवाह का अनुरोध किया, किन्तु पुत्री ने सदा विवाह से इनकार किया। तब व्यवहार चतुर पिता ने सोचा—यदि तीर्थ-वन्दना के बहाने इसे देशाटन कराया जाय तो शायद मेरी पुत्री में कुछ परिवर्तन आ सके और उसमें नये रूप में जीवन की स्पष्टता जाग सके। यह सोचकर वह अपनी पुत्री को लेकर विविध तीर्थों की यात्रा कराता हुआ श्रावस्ती आया। सेठ समस्तभद्र उसके अनन्य मित्रों में से थे। उन्होंने अनेक बार वसुभूति से श्रावस्ती आने का आग्रह भी किया था। अतः वसुभूति अपनी पुत्री रत्नमाला को लेकर समस्तभद्र के घर पर पहुँचे। सेठ समस्तभद्र ने अपने अनन्य सुहृद का हृदय से स्वागत किया और रत्नमाला को बड़े वात्सल्य और दुलार से अपनी पुत्री की तरह ग्रहण किया।

वसुभूति को तभी आवश्यक कार्य से कौशांबी लौटना पड़ा और वह रत्नमाला को छोड़कर चला गया। रत्न-

माला को यहाँ आये दो ही दिन हुए थे। किन्तु इसी बीच उसकी दृष्टि मणिभद्र की ओर आकर्षित हुई। वह सौम्य प्रकृति का स्वस्थ और सुन्दर युवक था। उसे देखते ही रत्नमाला की अवधारा में अकस्मात् ही परिवर्तन होने लगा और वह जीवन के बारे में एक नये ही दृष्टिकोण से सोचने लगी। उसके चिन्तन की धारा विलक्षण थी। उसके मनमें भोगों की लालसा तो एक क्षण की भी नहीं आई, किन्तु विवाह की एक अव्यक्त ललक रह रहकर उसे आन्दोलित करने लगी। सम्भव है इससे पिता जी के जीवन में एक शान्ति, एक सन्तोष आ सके।

तभी ब्राह्मण समाज की कुटिल दुरभि सन्धि की भनक उसके कानों में पड़ी और कुमार मणिभद्र के कारावास का समाचार भी उसने सुना। सुनकर वह स्थिर न रह सकी। समय का जो आवरण उसने बड़े यत्न से अपने चारों ओर डाल रखा था, वह भी तार-तार कर गलने लगा। उसमें दुस्साहस की एक उद्दाम भावना प्रबल वेग से जागृत हुई और वह कहीं से सूचिका गुच्छक लेकर एकान्त निशेथ में उस एकान्त प्रकोष्ठ में जा पहुँची, जहाँ मणिभद्र को बन्दी बनाकर रखा गया था। उसने परिणाम की चिन्ता किये बिना मणिभद्र को मुक्त करा दिया और जब वह अपने शयन कक्ष में गुप्त रूप से लौटकर आई, तब उत्तक मन का सारा उद्वेग शान्त हो चुका था।

किन्तु प्रातःकाल का सूर्य सेठ समन्तभद्र के लिए अमंगल और अवमानना का उत्पात लेकर उदित हुआ। प्रातः होते ही यह प्रकट हो गया कि मणिभद्र कारागार के प्रकोष्ठ में नहीं है। वह मुक्त किया गया है। किन्तु किसने उसे मुक्त करने का साहस किया है, यह लाख प्रयत्न करने पर भी ज्ञात नहीं हो पाया। इतना ही नहीं मुक्त होकर मणिभद्र प्रभु महावीर के चरणों में जाकर बैठा है। इससे भी भयानक एक दुस्सवाद यह भी मिला कि सेठ का मध्यम पुत्र सुभद्र भी तीर्थंकर महावीर की शरण में चला गया है।

ब्राह्मण वर्ग ने इन अमंगल समाचारों को वैदिक धर्म के प्रति सेठ समन्तभद्र के घोर विश्वासघात के रूप में लिया। श्रावस्ती के समस्त वैदिक जन मेदिनी में समन्तभद्र के प्रति अनर्गल भाषा में आक्रोशपूर्ण चर्चा चलने

लगी। आचार्य माण्डव्य यमराज की-सी भयंकर मुद्रा लिये समन्तभद्र के आवास में पहुँचे। उनके सग ब्राह्मणों की एक विशाल भीड़ चली जा रही थी। उन्होंने जाकर देखा—समन्तभद्र शोक मूर्ति बना हुआ यज्ञ मण्डप में धूल-में लोट रहा है। अभी दो दण्ड दिन ही चढ़ा था, किन्तु इतने ही समय में सेठ शायद अपनी आयु से पचास वर्ष अधिक हो गया था।

आचार्य और ब्राह्मणों ने अपने अदम्य क्षोभ को नाना भाँति असयत और अनर्गल भाषा में व्यक्त किया। किन्तु शोक मूर्च्छित सेठ के कानों में कोई शब्द न पहुँचा।

(४)

जगद् बन्धु महावीर श्रावस्ती के बाहर जेतवन में विराजमान थे। जेतवन युवराज जेतकुमार का विलास उद्यान था। विलास की सभी सुविधाएँ वहाँ उपलब्ध थी। युवराज आचार्य माण्डव्य के शिष्य थे। तीर्थंकर महावीर के वहिष्कार आन्दोलन के नेता थे। ब्राह्मण समाज को उन पर पूर्ण विश्वास था। किन्तु ब्राह्मण समाज को यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि स्वयं युवराज ने तीर्थंकर प्रभु से जेतवन में पधारने का आग्रह किया था और महाप्रभु उसकी विनय को स्वीकार करके वहाँ पधारें तो महाराज प्रसेनजित के साथ युवराज भी उनके चरणों में बढ़ाजलि उपस्थित था।

श्रावस्ती आज आश्चर्यों का आगार बनी हुई थी। ब्राह्मण समाज विस्मय और उत्तेजना के साथ इन आश्चर्यों को देख रहा था। जेतकुमार उनके दल को छोड़कर तीर्थंकर का भक्त बन चुका था। सेठ समन्तभद्र के दो पुत्र महाश्रमण के उपासक बन गये थे। सारी श्रावस्ती उनके दर्शनो के लिए उमड़ पड़ी थी। तब आचार्य माण्डव्य सब कही यह प्रचारित करने में जुट पड़े कि तीर्थंकर मायावी है, वे सम्मोहन विद्या में पारंगत है। उनकी सम्मोहन माया के जाल में युवराज और श्रेष्ठ पृत्र फँस गये हैं।

किन्तु आचार्य इससे निराश नहीं हुए। उनका ग्रह अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं था। उन्होंने अपने पक्ष के सभी ब्राह्मणों और श्रेष्ठियों की परिपद् बुलाई। परिपद् में अद्भुत गम्भीरता व्याप्त थी। क्षण-क्षण में उस महाश्रमण के निकट अपने पक्ष के

प्रभुत्व आधार-स्तम्भों के पहुँचने के समाचार आ रहे थे। वातावरण आशंका और विस्मय, भय और आतंक से व्याप्त था। उत्तेजना क्षण-क्षण बढ़ती जा रही थी। आचार्य अपने भवन को ढहते देख रहे थे और अब अवशिष्ट भवन की सुरक्षा करने के लिए कोई न कोई उपाय करने का संकल्प उनके उद्विग्न मानस में बढ़ता जा रहा था। उन्होंने सकल्प का एक रूप संजोए हुए परिषद को सम्बोधित किया :—

शाश्वत धर्म के अनुयायियो ! आप त्रिकालदर्शी महर्षियों के पवित्र धर्म के अनुयायी है। आपको सौभाग्य से अपने महान् पूर्वजों से उत्तराधिकार में लोक कल्याणकारी धर्म और ज्ञान मिला है। किन्तु आज मायावी महावीर अपनी माया विस्तार करके उम धर्म का विरोध कर रहा है और उसका धर्म सूखे पत्तों में लगी आग की भाँति बढ़ता जा रहा है। वैशाली गणराज्य के कुण्डग्राम में उसका जन्म हुआ। इसलिए गणराज्य के सभी निवासी अपनत्व के व्यामोह में फँसकर उसके धर्म के अनुयायी हो गए हैं। मल्ल, यौधेय आदि गणसंघ भी समान शासन पद्धति के कारण उसके भक्त हो गए हैं। राजगृह के सेनिय बिम्बसार, श्रावस्ती के महाराज प्रसेनजित, कौशम्बी नरेश शतानीक, अवन्ति नरेश चण्ड प्रद्योत, चंपा-नरेश, दधिवहन आदि अनेक नरेश उसके उपासक बन गए हैं। वह अपने आपको केवली, सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहता फिरता है। बहुत समय से मैं उसका मान-मर्दन करने का विचार कर रहा था। उसका दुर्भाग्य उसे आज यहाँ ले आया है। मैं आज उसी की समवसरण परिषद में जाकर उसे पराजित करूँगा और सारे विश्व में वैदिक धर्म की पताका फहरा दूँगा।

सब लोगों ने आचार्य के सकल्प की सराहना करके जयध्वनि की। सभी को उनके अगाध पाण्डित्य पर विश्वास था। सभी ने उनके साथ चलने की स्वीकृति दी। और बुद्ध परिवार आचार्य के साथ समवसरण की ओर चल दिये। आचार्य का अहंकार उनकी विद्वत्ता की भाँति ही असाधारण था। किन्तु जैसे-जैसे वे समवसरण मण्डप की ओर बढ़ते गए, उनका अहंकार खलित होता गया। उन्हें मनोदोर्बल्य का अनुभव होने लगा। जब वे

समवसरण के बाहर बने हुए मानस्तम्भ के समक्ष पहुँचे तो उनके मन में एक भाव जागा—काश ! मैं यहाँ न आया होता।

मानस्तम्भ उनके अभिमान को चुनौती देता हुआ आकाश में मस्तक उठाये हुए खड़ा था। उसके समक्ष उनका अभिमान छोटा पड़ता गया। और उसके उत्ताप से वह गलित होता गया। मन में कोमलता जागी और अभिमान नाम शेष हो गया। उनके मन में सरलता का उदय हुआ, विनय जागी। और जब वे मण्डप में प्रवेश करने लगे, तब वे विनय की साकार मूर्ति बने हुए थे। वे महाप्रभु के लोकोत्तर व्यवितत्व से अभिभूत थे। न जाने किस अदृश्य शक्ति से उनके हाथ स्वयं अकल्पित रूप में जुड़ गये। वे साष्टांग नमस्कार करके विनय पूर्वक कहने लगे—प्रभु ! क्षमा करें। मुझे अज्ञानी को क्षमा कर दें।

प्रभु कह रहे थे—माण्डव्य ! तुम्हारे मन में जो कोमलता उपजी है, वही तुम्हारा प्रायश्चित्त है।

माण्डव्य विगलित कंठ से कहने लगे—देव ! मेरा अपराध महान है। मुझे आप अपना उपासक ग्रहण करें मुझे अपना शिष्य बनाकर इन चरणों में बैठने का अवसर प्रदान करें।

माण्डव्य ने मुनि दीक्षा ले ली और उन्हे इद्रभूति, वायुभूति और अग्निभूति की पवित्र में स्थान मिला।

जब वे स्वस्थ होकर बैठ गये तो उन्होंने देखा—मनुष्य के कोष्ठ में से समन्तभद्र अपने दोनों पुत्र—सुभद्र और मणिभद्र के साथ प्रमुदित मन से बैठे हुए हैं। सारा ब्राह्मण वर्ग हाथ जोड़े हुए महाप्रभु के वचनामृत का रसास्वाद कर रहा है। और महाप्रभु के महान व्यक्तित्व की शीतल छाया में सबके मन शान्त, निर्मल हो चुके हैं।

(५)

मणिभद्र के मन में रह रह कर विराग की तरंगें उठती; किन्तु उसे अपने पिता के आग्रह के आगे विवाह की स्वीकृत देनी पड़ी। रत्नमाला को भी अपना संकल्प छोड़ना पड़ा। और एक दिन दोनों का विवाह हो गया। सैठ समन्तभद्र और वसुभूति दोनों ही बड़े प्रसन्न थे।

आज मणिभद्र और रत्नमाला की सुहागरात थी। एक सुसज्जित, सुवासित प्रकोष्ठ में स्वर्णपर्यंक फूलमालाओं से अलंकृत था। पर्यंक पर श्वेत आच्छादन बिछा हुआ

था। निकट ही स्वर्ण पीठ पर दूध की झारी और मिष्ठान्न रक्खा हुआ था। दीपाधार पर सुवासित तेल के सहस्र दीप गुच्छक जल रहे थे। गदाक्ष से शीतल चांदनी आ रही थी। मन्द-मन्द शीतल पवन बह रही थी। युगल प्रेमी पलंग पर भाव विमोहित से बैठे हुए थे। मणिभद्र ने मौन भंग करते हुए कहा—देवी ! तुम्हें पाकर मैं धन्य हुआ। तुम्हें पाने की ललक एक दिन मेरे मन में उठी थी, वह आज पूरी हो गई। किन्तु क्या भोग ही जीवन की चरम परिणति है, मैं यही सोच रहा हूँ।

रत्नमाला भाव लोक में विचरण कर रही थी। सुनकर वह जैसे जागी। वह बोली—आर्यपुत्र का कथन सत्य है। भोग जीवन की विकृति है। जीवन का प्रयोजन इससे महान है। हमें उस महान प्रयोजन को भुला देना नहीं है।

देवी ! सच है। हमें उस महान प्रयोजन के लिए मिलकर प्रयत्न करना है। इस प्रयोजन की राह में हमें भोगों को नहीं आने देना है। क्या देवी के मन में किसी काने में भोगों की कोई स्पृहा तो नहीं है।

नहीं है देव ! मैं जो कल थी, वही आज भी हूँ। लोकदृष्टि में हम पति-पत्नी हैं, किन्तु मेरे मन में विवाह ने कोई अन्तर नहीं डाला।

‘धन्य है देवी ! किन्तु सम्भव है, चिर साहचर्य सकल्प को निर्बल कर दे। उसका उपाय करना होगा’ मणिभद्र ने कहा।

रत्नमाला गहरे विचार में डूब गई और कुछ देर पश्चात् बोली—मैंने उपाय सोच लिया है। हम दोनों इस शय्या पर सोवेंगे, किन्तु क्रम-क्रम से। क्या यह उपाय उचित न होगा ?

मणिभद्र प्रसन्नता से उछल पड़ा। यह उपाय सर्वथा उचित था। वह बोला—देवी ने जो उपाय बताया है, निष्कलक है। हमारी राह कटकाकीर्ण है, किन्तु तुम मुझे सहारा देनी रहना। तुम्हारा संबल पाकर मैं कृतार्थ हो गया। हमें इस जीवन को साधनामय बनाना होगा। तभी हम अपने प्रयोजन में सफल हो सकेंगे। तुम जैसी पत्नी को पाकर मैं धन्य हो गया। देवी ! मैं अब निश्चिन्त हूँ।

युगल प्रेमी प्रणय की उस रात में यों ही योजना

बनाते रहे। इसी तरह दिन बीतते गये। दिन कामों में बीतता और रात विराग चर्चा में। एक सोता दूसरा आत्म-चिन्तन करता। अद्भुत जीवन था उन प्रेमियों का।

एक दिन रत्नमाला सो रही थी, मणिभद्र जाग रहा था। नींद की बेहोशी में बेसुध पड़ी रत्नमाला का प्राचल उसके उन्नत वक्ष से हट गया था। श्वास के साथ उरोजों का आरोह-अवतीत एक लय के साथ हो रहा। निशीथ की गहरी निस्तब्धता थी। गहराता यौवन, एक शैया, एकान्त कक्ष। मणिभद्र अपलक निहार रहा था उसके कमनीय रूप को। विचारों की रंगीन तरंगें उसके मन में अन्वकार भरती जा रही थी। तभी वह चौका। रत्नमाला की वेणी शय्या के नीचे लटकी हुई थी और उसके सहारे एक भयानक नाग ऊपर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा था। वह भुका और उसने हाथ बढ़ा कर वेणी को पकड़ कर छिटक दिया। नाग तो अलग जा पड़ा। किन्तु इस हड़-बड़ी में वह अपना सतुलन न रख सका और अप्रत्याशित रूप से रत्नमाला के वक्ष पर गिर पड़ा। रत्नमाला की सुरभित श्वास उसके नासा-पुटों में भर गई। क्षणभर के इस मादक स्पर्श ने उसके शरीर को रोमांचित कर दिया। रत्नमाला की आंखें खुल गईं। मणिभद्र सयत होकर बैठ गया, किन्तु लज्जा से अभिभूत हो उठा। उसने अपने कृत्य की सफाई भी दी, किन्तु उसकी देह अब तक रोमांचित हो रही थी।

रत्नमाला ने ध्यान से यह देखा और वह उठकर बोली—मणिभद्र ! यों कब तक चलेगा। भोग के साधनों में रहकर विराग की दीवारें किसी दिन ढह सकती हैं। अस्वाभाविक जीवन की छलना में जीवन बिताया नहीं जा सकता। जो कुछ भी हुआ है वह फिर किसी दिन भी हो सकता है। तुम्हारा मन निर्बल हो रहा है, क्या यह सच नहीं है ?

मणिभद्र सुनकर सकुचित हो उठा—देवी ! अपने कृत्य पर मैं लज्जित हूँ। किन्तु जो कुछ हुआ, वह अवशरूप से हुआ है।

रत्नमाला भी जानती थी, किन्तु भविष्य में भी ऐसी सम्भावनाओं का तो अन्त नहीं हो जायगा। यह सोचकर

साहित्य-समीक्षा

१ समयसार-वैभव — लेखक पं० नाथूराम डोंगरीय
शास्त्री प्रकाशक, जैनधर्म प्रकाशन कार्यालय ५/१ तम्बोली
बाखल, इन्दौर (म० प्र०) मूल्य ३) रुया ।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द के समयसार का पद्यानुवाद है जिसे पं० नाथूराम जी डोंगरीय ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। अनुवाद करते समय लेखक ने अनेकान्त नीति का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकर्ता की मूल-गाथा का भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पद्यानुवाद पढ़ते समय अध्यात्म रस का पान हुए बिना नहीं रहता। जब आत्मा वस्तुतत्त्व की दृष्टि से स्वसंवेदन द्वारा भेद ज्ञान की ओर झुकता है। तब वह सफलता के सोंपान पर चढ़ता है। भेद ज्ञान से ही जीव मिथ्यात्व-विहीन होता है। जब तक भेद विज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा अपने स्वरूप का भान नहीं कर पाता अतएव भेद-विज्ञान को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए समयसार वैभव के कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं, जिसमें पाठक पद्यानुवाद की उपयोगिता का परिज्ञान कर सकें।

बीतराग के दिव्य ज्ञान में आत्मतत्त्व पुद्गल से भिन्न,
झलक रहा वह ज्ञान ज्योतिमय चिदानन्द रस पूर्ण अखिन्न ।
कैसे हो सकता चेतन का पुद्गल संग अविभक्त स्वभाव,
जो तू जड़ परिकर को कहता—मेरे-मेरे चेतन राव ॥
आश्रय का रुक्ता संवर है, उसका हेतु भेद विज्ञान,
आत्मतत्त्व उपयोग मयी है, श्रोधादिक से भिन्न महान् ।
दर्शन ज्ञानमयी होता है चेतन का उपयोग प्रवीण,
उससे भिन्न क्रोध मानादिक है कषाय की वृत्ति मलीन ॥

गाथा का भावानुवाद यदि एक पद्य में नहीं आ सका,
तो कवि ने उसे दूसरे पद्य द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास

किया है।

वर्तमान में पाठकों का झुकाव समयसार के अध्ययन की ओर बढ़ रहा है, वह समयसार को समझे या न समझे उसका पाठ तो हो जाता है, पर उसके भर्म का बोध नहीं हो पाता। क्योंकि कर्म सिद्धान्त और दर्शनशास्त्र के अभ्यास बिना समयसार का हृदयंगम होना कठिन है। हाँ, उसे इतना ही लाभ हो पाता है कि वह थोड़ी बहुत अध्यात्म चर्चा करने लगता है। चर्चा केवल अध्यात्म की होती है पर व्यवहार और निश्चय को समझे बिना समयसार के रहस्य का बोध नहीं हो पाता। कोरे अध्यात्म-वाद की चर्चा जीवन को एकान्त की ओर ले जाती है। मैंने समयसार के अनेक ऐसे पाठकों को देखा है, जिन्हें निश्चय और व्यवहार का यथार्थ बोध नहीं है, और न सिद्धान्त का ही परिज्ञान है। अनेकान्त और नयों की रहस्यपूर्ण चर्चा का परिज्ञान तो दूर की बात है। ऐसी स्थिति में समयसार के अध्ययन से क्या उन्हें शुद्धात्मतत्त्व का परिज्ञान हो सकता है? अतः ऐसे लोगों का कर्तव्य है कि वे पहले सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करें, और बाद में समयसार का अध्ययन करें, तब उन्हें समयसार का आंशिक बोध हो सकता है। अतः अध्यात्म रसिकों का कर्तव्य है कि वे समयसार के वास्तविक रहस्य को पाने के लिए प्रयत्न करें।

ग्रन्थ की प्रस्तावना पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी ने लिखी है जा डोंगरीय जी के विद्या गुह है। प्रस्तावना में समयसार के अधिकारों का सक्षिप्त परिचय कराते हुए पद्यानुवाद कर्ता के सम्बन्ध में भी लिखा है। ग्रन्थ उपयोगी है, इसके लिए लेखक महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं। परमानन्द शास्त्री

वह बोली—यह ठीक है कि यह सब अवशरूप में हुआ है किन्तु उसके प्रभाव से तो नहीं बचा जा सकता। कल मेरी या तुम्हारी निर्बलता हमें विचलित भी कर सकती है। क्यों न हम इन अस्वाभाविक जीवन को समाप्त करके अपने सकल को मूर्तरूप दे। हमारी साधना में लोक प्रदर्शन क्यों बाधक बने।

मणिभद्र अब तक पूर्णतः स्वस्थ हो चुका था। उसे अपनी दुर्बलता पर ग्लानि हो रही थी। रत्नमाला ने जो कहा था, वही उसे भी युक्तिसंगत लगा। उसने दृढ़

स्वर में कहा—रत्नमाला ! तुम ठीक कहती हो। हमें अपने महान् प्रयोजन के लिए इस जर्जर मोह बन्धन को तोड़ना चाहिए और वह भी आज ही। हमारी निष्कृति इसी में है।

प्रातःकाल का सूर्य निकला और वह साधना निरत दम्पति घर से निकल पड़ा। राह कठिन थी। बी-मोह के पर्वत खड़े थे, भावनाओं के तूफान चल-मी किन्तु वे इन सबकी पर्वाह किये बिना बढ़ते रह लक्ष्य की ओर, अनन्त की ओर।

आचार्यधरसेन के चरण एवं सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति की खोज

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से राजस्थान का आठ दिवसीय खोज यात्रा में डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल एवं पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ को जयपुर से पचास मील पश्चिम की ओर स्थित नारायणा ग्राम में संवत् ११०२ की सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति उपलब्ध हुई है। आचार्य धरसेन के चरणों पर जो लेख अंकित है वह पूर्णतः स्पष्ट है। इसी तरह सरस्वती की संवत् ११०२ की मूर्ति के मस्तक पर तीर्थंकर की मूर्ति है जो श्वेत पाषाण की है।

इसी खोज यात्रा में डा० साहब एवं श्री न्यायतीर्थ जी को बारह वीं १३ वीं एवं १४ वीं शताब्दी के और भी कितने ही लेख मिले हैं जिन पर शीघ्र ही डा० साहब द्वारा प्रकाश डाला जायेगा। संवत् ११३५ की मन्व्य मनोग्य एवं विशाल प्रतिमाएँ भी इस नगर के जैन मन्दिरों में विराजमान हैं। मूर्ति कला की दृष्टि से भी ये मूर्तियाँ उत्कृष्ट कला कृतियाँ हैं।

उभयविद्वानों ने अपने आठ दिवसीय शोध भ्रमण में नारायणा के अतिरिक्त सांभर, उछियारा, अलीगढ़, रामपुरा, सवाई माधोपुर एवं शेरपुर आदि स्थानों के शास्त्र भण्डारों के सात सौ से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण तैयार किया है जिसमें संवत् १४६६ की एक पाण्डुलिपियों की उपलब्धि के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी प्रतियाँ मिली हैं जिनके बारे में साहित्यिक जगत अभी तक अपरिचित था। ऐसी कृतियों में हेमराय पांडे की समयसार की हिन्दी गद्य टीका विशेषतः उल्लेखनीय है।

चिर प्रतीक्षित लक्षणावली का प्रथम भाग प्रकाशित हो गया

जैन लक्षणावली (जैन पारिभाषिक शब्दकोष) यह कोश में दिये गए लाक्षणिक शब्दों का दिगम्बर-श्वेताम्बरों के चार सौ ग्रन्थों पर से सकलित किया गया है। उनमें एक-एक लक्षण की हिन्दी भी दे दी है। जिससे सर्वसाधारण को उनका परिज्ञान हो सके। इस कोष का सम्पादन सिद्धान्त शास्त्री प० बालचन्द जी ने किया है। उन्होंने प्रस्तावना में १०२ ग्रन्थों और उनके कर्ताओं का भी सक्षिप्त परिचय दे दिया है। जिससे यह ग्रन्थ उन तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वानों, रिसर्च स्काफ़रों, प्रोफेसरों, लायब्रेरियों, पुस्तकालयों और स्वाध्याय प्रेमियों के लिए बहुत उपयोगी और काम की चीज है। यह कोश ३२ पौण्ड के कागज पर छपा है। जल्दी से आर्डर देकर अपनी पुस्तक बुक करा लीजिये। कपड़े की पक्की जिल्द है। ग्रन्थ का मूल्य २५) रुपया है।

व्यवस्थापक

बीर सेवा मन्दिर, २१ हरिचामन,
दिल्ली-६

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

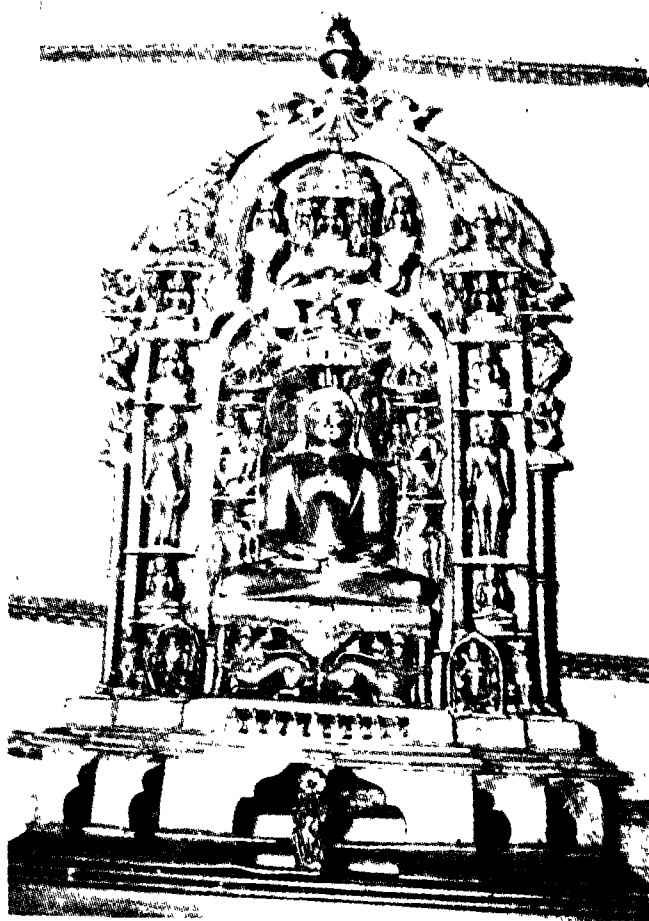
पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है । सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची । संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द ।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द ।	८-००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित ।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित ।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पद्याध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित	१-५०
युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था । मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द ।	१-२५
श्रीपुरपाद्वंशानुस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद-सहित ।	७५
शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द ।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्राय) — मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त ।	२५
अवणबेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य	१६
अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित ।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपूर्व श के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं० परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाहुडमुक्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५-००

वर्ष २४ : क्रि.ए. ४

अक्टूबर १९७१

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र



दिल्लो दरवाजे के दि० जैनमन्दिर की धातु की भव्य तीर्थंकर मूर्ति

—पन्नालाल जी अग्रवाल के सौजन्य से

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१.	श्रेयास जिनस्तवन—स्वामी समन्तभद्र	१३७
२.	हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएँ—परमानन्द शास्त्री	१३८
३.	ब्रह्म साधारण कृत दुद्धाग्नि कथा— डा० भागचन्द्र जैन	१४४
४.	‘उस मारग मत जायरे’ (राग खयाल)— कविवर भूधरदास	
५.	अपभ्रंश भाषा के कवियों का नीति वर्णन —डा० बालकृष्ण अकिचन’ एम० ए० पी० एच० डी०	१४७
६.	जैन यक्ष यक्षिणियाँ और उनके लक्षण —गोपीलाल अमर एम० ए० शास्त्री	१५२
६.	हडप्पा तथा जैनधर्म—टी० एन० रामचन्द्रन (अनुवादक) डा० मानसिंह	१५६
८.	हेलाचार्य—परमानन्द जैन शास्त्री	१६४
९.	पावापुर—पं० बलभद्र जैन	१६५
१०.	महामात्य कुशराज—परमानन्द जैन	१८२
११.	खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर की रथिकाओं में जैन देवियाँ— मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	१८३

✽

सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त पत्र के ग्राहकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया मनीग्रार्डर से शीघ्र भिजवा दें, अन्यथा बी. पी. से १.२५ पैसे अधिक देना पड़ेगा ।

जिन ग्राहकों ने अपने पिछले २३वें वर्ष का वार्षिक चन्दा अभी तक भी नहीं भेजा है, वे अब २३वें और २४वें दोनों वर्षों का १२ रुपया मनीग्रार्डर से अवश्य भिजवा दें ।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’
बीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज
दिल्ली

सहायता अनेकान्त

२५) स० सिधई धन्यकुमारी जैन कटनी से
सहान्यवाद प्राप्त ।

११) चि० राजेश सुपुत्र लाला अनन्तराम जैन
अम्बाला निवासी एव कुमारी निवासी एव कुमारी अरुणा,
सुपुत्री ला० पदम प्रसाद जैन किमन पल्लोर मिल रेल्वेरोड
के विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से सहान्यवाद
प्राप्त ।

व्यवस्थापक
बीर सेवामन्दिर, दरियागज
दिल्ली

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं । —व्यवस्थापक अनेकान्त

आम् अहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४
किरण ४

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६८, वि० सं० २०२७

{ सितम्बर
अक्टूबर १९७१

श्रेयान्स जिनस्तवन

अपराग समाश्रेयन्तनाम वमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य समुत्सन्नज वाजितः ॥४६
अपराग स मा श्रेयन्तनामवमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य समुत्सन्नजवाजितः ॥४७
—स्वामी समन्तभद्र

अर्थ—हे वीतराग ! हे सवज्ञ ! आप सुर, असुर किन्नर आदि सभी के लिए आश्रयणीय हैं—सेव्य हैं—सभा आपका ध्यान करते हैं, आप सब का हित करने वाले हैं अतः हिताभिलाषी जन सदा आपको घरे रहते हैं—आपकी भक्ति वन्दना आदि किया करते हैं। आपकी शरण को प्राप्त हुए भक्त पुरुष भय को नष्ट कर—निर्भय हो, हर्ष से रोमाञ्चित हो जाते हैं। आप पराग से—कषाय रज से—रहित हैं। ज्ञानवान् श्रेष्ठ पुरुषों से सहित हैं, पूज्य हैं तथा राग-द्वेषरूप संग्राम से आपका वेग नष्ट हो गया है—आप राग-द्वेष रहित हैं। मैं आपके दर्शनमात्र से ही आरोग्यता और निर्भयता को प्राप्त हो गया हूँ। हे श्रेयान्स देव ! मेरी रक्षा कीजिये।

हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएं

परमानन्द जैन शास्त्री

कवि सांगु या सांगा—कवि ने अपना कोई परिचय नहीं दिया, और न अन्यत्र से ही प्राप्त हो सका है। कवि ने अपना नाम 'सांगु' प्रकट किया है। अपनी गुरु परम्परा और समयादि भी नहीं दिया। जिससे रचना काल का निश्चित करना संभव नहीं है। इनकी एक मात्र कृति 'सुकोशलरास' है, जिसमें १७० के लगभग पद्य हैं। भाषा में हिंदी के साथ गुजराती का मिश्रण है। परन्तु कविता सरस है। प्रस्तुत रास में दूहा, चौपई के अतिरिक्त वस्तु बध, राग विराड़ी, ढाल वणजारानी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। यह ग्रंथ पंचायती मन्दिर दिल्ली के शास्त्रभंडार में एक विशाल गुच्छक में संगृहीत है। गुच्छक सवत १६१६-१७ वीं शताब्दी का लिखा हुआ है। इसकी दूसरी प्रति 'नैणवा' के शास्त्रभंडार में एक गुच्छक में उपलब्ध है जो सं० १५८५ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी रविवार को लिपिबद्ध हुआ है। इससे इस रास की उत्तरावधि सं० १५८५ सुनिश्चित है। अतः यह रास विक्रम की १५वीं शताब्दी या १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना हो सकती है। इसमें सुकोशल का जीवन-परिचय अंकित है।

एक समय सुकोशल के पिता मुनि कीर्तिघवल राज महल के पास बैठे हुए उपदेश दे रहे थे। पर उन्हें रानी सहदेवी ने आहार नहीं दिया। इससे राजा की दासी को बड़ा दुख हुआ। मुनि वस्तु स्वरूप का कथन कर रहे थे जिसे सुकोशल ने भी सुना। अतः वह जाकर मुनिराज के चरणों में पड़ा। मुनिराज ने उसे आशीर्वाद दिया और सांसारिक सुख की असारता बतलाई। जैसा कि रास के निम्न पद्यों से प्रकट है :—

१. करजोड़ी सांगु कहि सब गुरु सेव कर चोस।

कुंवर सुकोशल चुप ही हैं सांख्येय भण्योस।

—सुकोशल रास अन्तभाग

पुत्र कलत्र केहि नु परीवार, कहिनी लक्ष्मी कहिनी नार।

अभ्रपटल जिमि दीसे मेह, तिसु कहीय संसार-सनेह ॥ ८

विषय तरुण सुख रुअड़ा, साभलि राय सुजान।

सुख होई सगसो समू, दुख ते मेरू समान ॥ ९

विषया केरी वेलड़ी जेणि न छेदा जाणि।

यवारि फूली फल लागसी, दुख देसि निरवारण ॥ १०

जे नर नारी मोहिया सुणि सुकोशल भूप।

ते नर कहीइ बापड़ा, पड्या ससारह कूप ॥ ११

विषयतणा सुख परिहरि, छडे वा भवपार।

चलणे लागो ग्रनि, मांगि संयम भार ॥ १२

सुकोशल ने मुनि का उपदेश मुनकर, ससार से विरक्त हो, राजभोगों का परित्याग कर और गर्भस्थ पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ले ली। सुकोशल की मुनि दीक्षा से माता बहुत दुखी हुई। वह मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। उपचार करने से मूर्छा दूर हो गई, किन्तु उसे सारा राज परिवार और मन्दिर सूना दिखाई दिया। वह पुत्र वियोग जन्य आर्तध्यान से मरी और वाघिणी हुई। जैसा कि कवि के निम्न पद्य से प्रकट है :—

जे जननी मुनिवर तणी सहदेवी री साल।

ते भूखी वन माहि भमि, वाघेड़ी थई विकराल।

मुनि सुकोशल वन में ध्यानस्थ थे। एक वाघिणी उधर से भूखी प्यासा होने के कारण मुनिवर पर भ्रष्ट पड़ी। उसने सुकोशल मुनि के शरीर का विदारण किया। मुनि आत्म-ध्यान में निष्ठ हो केवली हुए। उन्होंने उन स्थान को प्राप्त किया जहाँ जन्म, मरण, दुःख, सताप, कर्मबन्धन और रूपादि वर्ण नहीं हैं किन्तु आत्मा अपने

१. पुत्र तणी जब टूटी आस, पड़ी पृथ्वी गति न लेही सांस।

घड़ी व चार अचेतन हवी, नारवी वायु तब छेरी थई ॥

—सुकोशलरास

चैतन्य स्वरूप ज्ञानानन्द मे स्थिर रहता है वह निरजत पद प्राप्त किया। वाषिणी की दृष्टि शरीर का भक्षण करते हुए जब उस चिन्ह पर पड़ी, तब उसे देखकर जाति स्मरण हो गया। इधर सुकोशल के पिता मुनि कीर्तिधवल ने भी समझाया, और बताया कि यह तेरा पुत्र था, जिसे तूने भक्षण किया है। जहाँ माना ही अपने पुत्र को खा जाती है, उससे बड़ा पाप और क्या हो सकता है? पश्चात् उसने बड़ा पश्चाताप किया, परिणाम स्वरूप उसके हृदय में विवेक जागृत हुआ और उसने भी आत्मा को पवित्र बनाने का प्रयत्न किया।

त्रिभुवनचन्द्र—ने अपना कोई परिचय गुरुपरम्परा और समय का कोई उल्लेख नहीं किया। कवि ने कही 'चन्द्र' और 'त्रिजगच्चन्द्र' तथा 'त्रिभुवन चन्द्र' नाम दिया है। राजस्थान के भण्डारों में आपकी कई रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनसे आपकी हिन्दी साहित्य-सेवा की लगनका पता चलता है। आपकी रचना सुन्दर, सरस और प्रवाहयुक्त है। अनित्य पचाशत, फुटकर दोहे कवित्त आदि और षट्द्रव्य वर्णन आदि है। कविता सरस और भावपूर्ण है। इसमें अनित्य पचाशत आचार्य पद्मनन्दि की मस्कृता रचना है उसका हिन्दी पद्यानुवाद कवि ने प्रस्तुत किया है। जिसका आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

शुद्ध स्वरूप अनूप मे मूर्ति ज सुगिरा करुणामय सोहे,
सजमवत महा मुनि जोध जिन्हो घट धीरज चाप धरो है।
मारन की रिपुमोह तिन्हें वह तोक्षन साइक पकति हो है,
सो भगवत सदा जयवत नमो जग में परमात्म जो है।१।

अन्तिम भाग :—

पद्मनन्दि मुनिराज तामु आनन जलधारी,
तातिहँ भई प्रपूति सकल जन मन सुखकारी।
धनवनिता पुत्रादि सोक दावानल हारी,
भय दलनी सदबोध अत उपजावन हारी॥
उन्नत मतिधारी नरनिकों अमृत वृष्टि संराय हरनि।
जय यह अनित्य पंचासिका त्रिजगच्चन्द्र मगल करनि॥१॥
दोहा—मूल संस्कृत ग्रन्थें भाषा त्रिभुवनचन्द्र,

कीनी कारण पायके पढ़त बढ़त आनन्द॥

दूसरी रचना षट्द्रव्य निर्णय है जो निम्न प्राकृत गाथाओं का अनुवाद १५ दोहो में किया गया है।

परिणामि जीव मूत्तं सपएसं एयलित्त किरिया य।

णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदमियरम्हि अपवेसो॥मू० ५४५

दुग्गिमय एयं एयं पंचय तिय एय दुग्गिचउरोय।

पंचय एयं एय मूलमस य उत्तरे णयं॥

परिणामो जिय मूरतो, परवेसो इक नित्य।

क्षेत्री करता सर्वं गति, किरियावत निमित्त॥१॥

अनुक्रम सख्या द्वे इक इक पन तीन चउ पन इक द्वे पंच।

प्रतिपक्षो ज्यो कीजिये, उत्तर ग्यारह सच॥२॥

चउपन पन इक तीन द्वे, इक पन पन चउ एक।

यह विचार सोई लहै जा घट विमल विवेक॥३॥

परिणामो द्वे जानिये, चेतन पुद्गल दर्व।

धर्म-अधर्म अकास जम अपरिणामि ए सर्व॥४॥

जीव एक चेतन दरब, वाकी पच अजीव।

रूपी पुद्गल एकलौ, शेष अरूप सदीव॥५॥

पुद्गल धर्म अधर्म नभ, चेतन परम रसाल।

परवेसो ये पंच है, अपरवेस है काल॥६॥

धर्म अधर्म अकास ये, तीनों कहिये एक।

चेतन पुद्गल काल ये, तीनों दरब अनेक॥७॥

धर्म अधर्म कृतान्त नभ, चारों नित्य बखानि।

जिय पुद्गल परिजायकर द्वे अनित्य ये जानि॥८॥

पुद्गल धर्म अधर्म जम, चेतन क्षेत्री पंच।

एक क्षेत्री गगनसौ पर थात बसं न रंच॥९॥

जीव एक करता दरब, दुविध चेतना धाम।

पुद्गल धर्म अधर्म नभ, कात अकरता नाम॥१०॥

व्यापी लोकलोक में, व्योम सर्वगत सोइ।

वाकी पच असवंगत, रहे पूरी तब लोइ॥११॥

चेतन अरु पुद्गल दरब, क्रियावत ए दोय।

वाकी चारों जं रहें, तिन्ह के क्रिया न होय॥१२॥

अनक धर्म अधर्म नभ, पुद्गल पच निमित्त।

चेतन एक अकारिणी, सब गति परम पवित्त॥१३॥

छहो वरब निरवै यहै, नाम मात्र समुझाय।

ग्यारह भेव विचारिके, दोने प्रगट बनाइ॥१४॥

उपादेय चेतन सदा, उज्जल त्रिभुवनचन्द्र।

जाकों ध्यावत भावते, लहिये परमानन्द॥१५॥

कवि की फुटकर रचनाओं में दोहे कवित्त सर्वथा आदि मिलते हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि कवि का

भुकाव ग्रध्यात्म की ओर था । कवि ने लिखा है कि जीव का जब तक अन्तर का दोष—राग-द्वेषादि का बुरा संस्कार—नहीं मिटता, तब तक राग कैसे छूट सकता है । राग भाव के न छूटने से कर्म बन्ध की परम्परा बढ़ती रहती है । ऐसी स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है । जैसा कि निम्न दोहे से प्रकट होता है :—

राग भाव छूट्यो नहीं मिटो न अन्तर दोष ।
संसत बाढ़ें बंध की होइ कहां सों मोक्ष ॥

जीवात्मा के सम्बन्ध में कवि की उक्ति निम्न प्रकार है :—

“सरवस व्यापी रस रहित रूप धरें छिन रूप ।
एक अनेक सुधिर अधिर, उपमावन्त अनूप ॥
विमल रूप चेतन सदा, परमानन्द निधान ।
ताको अनुभव जो करें, सोई पुरुष पुमान ॥”
अमल अलङ्ग अविनाशी निराकार जामे,
दृग्बोध चारित प्रधान तीन वसुरे ।
उज्जल उदीत सदा व्यापत न तमभावनहि,
न सकत जाहि उज्जाला कर्म वसुरे ।
ताहि पहिचानि तू है तो ही मैं न ओर कहूँ,
ताके पहिचानत ही होत है सुवसुरे ।
त्रिभुवनचन्द सुखकन्द पद चाहै जो तौ
तजि जरा जग धूम धाम ऐसे धाम वसुरे ।

इन सब पद्यों पर से कवि की आत्मभावना का सहज ही पता चल जाता है ।

कवि की एक रचना ‘चन्द्रशतक’ है, जिसे सो छन्द होने के कारण शतक कहा है । भाषा सानुप्रास और मधुर है, द्रव्य गुण पर्याय आदि का कथन भी सुन्दर हुआ है । साहित्यिक दृष्टि से चन्द्र शतक के सर्वथे कवित्त महत्वपूर्ण है । उनमें आध्यात्मिकता की पुष्ट अंकित है, वे पाठक को अपनी ओर आकर्षित करते हैं । कवि ने सज्जन दुर्जन स्वभाव का जो वर्णन किया है वह कितना स्वाभाविक बन पड़ा है । भाषा में सरसता, मधुर और कोमल कान्त पदावली विद्यमान है ।

पर ओगुन परिहरें, धरें गुनवत गुण सोई,
चित्त कोमल नित रहें, झूठ जाके नहि कोई ।
सत्य वचन मुख कहें, आप गुन आप न बोलें,

सुगुरु वचन परतीति चित्त थें कवें न डोलें ।

बोलें सुबैन परमिष्ट सुनि इष्ट वैन सुनि सुख करें,
कहै चन्द बसत जग फद में, ये स्वभाव सज्जन धरें ।
सज्जन गुनधर प्रीत रीत विपरीत निवारें,
सकल जीव हितकार सार निजभाव सवारें ।
दया, शील, संतोष, मोक्ष सुख सब विधि जानें,
सहज सुधा रस सब, तजें भाषा अभिमानें,
जाने सुभेद परभेद सब जिन अभेद न्याये लखें ॥
कहे चंद जह आनन्द अति जो शिव सुख पावें अखें ।

गुण गुणी में रहता है, उससे भिन्न नहीं है विभावता भिन्न है और स्वभाव आत्मा का स्वरूप है परन्तु विभाव के कारण स्वरूप का लाभ नहीं हो पाता । मोह का अभाव होने पर स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । जीवादि छहों द्रव्य अनादि के शाश्वत है, जिनमें पाप जड़ रूप है, और एक चेतन है, वही ज्ञायक है और ज्ञेय द्रव्य ज्ञेय है, जैसा कि कवि के निम्न पद्य से प्रकट है :—

गुन सदा गुनी माहि गुन-गुणी भिन्न, नाहि,
भिन्न तो विभावता, स्वभाव सदा देखिये ।
सोई है स्वरूप आप, आप सो न है मिलाप,
मोह के अभाव में स्वभाव शुद्ध देखिये ॥
छहों द्रव्य सासते अनावि के ही भिन्न भिन्न,
अपने स्वभाव सदा ऐसी विधि लेखिये ।
पांच जड़ रूप भूप चेतन स्वरूप एक,
जान पनों सारा माये यो विसेखिये ॥

जानो किसी का गर्व नहीं करते, प्रत्युत अपने चिदा-नन्दस्वरूप में तन्मय रहने का प्रयत्न करते हैं ।

कवि की कविता कितनी सुन्दर और ग्रध्यात्म रस से ओत-प्रोत है । कवि की अन्य क्या रचनाएँ हैं यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका । कवि के समय के सम्बन्ध में भी कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ जिससे समय निर्धारित किया जा सके । फिर भी कवि का समय सम्भवतः १६वीं शताब्दी हो सकता है । विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए । इन कृतियों के अतिरिक्त कवि की अन्य कृतियों का पता ज्ञान भण्डारों में लगाना चाहिए ।

विनाशक बर्ष को न गर्व ज्ञानबन्त करें,
एतौ पूरव कर्म उदेसों आन भये हैं ।

आत्मा सुदर्व मेरो तीन काल में अखंड,
विनस्यो न विनसंगो वर्तमान बए हैं ।
षट्द्वय भिन्न आप आपनी हो सता लिये,
अति ही अनादि के न काहू मांहि फहे है ।
जाग्यो निज भेद चद आत्म अभेद सदा,
भेद रूप अभेद जिन न प्रवान कहे है ॥५०॥

यह अज्ञानी जीव जीतव्यी प्राप्ता करता है और काम से डरता है, चारों गति डोलता फिरता है परन्तु मोक्ष मार्ग में नहीं आता, अपने घर की रीति नहीं जानता किन्तु पर से (माया में) प्रीति जोड़ता है, जिस तरह रास्तागीर बटोही से मिल जाते हैं पुद्गल को अपना मानता है । इस तरह यह जीव आत्म-परिचय के बिना ससार में सदैव घूमता रहता है ।

जीतव की आस करे काल देखे हाल डर,
डोलें चारों गति में न आवें मोक्षमग में ।
माया सौ मेरी कहै मोहनी सो डार है
ताते जीव लाग जैमो डांक दियो नग में ।
घर की न जानें रीति पर सेतो तो माई प्रीति,
वाट के बटोही जंसे आय मिले मग में ।
पुगल सौ कहे मेरा जीव जानें यह डेरा,
कर्म थी कुलपुंनि में फिर जीव जगमें ।

गुरु दया कर भव्यों का हित जानकर उपदेश देने है, उन्होंने बतलाया है कि क्रोध, मान को शत्रु जानकर छोड़, और लोभ की हानिकर छोड़, और मोहरूपी प्रचण्ड मही-घर को गिरा कर सुमतरूपी शिवरानी को घट में प्रगट कर, जिससे अविनाशी आत्मा का लाभ हो ।

गुरु आप दयाल दया करिके उपदेश कहै भविकी हित जानो,
क्रोध महा अरिमान तजो तजि लोभ महा छल की करिहानी
मोह महीघरसों परिचंड गिराय दियो गुरु की सुनि वानी,
कुमिता कुमता करती सुभई घट में प्रगटो सुमता शिवरानी ।

शाह लोहट—इनका जन्म वघेरवाल वंश^१ में हुआ

वघेरवाल जाति ८४ उप-जातियों में से एक है । इसका विकास 'वघेरा' नामक स्थान से हुआ है । वघेर-वानों के घर वहाँ अब एक भी नहीं है । किन्तु राजस्थान

था । इनके पिता का नाम धर्मा था । इनके तीन पुत्र हुए, हीरा, सुन्दर और लोहट^१ । इनमें लोहट सबसे छोटे थे । पहले यह साभर में रहते थे, बाद में बूंदी आकर रहने लगे थे । उस समय वहाँ रावत भावसिंह का राज्य था । जो विवेकी वीर और पराक्रमी शासक थे । और न्याय, नीति से प्रजा का पालन करते थे । कवि ने बूंदी का अच्छा वर्णन किया है । उस समय बूंदी इन्द्रपुरी के समान सुन्दर थी, जन-घन-धान्य से सम्पन्न थी । बापी, कूा, नडाग, बाग, बाजार तथा सुन्दर वीथियों से अलंकृत थी । जैसा कि कवि के निम्न पद्य से प्रकट है :—

के अन्य गांवों, कस्बों और शहरों में उनका निवास पाया जाता है । घारा में तो उनके अनेक घर हैं । वघेरवाल अपनी जन्मभूमि के कारण वघेरा के भगवान शान्तिनाथ के दर्शनों की अवश्य आते हैं । वघेरवालों के ५२ गोत्र बतलाये जाते हैं । यहाँ उनमें से कुछ गोत्रों के नाम अपने उप-नामों के साथ दिये जाते हैं । बागडिया (मिथी कोटकर) खटवड पितलिया (नादगांवकर दर्यापुर), खटोल (जाहागपुरकर), गोवाल (सगई चवरिया), अजनगांव (देऊल गांवकर), खंडकर, चवरे, डोण गांवकर, जितूरकर, देवलसी, (रायबागकर), खडारिया-आग्रेकर (भीमीकर, कलमकर), बोगखडिया (नगरनाईक), कारंजा, महाजन । इस जाति में अनेक महापुरुष, श्रेष्ठी, विद्वान आदि हुए हैं । पंडित प्रवर आगाधर जी जैसे विद्वान इस जाति के भूषण थे । शाह जीजा और पूनमसिंह इस जाति के गौरव थे । जिन्होंने अनेक मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया । और चितौड़ में कीर्ति स्तम्भ का निर्माण करवाया और उसकी विधिवत प्रतिष्ठा की । प्रस्तुत कीर्ति स्तम्भ का निर्माण विक्रम की ११३३ शताब्दी में हुआ है । और विशालकीर्ति पट्टघर शम्भकीर्ति ने उसकी प्रतिष्ठा की थी ।

२. वंस वघेरवाल मो वाल दुर्गण वरगोत्र विसाल ।

धरमधुरंधर धरमधीर ता सुत तीन महावर वीर ॥

हीरो सुन्दर बड़े सुजान, लघु लोहट बुधिवंत निधान ।

श्री जिनदेव सुगुरु को दाम, कीनी भाषा ग्रथ प्रकाश ॥

“बंदी इन्द्रपुरी जखिपुरी कि कुबेरपुरी,
रिद्धि सिद्धि भरी द्वारिका सो धरी घर मैं ।
घोलहा धाय घर-घर में विचित्र वाम,
नर कामदेव कैसे सेबं सुख सर मैं ।
वापी बाग वारुण बाजार वीथी, विद्या वेद,
विबुध विनोद वानी बोलें मुख नर मैं ।
तही करै राज राव भावस्थंभ महाराज,
हिंदु धर्म लाज पाति सही आज कर मैं ॥” १३

वृदी में उस समय अनेक श्रावक रहते थे और अपने धर्म का पालन करते थे ।

साह लोहट भी जिनधर्म का आराधन करने थे^३ । १५वीं शताब्दी के कवि पद्मनाभ कायस्थ द्वारा निर्मित संस्कृत भाषा के यशोधर चरित का हिन्दी पद्यानुवाद कवि ने वि० स० १७२१ में आषाढ़ शुक्ला तीज गुरुवार के दिन समाप्त किया था^४ ।

इनकी दूसरी कृति ‘षट्प्लेश्यावेलि’ है, जिसका रचना काल स० १७३० आसोज सुदी ६ बतलाया है^५ ।

भट्टारक जगभूषण या जगत्भूषण

भट्टारक जगभूषण ग्वालियर गद्दी के मूलसघी भट्टारक थे । और भ० ज्ञानभूषण के उत्तराधिकारी एवं पट्ट-धर थे । संस्कृत और हिन्दी भाषा के अच्छे विद्वान और कवि थे । ब्रह्म गुलाल इन्हीं के शिष्य थे । सन् १६५१ में जब कवि भगवतीदास अग्रवाल ने ‘अगलपुर जिनवदना’ नाम की रचना लिखी है, उसमें भट्टारक जगभूषण का उल्लेख किया गया है । उस समय वे आगरा में मौजूद थे । भगवतीदास ने उन्हें कामरूपी करीन्द्र को वश करन

३. श्रावक लोग वैसे धर्मवत, पूजा करें जपें अरहत ।

तिनको सेवक लोहट साह, करी चौपई वरि शुभलाह ॥१४

४. वरषा रिति आगम सुभसार, मास अषाढ़ तीज गुरुवार ।
पाख उजाल पूरी यह भई, सरल अरथ भाषा निरमईरद
सवत सत्रहसे इकईस, करी चौपई फली जगीत ।

मन अभिलाष संपूरन भए,

श्रीजिनगुरु चरण शीशवरि लए ॥२८

—यशोधर चरित प्रशस्ति

५. देखो राजस्थान जैन ग्रन्थ सूची भा० ४, पृ० ३६६ ।

के लिए मृगेन्द्र (सिंह) समान, तथा श्रुत-सिद्धान्त-सागर के बुद्धिमान गणधर और पंचम काल के ऋषीन्द्र बतलाया है :—

“जग भूषण, भट्टारक तर्हि थलि, काम करिद-मईंदो हो ।
श्रुत-सिद्धान्त-उदधि बुधि गणहर पंचम काल रिसिंदो हो ॥”

इनके पट्टधर भ० विश्वभूषण ने भी भ० जगत्भूषण का उल्लेख किया है ।

जगताभूषण पट्टदिनेशं । विश्वभूषणमहिमाजगणेशं ।

—तीर्थवंदन संग्रह, पृ० ६४

इतना ही नहीं किन्तु उन्हें पांडे रूपचन्द जी ने ‘भारतीभूषण’ चारित्र के पालक और तपोभूषण बतलाया है यथा :—

तत्पट्टे प्रमदप्रकाशविलसत श्री भारतीभूषणः,

चारित्राचरणाच्चक्रतद्वशः किं वा तपो भूषणः ।

श्री भट्टारक वंदितां हि युगलौ गण्योऽपनुव दूषणः,

इवत् किन्नरमस्यते दूषणः श्रीमञ्जगद् भूषणः^१ ॥

इनके शिष्य ब्रह्मगुलाल ने कई ग्रन्थों की रचना की है, उन सबमें भ० जगभूषण का उल्लेख किया है ।

कवि की एक मात्र कृति ‘हिंडोलना’ है, जो मल्हार राग में गाई जाती है, रचना सुन्दर और मनमोहक है ।

अग्रत मणिमय थभ कीने रतन खचित अपारि ।

पंच वर्ण संवारि मानउ रतन पटुली चारि ॥

रुचिर मोती माल डोरा किकणी रण सार ।

सुरहि साथ हिंडोलना तहं झूलत नाभिकुमार ॥

सूभग हिंड लना झूलत जगपति जू ॥१॥

अलिकुल कलित कलेवर नील नीरद तूषा चातक मोर ।

दश विशा प्रति बीजु चमकति करत दादुर सोर ॥

पहिरि सारी सुखाराति लाह कंचुकी गांठ ।

जुवति झूलत नाभिसुत, संग प्रथम मास अषाढ़ ॥

नटत किन्नर किन्नरी जन मुरज बीना बंनु ॥२॥

सुरस बाजत जलद वरसत दबगई सब रंनु ।

सुरभि शीतल पवन कोकिल मोर विसाल ॥

अमर सायनि रमत जगपति आयो सावन मास ।

भिरत झिरना गहिर सीता उमड़ि चलत तड़ाग ॥

१. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, भा० १, पृ० १५६

घनघोर वरसत हरित छिति तल चढत अति अनुराग ।
वन उरोज सरोज राजित तरुन वदत सा ॥
मास भादो रमति जगतति कमल कीमल हाथ ।
कनक कुण्डल श्रवण शोभित सेहरो मिर सारु ।
पहिर अमर अरुन सुरभक्त रुचिर मनमय हारु ॥
अमर अमरी तरुन तरुनी चित हरत विचित्र ।
जगद्भूषण मन हरै जगदीस परम पवित्र ॥
सभग हिडोलना झूलत जगपतिजू ॥

इनकी अन्य रचनाएं भी होगी, परन्तु ग्रंथ भंडारों में अभी अन्वेषण कार्य पूर्ण नहीं हुआ। अभी अनेक भंडार अवशिष्ट हैं। जिनमें बहुत से ग्रंथ उपलब्ध हो सकते हैं। आशा है विद्वद्जन इस सम्बन्ध में अनुसन्धा करने का प्रयत्न करेंगे।

सेवारामशाह— यह जयपुर लश्करीवासी शाह बखतराम के पुत्र थे। इनकी जाति खडेलवाल और धर्म जैन था। इनके तीन भाई और थे जिनका नाम जीवन-राम, खुशाल और गुमानोराम था। इनमें जीवन ने जिनेन्द्र के भक्तिपूर्ण पद और स्तुतिग्रंथों की रचना की थी। इनके पिता बखतराम ने 'मिथ्यान्ध खडन और बुद्धि विलास' इन दो ग्रंथों की रचना की थी।

शाह सेवाराम पं० टोडरमल जी के शिष्य थे। उन्हीं की कृपा से उन्हें यह बोध प्राप्त हुआ था। तपस्वी ब्रह्मरायमल्ल का भी कवि ने उल्लेख किया है। कवि ने 'शान्तिनाथ पुराण' मालव देश में स्थित देवगढ़ में जहाँ सामन्तसिंह नरेश राज्य करते थे। सामन्त सिंह के दो

जैन श्रावक प्रधान मंत्री थे। दोनों ही अपने जीवन को खपाकर राज्य का संचालन करते थे। वे बुद्धिमान और धर्मात्मा थे, उनके छोटे भाई का नाम मोठा चन्द था। ने हूड वश के भूषण थे। इनके अपार द्रव्य था। कवि-वर सेवारामशाह की इन्होंने बड़ी सेवा सुश्रूषा की थी। उन्हीं की प्रेरणा से कवि ने शान्तिनाथ पुराण सं० १८३४ में श्रवणकृष्णा अष्टमी के दिन मल्लिनाथ के मन्दिर में पूर्ण किया था, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है।—

सबत अष्टावश शतक पुनि चौतीस महान ।

सावनकृष्ण पराष्टमी, पूरो कियो महान ॥

वारङ्गभावना नाम की एक कृति भी इन्होंने सं० १८३४ में बनाई थी। कवि ने कवि चतुर्विंशति जिनपूजा सं० १८५४ में बनाकर समाप्त की थी। अनन्तवन पूजा और मन संग्राम नाम की दो रचनाएं भी बनाई हुई राजस्थान के शास्त्रभण्डारों में पाई जाती हैं। संभव है कवि ने अन्य ग्रंथों की भी रचना की हो। कवि का समय विक्रम की १९वीं शताब्दी है। कवि की एक कृती धर्मोपदेश 'छन्दो-बद्ध का उल्लेख पं० नाथूगस जी प्रेमी ने हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास पृष्ठ १ में किया है। ●

१. वासी जयपुरतनो टोडरमल कृपाल ।

तास प्रसंगको पायके लह्यो सुपथ विशाल ॥

गोमटसारादिकन में सिद्धान्तन में सार ।

प्रवरबोध जिनके उदै महाकवि निरधार ॥५०॥

पुन ताके तट दूसरो रायमल्ल बुघिगज ।

जुगलमल्ल ये जब जुरै और मल्ल किहि काज ॥५१॥

बेश ढुहाहड़ आदि दे संबोधे बहु देश ।

रचि रचि ग्रंथ सरसकिये टोडरमल्ल महेश ॥

२. मवत् १८३४ में दो जैन श्रावकों के मंत्री होने का उल्लेख ऊपर किया है। उनमें एक तो कपूरचन्द प्रधान मंत्री थे। और दूसरा मंत्री संभवतः सुन्दरसिंह था। मवत् १८३१ में महारावल गावलसिंह का देहान्त होने पर उनका कुवर सावंतसिंह सात वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा था। उस समय का शासनकार्य राजमाता कुदन कुवरी, अपने भ्राता सरदार सिंह, मंत्री कपूरचन्द, राघव वल्शी तथा शाह गुमान के परामर्श से चलाती थी। सेवाराम सम्भवतः उस समय वहाँ थे। इन दोनों मंत्रियों के कार्यकाल में यह ग्रंथ बनाया गया है।

ब्रह्म साधारण कृत दुद्धारसि कथा

३।० भागचन्द जी जैन

ब्रह्म साधारण मूलसंघ की परम्परा के विद्वान् थे । उन्होंने अपनी गुरु परम्परा के विद्वानों में पद्मनन्दी, हरिभूषण भट्टारक के शिष्य भ० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे । प्रस्तुत नरेन्द्रकीर्ति बागड़संघ के विद्वान् जान पड़ते हैं । इनके शिष्य प्रतापकीर्ति ने 'श्रावक रास' सं० १५१४ में मगशिर शुक्ला दशमी के दिन बनाकर समाप्त किया । था । इस दुद्धारसि कथा में ब्रह्म साधारण ने भ० प्रभावन्द का भी उल्लेख किया है । और यह बतलाया है कि जिस तरह इन्द्रभूति गौतम ने श्रेणिक (बिम्बसार) के प्रति कथा कही, वैसी मैं भी कहता हूँ । कथा में कवि ने रचना काल और रचना स्थल का कोई उल्लेख नहीं किया है, जिस गुच्छक में यह कथा दी है, उसका लिपि काल सं० १५०८ जरूर दिया है । जिससे यह कथा सं० १५०८ के पूर्व रची गई है, बाद में नहीं । इससे इसका रचना काल सं० १५०० के लगभग होना चाहिए ।

घनदत्त नाम के बणिक ने मुनि से पूछा कि हमारी यह व्याधि कैसे दूर होगी ? तब मुनि ने कहा कि तरक उतारी विधि करो, उससे तुम्हारा यह रोग चला जायगा । घनदत्तने पूछा, भगवन् ! इसकी विधि क्या है ? तब मुनि ने कहा कि भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को यह व्रत करना चाहिए । और जिनेन्द्र की प्रतिमा का अभिषेक, पूजन और धार्मिक कार्यों में समय व्यतीत करना चाहिए । इस तरह यह व्रत बारह वर्ष तक करना चाहिए । व्रत पूरा होने पर विधि पूर्वक उसका उद्यापन करना चाहिए, चार सघ को दान देना चाहिये । इस तरह इस व्रत का विधि पूर्वक अनुष्ठान करने से घनदत्त का सब रोग चला गया । जिणसिद्धभट्टार हो, तिहुअणसार हो, आयरियहो पुणु उज्झयहो । वंदे वि मुणिदहो, कुवलयचंदहो, दुद्धारसि पयडमि जण हो ॥ जिणवयणकमलरुह दिव्ववाणि ।

पणमामि जगत्तय पुज्ज जाणि ॥
णिग्गंथं सवण णियमणि धरेवि ।

'पहचद' भट्टारहो थुइ करेवि ॥
'दुद्धारसि' कह फलु सावयाह ।

जह गोयम भासिउ सेणियाह ॥
तह भासमि जइ हउं मंद बुद्धि ।

सरसइ हि पसाए कव्वसुद्धि ॥
महुं संज्जउ जिणवरय याह ।

'मिच्छामयमोह विवज्जि याह ॥
इह भरहखेत्त सुदरपएस ।

भवियणमणहर 'सोरट्टुदेस' ॥
जहि सावय णर जिणधम्मरत्त ।

कयमिप्पिभावमिच्छत्तत्त ॥
जहि जीवदयावर सव्वलोय ।

बहुरिद्धिवत्त माणय सुभोय ॥
जिणजत्त करण उच्छाहत्तत्त ।

जहि सावय गच्छहि पवरवित्त ॥
जहि राय रायमइ भोयत्तत्त ।

करुणायरु जावउ जिणु विरत्तु ॥
जहु कुल 'णहसांसि' सुविमुद्धभाउ ।

दिक्खकिउ केवाल णाणु जाउ ॥
दयधम्मु पयासिवि मोवखपत्तु ।

तहि तित्थु पयउ जायउ पवित्तु ॥
घत्ता—गिरणारु मणोहर,

गुणियणसुहयरु, जिणचेईहरमांडियउ ॥
सुर-खयर-णमसिउ, जणहि

पसंसिउ, अरिवग्गेहि अखंडियउ ॥
तहि 'पउमप्पहु' णरवइ पसिद्धु ।

पय पालणु बहु गुणगण समिद्धि ॥
'पोमावइ' मणहरु लच्छिसामि ।

जसु कित्ति पयउ पुरणयरगामि ॥

‘घणयत्तु’ वणिदु जिणेस भत्तु ।
 भज्जामु सयं पहरत्तचित्तु ॥
 जिणघम्म सीलगुणवय विसाल ।
 ते विणिण वि अच्चहि णिच्चकाल ॥
 चउवण्हो संघहो दिति दाणु ।
 जामच्छहि णिय परियणसमाणु ॥
 ता एत्तहि वणि आयउ मुणिदु ।
 भवियण कमलायर णंदि णिदु ॥
 पिहियासउ णामे सीलधारि ।
 चउवण्हो संघहो सोक्खयारि ॥
 मुणिवर आगम वणपत्तफुल्ल ।
 दु मणिय रहि जायइ फलरमुल्ल ॥
 महलिहरंजहि कुसुमियवणेहि ।
 सिहिणच्चहि ण पावसघणेहि ॥
 महियलु कुमुमहि पिजरिउ सव्वु ।
 गणियारिहि ण कणएहि भव्वु ॥
 तं पेखि वि वणु उज्जाण पालु ।
 वद्धाविउ महिवइ सामि सालु ॥
 मुणिवर अवही सरु तव वणम्मि ।
 आयउ पहु सुणि तुट्टउ मणम्मि ॥
 आणंद तूर उच्छलिउ जाम ।
 पुरयणु परियणु संपत्तु ताम ॥
 घय चामर चिघहि सऊ णरिदु ।
 उज्जाणे पराइउ जहि मुणिदु ॥
 घत्ता—सो णरिद घणयत्तु वणि
 मुणिवर-दुज्जण भय हरु ।
 पणमिउ बहुभत्ती भरेंहि
 पुच्छिउ धम्म सुमणु हरु ।
 भो सामिय करुणावल्लि कंद ।
 सावय वय भासहि मुणिवरिद ॥
 मुणि भासइ दंसणमूलधम्म ।
 वसुगुण पालइ वज्जि वि कुक्कम्म ॥
 वारह वय तव पडिमाइ जुत्त ।
 वय पालय जह आगमहि वुत्त ॥
 चत्तारि दाण-जण भुत्ति सुद्धि ।
 रयणत्तय भावण मण विमुद्धि ॥

सत्तेहण किज्जइ अंत यालि ।
 जिणवर पुज्जिज्जइ तह तियालि ॥
 इय सुण वि धम्म परियण समाणु ।
 मुणि वंदिवि णरवइ पत्तु ठाणु ॥
 घणयत्तु पयासइ दाण जुत्ति ।
 णिय भज्जहि संघ हो देहि भुत्ति ॥
 दाणे संपय णामल घराइ ।
 तिहुवण-सिरि संपज्जइ णराह ॥
 भेसह आहाराभय पुराण [विणाण] ।
 चत्तारि जिणागम मुद्ध दाण ॥
 तिहि पत्तहि दिज्जहि मुणि वि भेउ ।
 बहु विणय भत्ति सिव सुर कहेउ ॥
 विणु पत्ते फलु दीसइ न भज्ज ।
 ते करणे पत्तहो देहि अज्ज ॥
 घत्ता—जेहि जिणिदु ण पुज्जिउ
 मुणिहि दाणु ण वि दिण्णउं ॥
 सवण वित्ति णवि आयरिय ।
 अहलु जग्गु ते किण्णउ ॥३॥
 सुंदरि असेह कम्म तुहु णासहि ।
 मुणि आहार दाण जइ पोसहि ॥
 तं णिसुणे वि सयं पह जंपइ ।
 अंगु कुचेल उवट्टइ संपइ ॥
 किम भणु दाणु मुणीसहो दिज्जइ ।
 अप्पाणउ पावे मइ लिज्जइ ॥
 तियहि जम्म कुच्छिउ मुणि भासहि ।
 णवि भवि णिव्वाणु पयासहि ॥
 व [मु]णि वरु भणइ देहि मासं कहि ।
 दाणे तवु लिहइ ण कलंकहि ॥
 दाणे पयड कित्ति पुणु सुरभउ ।
 चक्कवट्टि संपय पाविय जउ ॥
 दाणे असुह कम्म जइ हो सइ ।
 होउ मज्झु ण वि तुह वणि घोसइ ॥
 ता पाराविउ परम दियवरु ।
 मुद्ध चरणु कय इदिय संवरु ॥
 सादि तह संकियणिय भावे ।
 सइ घणयत्तु कलंकिउ पावे ॥

रोय सरीर असुंदरु जायउ ।
 भज्ज समेउ विसंबुल कायउ ।
 कर चरणइं थक्कइ णउ चल्लहि ।
 करहिउ वाउ तहय मण सल्लहि ॥
 वणि वरिंदु अप्पाणउ णिदइ ।
 वयणु सयं पह केरउ चितइ ॥
 घत्ता—ता गलिय काल पावसहि पुणु ।
 वणि पिहिआसव आगमणु ॥
 धणयत्तु सयं पह जुत्तु तहिं ।
 वंदण भत्तिए गयउ पुणु ॥४॥
 मुणि वंदिवि अप्पाणु हु गुच्छिउ ।
 वहि हरणु धणयत्ते पुच्छिउ ॥
 मुणिवरिंदु भासइ मुणि वणि वर ।
 णरयउतारी विहि किज्जइ वर ॥
 तो तण रोउ सयलु खणि खिज्जइ ।
 भणइ वणीस केम विहि किज्जइ ॥
 घवलिय वारसि भादवमासहि ।
 बारह संवच्छर उववासहि ॥
 जिणवर पडिमा पयणहा विज्जइ ।
 अह णिसि धम्म पहावण किज्जइ ॥
 वित्त सरिसु उज्जवणु विहिज्जइ ।
 दाणु चउव्विह संघ हो दिज्जइ ॥

इय विहाण विहि सुणि धणयत्ते ।
 घरि आइ वि किण्णिय सुपयत्ते ॥
 गयउ रोउ सुंदरु तणु जायउ ।
 घरिणि सयं पहव वय फलु पायउ ॥
 धणयत्तु वि जिणवरुवय पालिवि ।
 गउ णिव्वाण हो कलिमलु खालिवि ॥
 जिणवर दंसण वयहं पहावें ।
 सग्गु-मोक्खु लब्भइ सुहभावें ॥
 अण्णु वि जोइय विहि पालेसइ ।
 णरु तिय सो सुर लोटा गमेसइ ॥
 जिणवर दंसण मूल गुणायर ।
 'पोमणदि' 'हरिभूसण' भायर ॥
 सीस 'णरिद कित्ति' भवतारण ।
 'विज्जाणदि' बंभ साहारण ॥
 पयडिय एह कहा जण मणहर ।
 णंदउ ताम जाम राव ससहर ॥
 घत्ता—जे पडहि पडाविहि भव्वयण ।
 णियमणि णिच्छउ भावहि ।
 ते बंभ साहारण वय फलेण ।
 अमर लोय सु हु पावहि ॥

इति नरेन्द्रकीर्ति शिष्य ब्रह्मसाधारण कृत मूल कथा
 भाग समाप्तः ॥ ३ ॥

राग-ख्याल

उस मारग मत जाय रे !

मन मूरख पंथो, उस मारग मति जाय रे ॥
 कामिनि तन कांतार जहां है, कुच परवत दुखदाय रे ॥१॥
 काम किरात वसैं तिह थानक, सरवस लेत छिनाय रे ।
 खाय खता कीचक से बंठे, अरु रावन से राय रे ॥२॥
 और अनेक लुटे इस पेड़े, चरने कोन बढ़ाय रे ।
 वरजहों वरज्यो रह भाई, जानि दगा मति खाय रे ॥३॥
 सुगुरु दयाल दया करि 'भूषर', सीख कहत समझाय रे ।
 आगे जो भावें करि सोई, दीनी बात बताय रे ॥४॥

अपभ्रंश भाषा के जैन-कवियों का नीति-वर्णन

डा बालकृष्ण 'अकिचन' एम. ए. पी-एच. डी.

जैन मनीषियों ने अपने धर्म से सम्बन्धित अनेक पुराणों, आख्यानों, कथाओं, चरितों तथा चूर्णिकाओं की रचना की। यद्यपि ये सभी धर्म भावनाओं से ओत-प्रोत मानस की कृतियाँ हैं तो भी इनमें से अनेक का साहित्यिक मूल्य भी कम नहीं। साहित्य-शास्त्रियों का एक ऐसा भी वर्ग है जो धर्म से सम्बन्धित कृतियों को साहित्य के क्षेत्र में रखने पर आपत्ति प्रगट करता है, किन्तु आज उस मान्यता को महत्व नहीं दिया जाता। कारण, साहित्य का धर्म से वैर नहीं है। आवश्यकता इस बात की है, कृति में काव्यात्मकता होनी चाहिए। काव्य क्या है—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द। अतः जहाँ किसी भी प्रकार की शब्दगत, अर्थगत, भावगत, भाषागत, शैली-गत, शिल्पगत रमणीयता विद्यमान हो, वही काव्यत्व माना जा सकता है। धार्मिक कृतियाँ तो क्या, भ्रष्ट कापालिकों की कृतियाँ (या उनके कुछ अंश) भी काव्य की श्रेणी में आ सकते हैं बशर्ते कि उनमें काव्यत्व विद्यमान हो। यदि धर्म के नाम पर ही किसी कृति को काव्य सीमा से बाहर की वस्तु समझा जाने लगा तो पद्मावत तथा अलखरावटादि समस्त सूफी काव्य, मानस-सूरसागर-रासपंचाध्यायी आदि अधिकांश भक्ति काव्य की सिरमौर कृतियाँ हमें काव्य क्षेत्र से बाहर समझनी होंगी और यदि ऐसा हो गया तो हिन्दी के पास लड़कियों की कुछ अदाओं तथा विहरणियों के कुछ आंसुओं से सुसज्जित छन्दों को छोड़कर और कुछ शेष ही नहीं रह जाएगा। जब हम अन्य वैष्णव धर्म-ग्रन्थों को काव्य कहते हैं तो हमें अपभ्रंश के अनेक सरस तथा अलंकृत जैन ग्रन्थों को भी काव्य कहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा और फिर नीति काव्य के विद्यार्थी को जितना फुटकर मसाला धार्मिक काव्यों से मिलने की आशा रहती है, उतना प्रेम, शृंगार और बिरह निरूपित करनेवाली कृतियों से

नहीं।

अपभ्रंश के जैन-कवियों द्वारा लिखित अधिकांश काव्य-कृतियाँ प्रबन्धात्मक हैं। ये प्रबन्ध काव्य अपभ्रंश साहित्य में प्रभूत मात्रा में प्राप्त हैं। चरित्र काव्यों की संख्या भी आशाजनक है। ये काव्य जैन तीर्थंकरों या धर्माचारियों के पुनीत जीवन से सम्बन्धित हैं। कुछ प्रमुख कृतियों की नीति पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जावेगा—

पउम चरिउ—इसे स्वयंभू-कृत रामायण कहना चाहिए। इसके अनेक वर्णन नैतिक दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। उनका अनुशीलन बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है और एकपृथक विषय है। अतः यहाँ केवल उदाहरणार्थ एक कथन दृष्टव्य है :—

लक्ष्मण कहि बि गवेसहि तं जलु ।

सज्जन हियउ जेम जं निम्मलु ॥

अर्थात् लक्ष्मण उसी जलाशय में तो जल खोजते हैं जो सज्जन हृदय के समान निर्मल हो। कथन की नैतिक अहंता तो है ही, साथ ही उसकी मार्मिकता दर्शनीय है। अपने विषय से न हटता हुआ भी जिस प्रकार से संत हृदय की निर्मलता का संकेत कर वह उसकी काव्य-कुशलता एवं अभिरुचि, दोनों की परिचायक है।

रिटुणेमि चरिउ या हरिवंश पुराण—यह ग्रन्थ पउम चरिउ से भी बड़ा है। कहीं-कहीं नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ बहुशः विद्यमान हैं :—

वरि सुसह समदु वरि मदरो णमेह ।

ण बि सुखण्डु भासिय अणणहा हवेइ ॥

अर्थात् चाहे समुद्र सूखे, मदर भुके (या कुछ भी हो) किन्तु जानी का कथन अन्यथा नहीं सिद्ध होता है। तथा जहि पट्ट कुच्चरिउ समायरह—

तहि तणु सामण्यु काइ करइ ।

अर्थात् जहाँ स्वामी चरित्रहीन होगा वहाँ सामान्य जनता या प्रजा करेगी अर्थात् और भी अधिक चरित्रहीन होगी। आज की राष्ट्रीयता परिस्थिति में उस प्राचीन जैन कवि का कथन और भी विचारणीय है।

महापुराण—पुष्पदंत का यह महाकाव्य अत्यन्त सुप्रसिद्ध कृति है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही दुर्जनो के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। उनका स्वभाव तो बाधा उपस्थित करने या भोकने का है, किन्तु इससे होता क्या है? वे पूर्ण चन्द्र पर कितने भी भोके उनसे चन्द्रमा पर क्या कोई प्रभाव पड़ता है? और यही विचार कर कवि सज्जनों की प्रशंसा करता हुआ ६३ जैन महापुरुषों के चरित्र लिखने में प्रवृत्त हो जाता है। इन विशाल ग्रन्थों में नीति कथन विभिन्न शैलियों में कहे गये हैं। प्रश्नोत्तर शैली का एक उदाहरण देखिए :—

खगों मेहें कि णिज्जलेण, तरु सरेण कि णिपफलेण ।
मेहें कामें कि णिह्वेण, मुणिणा कुलेण कि णित्तवेण ।
कव्वे णडेण कि णीरसेण, रज्जे भोज्जे कि पर वसेण ।

१।८।७

अर्थात् पानी रहित जलद तथा तलवार से क्या? फल रहित वृक्ष और बाण से क्या? अद्रवणशील मेघ और काम (यौवन) से क्या? तप हीन मुनि तथा कुल से क्या? नीरस काव्य और नट से क्या? पराधीन राज्य और भोजन से क्या? कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ पानी, फल नीरस इत्यादि शब्दों में सुन्दर श्लेष विद्यमान होने से काव्यात्मक चमत्कार आ गया है। इसी प्रकार अनेक कथन उद्धृत किये जा सकते हैं—

उट्ठाविउ मुत्तउ सीहु केण (१२-१७-६) सोते हुए सिंह को किसने जगाया।

परियउ पुण रिअउ होइ राय (३६-८-५) जो मरा है वह खाली अवश्य होगा।

माण भंगु वर मरणु न जीविउ (१६-२१-८) अपमानित होकर जीने से तो मृत्यु अच्छी।

एक ग्रन्थोक्ति और देखिए—

जो गोवालु गाइ णउ पालइ,

सो जीवंतु दुव्वु ण णिहालइ ।

जो मालाव बेरिल णउ पोसइ,

सो सुकुल्लु, फलु कॅव लहेसइ ॥ (५१-२-१)

अर्थात् जो माला गो ही नहीं पालता। उसे दूध के दर्शन जीवन भर नहीं होते। जो माली लता गुल्मादि का पालन ही नहीं करता वह भला सुन्दर पुष्प कैसे ले सकेगा। इस कथन की जितनी भी व्यजनाएं की जाए थोड़ी है।

भविसयत्त कहा—धनपाल धक्कड़ की इस कृति का नायक लौकिक पुरुष है, अतः कवि को गृहस्थ जीवन के विविध प्रसंगों के वर्णन का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया है। अन्ततोगत्वा पुट धार्मिकता ही है, अतः नीति कथन भी धार्मिक भावना से ही प्रभावित है। यथा—

जोव्वण विचार रस बस पसरि,

सो सूरउ सो पडियउ ।

वल मम्मण वयणुल्लावएहि,

जो परतिर्यहि ण खंडियउ ॥ (३-१८-६)

अर्थात् युवक, शूर भी वही है और पंडित भी वही है जो परनारी के कामोद्दीपक प्रपंचों (वचनों) आदि द्वारा खंडित नहीं होता (प्रभावित नहीं होता)।

जहा जेण दत्तं तहा तेण यत्,

इमं सुच्चए सिट्ठलोएण वृत्तं ।

सु पायन्नवा कोट्टवा जत्त माली,

कह सो नरो पावए तत्थ साली ॥

अर्थात् यह कथन सत्य है कि जो जैसा देता है, वैसा ही प्राप्त करता है। जो माली कोदो बोता है वह शालि कहीं से प्राप्त करेगा। इसी प्रकार अन्य सुन्दर कथन अनेक स्थलों पर हैं। यथा—

(क) जो दूसरों के प्रति पापाचरण की सोचता है,

उसका पाप उल्टा उसे ही दुखी करता है—

परहो सरीरि पाउ जो भावइ ।

तं तांसइ बलेवि संतावइ ॥ —६-१०-३

(ख) लाभ के विचार करते-करते हुए भी कभी-

कभी मूल भी नष्ट हो जाता है—

जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चित्तं हो । (३-११-५)

जैन खंड काव्यों में नीति—

ऊपर वर्णित कृतियाँ अपभ्रंश के महाकाव्य थे। खंड काव्यों में नीति कथनों का अध्ययन किया जा सकता है—
सुवंसण चरिउ (सुवर्शन चरित्र)—

नयनंदी की यह कृति अपभ्रंश की एक सुन्दर काव्य कृति की दोष मुक्तता का उल्लेख किया है। इस खंड

काव्य से पर्याप्त नीति वचन उद्धृत किये जा सकते हैं—
सप्पुरिसहो कि बहुगुणहि पञ्जतं दोसहि णणहेव ।
तडि बिष्फुरण व रोसु मणे मित्तो पाहण रेहा इवा ॥
अमिलंताण व दोसइ णेहो दूरे वि सठियाणं पि ।
जहविह रवि गयणयले इह तह विहलइ सुहु णलिणी ॥८-४

अर्थात् दूरस्थ प्रेमियों में भी स्नेह देखा जाता है । जिस प्रकार रवि गगनतल में स्थित रहता है, किन्तु (उसकी अनन्य प्रेमिका) नलिनी पृथ्वी पर तालाब में विकसित हो जाती है । इसी प्रकार यौवन, युवती, प्रेम, उपहासादि पर सुन्दर नीति वचन कहे गये हैं । यौवन के वेग को पहाड़ी नदी के वेग के समान बताया गया है । स्त्रियों के चरित्र की पहचान देवताओं के लिए भी दुर्लभ बतायी गयी है । प्रेम से दुख की अनिवार्यता का कथन किया गया है—

जह ण कवणु णेहें स'ताविउ । (७-२)
करकंडु चरिउ—

यह एक सुन्दर खड काव्य है । १० संघियों (अध्याओं) में विभाजित यह कृति मूलतः निर्वेद भावनाओं की प्रतिपादक है । कृतिकार मुनि कनकामर मर्त्यलोक में यद्यपि स्वल्प भोग विद्यमान पाते हैं, किन्तु मूलतः वे संसार को दुःख का अपार पारावार ही समझते हैं । यह संसार एक वन है । इसमें नश्वरता की दावापि लगी हुई है । जिस प्रकार अग्नि गत जंगल में (काल निम्न-कुटज और चदनादि अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े पेड़ों में से) कोई भी नहीं बचता । उसी प्रकार यहाँ काल के गाल से कोई नहीं बच पाता । युवा, वृद्ध, बालक, विद्याधर, किन्नर, खेचर, सूर अमरपति सभी काल के वशवर्ती हैं । न श्रोत्रिय ब्राह्मण बच पाता है और न तपस्वी; न धनवान वच पाता है और न कोई निर्धन—

वत्ता—णउ सोत्तिउ बंभणु परिहरइ,
णउ छंडइ तवसिउ तवि ठियउ ।

धणवंतु ण छुट्टह ण वि णिहणु,

जह काणणे जलणु समट्टियउ ॥ (९-५-१०)

इसी प्रकार सांसारिक विषयों की क्षण भंगुरता, लोभ, गुरुजन-संगति इत्यादि के सम्बन्ध में सुन्दर कथन किये गये हैं । लक्ष्मी की चंचलता तथा नारी हृदय की अस्थिरता का भी अच्छा वर्णन किया गया है ।

वस्तुतः इस प्रकार निर्वेद सम्बन्धी नीति कथन जैन काव्य का सर्वस्व है । उक्त विचारों से मिलता-जुलता

ही संसार की असारता का एक कथन, नयनंदी के द्वितीय खड काव्य—“सयल विधि विधान” से उद्धृत है—

उययं चडण पडणं तिण्णि बि ठाणाइ इक्क विय हमि ।
सूरस्स य एस गई, अणस्स य केत्तियं धामं ॥ ६-६-८

अर्थात् जब एक ही दिन में सूर्य जैसे पराक्रमी को भी उदय, उपरिगमन और पतन इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है तो फिर औरों का क्या कहना ? निश्चयतः यह कथन निर्वेद सम्बन्धी होते हुए भी काव्य बंदध का सुन्दर उदाहरण है । इसी प्रकार जीवन व यौवन आदि की झूठी चमक, अस्थिर गति तथा क्षण-भंगुरता आदि का सुन्दर वर्णन नयनंदी ने किया है । एक स्थान पर जीवन की, नलिनी दलगत जल बिन्दु से दी गई उपमा तो बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है ।

प्रबन्ध और खड काव्यों के अतिरिक्त जैन कवियों ने कथा-साहित्य की भी सृष्टि की । इन कथाओं पर कही तो जातको का प्रभाव था और कही रामायण, महा-भारतादि संस्कृत ग्रंथों का । इन कहानियों का प्रधान स्वर भी जैन-धर्म का प्रचार तथा निर्वेदादि भावनाओं का प्रसार है । काव्य से सम्बन्धित होने के कारण यह कथा साहित्य हमारी विवेचन-सीमा में नहीं आता । परन्तु उनमें कहीं-कहीं गाथादि छन्दों में नीति कथा भी बीच-में सुगुम्फित है । इनमें गुरु-सेवा, शास्त्राभ्यास, सयम, तप, दान, धर्म, कष्ट, सहिष्णुता आदि पर उपयोगी कथन विद्यमान हैं, परन्तु उपदेश शैली की प्रधानता के कारण ये गाथायें भी निरी पथ मात्र होकर रह गयी हैं । उनमें काव्यात्मक सरसता या विदग्धता आदि नहीं आ पायी है । इस प्रकार के ग्रन्थों में अमर कीर्ति के छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) माला, अणुवरयणपईव (अणुवत-रत्न प्रदीप) आदि का स्थान महत्वपूर्ण है ।

निष्कर्ष यह है कि नीति के प्रचार एवं प्रसार में अपभ्रंश के जैन कवियों का योगदान उतना ही सराहनीय है, जितना कबीर-नानक-दादू आदि निर्गुणिये संतो का । उनकी काव्य-कृतियों में नीति के प्रमूल्य और प्रसंख्य होरे जड़े हुए हैं । आवश्यकता उनके अध्ययन, प्रचार, प्रसार एवं जीर्णोद्धार की है । काश, जैन समाज या यों कहिये कि भारतीय साहित्य जगत यह पुनीत व्रत ले पाता ।

जैन भक्तिकाव्य में प्रगति

डा० गंगारामगर्ग

धर्म-प्राण देना होने के कारण भक्ति भारत के समस्त काव्य में प्रमुख वर्ण्य है। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी का हिन्दी काव्य तो भक्ति-प्रधान रहा ही है परवर्ती काल में भी भक्ति की मंदाकिनी अपनी अक्षुण्ण गति से प्रवाहित होती रही। इसके प्रवाह को प्रवेगमय बनाये रखने में तिगुण और वैष्णव भक्तों के अतिरिक्त जैन भक्तों का बड़ा योगदान रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस समय बिहारी, कृष्णभट्ट, पद्माकर आदि दरबारी कवि काव्य-प्रेमियों को कविता, सबैयों और दोहों के माध्यम से शृंगार-माधुरी पिलाकर मदोन्मत्त कर रहे थे; उस समय भी नवल जयचन्द, माणिकचन्द, बुधजन, पार्श्व-दास, प्रभृति अनेक श्रावकों ने विपुल पदों की रचना कर उन्हें भक्ति संजीवनी दी। भक्तिकाल में भी बनारसी-दास, भूषरदास आदि कई जैन भक्त हुए, किन्तु रीति-काल की अपेक्षा कम।

‘प्रपत्ति’ का अर्थ स्वामी हरिदास द्वारा रहस्यमय में शरणागत बतलाया गया है। शरणागत का अर्थ होता है—शरण में आया हुआ। जब भक्त अपने आराध्य की शरण में चला जाता है तो उसे कोई भी चिन्ता नहीं रहती। उसके समस्त भय दूर हो जाते हैं। तुलसी के इष्ट राम ने तो स्वयं स्वीकार भी किया है—मय पन सरनागत भय हारी। सर्वकामप्रदा प्रपत्ति के प्रति भक्तों का बड़ा लगाव रहा है। पांचरात्र की लक्ष्मी सहिता में प्रपत्ति के छः अंगों का वर्णन है। वे सभी जैन भक्ति काव्य में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं—

१. रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, दो० ४३।

१. अनुकूल्य का संकल्प :—

जब कई व्यक्ति किसी की शरण में आ जाते हैं तो वह उसके अनुकूल व्यवहार का सम्पादन करना अपना लक्ष्य बनाता है। इस प्रकार प्रपन्न भक्त भी स्वयं में ऐसे गुणों का समायोजन करता है, जिससे आराध्य प्रसन्न

हो सके। अतः बुधजन अपने कई पदों में जिनेन्द्र के गुण गाने, वाणी सुनने तथा उनके चरणों में मन बसाने का संकल्प करते हैं। जयचन्द आराध्य के ध्यान, वंदन तथा गुणगान के अतिरिक्त उनकी छवि निरखते रहने का निश्चय करते हैं :—

अहो जिनराज छाबोगे निधि मेरी,

मैं सरन लियो तुम आय।

तुम गुन घ्याऊं, न गाऊं और कूँ, अरज करूँ सिर नाय।
अब जो पाऊँ फिर न गमाऊँ नींद न लेऊँ पास दिखाय।
नयन देखि बिलसू पल पल, प्रभु यहै नेम तुम भाय॥

२. प्रातिकूल्य का वर्जन :—

आराध्य के अनुकूल तभी हुआ जा सकता है जबकि आराधक इन्द्रिय, सुख, राग-द्वेष आदि को प्रतिकूल समझ कर उनकी तरफ से अपना हाथ खींच ले। जैन भक्तों ने प्रपत्ति में बाधक संग, कर्म व स्वभाव के परित्याग का निश्चय कई पदों में प्रकट किया है :—

अष्ट कर्म म्हारो काई करसो जो, मे म्हारे घट राखूँ राम।
इन्द्रो द्वारे चित दौरत है, तिनवश ह्वै नहिं करिस्सू काम।
इनको जोर इतौ ही मुझ पं, दुख दिखलावै इन्द्रो गाम।
जाकूँ जानूँ में नहिं मानूँ भेद विज्ञान कहुँ विसराय।
कहूँ राग कहूँ दोष करत थी, तब विधि आते मेरे ग्राम।

उक्त पदांश में भक्त बुधजन अष्ट कर्म, राग-द्वेष आदि का परित्याग करके शुद्ध स्वभाव धारण करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं।

३. रक्षायिष्यतीति विश्वास :—

भगवान् मेरी रक्षा अवश्य करेगे यह विश्वास भक्त को दो कारणों से होना है—आराध्य की पतित-पावनता और उनके प्रति अपनी अनुकूलता। जैन भक्तों को जिनेन्द्र द्वारा अपनी रक्षा होने में पूर्ण विश्वास है। जयचन्द मन को जिनेन्द्र की पूजा, स्तुति, जप व दर्शन में लीन देखकर अपने उद्धार में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं

करते, तभी तो स्वाभिमानपूर्वक कहते हैं :—
जिनेश्वर मोहि तारो जी, हो जोहूँ तो धारू सदा पण थारी ।
बदन निहारूँ गुन उरधारूँ, हो जो मैं तो भान सरन सब थारी
पाप भरे तारे बहूँ सुनिये, मैं तिन ते कहा भारी ।
पूजा स्तवन जापध्यानलय हो जो मोहूँ 'नयन'
तिहारी प्यारी ॥

अपने आराध्य को पतित-पावनता में अग्रणी जानकर तथा उसके ध्यान और गुणगान में अपने को संलग्न देखकर बुधजन भी विश्वास कर लेते हैं कि महावीर जी गाते-गाते और ध्यान करते हुए देखकर मुझे तार ही दोगे :—

गाता ध्याता तारसी, भरोसो महावीर को,
हेरि थक्यो सब मांही ऐसी, नाहीं कोऊ पीर को ।
४. गोपूत्त्व वरण :—

प्रपन्न भक्तो ने ससार-सागर से पार उतरने के लिए भगवान् को गोप्तु के रूप में वरण करना आवश्यक माना है। सभी वैष्णव भक्तो ने अहिल्या, प्रह्लाद, वाल्मीकि, गज आदि के उद्धार की चर्चा करते हुए आराध्य से अपने उद्धार का अधिकार चाहा है। जैन ग्रन्थों में भगवान् 'जिन' द्वारा रक्षित श्रीपाल, मानतुंग, वादिराज, सिंहोदर, कुमुदचन्द्र आदि नाम उल्लेखनीय हैं। जैन भक्तों ने आराध्य को अपने उद्धार में दृढ़तापूर्वक रुचि लिखाने के लिए कहीं तो उक्त भक्तों के उद्धार प्रसंगों की चर्चा की है, नहीं तो संसार के असीम कष्ट बतलाते हुए उनसे मुक्ति के लिए अधिक आतुरता दिखलाई है। यथा :—
मों को तारो जी, तारो जी किरपा करिके,
अनादिकाल को दुःखी रहत हूँ, डेरत हूँ जम ते डरि के ।
अमित फिरति चारों गति भीतर, भव माहीं भरि-भरि के,
डूबत अगम अथाह जलधि में, राखो हाथ पकरि करिके ।
५. आत्म-निक्षेप :—

प्रभु को अपना सर्वस्व मानते हुए अपना तन, मन व समस्त पदार्थ समर्पित कर देना आत्म-निक्षेप है। आत्म-निक्षेप शरणागति की चरम परिणति है। जैन भक्तों ने माता, पिता, स्वामी, प्रिय, मित्र अर्थात् सर्वस्व जिनेन्द्र को ही समझा है। सोते-जागते, उठते-बैठते वही उनके हृदय में भी बसे हुए हैं। भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति रतनचन्द की यह उक्ति दृष्टव्य है :—

पास प्रभु आस पूरो, देवो शिवपुर पास ।
आस गर्भावास भेटो, हूँ चरणां रो पास ॥
उठत बैठत सोवत जागत, बस रह्यो हृदय मंभार ।
मात तात अथ नाथ तू हो, तू रखाविद करतार ।
सज्जन बल्लभ मित्र तू हो, तू ही तारणहार ॥
भक्त नवल के अनुसार तो तीर्थंकर ही जीवन-प्राण है। जब वह उनकी शरण में है तो फिर उनकी छवि व गुणगान को एक पल भी विस्मरण करना कैसा ?
जिन मेरे जीवन प्राण, और न मोहि सुहाबंदा ।
इस भव में इक सरनि तिहारी, हम जो भावै
ज्यों ज्याबंदा ॥

आन देव को कबहूँ न सेऊँ, छवियां मेरे जिन भाबंदा ।
'नवल' कहै पल येक न बिसरौँ, रैन बिबस गुन गावदा ॥

६. कापण्य :—

अपने दुर्गुणों के कारण ससार-सागर को पार करने में अपनी असमर्थता आराध्य को दुःख के साथ दिखलाना कायरता या कापण्य कहा जाता है। सभी जैन भक्तों ने अपनी कायरता का वर्णन जी खोलकर किया है। बुधजन का एक पद दृष्टव्य है :—

म्हारी सुणिज्यो परम दयालु, तुम सों अरज करूँ ।
आन उपाय नहीं या जग में, जगतारक,
जिनराज तेरे पाय परूँ ॥

साथ अनादि लागि विधि मेरी,
करत रहत वेहाल इनको को लें मरन ।

चरन सरन तुम पाय अनूपम,

'बुधजन' मांगत यह गति गति नाथ फिर्क ॥

साराश यह है कि अपने आराध्य की शरण में जाने पर उसके अनुकूल सत्कार्यों का सम्पादन, प्रतिकूल पथ का परित्याग, उसकी रक्षा-शक्ति में विश्वास, सर्वस्व समर्पण तथा अहंकार का विगलन आदि शरणागति के सभी तत्त्व केवल तुलसी और सूर जैसे वैष्णव भक्तों की रचनाओं में ही नहीं, अपितु जैन पद साहित्य में भी अनुस्यूत हैं। वैष्णव और जैन भक्त अपने दर्शन और विचारों में थोड़ी भिन्नता रखते हुए भी भक्तिभाव के क्षेत्र में एक दूसरे के बहुत समीप अनायास ही आ गये हैं। हिन्दी भक्तिकाव्य की सम्पूर्णता के लिए जैन भक्तों की रचनाओं का प्रकाश में आना अत्यावश्यक है।

जैन यक्ष-यक्षणियाँ और उनके लक्षण

गोपीलाल 'अमर' एम. ए., शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, धर्मालंकार

प्रत्येक तीर्थंकर की सेवा में एक यक्ष और एक यक्षी भी रहती थी, ऐसा विधान है। सातवीं शताब्दी के आचार्य यतिवृषभ ने अपने ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती में इनके नामों का कदाचित् प्रथम बार उल्लेख किया। जयसेन-प्रतिष्ठापाठ में भी इनका उल्लेख है, पर यह ग्रन्थ, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं, प्रथम शताब्दी का नहीं बल्कि लगभग दसवीं शताब्दी का होना चाहिए। तिलोयपण्णत्ती के अनन्तर अनेक दिगम्बर-स्वेताम्बर शास्त्रकारों ने यक्ष-यक्षियों के वाहन, वर्ण, हाथों में धारण की गई वस्तुओं आदि का उल्लेख किया। कालान्तर में इनकी मूर्तियाँ भी बनाई जाने लगीं।

ये यक्ष और यक्षियाँ वस्तुतः कौन हैं? कुछ विद्वान् इन्हें एक विशेष जाति के मनुष्य ही मानते हैं। यदि ये देव हैं तो किस निकाय के? व्यन्तर निकाय की आठ जातियों में ही पाचवीं जाति यक्षों की है। किन्तु न तो उनके नामों में प्रस्तुत यक्ष-यक्षियों के नाम आते हैं और न उनकी कोई विशेषता इनमें दृष्टिगत होती है। दूसरी ओर, इन यक्ष-यक्षियों के कुछ नामों और विशेषताओं में आधिक समानता भवनवासी निकाय के देवों में दिखती है। जो भी हो, यह प्रश्न विचारणीय है।

एक प्रश्न यह भी है कि इन यक्ष-यक्षियों का उल्लेख नभी से क्यों नहीं मिलता जबमें तीर्थंकरों के नामों का मिलता है। उत्तर यह है कि अन्य अनेक मान्यताओं की तरह यक्ष-यक्षियों की मान्यता भी भट्टारकों की देन है। अनेक कारणों से उन्होंने प्रत्येक तीर्थंकर की सेवा में एक-एक यक्ष-यक्षी का रहना भी आवश्यक समझा कि उनके स्वरूप उन्होंने कुछ जैनतर से लेकर, कुछ परिवर्तित करके और कुछ अपनी कल्पना से निर्धारित किये। शिल्पकारों ने उन्हें मूर्तरूप प्रदान कर दिया।

यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ आरम्भ में मन्दिर के बाहरी

द्वार पर उकेरी गईं, जिन्हें देखते ही भक्तगण समझ सकते थे कि उस मन्दिर में मुख्य मूर्ति किस तीर्थंकर की है। कालान्तर में उनकी मूर्तियाँ मन्दिर के भीतरी द्वार पर भी उकेरी जाने लगीं। क्योंकि भट्टारकों ने कुछ यक्ष-यक्षियों के साथ अनेक ऐसी कहानियाँ जोड़ दी थी जिनमें उनके चमत्कारप्रिय तथा वैभवप्रेमी भक्तों के लिए वरदान, दुष्टों के दलन आदि का अतिशयपूर्ण वर्णन होता, अतः चमत्कारप्रिय तथा वैभवप्रेमी भक्तों ने बीतरागी तीर्थंकरों की अपेक्षा रागी यक्ष-यक्षियों को अधिक महत्व दिया। यही कारण है कि उनकी मूर्तियाँ मन्दिर के भीतरी द्वार से भी आगे बढ़कर गर्भालय में जा पहुँचीं, और धीरे-धीरे तीर्थंकर के मिहासन में भी उन्होंने अपना स्थान बना लिया। इतना ही नहीं, उनकी मूर्तियों का आकार जो आरम्भ में तीर्थंकर-मूर्ति का लगभग बौसवाँ भाग होता था, अब तीव्र गति से बढ़ने लगा। अन्त में स्थिति यहाँ तक पहुँची कि मूर्ति वस्तुतः यक्ष या यक्षी की ही बनाई जाने लगीं, केवल उसमें जैनत्व की झलक देने के लिए मूर्ति के मस्तक पर तीर्थंकर-मूर्ति को बहुत ही छोटे आकार में स्थान दिया गया। इस सबके अन्य परिणाम जो भी हुए हों, इतना अवश्य हुआ कि जैन धर्म में प्रवृत्तिमार्ग और बहिर्मुखी उन्नति को अपेक्षाकृत अधिक प्रोत्साहन मिला।

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि हजारों की संख्या में पाई जाने वाली ये मूर्तियाँ पूज्य है या अपूज्य। उत्तर स्पष्ट है। हालांकि इनकी पूजा का प्रचलन आज अनेक स्थानों पर है लेकिन वह पूर्वोक्त कारणों से ही है। प्राचीन शास्त्रों में उनकी पूजा का कोई विधान नहीं है, बल्कि निषेध है। इसके कारण स्पष्ट है। जैन धर्म में पंच-परमेष्ठियों के अतिरिक्त किसी की भी पूजा का विधान नहीं है। यक्ष-यक्षी पंच-परमेष्ठियों के अन्तर्गत

नहीं है। दूसरे, इन्हें देव माना जाए तो इनका अधिक से अधिक गुणस्थान चौथा होगा, जिन्हें कम से कम चौथे और अधिक से अधिक चौदहवें गुणस्थान वाला मनुष्य पूजा का पात्र नहीं बना सकता। तीसरे, आचार्य समन्तभद्र ने 'बरोपलिप्तयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।' देवता बहुपासीत देवतामूढमुच्यते।' कहकर इनकी पूजा का निषेध ही नहीं किया, उसे देवमूढता नाम भी दिया जो सम्प्रदर्शन का एक दोष है। इधर के पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने छहठाला में आचार्य समन्तभद्र की वाणी को हिन्दी में प्रस्तुत किया, 'जे राग-द्वेष मलकरि मलीन, बनिता-गदादि जुत चिह्न चीन। ते हैं कुदेव. तिनकी जु सेव, सठ करत, न तिन भव-भ्रमण-छेव।'।

श्वेताम्बर आगमों और मथुरा की प्राचीन-कला में जिन यक्षों (और उनके आराधकों) का उल्लेख है, वे इन यक्षों से भिन्न थे, यद्यपि उनकी भी पूजा के प्रमाण नहीं मिलते। साथ ही उन यक्षों के देवत्व की कम और मनुष्यत्व की सम्भावना अधिक है : आश्चर्य नहीं, यदि आगामी शोध-खोज के फलस्वरूप वे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध किये जा सकें, जबकि प्रस्तुत यक्ष-यक्षियां शत-प्रतिशत पौराणिक व्यक्ति हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि इन यक्ष-यक्षियों के परस्पर दाम्पत्य का कोई उल्लेख नहीं। तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के यक्ष धरणेन्द्र और यक्षी पद्मावती अवश्य पति-पत्नी रहे दिखते हैं।

अन्त के चौबीस यक्षों और यक्षियों के लक्षण दिये जा रहे हैं। इनका आधार ग्रन्थ है बारहवीं शताब्दी के पण्डितप्रवर आशाधर का प्रतिष्ठासारोद्धार, जिसका संपादन और अनुवाद प० मनोहरलाल जी शास्त्री ने और प्रकाशन १९७४ वि० में जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई ने किया। कोष्ठकों में अपराजितपृच्छा के विधान दिये गये हैं। तीर्थंकरों के नामों के बाद के कोष्ठकों में उनके चिह्न दिये गये हैं।

संकेत

ती=आराध्य तीर्थंकर और उनका चिह्न (कोष्ठक में)

वा=वाहन

श=शरीर का वर्ण

मु=मुद्रा

हा=हाथों की संख्या

व=हाथों में धारण की गई वस्तुएँ

दा=दाहिने हाथ/हाथों में/की

बा=बायें हाथ/हाथों में/की

ऊ=ऊपर/ऊपर का/ऊपर के

नी=नीचे/नीचे का/नीचे के

क=ऊपर से नीचे क्रमशः

वि=ग्रन्थ विशेषता/विशेषताएँ

१—गोमुख (वृषमुख)

ती=ऋषभनाथ (बैल)

वा=बैल

श=सुनहला (सफेद)

हा=चार

व=ऊ दा परशु (वीर), नी दा अक्षमाला, ऊ बा फल (जाल) नी बा इष्टदान मु मातुलिग (= नीबू)

वि=१—बैल के समान मुख

२—मस्तक की पृष्ठभूमि में धर्मचक्र

२—महायक्ष

ती=अजितनाथ (हाथी)

वा=हाथी

श=सुनहला (श्याम)

हा=आठ

व=द क्र वरद मु, तलवार (अभयमु), दण्ड (मुद्गर),

परशु अक्षमाला। बा क्र चक्र (जाल), त्रिशूल (अकुश), कमल (शक्ति), अकुश (मातुलिग)

वि=चार मुख

३—त्रिमुख (त्रिवक्त्र)

ती=संभवनाथ (घोड़ा)

वा=मोर

श=अजन के समान काला

हा=छह

व=दा क्र चक्र, (परशु), तलवार, (अभयमाला, अकुश (गदा), बा क्र दण्ड (चक्र), त्रिशूल (शंख), कतरनी (वरद मु)

१५४, वर्ष २४, कि० ४

वि=तीन आखें

४—यक्षेश्वर (चतुरानन)

ती=अभिनन्दननाथ (बदर)

वा=हाथी (हंस)

श=श्याम

हा=चार

व=ऊँ दा सारस का पंख (सर्प), नी दा तलवार
(जाल), ऊँ बा धनुष (वज्र), नी बा ढाल
(अकुश)

५—तुम्बुर (तुम्बुरु)

ती=सुमतिनाथ (चकवा)

वा=गरुड

श=श्याम

हा=चार

व=ऊँ दा सर्प, नी दा दान नु (सर्प), ऊँ बा सर्प,
(फल) नी बा फल (वरद मु)

वि=सर्पों से लिपटा हुआ

६—पुष्प (कुसुम)

ती=पद्मप्रभु (लालकमल)

वा=मृग

श=श्याम

हा=चार (दो)

व=ऊँ दा भाला, नी दा गदा, ऊँ बा ढाल, (अक्ष-
माला), नी बा अभय मु

७—मालंग

ती=सुपाश्व (स्वस्तिक)

वा=सिंह (भेड़)

श=काला

हा=दो

व=दा शूल, (गदा) बा दण्ड (पाश)

वि=मुख टेढ़ा

८—श्याम (विजय)

ती=चन्द्रप्रभ (चन्द्रमा)

वा=कबूतर

श=श्याम

हा=चार

अनेकान्त

व=ऊँ बा दा अक्षमाला (परशु), नी दा वरद मु
(पाश), ऊँ बा कुल्हाड़ी (अभय मु), नी बा फल
(वरद मु)

वि=तीन आखें

९—अजित (जय)

ती=पुष्पदन्त (मगर)

वा=कछवा

श=सफेद

हा=छह (चार)

व=दा क अक्षमाला (शक्ति), माला (अक्षमाला),
वरद, मु बा क दान मु (फल), शक्ति (वरद मु),
फल

१०—ब्रह्म

ती=शीतलनाथ (कल्पवृक्ष)

वा=कमलासन (हंस)

श=चन्द्रमा के समान उज्ज्वल

हा=घाठ (चार)

व=दा क वाण (जाल), कुल्हाड़ी (अकुश), तलवार
वरद मु, बा क धनुष (अभय मु), दण्ड (वरद मु),
ढाल, वज्र

वि=चार मुख

११—ईश्वर (यक्षेष्ट)

ती=श्रेयोनाथ (गेडा हाथी)

वा=बैल

श=सफेद

हा=चार

व=ऊँ दा अक्षसूत्र (त्रिशूल), नी दा दो फल (अक्ष-
माला), ऊँ बा त्रिशूल (फल), नी बा दण्ड (वरद
मु)

वि=तीन आखें

१२—कुमार

वी=वासुपूज्य (भैंसा)

वा=हंस (मोर)

श=सफेद

हा=चार

व=ऊँ दा गदा (धनुष), नी दा इष्टदान मु (वाण) ऊँ

बा धनुष (फल), नी बा नेवला (वरद मु)

वि=तीन मुख

१३—चतुर्मुख (षण्मुख)

ती=विमलनाथ (सुग्रर)

बा=मोर

श=हरा

हा=आठ (छह)

व=दा क्र परशु (वज्र), परशु (धनुष), तलवार (वाण), अक्षमाला (मणियों से बनी), बा क्र परशु (वाण), परशु (फल), ढाल (वरद मु), दण्ड (धारण करने की-सी मुद्रा)

वि=चार मुख

१४—पातालक (किन्नरेश)

ती=अनन्तनाथ (सेही)

बा=मगर

श=लाल

हा=छह

व=दा क्र कोडा (जाल), हल (अंकुश), फल (धनुष),

बा क्र अंकुश (वाण), शूल (फल) कमल (वरद मु)

वि=१-तीन मुख

२-मस्तक पर तीन फणों वाला सर्प

१५—किन्नर (पाताल)

ती=धर्मनाथ (वज्र)

बा=मछली

श=मूंगे के समान लाल

हा=छह

व=दा क्र मुद्गर (वज्र), अक्षमाला (अंकुश),

वरद मुद्रा (धनुष), बा क्र चक्र (वाण), वज्र अंकुश (वर)

वि=तीन मुख

१६—गरुड़ यक्ष

ती=शान्तिनाथ (मृग)

बा=सुग्रर (तोता)

श=श्याम

हा=चार

व=ऊ दा वज्र (जाल), नी दा कमल (अंकुश), ऊ बा चक्र (फल), नी बा कमल (वरद मु)

वि=मुख टेढ़ा

१७—गन्धर्व

ती=कुन्थुनाथ (बकरा)

बा=पक्षी (तोता)

श=नीला

हा=चार

व=ऊ दा सर्प (कमल), नी दा वाण (अभय मु), ऊ बा जाल (फल), नी बा धनुष (वरद मु)

१८—खेय (यक्षेष्ट)

ती=अरनाथ

बा=शख (गधा)

श=काला

हा=बारह (छह)

व=दा क्र वाण (वज्र), कमल (तलवार) फल (धनुष), माला, अक्षमाला, दण्ड, बा क्र धनुष, (वाण), वज्र, (फल), जाल, (वरद मु)

मुद्गर, अंकुश, वरद मु

वि=१-छह मुख

२-तीन आँखें

१९—कुबेर (घनेष्ट)

ती=मल्लिनाथ (कलश)

बा=हाथी

श=इन्द्रधनुष के समान

हा=आठ (चार)

व=दा क्र फल, (जाल), धनुष (अंकुश), दण्ड, कमल, बा क्र, तलवार (फल), परशु, जाल वरद मु

वि=चार मुख

२०—वरुण अपारपति

ती=मुनिसुव्रतनाथ (कछवा)

बा=बैल

श=सफेद

हा=चार (छह)

व=ऊ दा फल (जाल), नी दा इष्टदान मु; (अंकुश, धनुष) ऊ बा ढाल (वाण), नी बा तलवार (धनुष, वज्र)

वि=१-आठ मुख

२-तीन आँखें

३-मस्तक पर जटाए

४-विशाल शरीर

२१-भृकुटि

ती=नमिनाथ

वा=नन्दी (बैल)

श=त्रपा पुष्प के समान लाल

हा=घ्राठ (चार)

व=दा क्र ढाल (मूलशक्ति), तलवार (वज्र),
धनुष, वाण; बा क्र भृकुश (ढाल), कमल
(डमरू), चक्र, इष्टदान मु

वि=चार मुख

२२-गोमेद (पाश्वं)

ती=नेमिनाथ (शंख)

वा=मनुष्य द्वारा खींचा जाने वाला फूलों से बना
दृष्टा वाहन

श=श्याम

हा=छह

व=दा क्र गदा धनुष, कुल्हाड़ी (वाण), दण्ड
(); बा क्र फल (मुद्गर), वज्र
(फल) वरद मु

वि=१-तीन मुख

२-(सर्प के समाव रूप वाला)

२३-धरण (मातंग)

ती=पाश्वनाथ (सर्प)

वा=कछवा

श=बादलों के समान श्याम

हा=चार (दो)

व=ऊ दा वासुकि (=सर्पराज) (फल), नी दा
पाश; ऊ बा वासुकि, नी बा सर्प/(वरद मु)

वि=मस्तक पर वासुकि

२४-मातंग

ती=महावीर (सिंह)

वा=हाथी

श=भूंग के समान हरा

हा=दो

व=बायें हाथ में दायें हाथ लेकर वरद मु

वि=मस्तक पर धर्मचक्र धारण किये हुए

१. चक्रेश्वरी (चक्रेशी)

ती=कृष्णनाथ (बैल)

वा=कमलासन या गरुड़ या दोनों (दोनों)

श=सुनहला

हा=सोलह (बारह)

व=दा क्र वज्र, फल (मातुलिग), चक्र, चक्र, चक्र,

चक्र, चक्र, चक्र; बाक्र, वज्र, फल, चक्र, चक्र,

चक्र, चक्र, मातुलिग, दान मु/(अभय मु)

वि=छह पैर

२. रोहिणी

ती=अजितनाथ (हाथी)

वा=लोहासन (तथा रथ पर आसीन)

श=सुनहला (सफेद)

हा=चार

व=ऊ, दा, शंख, नी दा अभय मु, ऊ बा चक्र, नी बा
दान मु (वरद मु)

३. प्रज्ञप्ति (प्रज्ञावती)

ती=संभवनाथ (घोड़ा)

वा=पक्षी

श=सफेद

हा=छह

व=दा क्र अर्धचन्द्र मु (अभय मु) परशु (वरद मु),
फल, बाक्र तलवार (चन्द्रमा), याण (परशु)
वरद मु (कमल)

४. पविश्रुलला (वज्रश्रुलला)

ती=अभिनन्दननाथ (बन्दर)

वा=हंस

श=सुनहला

हा=छह (चार)

व=दा क्र सर्प, जाल वरद मु, बा क्र बड़ा फल, अक्ष-
माला, दान मु

५. खड्गवरा (या पौरुषवत्तिका) (नरवत्तिका)

ती=सुमतिनाथ (चक्रवा)

वा=हाथी (सफेद हाथी)

श=सुनहला

हा=चार

व=ऊ दा वज्र (चक्र), नी दा फल (वज्र), ऊ बा
चक्र (फल), नी बा वरद मु

६. मनोवेगा

ती=पद्मप्रभ (लालकमल)

वा=घोड़ा

श=सुनहला

हा=चार

व=ऊ दा फल (वज्र), नी दा फल (चक्र), ऊ बा फल, नी बा तलवार (वरद मु)

७. काली कालिका

ती=सुपाश्व (स्वस्तिक)

वा=बैल (भैंसा)

श=सफेद (काला)

हा=चार (घाठ)

व=ऊ, दा घण्टा (त्रिशूल), नी दा फल (जाल, अकुश, घनुष), ऊ बा शूल (बाण), नी बा वरद मु (चक्र, अभय मु, वरद मु)

८. ज्वालिनो (ज्वालमालिनो)

ती=चन्द्रभ (चन्द्रमा)

वा=सुअर (कमलासन तथा बैल)

श=चन्द्रमा के समान उज्ज्वल (काला)

हा=घाठ (चार)

व=दा क्र चक्र (घण्टा), घनुष (त्रिशूल), जाल, चमड़ा, बा क्र त्रिशूल (फल), बाण (वरद मु), मछली, तलवार

९. महाकाली

ती=पुष्पदन्त (मगर)

वा=कछवा

श=काला

हा=चार

व=ऊ दा वज्र, नी दा फल (गदा), ऊ बा मुद्गर (वरद मु) नी बा दान मु (अभय मु)

१०. मानवी

ती=शीतलनाथ (कल्पवृक्ष)

वा=काला सर्प (सुअर)

श=हरा (श्याम)

हा=चार

व=ऊ दा मछली (जाल), नी दा माला (अकुश), ऊ बा मातुलिग (फल), नी बा दान मु (वरद मु)

११. गौरी

ती=श्रेयोनाथ (गेंडा हाथी)

वा=मृग (काला मृग)

श=सुनहला

हा=चार

व=ऊ दा मुद्गर (जाल), नी दा कमल (अकुश), ऊ बा कलश (कमल), नी बा वरद म

१२. गान्धारी

ती=वासुपूज्य (भैंसा)

वा=मगर

श=हरा (श्याम)

हा=चार (दो)

व=ऊ दा कमल, नी दा मूसल, ऊ बा कमल (फल) नी बा दान मु

१३. बैरोटी (बिराटा)

ती=विमलनाथ (सुअर)

वा=सर्प (आकाशयान)

श=हरा (श्याम)

हा=चार (छह)

व=ऊ दा सर्प (वरद मु), नी दा घनुष (तलवार, घनुष), ऊ बा सर्प (वरद मु), नी बा बाण (ढाल-बाण)

१४. अनन्तमती (अनन्तमति)

ती=अनन्तनाथ (सेही)

वा=हंस

श=सुनहला

हा=चार

व=ऊ दा घनुष, नी दा फल (बाण), ऊ बा बाण (फल), नी बा वरद मुद्रा

१५. मानसी

ती=धर्मनाथ (वज्र)

वा=वाघ

श=मूगा के समान (लाल)

हा=छह

व=दा क्र कमल (त्रिशूल), घनुष (जाल), दान म (चक्र), बा क्र अकुश (डमरू), बाण (फल), कमल (वरद मु)

१६. महामानसो

ती-शान्तिनाथ (मृग)

वा-मोर (पक्षिराज=गरुड)

श-सुनहला

हा-चार

व-ऊ दा चक्र (वाण), नी वा फल (शंख), ऊ बा
वाण (वज्र), नी बा वरद मु (चक्र)

१७. जया

ती-कुशुनाथ (बकरा)

वा-काला सुभ्रर

श-सुनहला

हा-चार (छह)

व-ऊ दा चक्र (वज्र), नी दा शंख (चक्र, जाल), ऊ
बा तलवार (अकुश) नी बा वरद मु (फल,
वरद मु)

१८. तारावती (विजया)

ती-अरनाथ मछली

वा-हंस (सिंह)

श-सुनहला

हा-चार

व-ऊ दा सर्प (वज्र), नी दा मृग (चक्र), ऊ बा
व्रज (फल), नी बा वरद मु (सर्प)

१९. अपराजिता

ती-मल्लिनाथ (कलश)

वा-प्रष्टापद (=घाठ पैरों वाला जंगली जानवर)

श-हरा (श्याम)

हा-चार

व-ऊ दा ढाल (तलवार), नी दा फल (ढाल), ऊ
बा तलवार (फल) नी बा वरद मु

२०. बहुरूपिणी (बहुल्या)

ती-मुनिमुव्रतनाथ (कछवा)

वा-काला सर्प (सर्प)

श-पीला (सुनहला)

हा-चार (दो)

व-ऊ दा ढाल (तलवार), नी दा फल, ऊ बा
तलवार (ढाल), नी बा वरद मु

२१. चामुण्डा

ती-नेमिनाथ (नीलाकमल)

वा-मगर (बदर)

श-हरा (लाल)

हा-चार (आठ)

व-ऊ दा दण्ड (शूल), नी दा ढाल (तलवार,
मुद्गर, जाल), ऊ बा अक्षमाला (वज्र), नी बा
तलवार (चक्र, डमरू, अक्षमाला)

२२. अम्बा

ती-नेमिनाथ (शंख)

वा-सिंह

श-हरा

हा-दो

व-दा आम्नगुच्छा (फल), बा छोटा पुत्र प्रियंकर
(वरद मु)वि-१. बायीं जंघा पर पुत्र प्रियंकर को बैठाकर बायें
हाथ से थामती है।२. दायें हाथ में आम्नगुच्छ लिये रहती है और
उखी की एक अंगुलि को बड़ा पुत्र शुभंकर
पकड़े रहता है।

३. पृष्ठभूमि पर आम का वृक्ष होता है।

२३. पद्मावती

ती-पार्श्वनाथ (सर्प)

वा-कुर्कट जाति के सर्प पर कमलासन (मुर्गा पर
कमलासन)

श-लाल

हा-अठारह (चार)

व-दा क्र जाल आदि छह तथा शंख आदि तीन (ऊ
दा जाल, नी दा अकुश) बा क्र शंख आदि पांच
तथा अकुश, कमल, अक्षमाला, वरद मु (ऊ बा
कमल, नीलाकमल)

२४. सिद्धायिका

ती-महावीर (सिंह)

वा-सिंह

श-सुनहला

हा-दो

व-दा पुस्तक, बा दान मु (अभय मु)

वि-सुभद्रासन (भद्रासन)

हड़प्पा तथा जैन धर्म

मूल लेखक : टी० एन० रामचन्द्रन्

अनुवादक : डा० मानसिंह एम. ए., पी-एच. डी.

सिन्धु-सभ्यता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक वस्तुएं प्रस्तर मूर्तियां हैं। अभी तक १३ मूर्ति-खण्ड प्रकाश में आए हैं, जिनमें हड़प्पा से प्राप्त दो सुपरिचित एवं अत्यधिक विवेचित प्रस्तर-प्रतिमाएं हैं, उनमें से तीन में पशुओं का अंकन है। पाँच में नियताकार समुपविष्ट देव का चित्रण किया गया है। हड़प्पा से उपलब्ध दो मूर्तियों ने प्राचीन भारतीय कलाविषयक वर्तमान धारणाओं को आन्दोलित कर दिया है। दोनों ही मूर्तियाँ, जिनकी ऊँचाई ४" से भी कम है, नर-घड़े हैं, जिनमें संवेदनशीलता तथा एक दृढ़ एवं लचीले दोनों ही प्रकार के प्रतिमान का प्रदर्शन है। दोनों ही में पृथक् टुकड़ों में बने शिर एवं भुजाओं को लगाने के लिए गरदन एवं कंधों में कोटर-छिद्र हैं। विवेच्य मूर्तियों में से एक (प्लेट १) में शरीर को एक ऐसे परिणाम के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका प्रतिमान-विधान एक अन्तःस्फुरित तथा घरातल के प्रत्येक कण को सक्रिय बना देने वाली निर्वाध जीवनी शक्ति द्वारा हुआ है। यह शरीर के आन्तरिक भाग से आविर्भूत होने वाली एक सूक्ष्म एवं गतिशील क्रिया के सघर्ष में विद्यमान है। यद्यपि इस मूर्ति का प्रतिमान-विधान अन्दर से हुआ प्रतीत होता है तथा यह वस्तुतः विश्रान्ति से युक्त है तथापि यह गति से स्फुरित है यह मूर्ति इतनी ओजोयुक्त है कि इसका आकार बढ़ता हुआ सा प्रतीत होता है? किन्तु वास्तव में यह लघुकाय है, जिसकी ऊँचाई केवल ३'—३½" है। यह विपुल घड़ आकारो में रहस्यात्मक रूप से सन्निविष्ट जीवन का अनावरण करता है, जो एक शिखर के विघूर्णन की भाँति आभासतः गति हीन है; किन्तु इसे चेतना से निर्भर रखता है। संक्षेपतः यह मूर्ति अचेतनतया अपने शरीर की सुषट्य भित्तियों के भीतर जीवन की आन्तरिक

गति का अङ्कन करती है। वस्तुतः यह मूर्ति "प्रतिरूपी-कृत सघात" है। यह दैहिक रूप भारतीय कला में उन देवों के सत्य मानक के रूप में सभी कालों में प्रचलित रहा है, जिनमें संयम (जितेन्द्रियता) से प्राप्त संरचनात्मक क्रिया की शक्ति का प्रदर्शन करना अभिप्रेत होता है, यथा उदाहरणार्थ, जिनों अथवा तीर्थङ्करो अथवा गहन तपस्या कि वा ध्यान में लीन देवों में।

हड़प्पा से ही उपलब्ध दूसरी मूर्ति एक नर्तक की चुस्त प्रतिमा है, जिसकी विपरीत वक्रताएँ एवं प्रयास प्रदर्शित समताएं मानों नृत्य की गति के अनुसरण के अनन्त व्यापार में एक ही स्थान में परस्पर-प्रथित हैं। इस मूर्ति का परिमाण अक्ष के चारों ओर केवल सम रूप में सविभक्त ही नहीं है अपितु इसकी शारीरिक गतियों से उत्पन्न स्थान के भीतर ही, समस्थलों के प्रतिच्छेदों में भलीभाँति संतुलित भी है। शारीरिक गतियाँ इतने सुचारु रूप में अभिव्यक्त की गई हैं कि वे इस घड़ के स्थान तथा परिमाण के एकक को अभिभूत कर लेती हैं। दूसरे शब्दों में, यह एक स्थान में बक्रीकृत रेखाओं एवं समस्थलों की मूर्ति है। यह तथा पूर्वतः वर्णित अन्य स्थिर मूर्ति भारतीय मूर्ति-कला के दो विशिष्ट रूपों का प्रतिनिधित्व करती है; एक तो शरीर की सुषट्य भित्तियों के भीतर जीवन की अचेतन गति का अङ्कन करने वाली और दूसरी उसी गति द्वारा घिरे हुए स्थान के भीतर संकल्प के कार्य द्वारा सम्पाद्यमान शरीर की बाह्य गति का चित्रण करने वाली। इन दोनों ही मूर्तियों का काल लगभग २४००-२००० ई० पू० है। नृत्यरत मूर्ति के शिर (एक अथवा एकाधिक), भुजाओं तथा प्रजननाङ्ग पृथक् रूप से खोदे गये थे और घड़ के बरमे द्वारा किये गये छेदों में उन्हें स्थापित किया गया था। टांगे टूट गई हैं।

स्तनाय पृथक् रूप से काटे गये थे और संश्लेषण-सामग्री द्वारा स्थिर किये गये। नाभि चषकाकार है। बायें उरु-भाग पर एक छेद किया गया है। दूसरी स्थिर मूर्ति “अग्र स्थिति” के भाव में एक सुपुष्ट युवा को प्रस्तुत करती है, जिसमें मांसपेशी वाले प्रदेशों का चित्रण सावधान निरीक्षण, शैली के संयम एवं पृथुता के साथ किया गया है, जो मोहनजो-दड़ो की उत्खान मुद्राओं की एक उल्लेखनीय विशेषता है। नृत्यरत मूर्ति इतनी अधिक सजीव एवं अभिनव है कि मोहनजो-दड़ो मूर्ति-समुदाय की मृत नियम-निष्ठता से उसकी कोई संगति नहीं बैठती। यह महालिप्ता प्रतीत होती है जो इस सुभाव को बल प्रदान करता है कि यह पाश्चात्कालिक नटराज—शिव के नृत्यरत रूप—के आदि रूप का प्रतिनिधित्व कर सकती है। सभी कलासमीक्षकों ने यह घोषणा की है कि अपनी विशुद्ध सरलता एवं भावना के कारण, जिनमें कि इन दोनों श्रेष्ठ कृतियों की कोई भी तुलना नहीं, इनका निर्माण हेत्तास के महान् युग से पूर्व का नहीं है।

“अग्र-स्थिति” के भाव में विद्यमान प्रस्तर-प्रतिमा प्राचीन भारतीय कला के विषय से एक प्राथमिक सत्यता की भी स्थापना करती है, अर्थात् यह कि भारतीय कला की जड़ें उतनी ही दृढ़तापूर्वक प्रकृति में जमी हुई हैं जितनी कि वे इसके सामाजिक वातावरण तथा इसकी अलौकिक उत्पत्ति में भलीभाँति सन्स्थित हैं। यह एक युगपदेव जितेन्द्रियता द्वारा उपलब्ध, बहिर्विक्षेप के लिए नहीं बल्कि अन्तर्दृष्टिजन्य शान्ति के लिए उपयोगी बल तथा सरचनात्मक क्रिया के समग्र गुणों से समन्वित देव का अंकन करती है। यह वस्तुतः वही चीज है जिसे हम जैन देवों तथा तीर्थंकरों से सम्बद्ध पाते हैं, जिनकी मंसूर में श्रवण बेलगोल, कार्कल तथा खेनूर स्थानों पर उपलब्ध विशालकाय प्रतिमाएँ लोगों का ध्यान आकर्षित करती हैं। मंसूर में श्रवणबेलगोल में उपलब्ध जैन तीर्थंकरों तथा बाहुबली आदि जैन तपस्वियों की विशालकाय प्रतिमा वैहिक प्रयास द्वारा प्राप्त जितेन्द्रियता से, अहिंसा के ऐश्वर्यपूर्ण भाव द्वारा तथा मौलिक एवं जन्मजात स्थिति की निरन्तर समता में भी जलवायु तथा प्रकृति की कठोरताओं

के प्रति पूर्णतया निर्मुक्त वैहिक अंगों द्वारा आध्यात्मिकता नियन्त्रित शक्ति एवं सर्जनात्मिका क्रिया से मानवता को यह पाठ पढ़ाती हैं कि अहिंसा ही मानवीय दुःखों के लिए एकमात्र निदान है [अहिंसा परमोधर्मः]। चूँकि हड़प्पा की मूर्ति ठीक उपरिर्वाणित विशिष्ट मुद्रा में है, इसलिए इसमें चित्रित देवकी यदि हम तीर्थंकर अथवा एक यश तथा तप की महिमा [तपो महिमा] से मण्डित जैन तपस्वी से अभिन्न मान ले तो गलत न होगा। यद्यपि इसके वक्त—२४००-२००० ई० पू०—के विषय में कुछ पुरातत्त्ववेत्ताओं में मतवैभिन्य है, मोहनजो-दड़ो से उपलब्ध कुछ मिट्टी की बनी मूर्तियों तथा कुछ खुदी हुई मुद्राओं पर किये गये चित्रणों से इसे भिन्न करने वाला कोई भी शैलीगत तत्त्व नहीं है। इस प्रसंग में, इस मूर्ति के विषय में सर मोर्टिमेर व्हीलर के अपने ‘इण्डस वैली सिविलिजेशन’ [कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, १९५३], पृष्ठ ६६, पर प्रकाशित विचार उद्धरणीय हैं :—

“ये दो मूर्तियाँ, जो मुरक्षित रूप में ऊँचाई में ४” से भी कम ही हैं, नर घड़ हैं जिनमें प्रतिमान की उस संवेदनशीलता एवं जीवन्ता का प्रदर्शन है जो उपरि-विचारित कृतियों में सर्वथा अनुपलब्ध है। उनकी विशेषताएँ इतनी अधिक असाधारण हैं कि इस समय सिन्धु-काल के साथ उनके सम्बन्ध के प्रामाण्य के विषय में कुछ सन्देह अवशिष्ट रहना चाहिए। दुर्भाग्यवश उनके अन्वेषण द्वारा प्रयुक्त तकनीकी विधियाँ ऐसी नहीं थीं जिनसे कि सन्तोषजनक स्तर प्रमाण प्राप्त हो सकें; और ये कथन कि उनमें से एक, नर्तक [की मूर्ति], हड़प्पा में अन्न भण्डार-स्थल पर प्राप्त हुई थी तथा दूसरी उसी सामान्य क्षेत्र में घरातल से “४”—१०” नीचे उपलब्ध हुई, स्वयं में अन्तर्भेदन की भावना का बहिष्कार नहीं कर पाते हैं। किसी परवर्ती काल से सम्बद्ध कर देना भी कठिनाई से मुक्त नहीं है, और सन्देह का समाधान तो केवल इसी प्रकार की आगे होने वाली तथा और अधिक पर्याप्त रूप में तथ्यबद्ध तुलना के योग्य खोजों से ही हो सकता है।”

यद्यपि, सर व्हीलर के उपसंहारात्मक टिप्पणों से यह स्पष्ट है कि इस मूर्ति को किसी परवर्ती काल से सम्बद्ध

करना उतना ही अधिक कठिन है जितना कि इसके लिए तृतीय सहस्राब्दि ई० पू० की पूर्ववर्ती तिथि का निषेध करना। अक्सर इस प्रकार समान है।

चलिए अब हम वर्णनान्तर्गत मूर्ति के विषयीगत तथा विषयगत मूर्तियों को निर्धारित कर लें। इसका विषयीगत मूल्य तो पहले ही देख लिया है। यह एक नग्न देव की है जो सुनिर्मित पुष्ट भाग से मुक्त कन्धों तथा सुस्पष्ट देहिक अंगों से युक्त अग्र-स्थिति के तटव में सीधा खड़ा है, जिससे यह अभिव्यक्त होता है कि प्रतिमान-संघात में जीवन की गति एक सुनियमित तथा सुनियन्त्रित सुहादय क्रम में हो रही है। नियन्त्रण के साथ शिश्न-मुद्राओं की संगतियाँ एक जिन [इद्रिप-विजेता] की धारणा को बल देती हैं। इसके विरोध में, कोई व्यक्ति मोहनजोदड़ो से प्राप्त तृतीय सहस्राब्दि ई० पू० की उस खुदी हुई मुद्रा का अध्ययन कर सकता है जिसमें मनुष्यों आदि मत्स्य, गण्डा, महिष, व्याघ्र, हाथी, कुरग, पक्षी तथा मत्स्य आदि जन्तुओं के मध्य ध्यानावस्था में बैठे हुए रुद्र—पशुपति—महादेव का चित्रण किया गया है और जिसमें उत्थित [उर्ध्व-रेयस्] का प्रदर्शन सर्जनात्मिका क्रिया की उर्ध्वगामिनी शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। मोहनजोदड़ो मुद्रा में प्रदृष्ट, इम देव के प्रतिमा-विज्ञान की पूर्ण व्याख्या ऋग्वेद की निम्न ऋचाओं से हो जाती है :—

२. ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनां ऋषिप्रियाणां
महिषो भृगाणां।

श्येनो गृधानां स्वधितिर्वनाना सोमः पवित्र
अत्येति रेभन् ॥ ६।१।६६

“देवो मे ब्रह्मा, कवियों का नेता, तमस्विनो का ऋषि, पशुओं में महिष, पक्षियों में बाज, ग्रायुषो में परशु, सोम गाता हुमा छलनी के ऊपर से जाता है।”

२. त्रिषा बद्धो वृषभो रो रवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश ॥
ऋ० ४।१८।३

“त्रिषा बद्ध वृषभ पुनः पुनः रम्भा रहा है—महादेव पुणतया मर्त्यों में प्रविष्ट हो गया।”

३. रुद्रः पशूनामधिपतिः।

१. कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, १९५३, प्लेट २३।

“रुद्र प्राणियों का अधिपति है।”

मोहनजोदड़ो मुद्रा की ऋग्वेद से प्राप्त उपरिनिर्दिष्ट व्याख्या के आलोक में वर्णनान्तर्गत मूर्ति की पहचान ऋग्वेद के संकेत द्वारा सरल हो जानी चाहिए। मई, जून तथा जुलाई के महोनों में अफगानिस्तान के लिए पुरातात्विक अभियानों का नेतृत्व करते हुए, इस लेख के लेखक को युमान् चुम्राड् (६००-६५४ ई०) के लेखों के सत्यापन के अवसर प्राप्त हुए, जिनके अफगानिस्तान तथा अन्य क्षेत्रों में की गई यात्रा के विवरण विविधता तथा वैज्ञानिक एवं मानवीय अभिरुचि के तथ्यपरक लेख हैं। उनका होसिना गजनी ग्रन्थवा गजना, हजारवा ग्रन्थवा होसाला का वर्णन अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं, “यहां अनेक तीर्थंकर नास्तिक हैं, जो शुन देव की आराधना करते हैं।” “जो उसका श्रद्धापूर्वक ग्राह्यमान करते हैं उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति हो जाती है। दूर तथा निकट दोनों ही प्रकार के स्थानों के लोग उसके प्रति गहन भक्ति-भावना का प्रदर्शन करते हैं। उच्च तथा निम्न समान रूप से उसके धार्मिक भय से आत्मावित है।... अपने मन के दमन तथा आरामयातना द्वारा तीर्थंकर स्वर्ग की शक्तियों से पुनीत सूत्र प्राप्त करते हैं, जिनसे वे रोगों पर नियन्त्रण करते हैं और रोगियों को रोग-मुक्त कर देते हैं।” शुन देव (शुन अथवा शिश्न देव) सम्भवतः कोई तीर्थंकर अथवा तीर्थंकर अथवा उनके अनुयायी थे, जिन्होंने अहिंसा के संदेश के लिए जैनधर्म के देवकुल को दीप्तिमान किया। युमान् चुम्राड् का लेख अफगानिस्तान में भी जैनधर्म के प्रसार का साक्ष्य है। बुद्ध के जीवन वृत्तान्त में हम यह पढ़ते हैं कि बुद्ध के विरोधियों में ६ प्रमुख अथवा तीर्थंकर थे—पुत्राण, कस्साय, गोसाल, कच्छायण, निगन्थ नाथपुत्त तथा सञ्जय। हम गोसाल में आजीविक पन्थ के गोसाल तथा निगन्थ नाथपुत्त में अन्तिम एवं २४वें जैन तीर्थंकर महावीर की पहचान कर सकते हैं। अतः शुन देव के रूप में युमान् चुम्राड् कृतदेव का वर्णन इस बात की ओर संकेत करता है कि वे सम्भवतः नग्न देव जैन तीर्थंकर की ओर संकेत कर रहे हैं, क्योंकि तीर्थंकर शब्द तीर्थंकरों अथवा तीर्थंकरों को ही द्योतित करता है। अफगानिस्तान में जैनधर्म का

आगमन निश्चय ही एक दैवी ज्ञानोद्घाटन है।

शुन देव शब्द सम्भवतः शुन अथवा शिन या शिशन देव शब्द के लिए प्रयुक्त है। ऋग्वेद तक पीछे पहुँचने पर हम पाते हैं कि ऋग्वेद शिशन देवों के रूप में नग्न देवों की ओर दो मन्त्रों में संकेत करता है, जिन में नग्न देवों (शिशन देवों) से वैदिक यज्ञों की रक्षा के लिए इन्द्र का आह्वान किया गया है :—

१. न यातव इन्द्र अजुषुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः ।

स शर्वदर्यो विषुणास्य जन्तोर्या शिशनदेवा अपि न
ऋतं नः ॥ ७।२२।५

“हे इन्द्र ! हमें किन्हीं बुरी शक्तियों अथवा राक्षसियों ने प्रेरित नहीं किया है। हे शक्तिमान देव ! अपने साधनों द्वारा हमारा सत्य देव शत्रुओं के अशिष्ट जन-सम्पर्क का दमन करे। नग्न देव (शिशन देव) हमारे पवित्र यज्ञ अथवा पूजा तक न पहुँचें।”

२. स वाजं यातापकुण्डपा यन्तस्वर्षाता परिषदत्सनिष्यन् ।
अनर्वा यच्छतदुरस्य देवो ऽनञ्जिच्छनदेवा अभिवर्षसाभूत् ॥

१०।६६।३

“सर्वाधिक मङ्गल मार्ग पर वह (इन्द्र) युद्ध के लिए जाता है। उसने स्वर्ग की ज्योति प्राप्त करने के लिए परिश्रम किया, जिसकी प्राप्ति से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। उसने सौ द्वारों से युक्त दुर्ग की निधि को कौशल द्वारा, बिना रोके हुए, नग्न देवों (शिशन देवों) को (इस कार्य में) मारते हुए ग्रहण की।”

मैकडॉनल, अपने वैदिक साइथोलॉजी, पृष्ठ १५५, में कहते हैं कि शिशन देवों की पूजा ऋग्वेद के लिए घृणा का विषय थी। इन्द्र से शिशन देवों को वैदिक यज्ञों में आने देने के लिए प्रार्थना नहीं की गई है, इन्द्र के विषय में कहा गया है कि उसने शिशन देवों का उस समय वध किया जबकि उसने १०० द्वारों वाले एक दुर्ग में गुप्त खजानों को चोरी-छिपे देखा।

ये दो ऋचाएँ हमारे समक्ष इस सत्य को प्रकाशित करती हैं कि सम्भवतः हम हड़प्पा की मूर्ति में दैहिक त्याग (कायोत्सर्ग) की विशिष्ट मुद्रा—जो एक ऐसी मुद्रा है जिसे श्रवणबेलगोल, कार्कल, वेणूर आदि स्थानों में जैन तीर्थंकरों तथा सिद्धों की पश्चात्कालिक विशाल-

काय मूर्तियों में अमर बना दिया गया है—में एक पूर्ण जैन तीर्थंकर को पहिचान रहे हैं। हड़प्पा अथवा मोहनजो-दड़ो के युग जैसे प्राचीन काल (तृतीय सहस्राब्दि ई० पू०) में कायोत्सर्ग सदृश एक पश्चात्कालिक जैन प्रतिमा सम्बन्धी सुषट्प मुद्रा के दर्शन करके किसी को आश्चर्य हो सकता है। निश्चय ही, एकमात्र नितान्त नग्नता तथा अहिंसा के मूलभूत जैन सिद्धान्त के अवगमन के लिए सम्पूर्ण भौतिक चेतना के आन्तरिक उत्सर्ग की धारणाएँ ही ऐसी एक मुद्रा की प्रेरक हो सकती हैं। हड़प्पा में उपलब्ध, वर्णनान्तर्गत मूर्ति में हम यही मुद्रा पाते हैं। इस प्रकार इस विचारधारा में एक सातत्य एवं एकत्व विद्यमान है और मूर्ति में कोई भी अन्य प्रतिमा-विज्ञान सम्बन्धी बातें ऐसी नहीं मिलती जो भ्रम उत्पन्न करें अथवा हमें (इस धारणा से) विमूढ कर सकें। नग्न मुद्रा अपने देव महादेव >रुद्र> पशुपति के उर्ध्व मेढू के रूप में—ऐसी मुद्रा जिसे हम मोहनजो-दड़ो की सेलखड़ी की मुद्रा में चित्रित पाते हैं—किए गए वैदिक वर्णन के सर्वथा विरोध में स्थित है (कैम्ब्रिज ऑफ इण्डिया, २६५३, प्लेट २३)।

२४ जैन तीर्थंकरों का कालक्रम का इतिहास तथा उनकी क्रमागतता हड़प्पा की मूर्ति को काल के मार्ग में अवरोध नहीं है। तीर्थंकरों की वर्तमान सूची (वर्तमान तीर्थंकर) के अन्तर्गत २४ है, जिनमें हमें मालूम है कि महावीर बुद्ध के समसामयिक थे, जो छठी शताब्दी ई० पू० में हुए। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ महावीर से १०० वर्ष से अधिक पहले हुए, और २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ महाभारत के यशस्वी पाण्डवों के सखा भगवान् कृष्ण के पितृव्यज थे। मोटे तौर से गणना करने पर भी भगवद्-गीता के भगवान् कृष्ण के समकालिक नेमिनाथ के लिए हमें ६वीं शताब्दी ई० पू० जैसा एक काल प्राप्त होता है। पाण्डवों की गतिविधियों की बोला, मेरठ के समीप स्थित हस्तिनापुर में सम्पन्न हुआ है। अभी हमें क्रमागतता के क्रम में नेमिनाथ के पूर्ववर्ती २१वें तीर्थंकर को भी सकारण बतलाना है। यदि हम आनुपातिक रूप से प्रत्येक तीर्थंकर की तिथियों को पीछे खिसकाते जाएँ तो हम पाएँगे कि प्रथम तीर्थंकर, जिन्हें बृषभदेव नाम से

भी पुकारा जाता है, तृतीय सहस्राब्दि ई० पू० के अन्तिम चरण के प्रवेशद्वार पर स्थित हैं। वर्णनान्तर्गत मूर्ति का समय आलोचकों ने २४००-२००० ई० पू० के मध्य निश्चित किया है। जैन धर्म के प्रवर्तक, प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ का वृषभ नाम से युक्त होना भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि ऋग्वेद की ऋचाओं में इस बात की प्राप्ति की गई है कि एक महान् देव के प्रागमन को अन्तर्भूत करने वाले महान् सत्त्वों की उद्धोषणा का कार्य वृषभ ने ही सम्पादित किया :—

त्रिधा बद्धो वृषभ रोरवीति महो देवो मर्यानाविवेश ॥

वृषभदेवापरनामा आदिनाथ द्वारा वैदिक यज्ञों तथा पशुपति के प्रति सर्वथा विरोध की भावना से एक नये धार्मिक मत की स्थापना जैन धर्म के जीवन-काल में हुई प्रथम मूलभूत घटना है। बाद की घटनाओं तथा आदिनाथ के अनुयायियों—तीर्थङ्करों तथा सिद्धों—ने उनके मत को एक दृढ़ चक्र—ग्रहिणा के चक्र—पर स्थापित किया और उसे गति प्रदान की; काल तथा स्थान में अपनी गति के साथ-साथ उसने विद्युद्दलयो (electric coils) की भाँति शक्ति प्राप्त की तथा वातारण को की “ग्रहिणा परमो धर्मः” की गूँज से भर दिया।

वृषभदेव का नग्नत्व एक इतनी अधिक सुविदित

बात है कि इसके सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं हो सकता, क्योंकि जैन धर्म का यह केन्द्रीभूत सिद्धान्त है कि नितान्त नग्नता पवित्रता का एक अनिवार्य तत्त्व है। यदि ऋग्वेद वैदिक देवों में से एक देव इन्द्र की सहायता का शिक्का बेचों अर्थात् नग्न देवों से वैदिक यज्ञों की रक्षा के लिए आह्वान करता है तो यह सुस्पष्ट है कि ऋग्वेद केवल एक ऐतिहासिक तथ्य को इतिहास-बद्ध कर रहा है, अर्थात् वृषभदेव सदृश जैन धर्म की विचारित तथा प्रवर्णित उत्पत्ति वैदिक यज्ञों से सम्बद्ध पशुयज्ञों का अन्त करने के अभिप्राय के साथ हुई। सबके विश्वास को प्राप्त करने तथा मानवता को अपने सन्देश के प्रति विश्वास-युक्त करने के लिए प्रथम तीर्थङ्कर ने वस्त्र फेंक डाले और इस प्रकार स्वयं तथा अपने अनुयायियों को देहिक यज्ञ (कायोत्सर्ग) के साथ आरम्भ होने वाले आत्मयज्ञ के प्रति शूभ्र प्रकाश के लिए अनावृत कर दिया। दूसरे तीर्थङ्करों ने इस सिद्धान्त को स्थायित्व प्रदान किया, इसकी आनन्दप्रद कहानी जैन धर्म की सेवा में रत भारतीय कला मानवता के समक्ष प्रस्तुत करती है। अतः एव वर्णनान्तर्गत मूर्ति जैन धर्म के इस विचार का, सम्भवतः इसके बिल्कुल आरम्भ के समय का एक शानदार प्रतिनिधि नमूना है।

× × × ×

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना स्थापित शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें छाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और जैन श्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बतावें। और इस तरह जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक ‘अनेकान्त’

हेलाचार्य

परमानन्द जैन शास्त्री

हेलाचार्य—यह द्रविडगण के मुनियों में मुख्य थे। और जिन मार्ग की क्रियाओं का विधि पूर्वक पालन करते थे। पाँच महान्नत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों से संरक्षित थे। उनका विधिपूर्वक आचरण करते थे। यह दक्षिण देश के मलय देश में स्थित 'हेम' नामक ग्राम के निवासी थे। उनकी एक शिष्या कमलश्री थी, जो समस्त शास्त्रों की ज्ञाता—श्रुत देवी के समान विदुषी थी। एक बार कर्मवशात् उनकी शिष्या को ब्रह्मराक्षस लग गया। उसकी महती पीड़ा को देखकर हेलाचार्य 'नीलगिरि' पर्वत के शिखर पर गये। वहाँ उन्होंने 'ज्वालामालिनी' की विधिपूर्वक साधना की। सात दिन में देवी ने उपस्थित होकर हेलाचार्य से पूछा कि क्या चाहते हो? मुनि ने कहा, मैं कुछ नहीं चाहता। केवल कमलश्री को ग्रह मुक्त कर दीजिये। तब देवी ने एक लोहे के पत्र पर एक मंत्र लिख कर दिया और उसको विधि बतला दी। इससे उनकी शिष्या ग्रह मुक्त हो गई। फिर देवी के आदेश से उन्होंने 'ज्वालामालिनी' नामक ग्रंथ की रचना सम्भवतः प्राकृत भाषा में की।

हेलाचार्य से वह ज्ञान उनके शिष्य गंगमुनि, नीलग्रीव, बीजाव, शान्तिरसम्बा आर्यिका और विरुवट्ट क्षुत्लक को प्राप्त हुआ। तथा क्रमागत

गुरु परिपाटी और अविच्छिन्न सम्प्रदाय से आया हुआ मंत्रवाद का यह ग्रंथ कन्दर्प ने जाना और उसने गुणनन्दि मुनि के लिये व्याख्यान किया। इन दोनों ने उस शास्त्र का व्याख्यान ग्रन्थतः और अर्थतः इन्द्रनन्दी के प्रति कहा। तब इन्द्रनन्दि ने उस प्राचीन कठिन ग्रन्थ को अपने मन में अवधारण करके ग्रन्थपरिवर्तन (भाषा परिवर्तनादि) के साथ ललित आर्या और गीतादि छन्दों में और साढ़ेचार सौ श्लोकों में उसकी रचना की। इन्द्रनन्दिने इसकी रचना शक सं० ८६१ (ई० सन् ६३६ और वि. सं. ६६६) राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के राज्य में मान्यखेट के कटक में अक्षय तृतीया को की।

पोन्नूर की कनकगिरि पहाड़ी पर बने हुये आदिनाथ के विशाल जिनालय में जैन तीर्थंकरों और अन्य देवताओं की मूर्तियाँ हैं। उनमें एक मूर्ति ज्वालामालिनी देवी की है। उसके आठ हाथ हैं। दाहिनी ओर के हाथों में मण्डल, अभय, गदा और त्रिशूल हैं। तथा बाईं ओर के हाथों में शंख, ढाल, कृपाण और पुस्तक है। मूर्ति की आकृति हिन्दुओं की महाकाली से मिलती-जुलती है। पोन्नूर से लगभग तीन मील की दूरी पर नीलगिरि नाम की पहाड़ी है, उस पर हेलाचार्य की मूर्ति अंकित है।

१. द्रविडगण समय मुख्यो जिनपति मार्गोपचित क्रिया पूर्णः ।
व्रत समितिगुप्तिगुप्तो हेलाचार्यो मुनिर्जयति ॥१६

२. 'दक्षिणदेशे मलये हेनग्रामे मुनिर्महात्मासीत् ।
हेलाचार्यो नाम्ना द्रविडगणाधीश्वरो धोमान् ॥'
'तच्छिष्या कमलश्रीः श्रुतदेवी वा समस्त शास्त्रज्ञा ।
सा ब्रह्म राक्षसेन शुहिता रोद्रेण कर्मवशात् ॥'

जैनग्रंथ प्र० सं०

३. अष्टशतस्यैकषष्ठि(८६१)प्रमाण शक संवत्सरेष्वतीतेषु ।
श्रीमान्यखेट कटक पर्वण्यक्षय तृतीयायाम् ॥

शतदलसहित चतुःशत परिमाणग्रन्थ रचनया युक्तं ।
श्रीकृष्णराज राज्ये समाप्तमेतन्मतं देव्याः ॥

४. 'जयताद्देवी, ज्वालामालिन्युद्यत्रिशूल-पादाभय—
कोदण्ड-काण्ड-फल-वरद-चक्र चिन्होज्ज्वलाऽष्टभुजा ॥'

५. See Jainism in South India P. 47

पावापुर

श्री बलभद्र जैन

[प्राञ्जकल 'पावा' के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ है, चूँकि भगवान महावीर का परिनिर्वाण पावा में हुआ है। इवेताम्बरीय कल्पसूत्र के अनुसार वह मध्यमा पावा है, जो वर्तमान में निर्वाणभूमि मानी जाती है। परन्तु कुछ लोग केवल बौद्धग्रन्थों के आधार पर महावीर की निर्वाण भूमि पावा को पढरोना या सठियाँच में मानने के लिए बाध्य कर रहे हैं। परन्तु अभी तक ऐसे कोई ठोस प्रमाण उपस्थित नहीं हुए हैं। जिनसे उत्तर-प्रवेश वाली पावा को मान्यता दी जा सके। ऐसी स्थिति में विद्वान लेखक ने प्रस्तुत निबन्ध में इस पर सप्रमाण विचार किया है।

याथा है विद्वान उस पर गहराई से विचार करेंगे। श्रीर निर्वाणभूमि पावा के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ऐसे ठोस प्रमाण प्रस्तुत करेंगे, जिनसे पावा-सम्बन्धि विवाद समाप्त हो जाय और वस्तु स्थिति पर यथार्थ प्रकाश पड़ सके।

—सम्पादक]

सिद्धक्षेत्र—पावापुर अत्यन्त पवित्र सिद्धक्षेत्र है। यहाँ पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था। प्राचायं यतिवृषभ ने 'तिलोयपण्णसी' में इस सम्बन्ध में लिखा है कि :—

'कातियकिण्हे ओहसिपच्चूसे साविणामणक्खत्ते।

पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥४॥१२०८॥

भगवान वीरेस्वर (महावीर) कातिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रत्युषकाल मे स्वाति नक्षत्र के रहते पावापुर से अकेले ही सिद्ध हुए।

प्राकृत 'निर्वाण भक्ति' में प्रथम गाथा मे निम्न पाठ आया है—

'पावाए णिव्वुदो महावीरो' अर्थात् पावा में महावीर का निर्वाण हुआ।

संस्कृत 'निर्वाण भक्ति' मे भगवान महावीर के निर्वाण के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना उपलब्ध होती है जो इस भांति है :—

'पद्मवनवीधिकाकुलविधिवद्मखण्डमण्डिते रभ्ये।

पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥१६॥

कातिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः।

अवशेषं सम्प्रापद्भ्यञ्जरामरमक्षयं सोढ्यम् ॥१७॥

परिनिर्वातं जितेन्द्रं ज्ञात्वा विवृषा ह्यथाशु चागम्य।

देवतपरक्तचन्दनकालागुणसुरभिगोशीर्षः ॥१८॥

अग्नीन्प्राञ्जिनदेहं सुकुटानलसुरभिधूपवर मात्स्यैः।

अम्बुष्यं गणधरानपि यता दिवं क्षं च वनभवने ॥१९॥

अर्थात् वह मुनिराज महावीर कमल वन से अरे हुए

श्रीर नागा वृक्षों से सुशोभित पावा नगर के उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान मे ग्राह्य हो गये। उन्होंने कातिक कृष्ण के अन्त मे स्वाति नक्षत्र में सम्पूर्ण अवशिष्ट कर्म कलंक का नाश करके अक्षय, अजय और अमर सौख्य प्राप्त किया। देवताओं ने जैसे ही जाना कि भगवान का निर्वाण हो गया, वे अविलम्ब वहाँ पर आये और उन्होंने पारिजात, रक्तचन्दन, काला गरु तथा अन्य सुगन्धित पदार्थ और धूप, माला एकत्रित किये। तब अग्नि कुमार देवों के इन्द्र ने अपने सुकुट से अग्नि प्रज्वलित करके जितेन्द्र प्रभु की देह का सस्कार किया तब देवों ने गणधरों की पूजा की और अपने-अपने स्थान पर चले गये।

इसी संस्कृत निर्वाण भक्ति मे इसी सम्बन्ध में एक श्लोक और भी दिया गया है :—

'पावापुरस्य वह्निगन्तभूमिवेशे,

पयोत्पला कुलवती सरसां हि मध्ये।

श्री वर्धमान जिनदेव इति प्रसीतो

निर्वाण माप भगवान्प्रविभूतपाप्मा ॥२४॥

पावपुर नगर के बाहर उन्नत भूमि खण्ड (शीले) पर कमलों से सुशोभित तालाब के बीच में निष्पाप वर्ष-मान ने निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में भगवान के निर्वाण का जो वर्णन दिया है, उससे एक विशेष बात पर प्रकाश पड़ता है कि उस समय देवताओं और मानवों ने अधकारपूर्ण रात्रि में जो दीपालोक किया था, उसी की स्मृति में प्रतिवर्ष 'दीपावली' मनाई जाती है। आचार्य ने 'हरिवंश' की रचना शक सं० ७०५ (ई० सन् ७८४) में की थी। इतनी प्राचीन रचना में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होना ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उससे महावीर-निर्वाण के समय जो स्थिति थी, उसका चित्र हमारे समक्ष स्पष्ट हो उठता है। पुराणकार का मूल उल्लेख इस प्रकार है :—

'जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं

समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम् ।

प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं

मनोहरोद्यानवने तदीयके ॥६६॥१५॥

चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासके-

विहीनताविश्वचतुरब्दशेषके ।

स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूत

सुप्रभात सन्ध्यासमये स्वभावतः ॥१६॥

अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको

विधूय घातोन्धनवद्विबन्धन ।

विबन्धनस्थानमवाप शंकरो

निरन्तराग्रोरुमुखानुबन्धनम् ॥१७॥

स पञ्चकल्याणमहामहेश्वरः

प्रसिद्धनिर्वाणमहे चतुर्विधः ।

शरीर पूजाविधिना विधानतः

सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः ॥१८॥

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रबद्धया

सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया ।

तदा स्म पावानगरी समन्ततः

प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१९॥

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्

प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते ।

समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं

जिनेन्द्रनिर्वाण विभूतिभक्षितभाक् ॥२०॥

भगवान महावीर भी निरन्तर सब ओर के भव्य समूह को संबोधित कर पावा नगरी पहुँचे और वहाँ के 'मनोहरोद्यान' नामक वन में विराजमान हो गये। जब चतुर्थकाल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे, तब स्वाति नक्षत्र में कार्तिक अमास्या के दिन प्रातःकाल के समय स्वभाव से ही योग निरोध कर घातिया कर्मरूपी ईन्धन के समान अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर बन्धन रहित हो संसार के प्राणियों को सुख उपजाते हुए निरन्तराय तथा विशाल सुख से रहित निर्बन्ध-मोक्ष-स्थान को प्राप्त हुए। गर्भादि पाँच कल्याणको के महान अघिपति, सिद्धशासन भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारो निकाय के देवों ने विधिपूर्वक उनके शरीर की पूजा की। उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलाई हुई देदीप्यमान दीपको की पक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याण की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भाग्य क्षेत्र में प्रति वर्ष आदर पूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।

आचार्य वीरसेन विरचित 'जयघवला' टीका में भगवान महावीर के निर्वाण के प्रसंग में निर्वाण-स्थान के स्थान के साथ उनकी मुनिःश्रवस्था की काल गणना भी दी है :—

'वासा णूणतीसं पंच य मासे य बीस दिवसे य ।

चउविह् अणगारे हि य दारह् दिणेहि (गणेहि)

विहरित्ता ॥३०॥

पच्छा पावाणयरे कत्तिय मासस्स किण्ह चोद्दसिए ।

सादीए रत्तीए सेसरय छेत्तु णिब्बाओ ॥३१॥

जयघवला भाग १, पृ० ८१

२६ वर्ष ५ मास और २० दिन तक ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों और १२ गणों अर्थात् सभाओं के साथ विहार करके पश्चात् भगवान महावीर ने पावा नगर में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन

स्वाति नक्षत्र के रहते हुए रात्रि के समय शेष अघाति-कर्मरूपी रज को छेदकर निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' में महावीर निर्वाण के सन्दर्भ को प्रायः अन्य आचार्यों के समान ही निबद्ध किया है, किन्तु इसमें अन्यो से साधारण अन्तर है। अन्य आचार्यों के अनुसार भगवान् महावीर एकाकी मुक्त हुए थे किन्तु उत्तरपुराणकार के अनुसार भगवान् के साथ एक हजार मुनि मुक्त हुए थे। वह इस प्रकार है :—
'इहान्त्यतीथनाथोऽपि विहृत्य विषयान् बहुन् ॥७६।५०८॥
क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे।

वह्नां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥७६।५०९॥

स्थित्वा दिनद्वयं वीत-विहारो वृद्धनिर्जरः।

कृष्णकातिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशत्यये ॥७६।५१०॥

स्वातियोगे तृतीयेऽशुक्लध्यानपरायणः।

कृतात्रियोग संरोधः समुच्छिन्नक्रिय अतः ॥७६।५११॥

हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणत्मकः।

गन्ता मुनि सहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥७६।५१२॥

(इन्द्रभूति गणधर राजा श्रेणिक को भविष्य के संबंध में बताते हुए कहते हैं कि—) भगवान् महावीर भी बहुत से देशों में विहार करेंगे। अन्त में वे पावापुर नगर में पहुँचेंगे। वहाँ के मनोहर नामक वन के भीतर अनेक सरावरों के बीच में मणिमयी शिला पर विराजमान होंगे। विहार छोड़कर निर्जर को बढाते हुए वे दो दिन तक वहाँ विराजमान रहेंगे और फिर कातिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम समय स्वाति नक्षत्र में अतिशय देदीप्यमान तीसरे शुक्ल ध्यान में तत्पर होंगे। तदनन्तर तीनों योगों का निरोध कर समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान को धारण कर चारों अघातिया कर्मों का क्षय कर देंगे और शरीर रहित केवल गुण रूप होकर एक हजार मुनियों के साथ सबके द्वारा वाञ्छिनीय मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे।

अशग कवि द्वारा विरचित 'महावीर-चरित्र' में भगवान् के निर्वाण समय का जो वर्णन दिया गया है, उसका आशय यह है :—

'भगवान् विहार करके पावापुर के फूले हुए वृक्षों की शोभा से सम्पन्न उपवन में पधारे। जिनका समव-

सरण विसर्जित हो गया है, ऐसे भगवान् योगनिरोध कर मुक्त हुए।

श्वेताम्बर आगम और महावीर निर्वाण

श्वेताम्बर आगमों में भी महावीर निर्वाण के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता का ही प्रायः समर्थन मिलता है। जो अन्तर है, वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। दिगम्बर परम्परानुसार भगवान् का निर्वाण कातिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में हुआ और अमावस्या को उनके मुख्य गणधर को केवलज्ञान हुआ। श्वेताम्बर परम्परा में भगवान् का निर्वाण और गौतम गणधर को केवल ज्ञान दोनों घटनाएँ अमावस्या को हुईं।

'कल्पसूत्र' में महावीर के निर्वाण का विस्तृत वर्णन मिलता है। उससे पावापुर के सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त होती है। वह उद्धरण यहाँ दिया जा रहा है।

'तत्थ णं जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्य रत्तो रज्जुगसभाए अपच्छिम अंतरावासं उवागए तस्स णं अंतरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तिय बहुले सस्स णं कत्तियवहुलस्स पन्नरसी पक्खेणं जा सा चरिमारयणि तं रयणि च णं समणे भगवं महावीरे कालगये विइक्कंते समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबंधण सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खपहीणे चदे नामं से दिवसे उवसमि त्ति पवुच्चइ देवाणंदा नामं सा रयणी निरइ त्ति पवुच्चइ अच्चेलवे मुहुत्ते पाणू थोवे सिद्धे नागे करणे सव्वट्ठसिद्धे मुहुत्ते साइणा नक्खत्तणं जोगमुवागएणं कालगए विइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥१२३॥

अर्थ—भगवान् अन्तिम वर्षावास करने के लिए मध्यम पावा नगरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा में रहे हुए थे। चातुर्मास का चतुर्थ मास और वर्षा ऋतु का सातवां पक्ष चल रहा था अर्थात् कातिक कृष्ण अमावस्या आई। अन्तिम रात्रि का समय था। उस रात्रि को

१. श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान सिवाना (राज०) से प्रकाशित पृ० १६८।

श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए। संसार को त्याग कर चले गये। जन्म-मरण की परम्परा का उच्छेद कर चले गये। उनके जन्म जरा, और मरण के सभी बन्धन नष्ट हो गये। भगवान सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये सब दुःखों का अन्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

महावीर जिस समय कालधर्म को प्राप्त हुए, उस समय चन्द्र नामक द्वितीय सत्सर चल रहा था। प्रीति-वर्धन मास नन्दिवर्धन पक्ष, अग्निवेश दिवस (जिसका दूसरा नाम 'उवसम' भी है) देवानन्दा नामक रात्रि (जिसे निरङ्ग भी कहते हैं)। अर्धनामक लव, सिद्धनामकस्तोक, नाग नामककरण, सर्वाङ्गसिद्धि नामक मुहूर्त तथा स्वाति नक्षत्र का योग था। ऐसे समय भगवान कालधर्म को प्राप्त हुए, वे संसार छोड़ कर चले गये। उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये।"

भगवान के निर्वाण-गमन के समय अनेक देवी-देवताओं के कारण प्रकाश फैल रहा था। तथा उस समय अनेक राजा वहाँ उपस्थित थे और उन्होंने द्रव्योद्योत किया था, इसका वर्णन करते हुए कल्पसूत्रकार कहते हैं—

‘ज रयणि च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सा णं रयणी वहूहि देवेहि य देवेहि य आवयमाणेण य उपायमाणेहि य उज्जो-विद्या यावि होत्या ॥१२४॥

‘जं रयाणि च णं समणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणि च णं नव मल्लइ नव लिच्छई कासी-कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो अमावसाए पाराभीयं पोसहोववास पट्ठवईसु, गते से भावु-ज्जोए दव्वुज्जोव करिस्सामो ॥१२७॥

अर्थ—जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःखपूर्ण रूप से नष्ट हो गये, उस रात्रि में बहुत से देव और देवियाँ नीचे आ जा रही थी; जिससे वह रात्रि खूब उद्योतमयी हो गई थी ॥१२४॥

जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये, उस रात्रि में नौ मल्लसंघ के, नौ लिच्छवि संघ के और काशी-कोशल के अठारह गणराजा अमावस्या के दिन

आठ-प्रहर का प्रोषवोपवास करके वहाँ रहे हुए थे। उन्होंने यह विचार किया कि भावोद्योत अर्थात् जानरूपी प्रकाश चला गया है अतः अब हम द्रव्योद्योत करेंगे अर्थात् दीपावली प्रज्वलित करेंगे ॥१२७॥

कल्पसूत्र के इस विवरण से कई महत्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है—(१) भगवान महावीर का निर्वाण राजा हस्तिपाल की नगरी पावापुरी में हुआ था। (२) भगवान के निर्माण के समय वहाँ पर मल्लगण संघ के नौ, लिच्छवि गण संघ के नौ और काशी-कोशल के अठारह राजा (गण संस्थागार के सदस्य) विद्यमान थे। (३) उस घोर अन्धकाराच्छन्न रात्रि में देवी-देवताओं के कारण तो प्रकाश था ही, उन राजाओं ने द्रव्योद्योत किया। (४) तथा यह पावा मध्यम पावा कहलाती थी।

इस महत्वपूर्ण विवरण के पश्चात् विस्तार सख्या १४६ में इसी सूत्र में यह भी कथन किया गया है कि 'इस अवसर्पिणी काल का दुषम-सुषम नामक चतुर्थ आरा बहुत कुछ व्यतीत होने पर तथा उस चतुर्थ आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ महीना शेष रहने पर मध्यम पावा नगरी में हस्तिपाल राजा की रज्जुक सभा में एकाकी, षष्ठम तप के साथ स्वामी नक्षत्र का योग होते ही, प्रत्युष काल के समय (चार घंटे का रात्रि अवशेष रहने पर) पद्मासन से बैठे हुए भगवान वलयाण फल-विपाक के पचपन अध्ययन, और पाप फल विपाक के दूसरे पचपन अध्ययन, और अष्टम अर्थात् किसी के द्वारा प्रश्न न किये जाने पर भी उनके समाधान करने वाले छत्तीस अध्ययनों को कहते-कहते काल धर्म को प्राप्त हुए।'

इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान निर्वाण के समय राजा हस्तिपाल की सभा में थे। वहीं उपदेश करने-करते उनका निर्वाण होगया। इससे एक अन्य निष्कर्ष यह भी निकलता है कि भगवान समवसरण के बिना भी उपदेश करते थे। यदि राजा हस्तिपाल की उस सभा (संस्थागार) में ही देवताओं ने समवसरण की रचना कर दी थी तो भगवान के निर्वाण-काल तक सम-वसरण था, इसका विसर्जन नहीं हुआ था और न भगवान ने अन्तिम समय में योगों का निरोध ही किया था। वे बोलते ही बोलते मुक्त हो गये थे।

इससे आगे के विस्तार में कल्पवृक्ष का रचना काल दिया गया है। और यह काल वीर निर्वाण स० ६८० अथवा ६६३ था।

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' के महावीर स्वामी चरित भाग के सर्ग १२ में भगवान् महावीर के अन्तिम काल का वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि 'भगवान् विहार करते हुए अपापा नगरी पहुँचे (जगाम भगवान्नगरीमपापाम् ॥ (सर्ग १२ श्लोक ४४०)। वहाँ भगवान् की देशना के लिए इन्द्रो ने समवसरण की रचना की। भगवान् ने जान लिया कि अब मेरी आयु क्षीण होने वाली है, अतः अन्तिम देशना देने के लिए वे समवसरण में गये। अपापापुरी के अधिपति हस्तिपाल को जब ज्ञात हुआ कि भगवान् समवसरण में पधारे हैं, तो वह भी उपदेश सुनने वहाँ गया। वहाँ इन्द्र ने प्रश्न किया। उसका उत्तर देते हुए भगवान् का उपदेश हुआ। जब उपदेश समाप्त हो गया, तब मण्डलेश पुण्यपाल (हस्तिपाल?) ने अपने देखे हुए स्वप्न का फल पूछा। भगवान् ने उसका फल बताया। फल सुनकर पुण्यपाल ने मुनि-दीक्षा लेली और तप द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त की।

तदनन्तर मुख्य गणघर गीतम स्वामी ने भगवान् से उनके निर्वाण के अनन्तर होने वाली घटनाओं के बारे में पूछा। भगवान् ने कल्कि, नन्दवंश आदि के बारे में बताया तथा अवसर्पिणी की समाप्ति तथा उत्सर्पिणी का प्रवर्तन, भावी त्रैसठ शलाका पुरुष आदि के बारे में भी भगवान् ने बताया।

तत्पश्चात् सुधर्म गणघर ने पूछा—केवलज्ञान आदि का उच्छेद कब होगा? इस प्रश्न के बहाने आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् के नाम पर जम्बू स्वामी से लेकर स्थूलभद्र और महागिरि, मुहस्ती तक की श्वेताम्बर आचार्य परम्परा का वर्णन कर दिया है।

इसके बाद भगवान् समवसरण से निकल कर हस्तिपाल राजा की शुकशाला में पधारे। भगवान् ने यह जान कर कि आज रात्रि में मेरा निर्वाण होगा, गीतम का मेरे प्रति अनेक भयों से स्नेह है और उसे आज रात्रि के अन्त में केवलज्ञान होगा, मेरे वियोग से वह दुखी

होगा, भगवान् ने गीतम से कहा—'गीतम ! दूसरे गाँव में देवशर्मा ब्राह्मण है। उसको तू संबोध आ। तेरे कारण उमें ज्ञान प्राप्त होगा।' प्रभु के आदेशानुसार गीतम वहाँ से चले गये।

भगवान् का निर्वाण हो गया। इन्द्र ने नन्दन आदि वनों से लाये हुए गोशीर्ष, चन्दन आदि से चिता चुनी। क्षीर सागर से लाये हुए जल से भगवान् को स्नान कराया, दिव्य अगाराग सारे शरीर पर लगाया। विमान के आकार की शिविका में भगवान् की मृत्न देह रखी। उस समय तमाम इन्द्र और देवी-देवता शोक के कारण रो रहे थे। देवता आकाश से पुष्प-वर्षा कर रहे थे। तमाम दिव्य बाजे बज रहे थे। शिविका के आगे दावियाँ नृत्य करती चल रही थी।

आवक और श्राविकाये भी शोक के कारण रो रहे थे। और रासक गीत गा रहे थे। साधु और साध्विया भी शोकाकुल थे।

तब इन्द्र ने अत्यन्त शोकाकुल हृदय से भगवान् का शरीर चिता पर रख दिया। अग्निकुमारों ने चिता में आग लगाई। वायुकुमारों ने आग की हवा दी। देवताओं ने धूप और घी के संकड़ों घड़े चिता में डाले। शरीर के जल जाने पर मेघकुमार देवों ने क्षीर समुद्र के जल की वर्षा करके चिता को शान्त किया। भगवान् के ऊपर की दो दाढ़ें सौधर्म और ऐशान इन्द्रों ने ली और नीचे की दोनों दाढ़ें चमरेन्द्र और वलीन्द्र ने लीं। अन्य दाँत और हड्डियाँ दूसरे इन्द्रों और देवों ने लीं। और मनुष्यों ने चिता-भस्म ली। जिस स्थान पर चिता जलाई, उस स्थान पर देवों ने रत्नमय स्तूप बना दिया। इस प्रकार श्वेताम्बरों ने वहाँ भगवान् का निर्वाण-महोत्सव मनाया।

वीर भगवान् की निर्वाण-भूमि और वर्तमान पावा

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों के उपर्युक्त विवरण के अनुसार भगवान् महावीर का निर्वाण कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के अन्तिम प्रहर में पावापुर में हुआ था। निर्वाण के समय इन्द्र और देवों के अतिरिक्त वहाँ पर वैशाली गणसघ के नौ राजा, काशी-कोशल के अठारह राजा और मल्ल गणसघ के नौ राजा तथा असंख्य जन-समूह उप-

स्थित था। उस अन्धकार भरी रात में देवों ने रत्न दीप सजोये और मनुष्यों ने दीपावली जलाई। किन्तु भगवान का निर्वाण चूँकि प्रत्युप काल में हुआ था, अतः जनता ने अमावस्या की रात में दीपावली जला कर निर्वाण-महोत्सव मनाया। उसी की स्मृति सुरक्षित रखने के लिए प्रतिवर्ष उनके भक्त जन पावापुरी में आकर और जो वहाँ नहीं आ सकते वे अपने-अपने घरों में दीपावली का अर्थात् निर्वाण कल्याणक का उत्सव मनाते थे। चतुर्दशी की छोटी दीपावली और अमावस्या को बड़ी दीपावली मनाने का कारण वही है जो ऊपर लिखा जा चुका है।

जैनधर्म में अध्यात्म की प्रधानता है। आत्मा की जन्म-मरण से मुक्ति ही आत्मा का सबसे बड़ा काम्य है, वही साध्य है। जिन्होंने इस काम्य और साध्य की सिद्धि कर ली है, वे ससारी जनों के लिए आत्मकल्याण के मार्ग में प्रेरक स्रोत रहे हैं। उनकी स्मृति और पूजा का उद्देश्य कोई ऐहिक कामना नहीं है, अपितु आत्म-कल्याण की प्रेरणा प्राप्त करना है। यह भी एक सयोग ही था कि अमावस्या के प्रारम्भ से कुछ पूर्व भगवान को निर्वाण प्राप्त हुआ और उसी दिन उनके मुख्य गणधर इन्द्र-भूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। निर्वाण और ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है। अतः ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि आत्मा की अन्तरंग ज्योति का प्रतीकात्मक बहिरंग प्रदर्शन दीपकों के प्रकाश से किया गया था। दीपकों की आवलियाँ जलाई गईं। अतः इस धार्मिक दिवस का नाम ही 'दीपावली' पड़ गया।

इस महत्वपूर्ण धार्मिक घटना की स्मृति सुरक्षित रखने के लिए जनता ने दो कार्य किये—प्रथम तो इस दिन प्रतिवर्ष दीपावली (छोटी दिवाली और बड़ी दिवाली) मनाने लगी। दूसरे उस दिन से नया संवत् मनाने लगी। ऐतिहासिक महापुरुषों में महावीर के नाम पर जो निर्वाण संवत् प्रचलित हुआ, उससे प्राचीन कोई अन्य संवत् नहीं है। कलि-संवत् अथवा युधिष्ठिर संवत् के बारे में कुछ उल्लेख मिलते हैं। किन्तु उनका प्रचलन नहीं रहा। किन्तु महावीर निर्वाण संवत् ढाई हजार वर्ष

बाद भी आज तक प्रचलित है। और उसका प्रयोग भूत-काल में साहित्य, शिलाओं और मूर्तियों आदि के लेखों में स्वतंत्रता के साथ किया जाता रहा है।

दीपावली पर पशु-पक्षियों, देवी-देवताओं, मनुष्य-स्त्रियों के मिट्टी और चीनी के खिलौने बनाये जाते हैं; स्त्रियाँ दीवालों पर, आँगन में अथवा द्वार पर चित्रकारी करती हैं; मिट्टी की हटरियाँ बनाई जाती हैं, ये सब अपने में भगवान के निर्वाण से पूर्व की समवसरण सभा में और निर्वाण के अवसर पर एकत्रित हुए देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों और नर-नारियों की स्मृति सुरक्षित रखे हुए हैं।

उस काल में भगवान ने आत्म-शुद्धि की और सम्पूर्ण कर्म-मल को दूर करके आत्मा की आत्यन्तिक निर्मलता प्राप्त की। इसी प्रकार गौतम गणधर ने धातियाँ कर्मों का विनाश करके जो आत्म-शोधन किया, उससे उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठी। किन्तु जिनकी दृष्टि में बहिर्मुखता है, उन्होंने इन घटनाओं की स्मृति तो सुरक्षित रखी, किन्तु उसको रूप दिया भौतिक। अतः बाहरी सफाई, शुद्धि होने लगी, दीपावली जलने लगी। उन अवसरों पर उपस्थित प्राणियों के प्रति-रूप खिलौने बनने लगे। धीरे-धीरे इस आध्यात्मिक घटना पर भौतिकता का मुलम्मा चढ़ने लगा। आत्मा की आत्यन्तिक मुक्ति और आत्यन्तिक ज्ञान की प्राप्ति से वे दोनों आत्मा श्रीसम्पन्न हुई थी, उससे हमारे मन में उनके प्रति श्रद्धा तो शकृन्त हुई किन्तु भौतिक दृष्टि के कारण हमने उस श्री को भौतिक लक्ष्मी बना दिया और हम उस लक्ष्मी और गणनायक या गणेश की उपासना-पूजा करने लगे, जिनका हमारे आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है। किन्तु हमें यह बात अत्यन्त कृतज्ञता के साथ स्वीकार करनी होगी कि भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव की स्मृति में ही 'दीपावली' पर्व प्रचलित हुआ और आज वह प्रान्त, भाषा, जाति और वर्ण के भेद के बिना सारे भारत का राष्ट्रीय पर्व या त्योहार माना जाता है।

जिस स्थान पर भगवान का निर्वाण हुआ था, वहाँ अब एक विशाल सरोवर बना हुआ है। इस तालाब के

सम्बन्ध में जनता में एक विचित्र किम्बदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि भगवान के निर्वाण के समय यहाँ भारी जन-समूह एकत्रित हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति ने इस पवित्र भूमि की एक-एक चूटकी मिट्टी उठाकर अपने भाल में श्रद्धापूर्वक लगाई थी। तभी से यह तालाब बन गया।

यह भी कहा जाता है कि यह सरोवर पहले चौरासी बीघे में फैला हुआ था। किन्तु आजकल यह चौथाई मील लम्बा और इतना ही चौड़ा है। सरोवर अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। इसमें मध्य में श्वेत सगमरमर का जैन मन्दिर है जिसे जल मन्दिर कहते हैं। इसमें भगवान के पापाण चरण विराजमान हैं। मन्दिर तक जाने के लिए तालाब में उत्तर की ओर एक पुल बना हुआ है। जिसके दोनों ओर बिजली के बल्ब लगे हुए हैं। रात्रि में जब बिजली का प्रकाश होता है और उसका प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है तो दृश्य बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है। जिस टापू पर मन्दिर बना हुआ है, वह १०४ वर्ग गज है। इस पुल का निर्माण एक दिगम्बर जैन बन्धु स्व० हीरालाल छज्जलाल जी प्रयाग वालों ने कराया था। इस पर से मन्दिर में जाकर सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन बन्धु भगवान के चरणों की वन्दना करते हैं।

इस सरोवर में ताना वर्ण के कमल हैं। विविध वर्ण के खिले हुए कमल-पुष्पों के कारण सरोवर की शोभा अद्भुत लगती है। पुष्पों पर सौरभ और रस के लोभी भ्रमर गुजार करते रहते हैं। तालाब में मछलियाँ और सर्प किलोल करते रहते हैं। कौतुक प्रेमी लोग मछलियों को जब भोज्य-पदार्थ जल में डालते हैं, उस समय उन मछलियों की परस्पर छीता-झपटी और क्रीड़ा देखने लायक होती है।

इस स्थान का प्राचीन नाम अपापापुरी (पुण्यभूमि) था। यहाँ का प्राचीन मन्दिर पुरी बस्ती में बना हुआ है। संभवतः पहले पावापुरी नामसे एक गाँव था। किन्तु न जाने कबसे पावापुरी पावा और पुरी इन दो गाँवों में विभक्त हो गई है। इसमें लगभग एक मील का अन्तर है। जैन तीर्थ पुरी में है, पावा में नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व तक जल मन्दिर पर समान अधिकार था। दोनों जैन सम्प्रदाय वाले भगवान के चरणों का दर्शन-पूजन अपनी मान्यतानुसार

करते थे तथा यहाँ जो धर्मशाला है, उसमें ठहरते थे।

जल-मन्दिर के बाहर एक 'समवसरण मन्दिर' है। इसमें भगवान महावीर के प्राचीन चरण विराजमान हैं।

इस प्रकार इस क्षेत्र पर पहले ये दो मन्दिर और धर्मशाला थीं। इन सब पर दोनों सम्प्रदाय वालों का समान अधिकार था। किन्तु श्वेताम्बर समाज के व्यवहार के कारण दिगम्बर समाज को पृथक् धर्मशालाओं और मन्दिरों का निर्माण करना पड़ा। अब जल मन्दिर और समवसरण मन्दिर पर तो दर्शन-पूजन की दृष्टि से दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के समान ही अधिकार है तथा बस्ती वाले मन्दिर में भी दिगम्बर जैन दर्शनों को जा सकते हैं।

जल-मन्दिर के निकट ही 'पावापुरी सिद्ध क्षेत्र दि० जैन कार्यालय' है। वहाँ पर सात दिगम्बर जैन मन्दिरों का समूह है। इसमें बड़ा मन्दिर सेंट मोतीचंद खेमचंदजी शोलापुर वालों की ओर में निर्मित हुआ और उसकी प्रतिष्ठा वि० स० १९५० में हुई थी। इसमें भगवान महावीर की मूलनायक प्रतिमा है जो श्वेतवर्ण की ३॥ फुट प्रवगाहना की है।

इस मन्दिर के अतिरिक्त शेष ६ कार्यालय मन्दिरों में से दो मन्दिरों का निर्माण सेंट मोतीचंद खेमचंदजी शोलापुर ने तथा चार का निर्माण (१) श्रीमती जगपत वीवी धर्मपत्नी स्व० लाला हरप्रसाद जी आरा (२) वा० हरप्रसाद जी (३) लाला जम्बूप्रसाद प्रद्युम्न कुमार जी सहारनपुर तथा (४) श्रीमती अनूपमाला देवी माने-श्वरी वा० निर्मलकुमार चन्द्रशेखरकुमार जी आरा वालों ने कराया। इन सातों मन्दिरों में प्रतिमाओं की संख्या लगभग १०० है। जिसमें घातु और पापाण की प्रतिमाएँ और चरण सभी सम्मिलित हैं।

कार्यालय के साथ ही धर्मशाला है जिसमें दोनों मजि-लों में ६१ कोठरियाँ व एक नौबतखाना है। इसके अति-रिक्त एक नई धर्मशाला उक्त धर्मशाला के पीछे बन गई है।

दिगम्बर जैन कार्यालय के अधीन निम्नलिखित सम्पत्ति है—

(१) मोजा सिलीया, मोजा केशर सुन्दरपुर वंताड़ी, मोजा विसुनपुरा दियारा ये तीन मोजे आरा जिले में

ये तीनों रायबहादुर सेठ ठीकमचन्द भागचन्द जी अजमेर वालों की ओर से मय खर्चा १०३६५।।।-))।। मे खरीदे गये थे ।

(२) मौजा दशरथपुर मे टोपरा नग १७ साढ़े चार बीघे धान के खेत खरीदे गये ।

(३) रथ पिंड वाली जमीन लगभग चार बीघा है ।

(४) बिहार शरीफ में स्टेशन के पास लहरी मुहल्ला स्थित कोठी है । पास ही शिखरवन्द दिगम्बर जैन मंदिर है, जिसमे धर्मशाला और कुआ है ।

(५) पावापुरी मे धर्मशाला के भीतर और बाहर दो कुए है ।

वार्षिक मेला—यहाँ पर कार्तिक वदी १३ से १५ तक वार्षिक मेला होता है । कई हजार व्यक्ति निर्वाणोत्सव मनाने यहाँ आते है । इस अवसर पर रथयात्रा होती है । भगवान का रथ दिगम्बर धर्मशाला से चलकर जल मंदिर होते हुए गाव के बाहर जाता है । वहाँ मण्डप में कलशा-भिषेक होता है ।

क्षेत्र का प्रबन्ध भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अन्तर्गत विहार प्रान्तीय दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी करती है ।

पावा की वास्तविक स्थिति

भगवान महावीर की निर्वाण भूमि अब तक विहार शरीफ से सात मील दक्षिण-पूर्व में और गिरियक से दो मील उत्तर में मानी जाती थी किन्तु जब पुरातत्व वेत्ताओ और इतिहासकारों ने यह सिद्ध किया कि पावा—जहाँ महावीर का निर्वाण हुआ वह-नालन्दा की निकट वाली पावानहीं, अपितु कुशीनारा की निकटवर्ती पावा है, तब विद्वानों का ध्यान पावा की सही स्थिति जानने के लिए गया । पावा कहाँ थी, वह कौन सी पावा थी, इसका निर्णय करने के लिए हमे जैन और बौद्ध वाङ्मय के उन साक्ष्यों का अन्तः परीक्षण करना आवश्यक है, जिनमे पावा का उल्लेख मिलता है । इनके अतिरिक्त पुरातत्व सामग्री और शिलालेख से भी-यदि कोई हो तो-इस सन्दर्भ में सहायता मिल सकती है ।

श्वेताम्बर साहित्य में पावा—श्वेताम्बर सूत्रों और ग्रन्थों में—कल्पसूत्र, आवश्यक नियुक्ति, परिशिष्ट पर्व,

विविध तीर्थकल्प का अपापा बृहत्कल्प आदि—पावा के स्थान पर मध्यमा पावा और अपापा इन दो नामों का प्रयोग मिलता है । भगवान महावीर इस नगरी में दो बार आये । संभव है, वे यहाँ अनेक बार पधारे हों । किन्तु दो महत्वपूर्ण घटनाये इस नगरी मे घटित हुई थी, इस लिए इस नगर मे भगवान के दो बार आगमन की चर्चा (श्वे० सूत्रों मे) विशेष उल्लेखनीय है ।

प्रथम बार भगवान केवलज्ञान की प्राप्ति के अगले ही दिन पधारे । ऋजुकूला नदी के तट पर अवस्थित जृम्भिक ग्राम के बाहर साल वृक्ष के नीचे वैशाख शुक्ला १० को भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । इन्द्रो और देवों ने भगवान के ज्ञान कल्याणक का उत्सव किया । किन्तु समवसरण मे केवल इन्द्र और देवता ही उपस्थित थे । अतः विरति रूप संयम का लाभ किसी प्राणी को नहीं हो सका । यह आश्चर्यजनक घटना जेनागमो मे 'अछेरा' (आश्चर्यजनक या अस्वाभाविक) नाम से प्रसिद्ध है ।

उन दिनों मध्यमा पावा मे—जो जृम्भिक गाव से लगभग बारह योजन (४८ कोस) दूर थी-सोमिलाचार्य ब्राह्मण बड़ा भारी यज्ञ रचा रहा था । उसमें बड़े-बड़े विद्वान् देश-देशान्तरों से आकर सम्मिलित हुए थे । भगवान ने यह सोचा कि यज्ञ में आये हुए विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोध पायेगे और धर्म के आधारस्तम्भ बनेगे, अतः वहा चलना ठीक रहेगा । यह विचार कर भगवान ने सन्ध्या समय विहार कर दिया और गान भर चलकर मध्यमा के महासेन उद्यान में पहुँचे । एकाउजी का इसी उद्यान मे भगवान का दूसरा समवसरण लगा । भगवान का उपदेश एक पहर तक हुआ । भगवान का ज्ञान और लोकोत्तर उपदेश की चर्चा सारी नगरी मे होने लगी । सोमिल के यज्ञ मे आये हुए इन्द्रभूति आदि ११ विद्वानो ने यह चर्चा सुनी । वे ज्ञान मद मे भरे हुए अपने शिष्यों और छात्रों के साथ भगवान के पास पहुँचे । उनका उद्देश्य भगवान को विवाद मे पराजित कर अपनी प्रतिष्ठा मे चार चाद लगाना था । किन्तु वहाँ ~~अपना~~ उनका मद विगलित हो गया । उन्होंने भगवान के चरणों में विनयपूर्वक नमस्कार किया और दीक्षा लेली । इस प्रकार मध्यमा के समवसरण मे एकही दिन मे ४४११ ब्राह्मणों ने भगवान के चरणों में नतमस्तक होकर श्रमण

घर्म अंगीकार कर लिया। भगवान ने उन ग्यारह विद्वानों को अपना मुख्य शिष्य बना कर उन्हें गणधर पद से विभूषित किया। अन्य भी अनेक नर-नारियो ने भगवान का उपदेश सुनकर मुनि-व्रत या श्रावक के व्रत लिये। भगवान ने वैशाख शुक्ला ११ को मध्यमा पावा के महामेन उद्यान में साधु-साध्वी-श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध सघ की स्थापना की।

इस नगरी में दूसरी महत्वपूर्ण घटना भगवान के निर्वाण की है। भगवान चपा से विहार करते हुए अपापा पधारे। इस वर्ष का वर्षावास अपापा में व्यतीत करने का निश्चय करके भगवान राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पहुँचे और वही वर्षा-चातुर्मास की स्थापना की। इस चातुर्मास में दर्शनों के लिए आये हुए राजा पुण्यपाल ने भगवान से दीक्षा ली। कार्तिक अमावस्या के प्रातः काल राजा हस्तिपाल के रज्जुग सभा-भवन में (कही इसे राजा हस्तिपाल की शुल्क शाला भी लिखा है) भगवान की अन्तिम उपदेश-सभा हुई। उस सभा में अनेको गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। उनमें काशी-कोशल के १८ लिच्छवियों के नौ और मल्लो के नौ गणराजा उल्लेखनीय थे।

भगवान ने अपने जीवन की समाप्ति निकट जानकर अन्तिम उपदेश की अखण्ड धारा चालू रखी, जो अमावस्या की पिछली रात तक चलती रही। अन्त में प्रधान नामक अध्ययन का निरूपण करते हुए अमावस्या की पिछली रात को भगवान सब कर्मों से मुक्त हो गये। भगवान के निर्वाण पर उक्त गणराजाओं ने कहा—संसार में भावप्रकाश उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे। यह निश्चय करके उन्होंने रत्नदीप जलाये। कालक्रम से उनके स्थान पर अग्नि दीप जलाये जाने लगे। इस प्रकार इस लोक में दीपावली प्रचलित हुई। गौतम स्वामी-जो उस समय भगवान की आज्ञा से निकटवर्ती गांव में देवशर्मा ब्राह्मण को उपदेश करने के लिए गये हुए थे, वे लौटकर भगवान की वन्दना के लिए वापिस आये। तब उन्होंने देवताओं को यह कहते हुए सुना—“भगवान कालगत हो गये।” उन्हें तत्क्षण केवलज्ञान होगया।

पावापुरी (जिसे मध्यमा, मध्यमा पावा और अपापा पुरी भी कहा जाता है) इन दो घटनाओं के कारण अत्यन्त

प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई। श्वेताम्बर वाङ्मय के उपर्युक्त उल्लेखों से पावा की वास्तविक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। चतुर्विध सघ-स्थापना के प्रकरण में मध्यमा (पावा) को जम्भक गाव से १२ योजन दूर माना है। तथा निर्वाण की घटना के प्रकाश में यह बताया है कि भगवान चपा से अपापा पुरी पहुँचे। इस प्रकरण में भगवान के विहार का क्रम इस प्रकार दिया है—चपा नगरी में चातुर्मास पूर्ण करके भगवान विचरते हुए जम्भयगाव पहुँचे। वहाँ से मिथिल होते हुए छम्माण गये। यहीं पर ग्वाले ने भगवान के कानों में काष्ठ के कीले ठोंके थे। छम्माण से भगवान मध्यमा पधारे। मध्यमा से विचरते हुए जम्भयगाव आये, जहाँ उन्हें केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान के बाद वे पुनः मध्यमा आये, जहाँ गौतमादि को अपना गणधर बनाया। वहाँ से भगवान राजगृह गये। वहाँ पर चातुर्मास करके भगवान न राजगृह से विदेह की ओर विहार किया और ब्राह्मण कुण्ड पहुँचे।

प्राचीन भारत के नक्शे को देखने से और भगवान के उपर्युक्त विहार-क्रम को दृष्टि में रखने पर यह पता चल सकता है कि भगवान चपा से मध्यमा पावा होकर राजगृह गये और वहाँ से वैशाली गये, तब असली पावा कहाँ होनी चाहिए।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि पावा के सम्बन्ध में विवाद का कारण क्या है। पावा नाम के नगर कई थे (१) उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में कुशीनारा के पास कोई पपडर को पावा मानते हैं, कोई पडरौना को और कोई फाजिल नगर के निकट सठियाँव को। (२) दूसरी पावा राजगृह के निकट विहार शरीफ से आग्नेय कोण में सात मील दूर, जिसे जैन लोग अपना तीर्थ मानते हैं। (३) तीसरी पावा हजारीबाग और मानभूम प्रदेश में थी और उसकी राजधानी थी।

पहली पावा मल्ल गणराज्य की राजधानी थी। महावीर के काल में मल्ल जनपद भी तीन थे। प्रथम मल्लदेश वह कहलाता था, जिसे आजकल मुल्तान जिला (पश्चिमी पाकिस्तान) कहा जाता है। एल्वेजेंडर के मतानुसार यहाँ के निवासी मल्ल कहलाते थे और महाभारत (सभा-पर्व, अध्याय ३२) के अनुसार मालव कहे जाते थे।

मुल्तान इस जनपद की राजधानी थी। महाराज रामचन्द्र ने लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु^१ को यहां का राज्य दिया था।

द्वितीय मल्ल जनपद वह कहलाता था, जिसमें पारसनाथ^२ की पहाड़ियाँ हैं : यह प्रदेश वर्तमान हजारीबाग और मानभूम जिलों के कुछ भाग से बनता था। पारसनाथ की पहाड़ियों को मल्ल पर्वत भी कहा जाता था।

हिन्दू पुराणों और महाभारत (भीष्म पर्व, अध्याय १) में केवल दो ही मल्ल देशों का वर्णन मिलता है—एक पश्चिम में और दूसरा पूर्व में।

कुशीनारा और पावा में भी मल्ल लोग रहते थे। यह तीसरा मल्ल जनपद था। कसिया (प्राचीन कुशीनगर) में जो ध्वसावशेष उपलब्ध होते हैं, उन्हें मल्ल सामन्तों, श्रेष्ठियों के महलों के अवशेष माना जाता है।

प्राचीन भारत में मल्ल जनपदों की उपर्युक्त स्थिति के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मुल्तान जिले वाले पश्चिमी मल्ल जनपद की राजधानी का नाम क्या था, यह तो स्पष्ट ज्ञात नहीं होता, किन्तु शेष दो मल्ल जनपदों की राजधानी पावा थी। तीसरी पावा इन दोनों के मध्य में थी अतः वह मध्यमा अथवा मध्यम पावा कहलाती थी। जैन सूत्रागमों में महावीर का निर्वाण मध्यमा पावा में माना है। इसी मध्यमा पावा का नाम आजकल पावापुरी है और उसे ही महावीर का निर्वाण क्षेत्र माना जाता है।

कुछ समय में पावा को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ है। इस विवाद के कारण कई हैं—(१) पावा नामक कई नगरों के होने के कारण भ्रम उत्पन्न होना। (२) वर्तमान पावापुरी में प्राचीनता का कोई चिह्न न मिलना। (३) बौद्ध साहित्य के 'परिनिव्वानसुत्त' में पावा में बुद्ध को सुक्कर मद्दव खाने से अतिसार होना और इस तरह पावा की प्रसिद्धि होना। (४) पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा बौद्ध साहित्य के प्रकाश में कुशीनारा के निकट पावा की खोज करना। ये और ऐसे ही अन्य छोटे बड़े कारण हैं, जिनके

कारण परम्परागत रूप से मान्य पावा, जो क्षेत्र के स्थान पर उस पावा को मान्यता देने के लिए प्रयत्न हो रहा है, जिस पावा का सम्पूर्ण जैन साहित्य में कहीं कोई वर्णन नहीं है। इसकी प्रेरणा कुण्डलपुर के स्थान पर भगवान महावीर की जन्म-भूमि के रूप में वैशाली को मान्यता मिलने से हुई है ऐसा लगता है। वैशाली के पक्ष में प्रबल प्रमाण उपलब्ध थे, किन्तु कुशीनारा के निकट पावा को महावीर की निर्वाण-भूमि मानने में प्रमाण नहीं, नवीनता का व्यामोह और अत्युत्साह ही एक मात्र सम्बल है।

बौद्ध साहित्य में पावा की स्थिति—

बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर विभिन्न प्रसंगों में पावा का उल्लेख मिलता है। उन प्रसंगों का यहाँ उल्लेख करना सचमुच ही उपयोगी होगा और उनसे हमें उस पावा का निर्णय करने में सुविधा रहेगी, जो वस्तुतः महावीर भगवान की निर्वाण भूमि है।

निर्वाण सवाद—१

'एवं मे सुत। एवं समयं भगवा सवकेसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावाय अधुना कालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्जमञ्जं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति—'न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि। अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं इमं धम्मविनयं आजानिस्ससि' मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो।...ये पि निगण्ठस्स नातपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना ते पि निगण्ठेसु नातपुत्तिगेसु निव्विन्नरूपा विरत्तरूपा पटिवानरूपा यथा तं दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानके अनुपसमसंवत्तनिके असम्मासम्बुद्धपवेदिते भिन्नरूपे अप्परिसरणे।

अथ खो चुन्दो समणुद्देशो पावाय वस्सं वुत्थो येन सामगामो येनायस्मा आनन्दो तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा आयस्मन्तं आनन्दं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो चुन्दो समणुद्देशो आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच—'निगण्ठो भन्ते नातपुत्तो पावाय अधुना कालङ्कतो। तस्स कालङ्किरियाय

१. मि० कनिंघम, आर्क्योलॉजीकल सर्वे रिपोर्ट, पृ०-१२६।

२. बाल्मीकि रामायण, उत्तर खण्ड, पर्व ११५

३. McCrindle's Megasthenes and Arrian, p.p. 63, 139

भिन्ना निगण्ठा त्रेधिकजाता...पे०... भिन्नथूपे अप्प-
टिसरणे' ति। एवं वुत्ते आयस्मा आनन्दो चुन्दं सम-
णुद्दंसं एतदवोच—'अत्थि खो इदं, आवुसो चुन्द,
कथा पामतं भगवन्तं दस्सनाय। आयाम, आवुसो
चुन्द, येन भगवा तेनुपसङ्कमिस्साम। उपसङ्कमिवा
एतमत्थं भगवतो आरोचेस्साम' ति। 'एव भन्ते' ति
खो चुन्दो समणुद्दंसो आयस्मतो आनन्दस्स पच्च-
स्सोसि।

—मज्झिम निकाय, सामगाम सुत्तन्त ३/६/४

एक बार भगवान (बुद्ध) शाक्य देश में सामगाम में
विहार करते थे। निगठ नातपुत्त की कुछ समय पूर्व ही
पावा में मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्यु के अनन्तर ही निगठों
में फूट हो गयी, दो पक्ष हो गये, वे कलह करते एक दूसरे
को मुख रूपी शक्ति से छेड़ते विहार रहे थे—'तू इस
धर्म विनय को नहीं जानता, मैं इस धर्म विनय को जानता
हूँ, तू भला इस धर्म विनय को क्या जानेगा? तू मिथ्या-
रूढ़ है, मैं सत्यारूढ़ हूँ।'

निगठ नातपुत्त के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी
नातपुत्रीय निगठों में वैसे ही विरक्त चित्त थे, जैसे कि वे
नातपुत्त के दुःखरूपा (ठीक से न कहे गये), दुष्प्रवेदित
(ठीक से साक्षात्कार न किये गये), अनैर्याणिक (पार न
लगाने वाले) अनुपशम सवर्तनिक (न शांतिगामी),
असम्यक् सम्बुद्ध प्रवेदित (किसी बुद्ध से न जाने गये),
प्रतिष्ठा (आधार) रहित, भिन्नस्तूप, आश्रयरहित धर्म
विनय में थे।

चुन्द समणुद्दंस पावा में वर्षावास समाप्त कर सामगाम
में आयुष्मान आनन्द के पास आये और उन्हें निगठ नात-
पुत्त की मृत्यु तथा निगठों में हो रहे विग्रह की सूचना दी।
आयुष्मान् आनन्द बोले—आवुस चुन्द! भगवान के दर्शन
के लिए यह बात भेट रूप है। आओ, आवुस चुन्द! जहाँ
भगवान हैं, वहाँ चले। चलकर यह बात भगवान को कहे
'अच्छा भन्ते!' चुन्द समणुद्दंस ने कह कर आयुष्मान
आनन्द का समर्थन किया।

निर्वाण संवाद — २

'एव मे सुत'। एक समय भगवा सबकेसु विहरतो
वे घञ्जा नाम सक्का तेस अम्बवने पासादे।... (इं.

सामगाम सुत्तन्त के समान)।

—दीर्घनिकाय, पासादिक सुत्त, ३/६

भगवान बुद्ध शाक्य देश में शाक्यों के वेधञ्जा नामक
आश्रवनप्रासाद में विहार कर रहे थे।...

निर्वाण संवाद—३

'एव मे सुत। एकं समय भगवा मल्लेसु चारिकं
चरमानं महता भिक्खुमङ्गुधेन सद्धि पञ्चमत्तेहि भिक्खु-
सत्तेहि येन पावा नाम मल्लान नगर नदवसरि। तत्र सुदं
भगवा पावायं विहरति चुन्दस्म कम्मर पुत्तस्स
अम्बवने।.....

तब खो पन समयेन निगठोनाटपुत्तो पावायं अघुना
कालङ्कतो होति। (शेष सामगाम सुत्त के समान)।

—दीर्घ निकाय, मणीनिपरियाय सुत्त ३/१०/२

एक समय पाचमी भिक्षुओं के महाभिक्षु सघ के साथ
भगवान मल्ल देश में चारिका करने, जहाँ पावा नामक
मल्लों का नगर है, वहाँ पहुँचे। वहाँ पावा में भगवान
चुन्द कम्मरिपुत्र के आश्रवन में विहार करने थे। (मल्लों
का उन्नत और नवीन सस्थागार उन्ही दिनों बना था।
पावावासी भगवान बुद्ध से सस्थागार में पधारने की
प्रार्थना करने आये। भगवान ने मौन रह कर अपनी
स्वीकृति दे दी। तब भगवान अपने भिक्षुसंघ सहित
संस्थागार में पधारे और धर्म कथा कहकर पावावासियों
को सम्प्रहर्षित किया। जब पावावासी चले गये, तब
भगवान ने शान्त भिक्षु-सघ को देख आयुष्मान् सारिपुत्त
को आमंत्रित किया और उनसे भिक्षुओं की धर्मकथा
सुनाने के लिए कहा।) उस समय निगठ नाटपुत्त अभी-
अभी पावा में काल को प्राप्त हुए थे।

निगठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण—

'ननु अय नातपुत्तो नालन्दावासिको। सो
कस्मा पावाया कालकतो' ति। सो किर उपा-
लिना गाहापतिना पटिवद्ध सच्चेन दसहि गाथाहि
भापिते बुद्ध गुणे सुत्वा उण्ह लोहितं छड्डेसि।
अथ नं अफामुकं गहेत्वा पावां अगमंसु। सो तत्थ
कालं अकासि।'

—मज्झिम निकाय-अट्ठकथा, सामगाम सुत्तवण्णना,

खण्ड ४, पृ० ३४

—वह नातपुत्र तो नालन्दावासी था, वह पावा में कैसे कालगत हुआ ? मत्थलाभी उपालि गृहपति के दस गाथाओं से भाषित बुद्ध के गुणों को सुनकर उसने उष्ण रक्त उगल दिया। तब अस्वस्थ ही उसे पावा ले गये। और वह वही कालगत हुआ।

तथागत का विहार

‘दीघ निकाय’ २/३ में महापरिनिव्वाण सुत्त है, जिसमें भगवान् बुद्ध के अन्तिम विहार और मृत्यु का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसके अनुसार भगवान् बुद्ध राजगृह के अम्बलट्टिका (वर्तमान बडगाँव) गये। वहाँ से नालन्दा। वहाँ से पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका, वैशाली होते हुए वेलुव गामक (वेणुग्राम) पहुँचे। वहाँ बुद्ध को भयंकर बीमारी हो गई। प्राणान्तक वेदना हुई। वहाँ से वैशाली में जाकर भोजन किया। फिर चापाल चैत्य में ठहरे। यहाँ उन्होंने भविष्यवाणी की कि तीन माह बाद तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त होंगे। वैशाली से भण्डग्राम, अम्बगाम (आम्रग्राम), जम्बुग्राम, भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे। वहाँ चुन्द कर्मार पुत्र के आम्रवन में ठहरे। चुन्द कर्मार पुत्र (सुनार का पुत्र) ने दूसरे दिन बुद्ध को आमन्त्रित किया। उसने सूकर मद्द तथा अन्य भोज्य सामग्री तैयार कराई। बुद्ध ने भिक्षु संघ के साथ जाकर भोजन किया। सूकर मद्द खाकर बुद्ध को खून गिरने लगा। मरणान्तक कष्ट हुआ। वहाँ से कुशीनारा की ओर चले। थोड़ी दूर चलने पर थक गये तो एक पेड़ के नीचे लेट गये। पास में ककुत्था नदी थी। बुद्ध ने पानी मांगा तो आनन्द उस नदी से पात्र में पानी भरकर ले आया और बुद्ध को दिया। (‘उदान अट्ठकथा ८/५ के अनुसार) पावा से कुशीनारा ६ गमूति था। किन्तु इतनी दूरी में बुद्ध पश्चीम वार बैठे। मध्याह्न में चलकर सूर्यास्त के समय कुशीनारा पहुँचे। पावा से चलकर ककुत्थानदी पार की। फिर हिरण्यवती नदी पड़ी। उसके परले तीर पर, जहाँ कुशीनारा के मत्तों का शाल वन है, वहाँ गये। वहाँ जोड़े शालवृक्षों के बीच में उत्तर को और सिरहाना करके लेट गये और निर्वाण हाँगया। निर्वाण से पूर्व आनन्द ने तथागत से प्रार्थना की कि आप इस क्षुद्र नगर में, जगलो नगर में, शाखा नगर में निर्वाण न करें,

अपितु चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी में से कहीं करें। किन्तु बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया।

पर्यालोचन—बौद्ध ग्रन्थों के उपर्युक्त प्रसंगों में पावा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। किन्तु जिस पावा के सम्बन्ध में उल्लेख आये है, वह जैन आगमों की मध्यमा पावा नहीं है, अपितु वह मल्लो की पावा है। जैन आगमों के अनुसार भगवान् महावीर का निर्वाण मल्लो की पावा में नहीं, मध्यमा पावा में हुआ था।

बौद्ध ग्रन्थों में महावीर का निर्वाण पावा में लिखा है, किन्तु कहीं ये नहीं लिखा कि उनका निर्वाण मल्लो की पावा में हुआ और न उस पावा के गणराज का नाम हस्तिपाल ही कही दिया है। जैन आगमों में स्पष्ट ही मध्यमा पावा के राजा का नाम हस्तिपाल दिया है। यह भी उल्लेख योग्य है कि जैनागमों में कहीं भी कुशीनारा की निकटवर्ती पावा का उल्लेख नहीं किया गया।

मज्झिम निकाय अट्ठकथा सामगम मुत्तवण्णना में महावीर का निगंठ नातपुत्र के नाम से उनकी मृत्यु का जो वर्णन किया गया है, उसमें और विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वह वर्णन यद्यपि धार्मिक विद्वेष, असत्य और घूर्तता से भरा हुआ है। एवं शत प्रतिशत अविश्वसनीय भी है। किन्तु उसमें एक तथ्य की ओर संकेत भी है। इसके अनुसार महावीर मृणावस्था में नालन्दा से पावा ले जाये गये। विचारणाय यह है कि जो रोगी मरणासन्न हो, उसे कई सौ मील दूर उस अवस्था में नहीं ले जाया जा सकता, विशेषकर उस रोगी को, जो मुनि हो और जिसका जीवन समय के विविध अनुशासनों से अनुशासित हो। कुशीनारा की निकटवर्ती पावा नालन्दा से बहुत दूर है, जब कि वर्तमान पावापुरी नालन्दा के निकट है। अतः यह बुद्धिमत् और तर्क संगत लगता है कि नालन्दा से पावापुरी ले जाया जाय।

यदि ऐतिहासिक और असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से बौद्ध साहित्य के महावीर से सम्बन्धित पावा के उल्लेखों पर विचार किया जाय तो उसमें हमें इतिहास से विरोध, साम्प्रदायिक व्यामोह और हीन मनोवृत्ति के ही दर्शन होते हैं। धर्म सेनापति सारिपुत्र बुद्ध से पूर्व ही परिनिर्वाण

को प्राप्त हो गये थे। मयुक्ता निकाय ४५/२/३ में ऐसा वर्णन मिलता है—

एक बार भगवान बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में विहार करते थे तब स्थविर सारिपुत्त ने भगवान से आज्ञा—मांगी-भन्ते ! भगवान अनुज्ञा दे, सुगत अनुज्ञा दे, तेरा परिनिर्वाण काल है। आशु संस्कार खत्म हो चुका भगवान ने पूछा ‘—कहाँ परिनिर्वाण करोगे ?’ ‘भन्ते ! मगध में नालकग्राम में जन्म ग्रह है, वहाँ परिनिर्वाण करूँगा ?’ भगवान ने उन्हें आज्ञा देदी और वे अपने ५०० भिक्षुओं के साथ एक सप्ताह में नालकग्राम में पहुँचे। और अपने जन्म स्थान वाले घर में ठहरे। वहाँ खून गिरने की भयंकर बीमारी हुई, मरणान्तक पीड़ा होने लगी और उसी बीमारी में उनकी मृत्यु होगई।

महार्पणित राहुल साकृत्यायन द्वारा रचित ‘बुद्धवर्षा’ पृ. ५२५ के अनुसार सारिपुत्त की मृत्यु के प्रायः एक वर्ष बाद भगवान नालन्दा में विहार करते थे, तब सारिपुत्त ने भगवान से प्रश्नोत्तर किये। इस पर राहुलजी की टिप्पणी देनी पड़ी—‘सारिपुत्त का निर्वाण पहले ही हो चुकने से, यह भाणको के प्रमाद से यहाँ आया मालूम होता है।

बौद्ध शास्त्रों में कई बार निगंठनातपुत्त की मृत्यु की सूचना कही चन्द्र के मुख से, कहीं सारिपुत्त के मुख से दिखलाई गई है। प्रत्येक सूचना में यह भी कहा गया है कि निगंठ नातपुत्त की मृत्यु होते ही निगठों में फूट हो गई। वे परस्पर में कलह करने लगे, परस्पर दुर्वचन बोलने लगे। निगठ नातपुत्त के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य निगठों (दिगम्बर साधुओं) में विरक्त है। किन्तु बौद्ध शास्त्रों का कथन मिथ्या है। भगवान महावीर के अखण्ड जैन संघ में दो भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के काल में उस समय हुए, जब वे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ राजपाट छोड़कर मुनि बनकर दक्षिण की ओर चले गये। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्परायें इसे स्वीकार करती हैं। तब बौद्ध शास्त्रों की इस निराधार कल्पना को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यह तो इतिहास के भ्रान्त तथ्यों के विपरीत है। ऐसा लगता है कि बौद्धशास्त्रों के

ये उद्धरण जैन संघ के भेद होने के पश्चात् लिखे गये

यह भी सम्भव लगता है कि महावीर के निर्वाण सम्बन्धी उल्लेख केवल धर्मद्वेष वश ही लिखे गये हों। तभी तो चुन्द द्वारा महावीर-निर्वाण का समाचार सुनकर आनन्द इस वार्ता को तथागत के लिए भेंट स्वरूप बतलाते हैं उपालि द्वारा बुद्ध की प्रशंसा सुनकर महावीर का उष्ण रक्त वमन करना इतिहास विरुद्ध और द्वेष द्वारा प्रचारित मिथ्या कल्पना मात्र है। अतः ये सभी उल्लेख अप्रामाणिक एवं अविश्वसनीय हैं।

बौद्ध ग्रन्थों के इन उल्लेखों को एक ही शर्त पर स्वीकार किया जा सकता है। वह यह है कि जैन शास्त्रों का महावीर सम्बन्धी सम्पूर्ण कथन अप्रामाणिक मान लिया जाय। उस स्थिति में ‘महावीर के मुख से उष्ण रक्त का वमन, रुग्णावस्था में पावा में उनकी मृत्यु, मृत्यु के पश्चात् जैन संघ में कलह और संघ-भेद जैसी असंगत और परम्परा विरुद्ध बातें भी स्वीकार करनी पड़ेंगी। फिर भी पावा—जहाँ महावीर की मृत्यु बताई गई है—वर्तमान पावापुरी ही माननी होगी, क्योंकि नालन्दा से वे इसी पावा में ले जाए गए।

जो लोग बौद्ध शास्त्रों के स्पष्ट कथन को प्रामाणिक मानकर शतान्दियों से परम्परागत रूप से मान्य वर्तमान पावापुरी को उखाड़-उजाड़ कर नई पावा बसाने की तैयारी में जुट पड़े हैं, उन्हें अपने प्रयत्नों के समर्थन में कुछ ठोस प्रमाण सग्रह करने होंगे। केवल कुछ ग्रन्थों के कल्पित, विवादग्रस्त और धार्मिक द्वेषपूर्ण उद्धरणों के बल पर और नवीनता के व्यामोह में अपनी परम्परा और शास्त्रों को अमान्य नहीं ठहराना चाहिए।

इतिहासकार और पावा—कई पश्चात्य और भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं और इतिहासकारों ने म० बुद्ध के परिनिर्वाण के लिए जाते हुए पावा में ठहरने और वहाँ की नदी ककुत्था में स्नान और पात्र करने की घटना के सिलसिले में पावा की खोज की है। इस खोज के परिणाम सभी के एक से नहीं हैं। बल्कि भिन्न-भिन्न रहे हैं। अपने निष्कर्षों के समर्थन में कोई भी प्रमाण तो नहीं दे पाया, किन्तु सम्भावनाओं को आधार मानकर उनकी धृष्टि रही। किन्तु सभी का एक ही उद्देश्य रहा कि जहाँ

भोजन करके बुद्ध की सांघातिक रोग हुआ, उस पावा की खोज की जाय। कपिलवस्तु से लेकर कुशीनारा, पडरौना, फाजिलनगर, सठियाँव, सरेया, कुकुरपाटी, नन्दवा, दनाहा, आसमानपुर डीह, मोर विहार, फरमटिया और गांगीटिकार तक प्राचीन भवनों, मन्दिरों और स्तूपों के ध्वंसावशेष बिखरे पड़े हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि श्रावस्ती की राजगद्दी पर बैठकर विदूडभ ने अपने पिता प्रसेनजित को मरवा कर शाक्यों और उनके नगरों का विध्वंस कर दिया और इस प्रकार शाक्यों से बदला लेने की अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया। इसी प्रकार श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपने पिता को बन्दी बना कर मगध की राजगद्दी हथियाली और उसने भी विदूडभ की तरह ही अपनी ननिहाल, वैशालीगण सघ और उनके मित्र देश मल्ल संघ और काशी-कोशल संघ को बर्बाद कर दिया। इस प्रदेश में मीलों में बिखरे हुए ये डीह (टीले) और अवशेष इन दो महत्वाकांक्षी राजाओं के प्रतिशोध के परिणाम हैं। किन्तु यह निष्कर्ष भी सर्वांश में सत्य नहीं है। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनकी अस्थियों का आठ भागों में विभाजन हुआ था। उनमें एक भाग शाक्यों ने लिया था, दो भाग—पावा और कुशी नारा के मल्लों ने लिए थे। दोनों सघों ने उन अस्थि-भस्मों पर स्तूपों का निर्माण कराया था। उपर्युक्त दोनों युवक राजाओं में से विदूडभ ने तो बुद्ध के जीवन काल में ही शाक्यों पर आक्रमण करके उनका विनाश किया था। किन्तु अजातशत्रु ने बुद्ध के निर्वाण के बाद मल्लसंघ का वैशाली के साथ विनाश किया। विदूडभ के समय में तो कपिलवस्तु में कोई स्तूप ही नहीं था, स्तूप तो शाक्यों के मृत्यु के बाद और बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बनाये गये थे। शाक्यों के नष्ट करने के बाद विदूडभ और उसकी सेना एक नदी के किनारे ठहरी हुई थी। तभी भयकर भोला-वृष्टि होने लगी। उससे नदी में बाढ़ आ गई और सब बह गए।

अजातशत्रु ने कुशीनारा और पावा का विनाश किया होगा, किन्तु वह स्तूपों का विनाश नहीं कर सकता था। उसने अस्थि-भस्म का एक भाग प्राप्त कर उसके ऊपर

राजगृह में स्तूप बनवाया था।

जब ह्वेन्सांग भारत यात्रा के लिए आया था, तब उसने कपिलवस्तु के बाहर सैकड़ों-हजारों स्तूप देखे थे।

इन कारणों से इस विश्वास की पुष्टि होती है कि प्रकृति के प्रकोप से अथवा आततायी आक्रमणकारियों के अत्याचारों से इनका विनाश हो गया। यह सब लिखने का हमारा आशय इतना ही है कि कपिलवस्तु, कुशीनारा और पावा का विनाश बुद्ध की मृत्यु के आसपास हुआ और स्तूपों का विनाश इसके हजार-बारह सौ वर्ष बाद हुआ। अतः नगरों के अवशेषों के ऊपर स्तूपों के अवशेष होने चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो इस विशाल भूभाग में बिखरे हुए अवशेष और टीले स्तूपों के हो सकते हैं।

इन अवशेषों की यात्रा भारत सरकार की ओर से मि० कनिंघम, वैंगलर, कारलाइल आदि ने १८७५ में उसके आसपास की थी। इन विद्वानों के यात्रा विवरण सरकार की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं। उल्लेखनीय यह है कि इन्होंने इस सारे प्रदेश की यात्रा करके छानबीन की, किन्तु उन्होंने अपनी रिपोर्ट में किसी जैन मूर्ति, मन्दिर मानस्तम्भ, शिलालेख के मिलने का कोई उल्लेख नहीं किया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में सर्वत्र बौद्ध स्तूपों की ही चर्चा की है। इनके अतिरिक्त अन्य किन्हीं को कोई जैन चिन्ह मिले हों' ऐसी भी जानकारी हमें नहीं है। सठियाँव में तालाब और स्तूपों के ध्वंसों को देखकर यहां पर महावीर के निर्वाण की कल्पना कर लेना युक्तियुक्त नहीं लगता।

मि० कनिंघम ने अपनी इस रिपोर्ट में पावपुरी का वर्णन करते हुए उसे ही जैनो का महान् तीर्थ और महावीर की निर्वाण-भूमि बताया है।

1. a—Report of tours in the Gangetic Provinces from Badaon to Bihar in 1875-76 and 1877-78 by Alexander Cunningham Vol. XI

b— Report of a tour in the Gorakhpur District in 1875-76 and 1876/77 by A.C.L. Carlbyle, Vol. XVIII

एक अन्य रिपोर्ट में (Archeaological Survey Report 1905) डॉ० बोगेल ने बताया है कि कुशीनगर और सठियाँव आदि में कोई इमारत मौर्यकाल के बाद की नहीं है, सब इसके पहले की है।

मि० कनिंघम ने अपनी १८६१-६२ की रिपोर्ट में और बाद में 'Ancient' Geogrophy of India में पड़रौना को पावा माना है।

मि० कर्लाइल का मत है कि पावा वैशाली-कुशीनारा मार्ग पर अवस्थित थी। अतः वह कुशीनारा से दक्षिण पूर्व में होनी चाहिये। जब कि पड़रौना उत्तर और उत्तर पूर्व में १२ मील दूर है। वह तो प्राचीन वैशाली-कुशीनारा मार्ग पर भी नहीं है।' उनके मत से फाजिल नगर-सठियाँव पुरानी पावा होना चाहिये।

लंका की बौद्ध अनुभूतियों के अनुसार पावा कुशीनारा से १२ मील दूर गण्डक नदी की ओर होनी चाहिए। अर्थात् कुशीनारा से पूर्व या दक्षिण-पूर्व में। सिंहली अनुभूति पावा और कुशीनारा के बीच में एक छोटी नदी भी बताती है, जो ककुत्था कहलाती थी। यहीं बुद्ध ने स्नान और जल-पान किया था। संभवतः इसी नदी का नाम वर्तमान में घागी नदी है। यह कमिया से पूर्व, दक्षिण-पूर्व की ओर ६ मील दूर है।'

बुद्ध और महाकाश्यप क्रमशः मगध और वैशाली से कुशीनारा जाते हुए पावा में ठहरे थे।

फाजिलनगर में एक भग्न स्तूप है। फाजिलनगर और सठियाँव पावा के अवशेषों पर बने हैं, ऐसा लगता है। भग्न स्तूप में लगभग डेढ़ फर्लांग उत्तर-पूर्व में नदी है जो सोनुआ, सोनावा या सोनारा नदी कहलाती है। कुछ दक्षिण की ओर बढ़ने पर इसी का नाम कुकू पड़ गया है। सठियाँव के दक्षिण में १० मील पर एक घाट अथवा कुकू घाटी है। इस नदी के किनारे इससे मिलते जुलते नाम पाये जाते हैं—जैसे कुर्कटा, खुरदुरिया, कुटेया। लंका और बर्मा की अनुभूतियों में इस नदी का नाम ककुत्था या ककुत्था बताया है। यह पावा और कुशीनारा के बीच बहती थी। वर्तमान में सठियाँव से डेढ़ मील पश्चिम की ओर प्राचीन नदी के चिन्ह मिलते हैं जो ग्रन्हेया, सोनिया और सोनाका कही जाती है। संभवतः इसी नदी में बुद्ध

ने स्नान और जल-पान किया था। ग्रन्हेया के दो मील पश्चिम में एक बड़ी नदी बहती है जो घागी कहलाती है।

पड़रौना से १० मील उत्तर-पश्चिम में सिधा गांव के पास एक झील है। उसी में से घागी, ग्रन्हेया और सोनवा नदी निकलती है। वस्तुतः घागी बड़ी नदी है। इसकी पश्चिम की शाखा ग्रन्हेया है और पूर्व की शाखा सोनवा है। घागी का अर्थ है कुक्कुट और ककुत्था पर्यायवाची शब्द है।

पावा के खण्डहर ही अब सठियाँव डीह कहलाते हैं। इन्हीं टीलों पर सठियाँव गांव बसा है। फाजिलनगर और सठियाँव दोनों एक प्राचीन गांव के दो भाग हैं। सठियाँव डीह के पश्चिम में एक बड़ा तालाब है जो ११०० फुट लम्बा और ५५० फुट चौड़ा है। इसके आसपास छोटे बड़े कई तालाब हैं। सठियाँव का बड़ा डीह उत्तर में १७०० फुट लम्बी एक सड़क से जुड़ता है, जो कमिया फाजिलनगर सड़क से मिलती है। इसके फस में ही फाजिलनगर पटकावली सड़क जाती है।

सारा सठियाँव डीह प्राचीन नगर के ही अवशेष है। डीह पर सघन वृक्ष खड़े हुए हैं। इसके दक्षिण भाग में लगभग तीन चौथाई भाग में ईंटें बिखरी पड़ी हैं। ईंटों के ऊँचे-ऊँचे ढेर भी जहाँ तहाँ मिलते हैं। संभवतः ये स्तूपों के अवशेष हैं एक टीले पर लोगों ने देवी का थान बना लिया है एक पेड़ के सहारे देवी की मूर्ति खड़ी है। यहाँ जो ईंटें मिलती हैं, उनमें कुछ ११ इंच लम्बी, कुछ १३ और १४ इंच लम्बी हैं। खुदाई में १५ इंच की भी ईंटें मिली हैं।

फाजिलनगर में थाना, पोस्ट आदिस हैं। ये भी ईंटों की टीले पर बने हैं इसके आसपास भी बहुत से टीले हैं। मुख्य सड़क से उत्तर की ओर ३५० फुट की दूरी पर एक बड़ा टीला है विश्वास किया जाता है, यह टीला किसी स्तूप का अवशेष है। टीले के ऊपर स्तूप की ऊँचाई ३५ फुट है। स्तूप का ऊपरी भाग ४० से ४४ फुट के घेरे में है। संभव है बुद्ध के अस्थि, भस्म के ऊपर बना हुआ स्तूप यही हो। यहाँ मन्दिर या विहार के भी कुछ चिन्ह मिले हैं। एक छवस्त भवन भी है। इन दोनों के बीच में मुसलमानों ने करवला बना लिया है। यह स्तूप सठियाँव डीह

के पूर्व, उत्तर पूर्व में ३३०० फुट दूर है। स्तूप के उत्तर में ३०० फुट दूर से फाजिलनगर गांव शुरू होता है।'

'महावीर का निर्वाण दक्षिण बिहार की पावा में हुआ था और बौद्ध पिटक उत्तर बिहार की पावा का वर्णन करते हैं। वे अग्रथार्थ हैं।'

—डॉ. कार्पेण्टियर — Indian Antiquary 1914

'बौद्ध आगमों में वर्णित महावीर के निर्वाण-प्रसंग ऐतिहासिक निर्धारण में किसी प्रकार उपेक्षा के योग नहीं है।'

—डॉ० के० पी० जायसवाल, Journal of Bihar and Orissa Research Society 1, 103

'५२७ ई० पू० के लगभग महावीर का देहान्त आधुनिक पटना जिले की पावापुरी में हुआ।'

—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास 'ईसा के १३वीं, १४वीं शताब्दी के अनेक परिस्थितियों के कारण जैनधर्म उत्तर बिहार से विलकुल कट गया था। इन और आगे की शताब्दियों में दक्षिण बिहार के जैनजगत में नई चेतना जागृत हुई। इस जागृत का केन्द्र राजगीर-पावापुरी-विहार शरीफ बन गया। राजगृह महावीर के समय से ही जैनतीर्थ माना जाता रहा है। पावापुर अथवा पावापुरी में जैन सम्मेलनों के होने का पता चलता है। ये सम्मेलन १३वीं शताब्दी में हुए, ऐसा पता चलता है। जब कि ई० सन् १२०३ में वहाँ भगवान महावीर की मूर्ति विराजमान की गई। मदन कीर्ति अपने समय के २६ तीर्थों का वर्णन करते हुए इस शताब्दी के द्वितीय चरण में पावापुरी के वीर जिन का वर्णन करते हैं जिनप्रभ सूरी ने इससे अगली शताब्दी में अपने ग्रन्थ 'तीर्थकल्प' में पावापुरी के सम्बन्ध में दो अध्याय दिये हैं। इस प्रकार पावापुरी की स्थिति, जिसके बारे में 'महावीर का निर्वाण-क्षेत्र होने का विश्वास किया जाता है, चौदहवीं शताब्दी में सुदृढ़ होगई।'

—Dr. Yogendra Mishra, An Early History of Vaishali, P. 235-36

१. Report of a tour in the Gorakhpur District in 1875-76 and 1876-77, by A. C. L. Carlyle Vol. XVIII

२. श्री पूरण चन्द्र नाहर, जैन लेख संग्रह, भाग २, कलकत्ता १९२७ पृ० २६३

'राजगृह के निकट पावापुरी में कार्तिक अमावस की रात उनका (महावीर का) निर्वाण हुआ।' भारतीय इतिहास की रूपरेखा, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, भाग १, पृष्ठ ३७२।

'कुशीनारा (कसया) से चम्प मील उत्तर पपउर (जिला गोरखपुर, ही पावा है) परम्परा को भूलकर पटना जिले की पावा नई कल्पना है।'

—राहुल सांकृत्यायन, दर्शन, दिग्दर्शन, पृ० ४९२

'भगवान महावीर की निर्वाण भूमि के विषय में हमें कोई संदेह नहीं है। भगवान की निर्वाण-भूमि वही पावा है जो विहार नगर से आग्नेय कोण में सात मील पर पुरी अथवा पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध जैन तीर्थ है। जैन शास्त्रों में इसको मध्यमा पावा कहा है।'

—मुनि कल्याण विजय जी, श्रमण भगवान महावीर—
प्रस्तावना, पृ. xxviii

इस प्रकार पुरातत्ववेत्ता और इतिहासकार इस विषय में एकमत नहीं हैं। स्पष्ट ही इस विषय में दो पक्ष रहे हैं। जिन्होंने मल्लों की पावा से महावीर का निर्वाण माना है, उनके पास बौद्ध ग्रन्थों का आधार है। जिन्होंने वर्तमान पावापुरी से महावीर का निर्वाण माना है, उन्होंने अपने पक्ष में जैन ग्रन्थों और परम्परागत जैन मान्यता का समर्थन पाया।

उपर्युक्त उद्धरणों में डा० वोगेल, कर्लाइल, डा० जायसवाल ने मल्लों की पावा से महावीर-निर्वाण का कोई समर्थन नहीं किया। डा० योगेन्द्र मिश्र और राहुल सांकृत्यायन ने अवश्य इस पक्ष का स्पष्ट समर्थन किया है। राहुल जी केवल बौद्ध शास्त्रों के पावा सम्बन्धि उल्लेखों को ही प्रमाण मानते हैं। किन्तु वे उल्लेख अस्पष्ट हैं और उनका जैन ग्रन्थों के महावीर निर्वाण सम्बन्धी विवरणों से समन्वय नहीं हो पाता। फिर बौद्ध ग्रन्थों में भी मल्लों का नाम नहीं है। 'अट्टकथा' तो महावीर को नालन्दा से पावा जाकर मृत्यु का उल्लेख करती है।

डा० मिश्र के पास श्री नाहर के 'जैन लेख संग्रह' का एक लेख प्रमाणभूत तर्क है, जिसमें १२०३ ई० में पावा में भगवान महावीर की मूर्ति की प्रतिष्ठा की चर्चा है। किन्तु उस शिलालेख से उस मूर्ति की प्रतिष्ठा-काल आदि सम्ब-

न्धित बातों पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि महावीर की उस मूर्ति की प्रतिष्ठा से पहले पावापुरी में कोई जैन मन्दिर नहीं था और उसकी जैन तीर्थ के रूप में मान्यता नहीं थी। यदि मदन कीर्ति ने 'शासन चतुस्त्रिंशिका' में 'पावापुर' के भगवान महावीर की प्रतिमा का अतिशय बताया है। उक्त शिलालेख और मदन कीर्ति के उद्धरणों से तो यह सिद्ध होता है कि १३वीं १४वीं शताब्दी में भी पावापुरी एक प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था।

उपयुक्त विद्वानों के अतिरिक्त डा० कार्पेण्टियर, डा. रमाशकर त्रिपाठी, जयचन्द्र विद्यालंकार, मुनि कल्याण-विजय जी आदि सभी विद्वान् स्पष्ट रूप से इस बात का समर्थन करते हैं कि वर्तमान पावापुरी ही महावीर का निर्वाण-क्षेत्र है। महावीर के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों की प्रामाणिकता असंदिग्ध रूप से मान्य की जानी चाहिए, जब कि बौद्ध वाङ्मय में महावीर का जो भी विवरण मिलता है, वह साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण तथ्य विरुद्ध, अपमानजनक और भ्रान्ति कारक है। इसलिए बौद्ध साहित्य इस विषय में वहाँ तक मान्य किया जा सकता है, जहाँ तक वह जैन साहित्य और परम्परा के अनुकूल हो। बौद्ध साहित्य की प्रामाणिकता के मोह में जैन साहित्य को अप्रामाणिक करार नहीं दिया जा सकता।

अन्त में हम उन शंकाओं और संभावनाओं के सम्बन्ध में भी कुछ पक्षों लिखना आवश्यक समझते हैं जो वर्तमान पावापुरी की मान्यता के विरोध में उपस्थित की जा सकती हैं। (१) महावीर के निर्वाण के समय नौ मल्ल राजा भी उपस्थित थे। मगध मल्लों का शत्रु था। तब वे शत्रु-प्रदेश के इतने निकट अथवा शत्रु-प्रदेश में कैसे आ सकते थे? (२) पावापुरी में प्राचीनता के कोई चिह्न नहीं मिलते।

पहली शंका या संभावना के उत्तर में निवेदन है कि मल्ल राजा जैन थे। मगध सम्राट भी जैन थे। हजारीबाग-मानभूमि प्रदेश भी मल्ल देश कहलाता था। हो सकता है, वहाँ के राजा निर्वाण के समय उपस्थित हुए हों। इतिहास ग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि जब महावीर का निर्वाण हुआ, उस समय मगध की गद्दी पर अजात शत्रु

बैठा हुआ था। लगभग तभी श्रेणिक विवसार की मृत्यु हुई थी। अजात शत्रु उस समय शोक और राजनैतिक उलझनों में फंसा हुआ था। वह ऐसी स्थिति में नहीं था कि वह कहीं आक्रमण कर पाता। वस्तुतः वह अपनी स्थिति जमाने में लगा हुआ था। इसी लिए वह स्वयं उत्सव में नहीं आ सका। दूसरी बात यह है कि वह भी महावीर का अनुयायी था और तीर्थंकर भगवान के निर्वाणोत्सव में पधारे हुए साधर्म्य राजाओं से युद्ध करके वह अपयश मोल नहीं ले सकता था। युद्ध करने के लिए उसके पास अन्य अवसर भी थे। अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेने पर राज्यारोहण के आठवें वर्ष में उसने वैशाली गणसभ से युद्ध ठान दिया और अन्त में (कुछ विद्वानों के मन से १६ वर्ष युद्ध करने के पश्चात्) उसने वैशाली और मल्ल गणों का विनाश कर दिया।

भगवान महावीर पावा में राजगृह से पधारे थे, ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर शास्त्रों में मिलता है। राजगृह से मल्ल देश बिलकुल मिला हुआ था।

(२) दूसरी शंका कि यहाँ कोई पुरातत्व नहीं है, विशेष ठोस नहीं है। सम्मेद शिखर में भी कोई पुरातत्व नहीं। इस लिए क्या वह भी वास्तविक तीर्थ-स्थान नहीं है? पावापुरी के मन्दिर में प्रारम्भ से चरण विराजमान रहे हैं। मन्दिर का जीर्णोद्धार समय-समय पर होता रहा। किसी आतताई की कुदृष्टि उस और नहीं गयी। अतः सुरक्षित रहा।

सारांशतः हमारी मान्यता है कि वर्तमान पावापुरी ही भगवान की निर्वाण-स्थली है, यह पावन भूमि है, विश्व वेद्य है। दूसरों से प्रभावित होकर अपनी परम्परागत तीर्थ-भूमियों की मान्यता का विसर्जन नहीं करना चाहिए। और न भावुकता में बहकर इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न ही बना देना चाहिए। जब तक सर्वसम्मत ठोस प्रमाण न मिले, तब तक यथा स्थिति रहनी चाहिए।

१. मुनि श्रीचन्द्र कृत 'कहा कोसु' सन्धि १५ कडवक १

१. इसके लिए देखिए The Geographical Dictionary of Ancient And Mediaeval India, by Nunda Lal Dey में प्राचीन भारत का नक्शा,

महामात्य कुशराज

परमानन्द जैन

गोपाद्रि में तोमरवंशी राजाधिराज वीरमेन्द्र के राज्य में महामात्य कुशराज थे जो जैसवाल कुल के भूषण थे। इनके पिता का नाम जैनपाल और माता का नाम 'लोणा' देवी था, पितामह का नाम 'भुल्लण' और पितामही का नाम उदिता देवी था। कुशराज के पांच भाई और भो थे, जिनमें चार बड़े और एक छोटा था। हसरज, सैराज, रैराज्य, भवराज, ये बड़े भाई थे और हेमराज छोटा भाई था। इन सबमें कुशराज बड़ा और धर्मात्मा तथा राजनीति में कुशल था। जैन-धर्मका प्रतिपालक और देवशास्त्र-गुरुका भक्त इसने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ जिन का एक विशाल जिन-मन्दिर बनवाया था और उसके प्रतिष्ठादि कार्य को बड़े भारी समारोह के साथ सम्पन्न किया था। कुशराज की तीन स्त्रियां थी, रल्हो, लक्षणश्री और कौशीरा। ये तीनों ही पत्नियां सती, साध्वी तथा गुणवती थी और नित्य पूजन किया करती थी; रल्हो से कल्याणसिंह नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो बड़ा ही रूपवान, दानी और जिनगुरु चरणाराधन में तत्पर था।

कुशराज जहाँ धर्मनिष्ठ और कर्तव्य परायण था वहाँ वह राजनीति में भी चतुर था। वह राज्य-सेवा को अपना कर्तव्य मानकर करता था। महामात्य होते हुए भी उसमें अहंकार नहीं था, बड़ा ही उदार और हंसमुख था। वह वीरमदेव का महान विश्वासपात्र महामात्य था और पृथ्वी की रक्षा करने में तत्पर था।

सर्वगुण सम्पन्न कुशराज ने श्रुतभक्तिवश यशोधर चरित की रचना पद्मनाभ कायस्थ से कराई थी, जिसमें राजा यशोधर और रानी चन्द्रमती का

का जीवन परिचय दिया हुआ है। यह पौराणिक चरित्र बड़ा ही रुचिकर प्रिय और दयारूपी अमृत का श्रोत बहाने वाला है। इस पर अनेक विद्वानों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी गुजराती भाषा में ग्रन्थ रचे गये हैं।

कवि ने यह ग्रंथ वीरमदेव के राज्यकाल में कुशराज की प्रेरणा से रचा था। सन् १४०० के आस-पास ही राजसत्ता वीरमदेव के हाथ में आई थी, हिजरी सन् ८०५ और वि० सं० १४६२ में अथवा १४०५ A. D. में मल्ल इकवाल खां ने ग्वालियर पर चढ़ाई की थी। परन्तु उस समय उसे निराश होकर ही लौटना पड़ा।

आचार्य अमृतचन्द्र की 'तत्त्वदीपिका' (प्रवचन-सार टीका) की लेखक प्रशस्ति में जो वि० सं० १४६६ में लिखी गई है, गोपाद्रि (ग्वालियर) में उस समय वीरमदेव के राज्य का उल्लेख किया गया है। कुशराज ने सं० १४७५ में एक यंत्र को प्रतिष्ठित किया था जो नरवर के मन्दिर में विद्यमान है—सं० १४७५ अषाढ सुदि ५ गोपाद्रि .. राजाधिराज श्री वीरमेन्द्रराज्ये श्री कर्षता जनैः संघीन्द्रवंशे साधु भुल्लण भार्या पितामही पुत्र जैनपाल भार्या लोणा देवी तयोः पुत्राः परम श्रावकः साधु कुशराजोऽभूत भार्ये रल्हो, लक्षणश्री कौशीरा तत्पुत्रं कल्याण मलभूत भार्ये द्वे धर्मश्री जयतस्मिन्ने इत्यादि परिवारेण समं शाह कुशराजो यत्र प्रणमति। और अमरकीर्ति के षट्कर्मोपदेश की आमेर प्रति में, जो सं० १४७६ की लिखी हुई है उसमें भी वीरमदेव के राज्य का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि १४६२ से १४७६ तक वीरमदेव का राज्य रहा है। वही समय कुशराज्य का है।

(जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा. १ पृ० ५-६)

खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर की भित्तियों की रथिकाओं में जैन देवियां

मारुति नंदन प्रसाद तिवारी

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में स्थित खजुराहो का भारतीय वास्तु तथा शिल्पकला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। चंदेलों के शासन काल में निर्मित खजुराहो के मंदिरों की भित्तियों पर शैव, वैष्णव और जैन सम्प्रदायों से संबंधित मूर्तियां उत्कीर्णित हैं, जिन सबके शिल्प विधान में प्रायः समान तत्व मिलते हैं। वर्तमान खजुराहो ग्राम के समीप अवस्थित जैन मंदिरों का समूह खजुराहो का पूर्वी मंदिर समूह कहलाता है। समस्त नवीन व प्राचीन दिगंबर जैन मंदिर एक विशाल किन्तु नवीन परकोटे के अन्दर स्थित हैं। दो प्राचीन मंदिरों आदिनाथ व पार्श्वनाथ, में से पार्श्वनाथ सभी दृष्टियों से सर्वोत्कृष्ट है, जिसका समस्त खजुराहो के मंदिरों में भी शिल्प व स्थापत्य दोनों ही दृष्टियों से विशिष्ट स्थान है। पार्श्व मंदिर मूलतः आदिनाथ का मंदिर था इसकी पुष्टि गर्भगृह में स्थापित बैल चिन्ह से युक्त पीठिका से होती है, जिस पर १९वीं शती में पार्श्वनाथ की नवीन प्रतिमा स्थापित की गई। पार्श्वनाथ मंदिर के पूर्वी द्वार पर उत्कीर्ण १०११ विक्रम संवत् (९५४) के लेख के आधार पर इसे १०वीं शती में निर्मित स्वीकार किया गया है। इस मंदिर की बाह्य भित्तियों पर जैन तीर्थंकरों और अम्बिका की आकृतियों के अतिरिक्त कुछ अन्य देवियों को भी विशिष्टता प्रदान करने की दृष्टि से विभिन्न रथिकाओं में स्थापित किया गया है^१। इन्हीं देवियों की मूर्तियों का अध्ययन हमारा अभीष्ट है। विभिन्न देव कुलिकाओं में प्रतिष्ठित सरस्वती, लक्ष्मी और ब्रह्माणी मूलतः ब्राह्मण धर्म की देवियां होने के बावजूद जैन शिल्प व धर्म में काफी प्रचलित थीं। खजुराहो के

हिन्दू मंदिरों पर उत्कीर्ण देवियों से पार्श्वनाथ मंदिर की देवियों को अलग करने की दृष्टि से कलाकार ने प्रत्येक देवी के साथ कई तीर्थंकर आकृतियों को चित्रित किया है, जो वास्तव में उनके जैनधर्म के प्रचलित और विशिष्ट देवी रहे होने की ओर संकेत करता है।

मंदिर के मण्डप की भित्ति के नीचे अधिष्ठान पर उत्तर और दक्षिण की ओर सरस्वती की दो आकृतियां (३९"×२५") उत्कीर्ण हैं। दक्षिणी भित्ति की ललितासन मुद्रा में एक ऊंची पीठिका पर आसीन सरस्वती मूर्ति में देवी छह भुजाओं से युक्त है। देवी का दाहिना लटकता पैर कमल पर स्थित है। सरस्वती के ऊपरी दो भुजाओं, दाहिने और बायें, में क्रमशः पद्म और पुस्तक प्रदक्षित हैं, जबकि देवी की मध्य की दोनों भुजाएं वीणा वादन में व्यस्त हैं। वीणा का ऊपरी भाग कुछ खण्डित है। देवी ने अपने निचले दो दाहिने व बायें हाथों में क्रमशः वरद-मुद्रा और कमण्डलु धारण कर रखा है। देवी की भुजाओं में वीणा का प्रदर्शन मात्र ही देवी के सरस्वती से पहचान के लिए पर्याप्त है। देवी के प्रत्येक पार्श्व में त्रिशूल मुद्रा में खड़ी एक चामरधारी सेवक आकृति को मूर्तिगत किया गया है, जिसकी दूसरी भुजा कटि पर स्थित है। इन सेवक आकृतियों के समक्ष दो हाथ जोड़े उपासक आकृतियां उत्कीर्ण हैं। देवी के वाम चरण के समीप ही एक भग्न उपासक आकृति चित्रित है। सरस्वती के शीर्ष भाग में दोनों ओर दो खड़ी तीर्थंकर आकृतियों का अंकन ध्यातव्य है। इन आकृतियों के बगल में दोनों कानों पर दो युगल मालाधारी गन्धर्वों की उड़डायमान आकृतियां देखी जा सकती हैं इनके नीचे पुनः प्रत्येक छोर पर एक उड़डायमान विद्याधर की आकृति अंकित है। देवी ग्रीवा से हारों, घोती, घम्मिल, मेखला, कंगन तूपुर, पायजेब और एक लम्बी माला से सुसज्जित है। सरस्वती की

१ ब्रुन, क्लाज, "दि फिगर ऑफ दि टू लोवर रिलीफ्स आन दि पार्श्वनाथ टेम्पुल एट खजुराहो," आचार्य श्री विजय वल्लभसूरि स्मृति ग्रन्थ, १९५६, अंग्रेजी विभाग, पृ. २३-२४,

दूसरी मूर्ति उत्तर की भित्ति के अविष्टान में उत्कीर्ण है, जिसमें ललिनासन मुद्रा में आसीन देवी चार भुजाओं से युक्त है। देवी के दोनों पैर खण्डित हो चुके हैं। सरस्वती की दो ऊर्ध्व भुजाओं में सनाल कमल प्रदर्शित है, जब कि दोनों निचली भुजाएँ भग्न हो चुकी हैं। पीठिका के बायीं ओर देवी का वाहन हंस, जिसका शीर्ष भाग खण्डित है, की मूर्तिगत किया गया है। समस्त प्रचलित अलंकरणों से युक्त देवी की पहिचान मात्र हंस के आधार पर ही सरस्वती से की जा सकती है। देवी के दोनों पार्श्वों में हाथ जोड़े उपासक आकृतियों के साथ ही देवी के दाहिने चरण के समीप एक काफी भग्न उपासक आकृति को चित्रित किया गया है। देवी के शीर्ष भाग के ऊपर एक आसीन तीर्थंकर आकृति के अतिरिक्त मूर्ति के दोनों अन्तों पर उत्कीर्ण दो अन्य आसीन तीर्थंकरों का अकन इसकी विशेषता है। इन जिन आकृतियों के पार्श्वों में भी उपासक आकृतियों को उत्कीर्ण किया गया है। सरस्वती के पृष्ठभाग में उत्कीर्ण प्रभामण्डल कमल पुष्प और गुलाब से अलंकृत है।

पार्श्वनाथ मंदिर के उत्तरी और दक्षिणी भित्तियों पर लक्ष्मी की कुल तीन प्रतिमाये उत्कीर्ण हैं, जिन सबमें लक्ष्मी की निश्चित पहिचान किसी विशिष्ट प्रमाण के अभाव में सदेहास्पद है। ऊर्ध्व दो भुजाओं में प्रदर्शित कमलों के आधार पर ही इन्हें लक्ष्मी अंकन बताया गया है। उत्तरी भित्ति के बायें कोने पर उत्कीर्ण एक मूर्ति में चतुर्भुज देवी को एक पीठिका पर खड़ी उत्कीर्ण किया गया है। देवी की ऊर्ध्व दो भुजाओं में अर्ध विकसित सनाल कमल और निचले वाम हस्त में एक शंख चित्रित है। देवी की निचली दाहिनी भुजा खण्डित है। देवी दोनों पार्श्वों में सेविकाओं द्वारा वेष्टित है। देवी के चरणों के समीप दोनों ओर काफी भग्न उपासक आकृतियों को चित्रित किया गया है। स्त्री आकृतियों के समीप ही दोनों अंतिम छोरों पर दो खड़ी (नग्न) तीर्थंकर आकृतियों को मूर्तिगत किया गया है। इन आकृतियों के पार्श्वों में पुनः दो काफी भग्न पुरुष आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मूर्ति के ऊपरी कोनों पर भी दो खड़ी तीर्थंकर आकृतियाँ (नग्न) अंकित हैं। देवी के शीर्ष भाग के ऊपर प्रत्येक पार्श्व में एक उड्डायमान विद्याधर को चित्रित किया गया है।

त्रिभंग मुद्रा में एक पीठिका पर खड़ी चतुर्भुज देवी की एक अन्य मूर्ति दक्षिण की भित्ति पर देखी जा सकती है, जिसमें देवी के मात्र ऊर्ध्व दाहिनी भुजा में सनाल कमल स्थित है और दूसरी ऊर्ध्व भुजा संप्रति भग्न हो चुकी है। देवी की निचली दाहिनी भुजा वरदमुद्रा में प्रदर्शित है और वाम भुजा पुनः भग्न है। अलंकृत मुकुट, कणफूल, दो हारों, एकावली, मेखला, कगन, तूपुर, बाजूबन्द, घोती और लम्बी माला से सुसज्जित देवी के दोनों पार्श्वों में दो स्त्री सेवक आकृतियाँ अंकित हैं। वाम पार्श्व की सेवक आकृति के साथ ही इस ओर की अन्य समस्त आकृतियाँ काफी भग्न हैं। सामान्य अलंकरणों से युक्त चामरधारी सेवकों की स्त्री सेविकाओं के पार्श्व में मूर्तिगत किया गया है। इन आकृतियों के समक्ष प्रत्येक पार्श्व में एक खड़ी तीर्थंकर आकृति (नग्न) उत्कीर्ण है। वाम पार्श्व की तीर्थंकर आकृति पूरी तरह नष्ट हो चुकी है। देवी के दाहिने चरण के समीप एक हाथ जोड़े उपासक आकृति को चित्रित किया गया है और दूसरी ओर की उपासक आकृति नष्ट हो चुकी है। इस मूर्ति के उपरी भाग में प्रत्येक पार्श्व में एक मालाधारी उड्डायमान गन्धर्व युगल को मूर्तिगत किया गया है इनके समीप ही प्रत्येक पार्श्व में तीर्थंकर की एक खड़ी (नग्न) आकृति उत्कीर्ण है। इसी मूर्ति के ऊपर एक दूसरी रथिका में चतुर्भुज लक्ष्मी की त्रिभंग मुद्रा में खड़ी एक अन्य मूर्ति स्थापित है। देवी की ऊपरी दाहिनी भुजा भग्न है, पर ऊपरी बायीं भुजा में सनाल कमल प्रदर्शित है। देवी के निचले दाहिने व बायें हाथों में क्रमशः उभय मुद्रा और कमण्डलु स्थित हैं। पार्श्व स्थित सेविका आकृतियों के एक हाथ में कमल व दूसरा कटि पर स्थित है। इन आकृतियों के समीप ही जिनकी दो खड़ी (नग्न) आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इस चित्रण की विशिष्टता है देवी के स्कन्धों के ऊपर दो चतुर्भुज देवियों का अंकन, जो जैनधर्म की दो अत्यन्त लोकप्रिय देवियों सरस्वती और चक्रेश्वरी, का चित्रण करती हैं। देवी के वाम स्कन्ध के ऊपर आसीन आकृति की ऊपरी भुजाओं में चक्र (दाहिना) और अर्ध विकसित कमल (बायाँ) प्रदर्शित है। देवी की निचली दाहिनी भुजा से अनुषकर्षण

[शेष टाइल पेज ३ पर]

मुद्रा व्यक्त है, जिसमें अनामिका और अंगुष्ठ एक दूसरे को छू रहे हैं। देवी की निचली वाम भुजा में कमण्डलु स्थित है। मात्र चक्र के आघार पर ही हमकी पहचान निर्विवाद रूप से चक्रेश्वरी से की जा सकती है। देवी के दाहिने स्कन्ध के ऊपर प्रदर्शित दूसरी आकृति के ऊपरी दोनों भुजाओं में अर्धविकसित कमल (दाहिना) और पुस्तक (बाया) प्रदर्शित है, जब कि निचले दोनों हाथों में अभय (दाहिना) और मानुलिंग (बाया) स्थित है। पुस्तक की उपस्थिति नि सन्देह देवी के सरस्वती होने की सूचक है। इन आमीन आकृतियों के बगल में दोनों कोनों पर तीर्थ-करों की दो खड़ी (नग्न) आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार इस मूर्ति में सरस्वती और चक्रेश्वरी की निश्चिन पहचान के कारण मध्यवर्ती मूल आकृति का लक्ष्मी होना स्वयं मिद्ध है, क्योंकि इन्हीं तीन देवियों को कुछ एक अन्य देवियों के साथ खजुराहा के जैन शिल्प में बहुलता से मूर्तिगत किया गया है।

सरस्वती और लक्ष्मी के अतिरिक्त ब्रह्मणी की एक त्रिमुख मूर्ति, जिसकी चारों भुजाएं खण्डित हैं, पार्श्वनाथ मंदिर के उत्तरी भित्ति पर लक्ष्मी अकन के ऊपर उत्कीर्ण है। सामान्य अलकरणों से युक्त देवी त्रिभंग मुद्रा में एक पीठिका पर खड़ी है। देवी के दोनों पार्श्वों में तीर्थकरों की दो खड़ी (नग्न) प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। देवी के वाम चरण के समीप दो स्त्री उपसक आकृतियाँ चित्रित हैं। पूर्व प्रतिमा के अनुरूप ही मध्यवर्ती ब्रह्मणी के दोनों स्कन्धों के ऊपर चतुर्भुज आसीन देवियों को उत्कीर्ण किया गया है। दोनों ही देवियों की ऊपरी दो भुजाओं में कमल और निचले दाहिने में अभय मुद्रा प्रदर्शित है। दाहिनी ओर की आकृति की निचली वाम भुजा में जहां बीज पूरक (फल) चित्रित है, वही बायीं ओर की आकृति की भुजा में कमण्डलु स्थित है। इन दोनों ही आकृतियों की पहचान लक्ष्मी से करना ज्यादा उचित प्रतीत होता है।

२५००वीं महावीर जयन्ती पर दि० जैन समाज का कर्तव्य

दि० समाज का परम कर्तव्य है कि वह २५००वीं महावीर जयन्ती पर कुछ ऐसा ठोस कार्य सम्पन्न करे। जिसमें महावीर के सिद्धान्तों का लोक में प्रचार व प्रसार हो सके। और ढाई हजार वर्षों में दि० जैन समाज ने जो कुछ कार्य किया उसका लेखा-जोखा करना भी आवश्यक है। साथ ही साहित्यिक प्रगति के लिए शास्त्र भंडारों और मूर्ति लेखों को ऐसी सूची तैयार करवा कर छपाई जा सके, जिससे दि० शास्त्रों की गणना और भारतवर्ष के दिगम्बर मन्दिरों की मूर्तियों के लेखों का संकलन करवा कर प्रकाश में लाया जा सके और जन ग्रन्थों की लिपि प्रशस्तियों तथा ग्रन्थ प्रशस्तियों का संकलन भी प्रकाशित हो सके। इन तीनों कार्यों के सम्पन्न हो जाने पर जैन इतिहास को महत्वपूर्ण सामग्री तैयार हो सकती है। उससे विभिन्न जातियों के इतिवृत्तों का संकलन करने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा। आशा है समाज इस उपयोगी कार्य के लिए अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करेगी, विद्वानों और संस्थाधिकारियों को भी पूरा सहयोग प्रदान करना चाहिए।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत हमारे पद्यों की भा अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) में भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५.००
प्राप्तपरीक्षा श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८.००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व का गवेषणापूर्ण प्रस्तावना में सुशोभित।	२.००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमातण्ड . पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित पञ्चयन्त्रशासन . तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-५० १ २५
श्रीपुरपादवनाथस्तोत्र आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद-सहित।	७७
शामनचतुस्त्रिका . (तीर्थपरिचय) मुन मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	७५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थावार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३.००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द।	४.००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४.००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दाकी महत्त्वकी रचना, मुस्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय) —मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त।	२५
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य	१६
अध्यात्मरहस्य प० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१.००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अवधूत के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२.००
न्याय-दीपिका . आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०।	७.००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४० सजिल्द	५.००
कसायपाहुडमुक्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०.००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६.००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया	५.००

वर्ष २४ : किरण

दिसम्बर १९७१

अनेकान्त



पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर (नरेणा)



जैन तीर्थङ्कर और हाथी (नरेणा)



प्राचीन जैन मन्दिर का तोरण जो नये मन्दिर में लगा दिया है (नरेणा)

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१	अर्हत् परमेष्ठी स्तवन	१८५
२	चन्द्रवाड का इतिहास—परमानन्द जैन शास्त्री	१८६
३	हिन्दी भाषा का महावीर साहित्य— डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	१८३
४	जैन कला में प्रतीक तथा प्रतीकवाद— ए० के० भट्टाचार्य अनु० डा० मानसिंह एम. ए.	१८६
५	अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों का नीति वर्णन —डा० बालकृष्ण 'अकिचन'	२०१
६	दुःख आर्य सत्य : एक विवेचन— धर्मचन्द जैन (शोध छात्र)	२०५
७	शोध-कण—श्री यशवतकुमार मर्लया	२१३
८	पारसनाथ किला के जैन अवशेष— कृष्णदत्त वाजपेयी	२१०
९	नरेणा का इतिहास—डा० कैलाशचन्द जैन	२१५
१०	खजुराहो के आदिनाथ मन्दिर के प्रवेशद्वार की मूर्तियाँ—मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	२१८
११	तीर्थङ्कर भगवान महावीर के २५००वे निर्वाण महोत्सव का उद्देश्य एवं दृष्टि—रिषभदास	२२२
१२	जैनधर्म के सबंध में भ्रातिया एवं उनके निरा- करण का मार्ग—वशीधर शास्त्री	२२४
१३	ब्रह्म जिनदास : एक अध्ययन— परमानन्द जैन शास्त्री	२२६
१४	अपभ्रंश की एक अज्ञात जयमाला— डा० देवेन्द्रकुमार	२२९
१५	कोषाध्यक्ष मंत्री और सेनापति— परमानन्द जैन शास्त्री	२३२
१६	साहित्य-समाक्षा टा० पृ० ३ सम्पादक-मण्डल डा० आ० ने० उपाध्ये डा० प्रेमसागर जैन श्री यशपाल जैन परमानन्द शास्त्री	

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि वे अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६ रुपया जिन ग्राहकों ने अभी तक नहीं भेजा है, उन्हें चाहिए कि वे अपना पिछला वार्षिक मूल्य छह रुपया मनीआर्डर से भेज दें। क्योंकि अगली छठी किरण के साथ उनका वर्ष २४ का वार्षिक मूल्य समाप्त हो जाता है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागज
दिल्ली

सूचना

अनेकान्त में समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है पुस्तक प्रकाशक या लेखक अनेकान्त में समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ भेजने का कष्ट करे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

निवेदन

प्रत्येक पुस्तक प्रकाशक और लेखकों से निवेदन है कि पुरातत्त्व अन्वेषक वीर-सेवा-मन्दिर की लायब्रेरी के लिए अपने बहुमूल्य प्रकाशन भेंट स्वरूप भेजने की कृपा करें। साथ ही यदि महत्व के हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रंथ हो तो उन्हें भी सुरक्षा की दृष्टि से भेजकर अनुग्रहीत करें। इस सम्बन्ध में विशेष पत्र व्यवहार वीर-सेवा-मन्दिर के मंत्री महोदय से करें।

व्यवस्थापक
वीर सेवामन्दिर, दरियागज
दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं। — व्यवस्थापक अनेकान्त

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्वसिन्धुरविषानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४
किरण ५

}

बीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
बीर निर्वाण संवत् २४६८, वि० सं० २०२७

{ नवम्बर
दिसम्बर १९७१

अर्हत् परमेष्ठी स्तवन

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्त संग्रहात्,
अस्त्रादेः परिवर्जनान्तं च बुधैर्द्वेषो ऽपि संभाव्यते ।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा—
मानन्दादि गुणा क्षयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु वः ॥३॥

अर्थ—जिस अरहंत परमेष्ठी के परिग्रह रूपी पिशाच से रहित हो जाने के कारण किसी भी इन्द्रिय विषय में राग नहीं है, त्रिशूल आदि आयुधों से रहित होने के कारण उक्त अरहंत परमेष्ठी के विद्वानों के द्वारा द्वेष की भी संभावना नहीं की जा सकती है। इसी लिए राग-द्वेष रहित हो जाने के कारण उनके समता भाव आविर्भूत हुआ है, और इस समता भाव के प्रकट हो जाने से उनके आत्मावबोध तथा इससे उनके कर्मों का वियोग हुआ है। अतएव कर्मों का क्षय से जो अर्हत् परमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणों के आश्रय को प्राप्त हुए हैं वे अर्हत् परमेष्ठी सर्वदा आप लोगों की रक्षा करें ॥३॥

चन्द्रवाड का इतिहास

परमानन्द जैन शास्त्री

चन्द्रवाट, चन्दावर और चन्द्रवाड नाम का एक प्रसिद्ध नगर यमुना नदी के तट पर बसा हुआ था, जो आज प्राचीन ध्वंसावशेषों—खण्डहरो—के रूप में दृष्टि-गोचर हो रहा है। वह अतीत की उस भांकी को प्रस्तुत कर रहा है कि हम भी किसी समय श्री सम्पन्न और समुन्नत थे; किन्तु काल की कराल गति से आज हमारा बंभव भूगर्भ में स्थित है। कहा जाता है कि विक्रम सं० १०५२ में चन्द्रपाल नाम के एक जैन पल्लीवाल राजा की स्मृति में इस नगर को बसाया गया था^१। जिसका दीवान रामसिंह हारल था^२।

चन्द्रवाड में विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक चौहान वंशी राजाओं का राज्य रहा है।

१. हिन्दी विश्वकोष के भाग ७ पृ० १७१ में लिखा है कि चन्द्रपाल इटावा अंचल के एक राजा का नाम था। कहा जाता है कि राजाचन्द्रपाल ने राज्य प्राप्ति के बाद चन्द्रवाड में सं० १०५३ में एक प्रतिष्ठा कराई थी। इनके द्वारा प्रतिष्ठापित स्फटिक मणि की एक मूर्ति जो एक फुट की अवगाहना को लिए हुए है आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की थी और जिसे यमुना की मध्य धारा से निकाल कर फिरोजाबाद में सोत्सव लाया गया था, अब वह फिरोजाबाद के मन्दिर में विराजमान है।

२. चन्द्रपाल का दीवान रामसिंह हारल लंबकचुक (लमेचू) आम्नाय का था। उसने वि० सं० १०५३ और १०५६ में कई मूर्तियों की प्रतिष्ठा चन्द्रवाड में कराई थी जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है :—

१ देशी पाषाण वादामी रंग २ फुट की मूर्ति सं० १०५३ वैशाख सुदि ३ रामसिंह हारल.....।

२ देशी पाषाण वादामी रंग ३ फुट ऊँची मूर्ति— सं० १०५६ अगहन सुदि ५ गुरी तिथी.....।

कान्त्या बलिकनकबैवः सुतः कोकः.....।

३ देशी पाषाण सवातीन फुट—ओं मनु सं० १०५३ वैशाख सुदि ३.....।

जो अजमेर के चौहान वंशी राजाओं के वंशधर थे। इस राजाओं ने केवल चन्द्रवाड पर ही शासन नहीं किया, प्रत्युत इटावा और उसके समीपवर्ती भू भाग पर भी शासन किया है। उनमें हतिकान्त, रायवहिय (रायभा) रपरी, कुरावली, मैनपुरी, दत्तपल्ली और भोगांव आदि स्थान हैं, जिन पर उनका शासन १६वीं शताब्दी तक तो रहा ही है, किन्तु कहीं कहीं कुछ बाद में भी रहा है। इन राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म का खूब उत्कर्ष रहा है; क्योंकि इनके मंत्रीगण प्रायः जैन ही रहे हैं, उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता से राज्यकार्य का संचालन किया है।

विक्रम की १४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दी में रचे गये अष्टादश और सस्कृत के ग्रन्थों में चौहान वंश के राजाओं का उल्लेख है^३।

विक्रम की १३वीं शताब्दी में (वि० सं० १२३० में) चन्द्रवाट, या, चन्द्रवाड निवासी माधुरवशी साहु नारायण और उनकी धर्मपत्नी रूपिणीदेवी ने, जो देव-शास्त्र और गुह्यमन्त्र थी, संसार बंधक कथाओं को सुनने में विरक्त थी, उसने श्रुत पंचमी के उपवास-सम्बन्धी फल को प्रकट करने वाले भविष्यदत्त कुमार के जीवन-परिचय को व्यक्त करने वाली 'भविष्यदत्तकथा' कवि श्रीधर से लिखवाई थी^४। यद्यपि कवि श्रीधर ने ग्रन्थ प्रशस्ति में

३. देखो, जैन ग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह द्वितीय भाग, वीर-सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली तथा अनेकान्त वर्ष १३ किरण ६ पृ० २२७ में प्रकाशित 'नाग-कुमार चरित और कवि धर्मधर नाम का लेख।

४. परणाह विक्रमादित्य काले, पवहंतए सुहय एविसाले । वारह सय वरिसहि परिगएहि, दुगणिय पणरह वच्छर जुएहि ॥

फगुण-मासम्म बलवत्त पक्खे, दसमिहदिणे तिमिरवक्कर विवक्खे ।

रविवार समाणिउ एक्कु सत्थु,

जिह मइ परमाणुउ सुप्पसत्थु ॥ —भविष्यत्त कथा

उस समय चन्द्रवाड के राजा के नामादिक का कही उल्लेख नहीं किया। अतएव निश्चयतः यह कहना कठिन है कि उस समय वहाँ किसका राज्य था। पर उस समय चन्द्रवाड समृद्ध था और वहाँ हिन्दू जनता के साथ जैन जनता भी अपने धर्म का साधन करती थी। उसके कुछ समय बाद अर्थात् सन् ११६४ (वि० सं० १२५१ भ) शाहाबुद्दीन गोरी ने—जब वह बनारस और कन्नौज की ओर जा रहा था, रास्ते में उसकी मुठभेड़ चन्द्रवाड में जयचन्द गहड़वार से हो गई थी, जिससे राजा जयचन्द हाथी के हाँदे पर बैठे हुए सैन्य संचालन कर रहे थे। महत्ता शत्रु का एक तीर लगने से मृत्यु को प्राप्त हुए, किन्तु उसके पुत्र हरिश्चन्द्र ने कन्नौज का गढ़ अपने हाथ से नहीं जाने दिया। मुहम्मद गोरी जयचन्द को विजित कर १४०० ऊँट लूट के माल से भरवा कर ले गया।

चौहानवंशी राजाओं के राज्यकाल में जैनधर्म :

चौहान वंशी राजाओं के शासन काल में चन्द्रवाड जन-घन से परिपूर्ण एक अच्छा शहर हो गया था। आगरा से इटावा, कन्नौज और इनके आस-पास के मध्यवर्ती भूभाग पर इनका शासन रहा है। इनके समय में लव कंचुक और जैसवाल आदि जैन कुलों के श्रेष्ठी जन उनके दीवान होते थे, जो जैनधर्म के अनुष्ठाता और धर्मात्मा थे। इस कारण चन्द्रवाड और उसके आस-पास का प्रदेश जैन सत्कृति का केन्द्रस्थल बन रहा था, वहाँ जैनियों की अच्छी आबादी थी और अनेक जैन व्यापारी उच्चकोटि के व्यापार द्वारा अच्छे सम्पन्न और राज्यमान थे। अनेक जैन मन्दिरों के उन्नत शिखरों से अलंकृत वह नगर श्री सम्पन्न था।

वि० सं० १३१३ में कवि लक्ष्मण ने 'अणुवय-रयण-

४. देखो राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द दूसरा संस्करण और Shahabudin met him at chandrawar in the Etawah District near yumra and Hiving defiled his hart with the immense slaughter.
The Early history of in India P. 400.

६. देखो, मछली शहर का शिलालेख तथा ताजिलमासी हसन निजामी, तावकाते नसीरी जिल्द १ पेज ४७० नसीरुद्दीन मुहम्मद इलियट वाल्यूम १ पृ० ५४३-४४

पईव' नाम के ग्रंथ की चन्द्रवाड के चौहान वंशी राजाओं के राज्यकाल में रचकर समाप्त किया था। उसकी प्रादि अन्त प्रशस्ति में वहाँ के राजाओं और राजमंत्रियों की परम्परा का विवेचन किया गया है।

कवि लक्ष्मण या लक्ष्मणसेन ने जो स्वयं जायसवाल थे अपने ग्रंथ में चन्द्रवाड के चौहानवंशी राजाओं की परम्परा, और जैन मंत्रियों प्रादि का परिचय निम्न प्रकार अंकित किया है। भरतपाल, अभयपाल, जाहड़ और श्री बल्लाल नाम के राजा हुए। श्री बल्लाल के पुत्र आहवमल्ल थे, जिन्होंने 'रायवदिय' नामक नगर में शासन किया था। वह चन्द्रवाड का ही एक शाखा नगर था। जिसकी स्थापना वि० सं० १३१३ से पूर्व हो चुकी थी। क्योंकि जिस समय उक्त आहवमल्ल राज्य कर रहे थे, तब उनके प्रधानमंत्री लव कंचुक कुल (लमेचू) के मणि-साहू मेठ के द्वितीय पुत्र थे, जो मल्हादेवी से उत्पन्न थे, जो बड़े बुद्धिमान और राजनीति में दक्ष थे। इनका नाम कण्ह या कृष्णादित्य था। श्री बल्लाल के बाद चन्द्रवाड के राजाओं का इतिवृत्त इस ग्रंथ से ज्ञात नहीं होता। चन्द्रवाड के चौहानवंश के उक्त चार राजाओं के समय एक महत्वपूर्ण नगर के रूप में प्रसिद्ध था। उसकी महत्ता का एक कारण यह भी था कि उस समय वह व्यापार का एक केन्द्र भी बना हुआ था। बाहर के लोग चन्द्रवाड में यमुना नदी को पार करके ही आ सकते थे, और उसे नौकाओं द्वारा पार करना होता था; क्योंकि नगर यमुना नदी से घिरा हुआ था, वहाँ सैकड़ों नौकाएँ और नौका संचालक नाविक रहते थे। उनके द्वारा ही माल का आयात निर्यात होता था। बड़े-बड़े व्यापारी वहाँ बसते थे। व्यापार से खूब अर्थोपाजन होता था, उससे राज्य और जनता दोनों को अर्थ लाभ होता था। उसकी यह समृद्धि विरोधी राज्यों द्वारा ईर्ष्या और द्वेष का कारण बनी हुई थी, अतएव वह लड़ाई का क्षेत्र भी बना हुआ था। वहाँ अनेक युद्ध हुए थे, इस कारण वहाँ के लोगों को जन-घन की बहुत हानि उठानी पड़ी थी; किन्तु वहाँ का कोट (किला) अत्यन्त सुदृढ़ था, अतएव शत्रु पक्ष उस पर

७. देखो, अणुवयरयणपईव प्रशस्ति। रायवदिय नगर यमुना नदी के उत्तर तट पर बसा हुआ था और श्री सम्पन्न था। वही प्रशस्ति सं० पृ० २७।

जल्दी कब्जा करने में समर्थ नहीं हो पाता था। उक्त राजाओं के समय लमेव वंश के निम्न मंत्री हुए, जो राजनीति के साथ धर्मनीति का जीवन में आचरण करते थे। राजा भरतपाल के समय साहू हल्लण नगरसेठ के पद पर प्रतिष्ठित थे। और अभयपाल के समय उनके पुत्र अमृतपाल, जो जिन धर्मभक्त, सत्त्वयसन रहित, दयालु, परोपकारी और प्रधानमंत्री थे। राजा अभयपाल की मृत्यु के बाद उनके पुत्र 'जाहड़' नरेन्द्र के समय भी उन्होंने मंत्रित्व का कार्य कुशलता के साथ संचालित किया था। इन्होंने जिनभक्ति से प्रेरित होकर वहाँ एक विशाल जिन मन्दिर बनवाया था, जो उन्नत शिखरो, तोरणो और ध्वजाओं से अलंकृत था। यह १३वीं शताब्दी के आस-पास की घटना है। इनके बाद इनके पुत्र श्रीबल्लाल ने वहाँ शासन किया है। श्री बल्लाल के समय अमृतपाल के पुत्र साहू सेठ प्रधान मंत्री हुए। इनकी दो पत्नियाँ थी, उनमें प्रथम पत्नी से रत्नपाल का जन्म हुआ था, यह व्यापार पटु और गम्भीर प्रकृति के थे। इनकी पत्नी माल्हादेवी से कण्हड या कृष्णादित्य का जन्म हुआ था। यह धर्मात्मा विद्वान और राजनीति का पंडित था। यही रायवर्द्धि (रायभा) के राजा आहवमल्ल का प्रधान मंत्री था। यह कुटुम्ब सम्भवतः रायवर्द्धीय चला गया था। वहाँ रत्नपाल के पुत्र शिवदेव को अपने पिता की मृत्यु के बाद आहवमल्ल ने नगरसेठ बना दिया था और उसका अपने हाथ से तिलक किया था।

आहव मल्ल एक वीर शासक था। इसने मुसलमानों से युद्ध में विजय प्राप्त की थी। इसकी पट्टरानी का नाम ईसरदे था। इसने रणयभोर के राजा हम्मीर की शल्य को नष्ट किया था। यह चौहानवंश रूपी कमलों को विक-

८. ये हम्मीर वीर चौहान वंशी राजा हम्मीर है, जिनकी हठ प्रसिद्ध है और जिनका किला, दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने सं० १३५७ (सन् १३००) में चौहान राज्य को वहाँ समाप्त कर दिया था। और हम्मीर वीरगति को प्राप्त हुए थे।

पुष्पिच्छ-मिच्छरण रंग मल्ल,
हम्मीर-वीर-मण-णटु-सल्लु।

चउहणवसतामरसभाणु सुणियइ ण जासु भुयबलपमाणु ॥

—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० २८

सित करने के लिए मूर्त्य के समान था। उस समय रायवर्द्धि नगर श्री सम्पन्न और जैन सस्कृति का केन्द्र बना हुआ था, वहाँ अनेक विशाल जैन मन्दिर थे। आहवमल्ल के प्रधान मंत्री कृष्णादित्य ने रायवर्द्धि के जिनालयों का जीर्णोद्धार किया था और जिन शासन का प्रचार किया था।

विक्रम संवत् १४४५ में चन्द्रवाड में दिल्ली के भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य कवि घनपाल ने 'बाहुबली' चरित की रचना की थी। उन्होंने उसमें उससे पूर्व चन्द्रवाड की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि—'उस समय भी वहाँ चौहानवंशी राजाओं का राज्य था और उस वंश के शासक सारंग नरेन्द्र राज्य कर रहे थे'।

६. विक्रम-णरिद-अंकिय समए,
चउदह-सय-संवच्छरहि णए।
पंचास वरिस-चउ अहिय-गणि,
वइसह होसिय-तेरसि-सु-दिणि।

साई णक्खत्ते परिट्ठियई वरसिद्ध-जोग-णामें ठियई ॥
ससि वासरे रासि मयंक तुले गोलग्गे मुत्ति सुक्के सबले ॥"

—जैन ग्रंथ प्रशस्ति सं० भा० २, पृ० ७७

१०. राजा सभरी राय के बाद उनके पुत्र सारंग नरेन्द्र ने राज्य किया। सारंगदेव की मृत्यु के बाद उनके पुत्र अभयचन्द्र ने पृथ्वी का पालन किया। अभयचन्द्र के दो पुत्र थे—जयचंद और रामचन्द्र। सभरीयराय के समय यदुवशी (जैसवाल) माहु जसरथ या दशरथ मंत्री थे, जो जैनधर्म के संपालक थे। सारंग नरेन्द्र के समय उनके पुत्र गोकुल व कर्णदेव मंत्रि-पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। किन्तु राजा अभयचन्द्र और उनके पुत्र जयचंद के समय राज्य के मंत्री लव कचुक (लमेव) वंश के साहु सोमदेव मंत्री पद पर कार्य कर रहे थे। परन्तु द्वितीय पुत्र रामचन्द्र के समय सोमदेव के पुत्र साहु वासाधर मंत्रिपद पर प्रतिष्ठित हुए। रामचन्द्र ने इसी १४५४ संवत् में जयचन्द्र के बाद राज्य पद प्राप्त किया था। तथा राज्यकार्य में दक्ष और कर्तव्य परायण था, परन्तु उस समय की राजनैतिक परिस्थिति भी बड़ी भयावह थी और मुसलमान बादशाहों की निगाहें उस पर लम रही थी। ऐसे समय अपनी स्वतंत्रता कायम रखना बुद्धिमत्ता का ही कार्य है।

को संभरीराय के पुत्र थे। अतः सिद्ध है कि उस समय भी उक्त नगर समृद्ध और सुन्दर था। तथा ऊँची-ऊँची मण्डलिकाओं से सुशोभित था। तथा साहु वासाधर मंत्री पद पर प्रतिष्ठित थे, जो लब कचुक कुल (लमेव वंश) के थे और सोमदेव श्रेष्ठी के सात पुत्रों में से एक थे। उन्हीं की प्रेरणा और आग्रह से कवि ने उक्त ग्रंथ की रचना की थी। कवि घनपाल ने साहु वासाधर का परिचय देते हुए उन्हें सम्यक्त्वी, जिन चरणों का भक्त, जैनधर्म के पालन में तत्पर, दयालु, बहुलोक मित्र, मिथ्यात्व रहित और विशुद्ध चित्त वाला बतलाया है। साथ ही आवश्यक दैनिक देव-पूजादि षट्कर्मों में प्रवीण, राजनीति में चतुर और अष्ट मूलगुणों के पालन में तत्पर प्रकट किया है। वासाधर ने भी चन्द्रवाड में एक जैन मन्दिर बनवाया था, और उसकी प्रतिष्ठा भी की थी। इनकी पत्नी का नाम 'उदयकी' था, जो पतिव्रता और शीलव्रत का पालन करने वाली थी, तथा चतुर्विध सध के लिए कल्पनिधि थी। इनके आठ पुत्र थे—जसपाल, रतपाल, चन्द्रपाल, विहराज, पुण्यपाल, बाहड़ और रूप-देव। ये आठों ही पुत्र अपने पिता के समान ही योग्य, चतुर और धर्मात्मा थे। वासाधर के पिता सोमदेव श्रेष्ठी भी अभयचन्द्र और उनके पुत्र जयचन्द्र के समय मंत्री पद पर आसीन रह चुके थे। यद्यपि सोमदेव यदुवशी थे परन्तु उनका कुल 'लम्ब कंचुक' (लमेव) था। क्योंकि जैन साहित्य सदन दिल्ली की प्रति में उनके पुत्र को 'लमेव' लिखा है, जैसा कि ग्रंथ की चौथी संधि के निम्न पद्य से जान पड़ता है :—

श्री लम्ब कंचुकुल पद्मविकासभानुः,
सोमात्मजो दुरितदारु चयकृशानुः।
धर्मक साधनपरो भविभय बन्धु—
वासाधरो विजयते गुणरत्नसिन्धुः॥
—बाहुबलि चरित संधि ४.

११. जिणपाह चरणभक्तो जिणवम्म परोदया लोए।
सिरि सोमदेव तणमो णंदउ वासद्धरो णिच्च॥
सम्मत्त जुत्तो जिणपायभक्तो दयालुरत्तो बहुलोयमित्तो।
मिच्छत्त चत्तो सुविसुद्धचित्तो
वासाधरो णंदउ पुण्णचित्तो॥

—बाहुबली चरित्र सं० ३

कवि घनपाल ने अपनी ग्रंथ प्रशस्ति में सं० १४५४ से पूर्व के इतिवृत्त का भी कुछ उल्लेख किया है। और चन्द्रवाड के निम्न चौहान वंशी राजाओं का उल्लेख किया है, जिनकी संख्या ५ है। संभरीराय, सारंग नरेन्द्र, अभयचन्द्र और इनके पुत्र जयचन्द्र, रामचन्द्र। रामचन्द्र के पुत्र प्रतापरुद्र। इनमें प्रारम्भ के तीन नामों का अच्छा परिचय ज्ञात नहीं होता, अन्वेषण करने पर उस समय के साहित्य में मिल सकता है पर वह भेरे देखने में नहीं आया।

विक्रम संवत् १४५४ में अभयचन्द्र के प्रथम पुत्र जयचन्द्र के राज-काज करने का उल्लेख अवश्य उपलब्ध हुआ है। अवशिष्ट पूर्ववर्ती तीन राजाओं का राज्यकाल यदि ६० वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है तो भी इनकी सीमा १३७५ या १४०० के आस-पास होगी। तब सं० १३७५ से १४२५ तक किनका राज्य रहा, यह विचारणीय है। संभरीराय से पूर्व किसका राज्य था यह भी चिन्तनीय है। इस सम्बन्ध में अन्वेषण करने की आवश्यकता है जिससे सं० १३१३ से १४५४ तक की शृंखला का सामंजस्य ठीक बैठ जाय।

संवत् १४५४ में चन्द्रवाड में निमित्त होने वाले ग्रन्थ में कवि ने जिन राजाओं का उल्लेख किया था वह ऊपर दिया जा चुका है। हाँ सेठ का कूचा दिल्ली के बड़े मन्दिर में स्थित एक चौबीसी घातु की मूर्ति के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय अभयचन्द्र के प्रथम पुत्र जयचन्द्र का राज्य था। उसके राज्य शासनकाल में ही उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई थी^{११}। इसमें स्पष्ट है कि अभय-

१२. सथ्यसे वोऽस्तु गुणादिदेवः, सुरामुरे निमित्त पादसेवः।

यस्या बभातीतिसरोरुहाली

भगावलीवास्य सरोजलुब्धा ॥१॥

सं० १४५४ वर्षे वैशाख सुदि १२ सोम दिने श्री चन्द्रपाटदुर्गे चाहुवाणराज्ये श्रीअभयचन्द्रदेव सुपुत्र श्री जयचन्द्रदेव राज्ये श्री काण्ठासधे माथुरा-न्वये भ्राचार्य श्री अनन्तकीर्तिदेवास्तत्पट्टे क्षेमकीर्ति देवा पद्मावती पौरपाटान्वये साधु माहण पुत्र सा० देवराज भार्या पमा, पुत्राः पच—करमसीह, नरसीह, हरिसिह, वीरसिह, रामसिह एतैः कर्मक्षयार्थं चतुर्विंशतिका प्रतिष्ठाकारितः पडित मारू शुभ भवतु।
(कूचा सेठ दिल्ली बड़ा मन्दिर

चन्द्र का राज्य उससे पहले रहा है, पर वह कब से कब तक रहा है यह अभी विचारणीय है। द्वितीय पुत्र रामचन्द्र का राज्य उससे बाद में हुआ जान पड़ता है। क्योंकि विक्रम संवत् १४६८ में उनका राज्य विद्यमान था। उक्त संवत् में ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या शुक्रवार के दिन चन्द्रवाड नगर में रामचन्द्र देव के राज्यकाल में भट्टारक अमरकीर्ति का षट्कर्मोपदेश नाम का ग्रंथ लिखा गया था, और जिसे चन्द्रवाड के निवासी साहु जगसीह के प्रथम पुत्र उदयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र देल्हा के द्वितीय पुत्र अर्जुन ने अपने ज्ञानावरणी कर्म के क्षयार्थ लिखवाया था। और मूलसची गोलाराडान्वयी पण्डित असवाल के पुत्र विद्याधर ने लिखा था।

कविवर रङ्ग ने 'पुण्यासव कहाकोश' की रचना अपभ्रंश भाषा में की है। जिसमें सम्यक्त्वोपादक एवं पुण्यवर्धक कथाओं की सृष्टि की गई है। कथाएँ बड़ी रोचक हैं। इस ग्रंथ की प्रशस्ति में कवि ने चन्द्रवाड का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'चन्द्रवाड पट्टन कालिंदी (यमुना) नदी से चारो तरफ घिरा हुआ है। फिर भी वह धन-कन-कंचन और श्री से समृद्ध है। वहाँ चौहान-वंशी राजा रामचन्द्र ने अपना राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रतापरुद्र को दे दिया। प्रतापरुद्र एक वीर पराक्रमी शासक था। वीर रूपवान, गंभीर, राजनीति में चतुर और युद्ध करने में कुशल था। उसने अपनी तलवार से अनेक शत्रुओं को विजित किया था। वह शत्रुओं के लिए

१३. अथ सवत्सरे १४६८ वर्षे ज्येष्ठ कृष्ण पक्षदश्या शुक्रवासरे श्रीमच्छन्द्रपाटनगरे महाराजाधिराज-रामचन्द्रदेव राज्ये तत्र श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्री मूलसंधे गृजर (गुर्जर) गोष्ठि तिहुयणमिग्न्या साहु जगसीहा भार्या सोमा तयोः पुत्राः [चत्वारः] प्रथम पुत्र उदैसीह भार्या रतो, [द्वितीय] अर्जसिंह तृतीय पहराज चतुर्थ खाम्हेदेव। ज्येष्ठ पुत्र उदैसीह भार्या रतो त्रयाः पुत्राः ज्येष्ठ पुत्र देल्हा, द्वितीय राम, तृतीय भीखम। ज्येष्ठ पुत्र देल्हा भार्या हिरो (तयोः) पुत्रा द्वयोः ज्येष्ठ पुत्र हालु, द्वितीय अर्जुन ज्ञाना-वरणा कर्म क्षयार्थ इद षट्कर्मोपदेश लिखापितं।"

—नागौर शास्त्र भंडार

प्रलय काल के समान था, गुणग्राही अतुलित साहस और उत्साह से साम्य था।

उसी समय योगिनीपुर (दिल्ली) निवासी अग्रवाल वंशी साहु तोसड के चार पुत्रों में से प्रथम पुत्र साहु नेमिदास ने वहाँ व्यापार करके बहुत द्रव्य अर्जित किया था। तथा जिन भक्ति वंश विद्गुम (मूंगा) रत्नों और पाषाण आदि की अनेक मूर्तियों का निर्माण कराकर प्रतिष्ठित किया था और वहाँ जिनमन्दिर बनवाया था। यह उस समय चन्द्रवाड के राजा प्रतापरुद्र द्वारा सम्मानित थे। साहु नेमिदास श्रावक व्रतो के अनुष्ठाता, शास्त्रस्वाध्याय, पात्रदान और परोपकार आदि सत्कार्यों में प्रवृत्ति करते थे। उनका चित्त उदार था, और लोक में उनकी धार्मिकता और सुजनता का सहज ही आभास हो जाना है। कवि रङ्ग ने साहु नेमिदास का जयघोष करते हुए उनकी मंगल कामना की है। इन्हीं साहु नेमिदास के अनुरोध से कवि रङ्ग ने उक्त 'पुण्यासव कथाकोष' की रचना की थी। ग्रंथ का रचनाकाल विक्रम की १५वीं शताब्दी का अन्तिम चरण जान पड़ता है।

१४. बहु-विह-घाउ-फलह-विदुम-मउ,
कारावेपिणु अगणिय पडिमउ।
पतिट्टाविव सुहु अविज्जउ,
सिरि तित्थेसर गोत् नमज्जउ।
जि णह-लग सिहरु चेईहरु,
पुणु णिम्माविय ममिहरु-पह हू।
णेमिदास णामे सघाहिउ,
जं जिण संघमार-णिष्वाहिउ ॥

—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० १००

१५. णिव पयावरुद्द सम्माणउ।

—पुण्यासव कथाकोश प्रशस्ति

१६. "प्रताप रुद्र नृपराज विश्रुत-

स्त्रिकालदेवार्चन वधिता शुभा।

जैनोक्तशास्त्रामृतपान शुद्धधीः

चिरं क्षितौ नन्दतु नेमिदासः ॥३॥"

"सत्कवि गुणानुरागी श्रेयान्वित पात्रदान विधिदक्षः।

तोसड कुल नभचन्द्रो नन्दतु नित्यमेव नेमिदासाख्या ॥"

—जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भा० २ प्रस्तावना पृ० १०१

संवत् १५११ में पण्डित धर्मधर ने 'दत्तपल्ली' में, जो इक्ष्वाकुवंशी गोलाराडान्वयी साहु महादेव का प्रपुत्र और आशापाल तथा हीरादेवी का पुत्र था। सस्कृत भाषा में दो ग्रन्थ बनाये थे। इसके दो भाई और भी थे, विद्याधर और देवधर^{१०}। यह मूलसंघ सरस्वतीगच्छ के भट्टारक पद्मनन्दी, शुभचन्द्र और जिनचन्द्र का अनुयायी था। यह सस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान और कवि था। इन्होंने सबसे पहले 'श्रीपाल चरित' की रचना की। और बाद में सं० १५११ में 'नागकुमार चरित' की रचना दत्तपल्ली नगर के निवासी साहु नल्लू की प्रेरणा से की, जो चन्द्रवाड का एक शाखा नगर था^{११}, और वहाँ पर चौहान वंशी राजा का राज्य था। साहु नल्लू के पिता का नाम घनेश्वर था, उस समय वहाँ भोजराज का पुत्र माधवचन्द्र राज्य कर रहा था। उक्त घनेश्वर या घनपाल उनका मंत्री था। नागकुमार चरित की प्रशस्ति में राजा रामचन्द्र के तीन पुत्रों का उल्लेख है^{१२}। प्रताप-

१७. इक्ष्वाकु वंश सम्भूतो गोलाराडान्वयः सुधीः ।

महादेवस्य पुत्रोऽभूदाशापालोबुधः क्षितौ ॥४४

तद्भार्या शील संपूर्णा हीरानाम्नेति विभ्रुता ।

तत्पुत्र त्रितय जातं दर्शनज्ञानवृत्तवत् ॥४५

ज्येष्ठो विद्याधरः ख्यातः सर्वविद्याविशारदः ।

ततो देवधरः जातस्तृतीयोद्धर्मनामकः ॥

—देखो, नागकुमारचरित प्रशस्ति 'अनेकान्त वर्ष

१३ कि० ६ पू० २३० ।

१८. चन्द्रपाट समीपेऽस्ति दत्तपल्ली पुरी पुरा ।

राजते कलावल्लीव वाञ्छितार्थ प्रदायका ॥

—नागकुमारचरित पु० ६

१९. श्री रामचन्द्रो जितवक्रचन्द्रः,

स्वगोत्र पाथोनिधि वृद्धिचन्द्रः ।

विपक्ष पकेरुह वृन्दचन्द्रो,

जातो गुणज्ञोऽभयचन्द्रपुत्रः ॥३॥

श्रीमत्प्रतापनृपतिस्तनयस्तदीयो,

ज्येष्ठो नराधिपगुणैरञ्जुलो विनीतः ।

नातः सुरैः सकलसौख्ययुतं स्वलोकं,

ज्ञात्वा गुणाधिकमिमं कमनीयकान्ति ॥७

रुद्र, अभयचन्द्र, और रणवीर सिंह। साहु नल्लू ने चन्द्रवाड के जिनालय का जीर्णोद्धार कराया था^{१३}। और चतुर्विध संघ को दान दिया था और पूजा की थी। वह गुणानुरागी बुद्धिमान और शास्त्र का ज्ञाता था। घनेश्वर के पुत्र साहु नल्लू की प्रेरणा से कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

चन्द्रवाड की श्रीवृद्धि प्रतापरुद्र के समय में ही बिगड़ने लगी थी। सं० १४६४ में खिजरखाने ने इस पर अधिकार कर लिया था और भो गाँव के राजा से खिराज वसूल किया था।

सं० १४६१ में हसनखा खोदी ने उसे अपनी जागीर बनाया, किन्तु सैयदों ने उसका अधिकार नहीं होने दिया। बाद में राजा प्रतापरुद्र को, जो एकजागीरदार था चन्द्रवाड, भोगाँव और मैनपुरी की जागीर स्वीकृत की। रपरी और इटावा कुतुब खान की जागीर में रहे। मुसलमानों के शासनकाल में चन्द्रवाड की स्थिति अत्यन्त विषम हो गई, और कुछ समय के उपरान्त चन्द्रवाड श्री विहीन हो गया।

मुस्लिम शासनकाल में चन्द्रवाड

मुस्लिम शासनकाल में चन्द्रवाड का किला अपनी मजबूती के लिये प्रसिद्ध था। वहाँ चौहान वंशज क्षत्रिय राजाओं की मुस्लिम शासकों से कई बार मूठभेड़ हुई थी। उनके आक्रमण के कारण वहाँ क्षत्रियों का शासन प्रायः समाप्त हो गया था। फिर भी शासन उन्हीं का चलता रहा, जागीरदार के रूप में भी उनके शासन का उल्लेख मिलता है।

सन् १३८६ (वि० सं० १४४६) में मुलतान फिरोज

तस्यानुजः श्रीरणवीर नामा,

भुक्ते महाराजपदं हतारिः ।

श्रीमत्सुमश्रीश्वररायतासे,

भ्रात्रा सम नदतु सर्वकालं ॥८॥

—नागकुमार चरित प्रशस्ति

२०. श्रीचन्द्रपाट पुरवर जिनालयस्याऽऽस्य जीर्णतोद्धारणः ।

येनाऽकारि सुभद्र स सर्वदानं दत्ताग्रतः ॥

—नागकुमार चरित्र ७वीं संधि पत्र ३१

शाह तुगलक ने 'हतिकान्त' पर हमला किया था, उस समय 'हसनखा' नाम का एक अफगान लोदी रपरी का अधिकारी बन बैठा था, और वही वरायनाम चन्द्रवाड का भी जागीरदार कहलाने लगा। तुगलक शाह ने जो फतेहखां का पुत्र और फीरोजशाह का पोता था, चन्द्रवाड को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। उस समय यहाँ के राजा ने भागकर अपनी रक्षा की थी, उसका नाम सावंतसिंह था। जो चन्द्रसेन का पुत्र था। उस समय तो वह किसी तरह बच गया; किन्तु उसने कुछ ही समय बाद बड़ी भारी कौज के साथ पुनः घेर लिया, और उसे बर्बाद किया। कहा जाता है कि उसी समय चन्द्रप्रभ भगवान की स्फटिक मणि की एक सुन्दर मूर्ति यमुना नदी की बीच धारा में डाल दी गई थी। यह मूर्ति बड़ी सातिशय थी और जो बाद को यमुना नदी के प्रवाह से बाहर निकाली गई थी। जो उस समय फिरोजाबाद के अट्टा के मन्दिर में विराजमान की गई थी। सन् १४८४ में खिजरखां ने इसे अपने अधिकार में कर लिया और भोगांव के राजा से खिराज वसूल किया।

सं० १४९१ में हसनखां लोदी ने चन्द्रवाड को अपनी जागीर बनाया, किन्तु सैयदों ने उस पर अधिकार नहीं होने दिया। पश्चान् राजा प्रतापराय या प्रतापरुद्र को, जो जागीरदार था। चन्द्रवाड, भोगांव, मैनपुरी की जागीरे, और रपरी, इटावा की जागीर कुतुब खां को मंजूर की।

जब सुलतान बहलोल लोदी का जोनपुर के नवाब से युद्ध हुआ, उस समय गडबडी में कुल्बखां रपरी का जागीरदार नियत किया गया। तब चन्द्रवाड और इटावा भी उसके अधिकार में रहे थे। सन् १४८७ (वि. सं. १५४४) में बहलोल लोदी ने रपरी में जोनपुर के बादशाह हुसेनखा को हराया था। अनन्तर सिकन्दर लोदी ने सं० १५४६ में (सन् १४८९) में चन्द्रवाड और इटावा की जागीरें अपने भाई शालमखां को प्रदान कर दीं। परन्तु वह उससे रुष्ट हो गया और उसने बाबर को बुला भेजा; किन्तु चन्द्रवाड में उसे हुमायूँ ने पराजित कर दिया, यह परिस्थिति राणा सांगा से सहन न हुई और उसने मुसलमानों पर आक्रमण कर दिया और मुगलों का अधिकार चन्द्रवाड

और रपरी पर हो गया। पर यह सब क्षणिक था। शेरशाह ने हुमायूँ को पराजित कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। उस समय प्रजा में कुछ जोश आया और अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये उसने विद्रोह कर दिया। किन्तु शेरशाह १२००० घुडसवार हिन्द सरकार से लाकर हतिकान्त में रहा और उसने अपना अधिकार अक्षुण्ण बनाये रखा। उसने इस देश में सड़कें तथा सराय बनवाईं। अकबर के समय रपरी और चन्द्रवाड के प्रदेश सूबा आगरा में मिला लिये गए।

इस तरह चन्द्रवाड आदि की परिस्थिति विषम होता गई और वह अपनी खोई हुई श्री सम्पन्नता को फिर नहीं पा सका, और आज वह खण्डहरों के रूप में अपनी पूर्व जीवन गाथा पर आसू बहा रहा है, वहाँ जैनियों के अनेक विशाल मन्दिर थे, जो भूगर्भ में अपनी श्री सम्पन्नता को दबाये हुए सिसकियाँ ले रहे हैं, वहाँ आज भी भूगर्भ में अनेक मूर्तियाँ दबी पड़ी हैं। खुदाई होने पर जैन कीर्तियों के प्रचुररूप में मिलने की संभावना है, साथही जैनैतर सामग्री भी प्रचुर मात्रा में मिल सकती है। खुदाई में ऐतिहासिक सामग्री का मिलना संभव है। वहाँ एक जीर्ण मन्दिर अवशिष्ट था, जिसका जीर्णोद्धार फिरोजाबाद पंचायत ने कराया था, उसमें इस समय कोई जैन मूर्ति नहीं है किन्तु मेले के समय मूर्ति फिरोजाबाद से ले जाई जाती है।

इस सब विवेचन पर से स्पष्ट हो जाता है कि आगरा और रुहेलखण्ड में चन्द्रवाड, इटावा, हतिकान्त, रपरी, असाईखेड़ा, करहल, मैनपुरी और भोगांव आदि स्थान उत्तर भारत की जैन सस्कृति के प्रमुख केन्द्र थे। ये स्थान जहाँ चौहान वंश की उज्ज्वलता के प्रतीक हैं वहाँ जैन सस्कृति के अतीत गौरव की भाँकी प्रस्तुत करते हैं। ★

देखो भूगोल का संयुक्त प्रान्त अक, भूगोल कार्यालय इलाहाबाद।

Atken: on 'Statistical description and Historical Account of the N. W. P. S. of India Vol. IV, P.T. P. 373-375.

हिन्दी भाषा का महावीर साहित्य

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

वीर निवाण संवत् २५१८-५१ तक चला और १० वर्ष में भी कम समय पश्चात् चित्र प्रतीक्षित २५००वाँ निवाण संवत् प्रारम्भ हो जावेगा। इस अवसर पर २५००वे निवाण महोत्सव तक उनके जीवन से सम्बन्धित जितना भी साहित्य है उसके प्रकाशन की योजना विचारणीय है। भगवान महावीर के जीवन पर मस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी तीनों ही भाषाओं में विभिन्न कवियों ने चरित काव्य, पुराण एवं रास काव्य लिखे हैं। गीत एवं स्तवन लिख कर उनका यशोगान गाया गया है और इसी तरह कथा, चौपाई, बतौसी, छत्तीसी, चौडाल्या एवं अष्टक के माध्यम से उनके जीवन की विभिन्न दृष्टियों से आका गया है। लेकिन दुःख इस बात का है कि हमारे इन प्राचीन कवियों की अधिकांश रचनाएँ अभी शास्त्र भण्डारों की शोभा बढा रही हैं और अपनी दुर्दशा पर आसू बहा रही हैं। क्योंकि इनके निर्माताओं ने जब इनकी रचना की होगी तो उनके हृदय में कितना उमंग और उत्साह होगा उसकी कल्पना एक कवि हृदय ही कर सकता है। भगवान महावीर के चरणों में उन्होंने स्थायी श्रद्धाजलि समर्पित की थी लेकिन हम स्वयं उनकी कृतियों का मूल्यांकन नहीं कर सके और न दूसरों को ही उसके मूल्यांकन करने का अवसर प्रदान किया।

अभी जब भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से भगवान महावीर से सम्बन्धित सभी काव्यों के प्रकाशन की योजना सामने आयी तो पहिले यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि देश के विभिन्न भण्डारों में जितने काव्य पुराण अथवा चरित सज्जक रचनाएँ हैं उनका कम से कम परिचय तो प्राप्त कर लिया जावे जिससे उनके प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया जा सके। इस दृष्टि से राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूचियों के चार भागों को देखा गया। ग्रन्थ सूची पाँचवा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। यह भाग सारे देश में अब तक प्रकाशित होने

नहीं। ग्रन्थ भण्डारों के पुचीपत्रों में सारा यह सूचीपत्र होगा। जिसमें एक ही भाग में २० हजार से भी अधिक ग्रन्थों का विवरण दिया गया है। राजस्थान के इन विभिन्न दिगम्बर शास्त्र भण्डारों में भगवान महावीर के जीवन पर अब तक जो काव्य उपलब्ध हुए हैं उनमें सबसे अधिक काव्य हिन्दी भाषा में निबद्ध है। वैसे संस्कृत भाषा में अब तक जिन रचनाओं की उपलब्धि हो चुकी है उनके नाम निम्न प्रकार हैं।

१. वर्द्धमान चरित	महाकवि अशग
२. वर्द्धमान पुराण	भट्टारक सकलकीर्ति
३. वर्द्धमान चरित	मुनि विद्याभूषण
४. वर्द्धमान चरित	मुनि पद्मनन्दि

अपभ्रंश भाषा की अब तक जो रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं उनका परिचय निम्न प्रकार है।

१. महावीर चरित	पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश भाषा के महापुराण में से संकलित
२. वड्डमाणचरित	जयमित्रहल
३. वड्डमाणचरित	श्रीधर
४. मन्मति जित चरित	रङ्ग
५. वड्डमाण चरित	नरसेन

उक्त पाँचों काव्य विभिन्न विद्वानों द्वारा सम्पादन किये जा रहे हैं जिनमें से महावीर चरित का सम्पादन डा० हीरालाल जी जैन कर रहे हैं। यह चरित काव्य सचित्र प्रकाशित होगा। जयमित्रहल कृत वड्डमाणचरित का सम्पादन डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री द्वारा कर रहे हैं। डा० राजागम जैन श्रीधर कृत वड्डमाणचरित पर कार्य कर रहे हैं और नीमच के डा० देवेन्द्र कुमार नरसेन कृत वड्डमाणचरित का सम्पादन कार्य प्रायः समाप्त कर चुके हैं। इन सभी विद्वानों को महावीर साहित्य शोध विभाग की ओर से पाण्डुलिपियाँ भेजी जा चुकी हैं।

सन्मतिजिन चरित्र पर संभवतः डा० राजाराम जैन पहिले ही कार्य कर चुके हैं और इसका प्रकाशन संभवतः रईस ग्रन्थावली में हो सकेगा ।

हिन्दी भाषा में १७वीं शताब्दी से ही भगवान महावीर के जीवन पर रचनाएँ लिखी जाने लगी थीं जो हिन्दी भाषा भाषी जनता में महावीर स्वामी के जीवन एवं उनके सिद्धान्तों के प्रति उत्सुकता का द्योतक है । यद्यपि हिन्दी रचनाओं में संस्कृत एवं अपभ्रंश काव्यों के समान उच्चस्तरीय काव्य रचना की जा सकी; क्योंकि हिन्दी कवियों का काव्य रचना का उद्देश्य सदैव सरल एवं सरस काव्यों को लिखना रहा है इसलिए वे पत्रकारिक भाषा एवं काव्यगत विशेषताओं की परवाह किये बिना ही काव्य रचना करते रहे हैं । फिर भी उनकी रचनाओं में हमें काव्यगत सभी तत्त्वों की उपलब्धि होती है । हिन्दी भाषा में अब तक जो रचनाएँ मिली हैं वे निम्न प्रकार हैं ।

१. महावीर नी विनती भट्टारक शुभचन्द्र
२. महावीर छंद " "
३. महावीर नी रास पद्मा रचना सं० १६०६
४. वर्द्धमान रास कुमुदचन्द्र १७वीं शताब्दी
५. वर्द्धमान रास वर्द्धमान कवि
रचना सं० १६६५
६. वर्द्धमानपुराण नवलशाह रचना सं० १८२५
७. वर्द्धमान चरित केजरीसिंह र. सं० १८०७
८. वर्द्धमान सूचनिका बुधजन १९वां शताब्दी
९. महावीर गीत भ. रतनकीर्ति १७वीं शताब्दी
१०. महावीर रास जिनचन्द्र सूरि
११. महावीर पुराण मनसुख सागर १८वीं शताब्दी

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त भगवान महावीर के जीवन पर गीत एवं स्तवन के रूप में और भी कितनी ही रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं जिनमें विनयचन्द्र, सकलचन्द्र, वादिवन्द्र विजय मंत्र : सं० १७२३ एवं समयसुन्दर के स्तवन उल्लेखनीय हैं । ये सभी हिन्दी पद्य में हैं जो काव्यगत विशेषताओं से परिपूर्ण हैं तथा भाषा एवं शैली की दृष्टि से सभी अच्छी रचनाएँ हैं लेकिन अभी तक उनमें एक भी रचना का प्रकाशन नहीं हो सका है ।

हमारा विचार है कि इन ग्रन्थों को तीन भागों में प्रकाशित करने की योजना है । क्योंकि ४-५ रचनाओं को छोड़कर शेष सभी रचनाएँ छोटी हैं और उनका तीन भागों में अच्छी तरह प्रकाशन किया जा सकता है ।

उक्त बारह कृतियों में महावीर नी रास प्रथम रास काव्य है । जिसमें भगवान महावीर के जीवन पर विस्तार से काव्य शैली में वर्णन मिलता है । पाण्डुलिपि में ६५ पृष्ठ हैं तथा उसका लेखन काल सं० १८६१ है । इसका रचना काल सं० १६०६ है । पद्मा कवि हिन्दी के अच्छे विद्वान थे तथा भट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य थे । रास की रचना कवि ने सागवाड़ा नगर में की थी ।

संवत् सोलनवोत्तरे मार्गसिर पंचमी रविवार ।

रास कीयो में नीरमलो, श्रुत सागवाड़ा नगर मझार ॥२०॥

वर्द्धमानकवि कृत वर्द्धमान रास सं० १६६५ की रचना है इस प्रति में २३ पृष्ठ हैं तथा इसकी एक प्रति उदयपुर के शास्त्र भट्टारक में संग्रहीत है । काव्य की दृष्टि से यह भी अच्छी रचना है । वर्द्धमान कवि ब्रह्मचारी थे और भट्टारक वादिभूषण के शिष्य थे ।

संवत् सोल पा[पे]सठि मार्गसिर सुदि पंचमी सार ।

ब्रह्म वर्द्धमान रास रच्यो ते साभलो तहमे नरनारि ॥

तीसरी महत्त्व पूर्ण रचना नवलशाह कृत वर्द्धमान पुराण की है । जो प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित होकर मुरत से छप चुका है । इसमें कवि ने सं० १६६१ के अग्रहन मास में अपने पूर्वजों द्वारा बनवाए जाने वाले जिन मंदिर की प्रतिष्ठा का उल्लेख किया है । उस प्रतिष्ठा में साहू भीषम को 'सिधई' पदवी प्रदान की गई थी । उस समय वहां बुंदेलखंड के राजा वीरसिंह के सुपुत्र राजा जुझारसिंह का राज्य था । इस घटना क्रम का उल्लेख निम्न पद्य में किया है—

सोरहसं इक्याणवे अग्रहन शुभ तिथि वार ।

नृप जुझार बुंदेल कृत जिनके राज मझार ॥

इस ग्रंथ को कवि ने प्रतिष्ठा स. से १७४ वर्ष बाद सं० १८२५ चैत्र शुक्ला पूर्णिमा बुधवार के दिन प्रातः काल में पूर्ण किया है । यह वर्द्धमान पुराण भ० सकल कीर्ति के वर्द्धमान पुराण के अनुसार रचा गया है । इसकी यह

विशेषना है कि उसे पिता-पुत्र ने बनाया था ग्रंथ का रचना काल कवि के शब्दों में निम्न प्रकार है—

ऊर्जयति विक्रम नृपति सवत्सर गति तेह ।
सत् अठार पच्चीस अधिक, समय विकारी एह ॥३२
द्वादश में सूरज ग(गि)नो, द्वादश अंशहि ऊन ।
द्वादशमो मासहि भनो, शुक्ल पक्षतिथि पूर्ण ॥३३
द्वादश नखत बखानिये, बुद्धवार वृधि जोग ।
द्वादश लगन प्रभात में श्री दिन लेख मनोग ॥३४
ऋतु वसत प्रफुल्ल अति, फागु समय शुभ होय ।
वर्द्धमान भगवान गुन, ग्रंथ समापति कोय ॥३५

भ० कुमुदचन्द्र का वर्धमान रास भी एक लघु कृति है। लेकिन भाव भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह एक प्रबन्ध काव्य है। कुमुदचन्द्र हिन्दी के अच्छे विद्वान थे और उनकी अब तक बहुत सी रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं और यह उन ही कृतियों में से एक नवोपलब्ध कृति है।

केशरीसिंह कृत वर्द्धमान चरित भी उसी की एक रचना है। जिसका निर्माण काल सं० १८७३ है। केशरी-सिंह जयपुर नगर के कवि थे और उनका साहित्य केन्द्र जयपुर नगर का लश्कर का दिगम्बर जैन मन्दिर था। केशरीसिंह कृत यह पुराण मूलतः भट्टारक मकल-कीर्ति कृत वर्द्धपुराण की भाषा वचनिका है। यह रचना बालचन्द्र छावड़ा के पीत्र ज्ञानचन्द्र के आग्रह पर की गई थी। इसकी भाषा दौलतराम कासलीवाल की गद्य कृतियों जैसी हैं कवि ने टीका के रचना काल का निम्न प्रकार उल्लेख किया है।

सवत् अष्टादश शतक और त[ति]हत्तर जानि ।
सुकल पक्ष फागुन भलो, पुष्य नक्षत्र महान ॥२१॥
शुक्रवार शुभ द्वादशी पूरन भयो पुरान ।
बाचो सुनें जु भव्य जन पावें गुन अमलान ॥२२॥

बुधजन कृत वर्द्धमान सूचनिका एक लघु कृति है। जिसमें भगवान महावीर का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसका रचना काल सं० १८६५ है। इसकी दसपत्र वाली एक प्रति जयपुर के एक शास्त्र भंडार में संग्रहीत है। जिनचन्द्र मूरि के महावीर रास की सूचना डा० राजाराम जी जैन द्वारा प्राप्त हुई है। इस रास की प्रति

यहाँ उपलब्ध है। इसके बारे में सूचना एकत्रित की जा रही है।

मनसुख सागर कृत महावीर पुराण कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है किन्तु शिखर महात्म्य भाषा का ही अन्तिम अध्याय है। इस अध्याय में ६६ पद्य हैं इसका प्रारम्भिक अंश निम्न प्रकार है।

सुमति सदन भव करन मदन कर,
सिद्धारथ जनक सुहारक वरन है ।
असला सुमात गात उन्नत धनुष सात,
वरस वहलरि सुक्षिति जु धरेन है ।

पंचानन चिन्ह पर कुंडलपुरि विख्यात,
अंसी महावीर शिव सपत्ति करन है ।

मनसुख उदधि निहार काल पंचम में,
और कोहि मांहि जिन चरन शरण है ॥

दोहा—सन्मति सन्मति देत है पसम पसम रस लीन ।

सरम सरम अनुभूति उत, धर्म सुधर्म प्रवीन ॥२

महावीर के चरित को अलप कथन मनधारि ।

सुनि श्रेणिक गौतम कहै, मनवांछित दातार ॥३

मनसुख सागर लोहाचार्य के पट्ट के भट्टारक मटीचन्द्र की परम्परा में होने वाले भट्टारक गुलाबकीर्ति के प्रशिष्य एवं ब्रह्म सतोष सागर के शिष्य थे। रचना वाल का स्पष्ट उल्लेख नहीं है; क्योंकि रचनाकाल वाले पद्य में एक शब्द कम है।

भट्टारक शुभचन्द्र कृत महावीर नां विनगी का एक स्तवन है जिसमें भगवान महावीर का स्तवन किया गया है। महावीर छन्द भी इसी तरह की एक लघुकृति है जिसमें महावीर के गर्भ कल्याण का वर्णन किया गया है। १६ स्वप्नों का अच्छा वर्णन किया गया है। छन्द की भाषा संस्कृतनिष्ठ है।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित और भी कृतियाँ मिल सकती हैं लेकिन इनके सम्बन्ध में राजस्थान, मध्यप्रदेश, देहली, आगरा एवं अन्य प्रदेशों की छानबीन के पश्चात् ही कोई निश्चित मत पर पहुँचा जा सकता है। उपलब्ध रचनाओं का विस्तृत एवं तुलनात्मक अध्ययन शीघ्र ही किसी अन्य लेख में प्रस्तुत किया जावेगा।

जैन कला में प्रतीक तथा प्रतीकवाद

मूल लेखक : ए० के० भट्टाचार्य

अनुवादक : डा० मानसिंह एम. ए. पी-एच डी.

बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण-धर्म की भाँति जैनधर्म में किसी अप्रतिमात्मक प्रतीक को कदापि विशुद्ध जैविक तथा उस पुरुष अथवा वस्तु की समता का कार्य नहीं करने दिया जाता जिसका कि वह प्रतीक है। मानव मस्तिष्क ने परम देव के विषय में उसकी नितान्त समता के रूप में नहीं प्रत्युत बहुत प्राचीन काल से ही अप्रतिमात्मक निरूपणों के रूप में विचारना सीखा। तथापि इन अप्रतिमात्मक निरूपणों के ऐसे अर्थ एवं अभिव्यञ्जनाएँ थी जो उन्हें विशुद्धतः अलङ्कारात्मक अथवा कलात्मक रूपों से भिन्न करती थी। उनका प्रभाव नेत्र के भौतिक व्यापार की अपेक्षा बुद्धि पर अधिक होता है। भारतीय धार्मिक, अथवा अधिक उचित रूप में ईश्वरपरक विचारों में इस प्रतीकात्मक आराधना का इतिहास ऐसा इतिहास है जो स्वयं धार्मिक परम्परा जितना प्राचीन है। “रूप-भेद” अर्थात् प्रतिमाशास्त्र, जो पुरुषविध निरूपित प्रतिमाओं का अध्ययन करता है, एक सर्वथा पाश्चात्कालिक विकास है।

पुराकालिक बौद्ध साहित्य में हम स्वयं बुद्ध के मुख के माध्यम से निसृत ऐसे कथन पाते हैं जिसमें पुरुषविध प्रतिमाओं के प्रति अनभिष्टि अभिव्यक्त की गई है। उसी प्रसङ्ग में अनुमत चेतिय इस प्रकार का है कि जिसे सुविधापूर्वक “सम्बद्ध” प्रतीकों के वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। वे भगवान् (बुद्ध) के दृष्टिगत न होने की स्थिति में उनके स्थानापन्न पदार्थों के रूप में प्रयुक्त करने के लिए हैं। ये सम्बद्ध प्रतीक फिर भी बौद्ध कला में एक विशेषता हैं, जिसके लिए जैनधर्म में हमारे पास कोई ठीक सादृश्य नहीं है। जैनों द्वारा अपनी पाण्डुलिपियों तथा धार्मिक मूर्तिकला में प्रयुक्त प्रतीकात्मक निरूपण अधिक या कम कभी-कभी अकेले ही, कभी-कभी वर्गबद्ध रूप में पवित्र पूजा-पदार्थों के स्वरूप के हैं। उपर्युक्त

कथनों के बल पर बुद्ध द्वारा अपनायी गई समझी जाने वाली मूर्ति विरोधी प्रवृत्ति पर भी केवल प्रारम्भिक बौद्ध कला में प्रतिमात्मक निरूपण की स्वल्पता तथा परवर्ती कालों में इसकी बहुलता को न्याय्य रूप में प्रस्तुत करने के लिए ही प्रयुक्त की गई है। तथापि विद्यावदान में एक बौद्ध मूर्तिपूजक की स्थिति स्पष्टतः बतलाई गई है कि वह प्रतिमा के लिए नहीं प्रत्युत इसमें निहित सिद्धांतों के लिए मूर्ति-पूजा करता है। हिन्दुओं तथा बौद्धों की भाँति, मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में जैन लोगों की भी अपनी विचारधारा है। उनके अनुसार मूर्तियों की प्रतिष्ठा अधिकांशतः इसलिए नहीं की जाती चाहिए कि वे वास्तविक अवतारों, तीर्थङ्करों तथा देवकुल के अन्य देवों का निरूपण करती हैं बल्कि प्राथमिकतया इसलिए कि उनमें दिव्य गुणों के सर्वाधिक सत्य तत्त्व के ध्यान की खोज की जा सकती है। इन भौतिक पदार्थों में दिव्य गुणों को अभिव्यक्त रूप में खोजा जाता है, जिससे इन रूपों पर ध्यान करने से आराधकों के मन में दिव्य उपस्थिति के प्रभाव का अनुभव हो सके। उन दिव्य गुणों के साहाय्य में प्रशमन से भिन्न जिनका कि वे निरूपण करती हैं इन मूर्तियों की पूजा का कोई अर्थ नहीं है। इसी भावना का अनुसरण करके हम किसी जलाशय अथवा निवास-भवन के अधिष्ठातृ देव की धारणा के सच्चे महत्त्व को समझ सकते हैं। इस प्रकार यही कारण है कि एक तीर्थङ्कर की प्रतिमा की कल्पना उस पदार्थ के रूप में की जाती है जो उन सभी गुणों के समुच्चय का निरूपण करता है अथवा उन्हें अभिव्यक्त करता है जिनकी कल्पना हम अधिकतम स्वाभाविक रूप में एक धर्मदाता अथवा धर्म-निर्माता या कृपा करने—एक तीर्थङ्कर में कर सकते हैं, जिसके फल स्वरूप यह उस व्यक्ति के प्रति आदर-भावना को प्रेरित करती है जिसका कि यह निरूपण करती है। यह कहा

गया है कि प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा पदार्थ के माहात्म्य तथा प्रभाव की मान्यता को अभिव्यञ्जित करने वाले (पवित्रीकरण के) उत्सव के अतिरिक्त कुछ नहीं है (प्रतिष्ठा नाम दोहनं वस्तुनश्च प्राधान्यमन्यवस्तुहेतुकं कर्म)। एक यति उस समय प्रतिष्ठित कहा जाता है जबकि वह एक आचार्य की प्रवस्था में प्रविष्ट हो जाता है, एक ब्राह्मण वैदिक मन्त्रों के अध्ययन से प्रतिष्ठित होता है। एक क्षत्रिय अपनी शासकीय गरिमा में प्रवेश करने से, एक वैश्य व्यापार-वृत्ति में प्रविष्ट होने से, एक शूद्र शासकीय कृपा का प्राप्तकर्ता होने से और एक कलाकार उनमें प्रधान रूप से माने जाने से, और वे इस मान्यता के अवसर पर माथे पर लगाये गये तिलक आदि द्वारा पूजित होते हैं; इससे यह अभिव्यञ्जित नहीं होता कि ये चित्त स्वयं सम्बन्धित व्यक्ति अथवा पदार्थ पर कोई भौतिक प्रभाव डालते हैं प्रत्युत वे इस मान्यता के प्रतीक हैं तथा उन्हें दार्शनिक रूप से सङ्गत मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में, प्रतिष्ठा जिनकी गुणगान का न्यास या दान अथवा बिना किसी रूप के इसका ध्यान है। इस प्रकार की स्थिति में या तो जिन का शरीर ही गुणसमुच्चय में निमग्न कर दिया जाता है या गुणदेव के व्यक्तित्व को अतिश्रान्त कर जाना है। इसी प्रकार किसी रूप से युक्त या रहित (घटितस्याघटितस्य), पत्थर आदि में से खुदी हुई तथा जिन, जिव विष्णु, वृद्ध चण्डी, क्षेत्रपाल आदि के नामों से अभिहित प्रतिमाओं की पूजा केवल उनमें कल्पित देवत्व के सम्निवेश के कारण ही की जाती है। भवतपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक बर्गों के देवों के इस प्रकार अपने दिव्य स्थायित्व से युक्त रूप में माना गया है, जो इन प्रतिमाओं में व्यक्त किया गया है। और इसी प्रकार सिद्धों, अर्हत्तों आदि की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तथा गृह्य जलाशयों तथा कुओं के पवित्रीकरण तक में ऐसी वस्तु जिस पर बल देना अभिप्रेत होना है सम्बद्ध देवों के दिव्य गुणों अर्थात् विभूतियों की अभिव्यक्ति है, इन प्रतिमाओं में तथा इनके माध्यम से उनका वास्तविक अवतार नहीं। किसी रूप से युक्त अथवा रहित पदार्थ को तब ही किसी व्यक्ति या किसी देव का प्रतिनिधि माना जाता है जबकि हम इसे उसके गुणों से युक्त

माने, जैसा कि इसे उसके साथ प्रतिष्ठित करने के बाद मूर्तियों से विदित होता है। यह स्थापना (न्यास) ही प्रतिष्ठा है (तुलना कीजिए, (श्रुतेन सम्यग्ज्ञातस्य व्यवहारप्रसिद्धये स्थाप्यस्य कृतान्तोऽन्तः स्फुरतो न्यासगोचरे साकारे वा निराकारे विधिना यो विधीयते न्यासस्तदिव-मुक्त्वा प्रतिष्ठा स्थापना च सा)। यह सिद्धान्त जैन धर्म के अन्तर्गत नरदेवों के सिद्धान्तों से पूर्णतया सङ्गत है, क्योंकि उच्चतम देव जिन मुक्त मानव हैं तथा वे पत्थर या लकड़ी के टुकड़े में अवतरित नहीं हो सकते, जैसा कि उदाहरण स्वरूप, आत्मिक हिन्दू धर्म के विष्णु शिव आदि की कल्पित अतिमानवीय शक्तियाँ से युक्त संवत्सा दिव्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में सम्भव है। दोनों पद्धतियों में वही मूलभूत भेद है, जिसे जैन प्रतिमाओं के प्रतिमा-विज्ञान के किसी भी अध्ययन में मानना आवश्यक है। जैन धर्म की तर्कयुक्तता यह संकेत करने तक आगे बढ़ जाती है कि स्वयं आकाश या भूभावात या विद्युत् में ब्राह्मणधर्मीय अर्थ में देवत्व विद्यमान नहीं है प्रत्युत प्राकृतिक अथवा वैज्ञानिक स्वरूप ही उपरिवर्णित वस्तुओं में सम्बद्ध क्रिया-कलापों के लिए उत्तरदायी है। वायु में विद्यमान कुछ निश्चित स्थितियों (अन्तरिक्षत्वम्) के कारण ही वर्षा होती है, इससे सम्बद्ध की जाने वाली योग्य किन्हीं दिव्य शक्तियों के कारण नहीं। अतएव यह कहना मिथ्या है कि “आकाशः देवः”, “गर्जनं तथा भूभावात का देवः”, “विद्युद्देवः”, “वर्षा करने वाला देवः” आदि है, तथा किसी श्रमण अथवा श्रमणी को ऐसे वचन का परिहार करना चाहिए, किन्तु कोई भी व्यक्ति इसकी अपेक्षा यह कहगा कि “वायुः गृह्य का अनुवायी : एक मेघ एकत्रित हो गया है अथवा नीचे उतर आया है।”

पुरुषविध निरूपण से युक्त ईश की प्रतिमा फिर भी जैन-परम्परा में बहुत प्राचीन है। खार्वेल के अभिलेख में एक जैन प्रतिमा का सकेत नन्दों के युग तक के प्राचीन समय में तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जैसा कि कल्पसूत्र में उल्लिखित है, कुछ पशुओं तथा देवों की प्रतिमाएँ पर्दे पर चित्रित कही गई हैं। अन्तर्गडसाओसूत्र में उल्लिखित है कि सुलस ने हरिर्ण-गमेसिन् देव की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की तथा वह नित्य

प्रति उसकी पूजा किया करता था। सम्भवतः जैन धर्म में उपलब्ध सर्व प्राचीन प्रतिमा का समय कुषाण-काल है, यद्यपि हमारे पास तीर्थङ्करों का निरूपण करने वाली दिगम्बर मूर्तियों का एक जोड़ा है जो मौर्य युग से सम्बद्ध किया गया है। तथापि, प्रतीकवाद अथवा पूजा-पदार्थों के प्रतीकात्मक निरूपणों अथवा कभी-कभी विशुद्धतया लौकिक महत्त्व से युक्त पदार्थ अथवा उन पदार्थों तक के विषय में जिनकी पृष्ठभूमि में केवल एक वैज्ञानिक कारणा निहित है, यह कहा जा सकता है कि जैन कला रूढ़ियों में उन्होंने बहुत प्रारम्भिक काल से ही स्थान ग्रहण कर लिया था।

चलिए हम जैन कला-रूढ़ियों में अग्नि के प्रतीक को लेकर आगे बढ़ें। अग्नि-तत्त्व को सदैव जाग्रत अथवा प्रबोध से सम्बद्ध किया गया है। वेदों में समग्र अग्न्यात्मक ऊर्जाओं का मूल स्रोत सूर्य समग्र चैतन्य एवं जीवन का सर्वोच्च प्रबोधक है। यह ज्ञान (प्रज्ञा) की ही लपट है कि जो मार को पराजित कर देती है। अमरावती से प्राप्त कतिपय आन्ध्र चित्रों में बुद्ध का एक अग्नि-स्तम्भ के रूप में निरूपण केवल वैदिक विचारधारा का उज्जी-वन मात्र है जिसमें अग्नि की उत्पत्ति जलो से कही गई है अथवा अधिक सीधे रूप में पृथ्वी से, क्योंकि यह एक कमल पर आधृत है। तेजस् अथवा अग्न्यात्मिका शक्ति के रूप में अग्नि जैन धर्म में प्राचीनतम अङ्गों में से एक अङ्ग आचाराङ्ग सूत्र की जैसी प्राचीन परम्परा में उपलब्ध होती है। यह कहा गया है कि जगत् के सम्पूर्ण सजीव पदार्थ (जीव) एकेन्द्रिय जीव या तेउकाय, वायु-काय तथा वनस्पतिकाय के लिए पाँच कार्यों में से किसी न किसी से युक्त होते हैं। जैन तत्त्वविदों के काय-सिद्धान्त के अनुसार एकेन्द्रिय जीव उपयुक्त पाँच प्रकार के भिन्न-भिन्न नियमित अस्तित्व ग्रहण करते हैं, तथा इनका कारण पूर्वकृत कर्मों को कहा गया है। जब वह तेउकाय अथवा अग्नि-जीवन से युक्त हो जाता है तो उसे सामान्य अग्नि, दीपक के प्रकाश, वाडवग्नि अथवा विद्युत् आदि में जाना पड़ सकता है। जैन परम्परा के अनुसार अग्नि वाणी (वाच्) का अधिष्ठाता-देव है। चौदह अथवा सोलह मङ्गल-स्वप्नों में से एक वह है जिसका विषय अग्नि-

शिखा होती है। तेजस् की जैन धारणा इतनी पूर्ण है कि यह मङ्गल-स्वप्न के विषय के रूप में निर्धूम अग्निशिखा को ही स्वीकार करती है। वह अग्नि-शिखा जिसे इस प्रकार एक मङ्गल स्वप्न का विषय बनाया जाता है उस व्यक्ति की अग्न्यात्मिका शक्ति का प्रतीकात्मक निरूपण है जिसे स्वप्न की पूर्णता द्वारा आना है। यह जैनों के छह "लेस्सो" (लेश्याओं) अर्थात् मनः शक्तियों के अनु-कूल है। यह देख लेना मनोरञ्जक है कि छह भिन्न-भिन्न "लेस्सो" अथवा मनःशक्तियों में प्रत्येक का एक अपना विशिष्ट वर्ण है तथा अग्नि अर्थात् "तेउलेस्स" (तेजोलेश्या) का संकेत उदीयमान सूर्य के विसवादी स्वर्ण के चमकने वाले वर्ण द्वारा किया जाता है। यह मनः शक्ति अर्थात् अग्नि शक्ति धर्मपरक जैन परम्परा के अनुसार प्रचण्ड तपस्याओं द्वारा प्राप्त होती है। फिर भी इस शक्ति को कभी-कभी एक दूरी पर विनाशात्मक रूप में प्रयोग किया जाता है। एक विशुद्ध जैविक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि मानव-शरीर में चार अन्य रूपों के साथ-साथ इस अग्नि का रूप, अथवा अपेक्षाकृत अधिक उचित रूप में उष्णता (तेजस) रहती है। यहाँ इस धारणा में केवल व्यापारात्मक रूप ही ग्रहण किया जाता है। वह उष्णता जो जीवन की स्थिति को बनाए रखती है उसी शाश्वत अग्नि, आदिम तथा शाश्वत मनः शक्ति का ही एक अङ्ग है।

बौद्ध धर्म तथा आस्तिक ब्राह्मण-धर्म में जीवन-वृक्ष ने जीवन तथा इसके सम्बन्धों से सम्बन्धित विचारों की एक महत्त्वपूर्ण उपज्ञा के रूप में एक निश्चित स्थान ग्रहण कर लिया है। कला में इस धारणा के निरूपण के लिए प्रतीकात्मक रूपों का विचार निश्चय ही एक ऐसी बात है जिसे कला-रूपों के प्रतीकवाद के स्थान के मूल्यांकन में छोड़ा नहीं जा सकता, चाहे वे हिन्दू धर्म के हों, चाहे बौद्ध के या जैन के। साँची में जीवन के रत्न-वृक्ष के शिखर तथा पादों के प्रतीकों में निरूपणों तथा अमरावती में अग्नि-स्तम्भों के निरूपणों को बौद्ध धर्म के अपेक्षाकृत दूर-दूर तक विस्तृत त्रिशूल के प्रतीकवाद से सम्बद्ध किया जाता है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि त्रिशूल का प्रतीक केवल जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म में ही उपलब्ध

नहीं होता अपितु इसके महत्त्व को एक इससे भी प्राचीन परम्परा में खोजा जा सकता है। अग्नि वैश्वानर के तीन रूपों को त्रिशूल के उभय तीनों शूलों में यूवन प्रतीक में संस्थित कर दिया गया है। पश्चाद्वर्ती शैव धर्म में स्वयं शिव के साथ त्रिशूल के सम्बन्ध के विषय में तो हम जानते ही हैं। इस पश्चाद्वर्ती सम्बन्ध को एक बहुत प्राचीन परम्परा में खोजा जा सकता है; धार्मिक कला के प्राचीन स्थान मथुरा से प्राप्त कला-रूप इसके त्रुटि-विहीन साक्ष्य हैं। इससे भी पहले, मोहन-जो-दड़ो की प्रागैतिहासिक संस्कृति में इस सम्बन्ध के प्रारम्भ को स्पष्टतः पहिचाना जा सकता है। कैदफिसेत् द्वितीय के शैव सिक्के तथा मिर्कैप से प्राप्त शैव मुद्रा (seal) शैव सम्प्रदाय के साथ त्रिशूल के इस सम्बन्ध के कुछ प्राचीनतम निरूपणों में से हैं। जैन कला में त्रिशूल एक दिग्पाल के प्राचीन प्रतीकों में एक है। धर्मपरक तथा धर्मनिरपेक्ष स्थापत्य से सम्बन्धित पाठ्यों में यह विधान है कि किसी प्रासाद के निर्माण हेतु चुनी गई भूमि पर एक कूर्मशिला की स्थापना करनी चाहिए, जो किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा एक धार्मिक आवश्यकता की बात अधिक है। जैनो के पश्चाद्वर्ती पाठ्यों में भी इस विधान का अनुसरण किया गया है। बत्थुसारपथरणम् इस परम्परा का अनुसरण करते हुए कूर्मशिला की स्थापना के सम्बन्ध में इसी नियम का विधान करता है। इसके आठ पार्श्वों पर आठ दीपकों के प्रतीक रखे जाते हैं। अष्टम दिग्पाल के लिए वहाँ प्रयुक्त प्रतीक सौभागिनी प्रसार-पट्ट पर स्थापित त्रिशूल है। यहाँ त्रिशूल तान्त्रिक स्वरूप के अष्टम दिग्पाल ईशान का प्रतीक है। यह वास्तव में एक तथ्य को व्यक्त तथा स्पष्ट करता है, वह यह कि एक त्रिक का विचार, जो बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के लिए त्रिरत्न की संरचना में सर्व पवित्र है और जिसका काल सम्भवतः कुषाण काल के समान प्राचीन है, वह या जिसने जैनो की अप्रतिमात्मिका धार्मिक प्रवृत्ति में मूलभूत तत्त्वों में से एक की रचना की। इस प्रसङ्ग में मथुरा कङ्काली टीला स्थान से उपलब्ध वस्तु की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। एक जिनकी इस मूर्ति की पादपीठिका (Pedestal) के सामने की ओर उभार में खुदे त्रिशूल के ऊपर स्थापित

एक चक्र का चित्र है, भ्रमणों का एक समुदाय जिसकी पूजा कर रहा है (?)। सचमुच इसका चक्र अथवा धर्म-चक्र के निरूपण की बौद्धकला के साथ निकट सम्बन्ध है, जो प्राचीन समाम्नाय में स्वयं भगवान् (बुद्ध) के लिए एक स्थानापन्न वस्तु थी। वास्तव में, व्यूहलेर के शब्दों में, 'जैनो की प्राचीन कला बौद्धों की कला से तत्त्वतः भिन्न नहीं थी। वास्तव में कला साम्प्रदायिक कभी नहीं थी। दोनों सम्प्रदाय समान अलङ्करणों, समान कला-उद्देश्यों तथा समान पवित्र प्रतीकों का प्रयोग करते थे। भेद मुख्यतः केवल गौण बातों में ही था। जैन धर्म में त्रिरत्न प्रतीक पूर्ण वस्तुओं के त्रिविध स्वरूप अर्थात् ज्ञान, श्रद्धा तथा आचार का अङ्कन करता है। एक त्रिक का यह विचार जिसने बौद्ध धर्म में तीन रत्न अर्थात् बुद्ध धर्म तथा सघ का रूप धारण किया, कभी-कभी त्रिकोणीय चित्र अथवा त्रिकोण से अङ्कित किया जाता था जो बोल के अनुसार "तथागत के देहनिष्ठ रूप" का बोध कराता था, और कभी-कभी तीन वर्णों के अक्षर अ-उ-म् द्वारा। ब्राह्मण-धर्म में 'अ' विष्णु के लिए प्रयुक्त होता है, 'उ' शिव के लिए और 'म्' ब्रह्मा के लिए। बौद्ध त्रिरत्न विविध प्ररूपों में तक्षशिला तथा ग्राम-ग्राम के बौद्ध स्थलों से कुषाणों के प्राचीन काल से ही उपलब्ध होता है।

कङ्काली टीला, मथुरा से उपलब्ध उपरिर्सेकित स्थापत्य खण्ड का विचार हमें सर्वाधिक मङ्गलपूर्वक धर्म के प्रतीक के रूप में चक्र के स्थान के मुल्यांकन की ओर अग्रसर करता है, जिसने प्राचीन तथा मध्यकालीन बौद्ध-धर्म में विशिष्ट लोकप्रियता ग्रहण की। वैष्णव प्रतिमा-शास्त्र के प्रतीक अथवा रूप के रूप में चक्र का आरम्भ स्वयं भगवान् विष्णु के साथ इसके गहन सम्पर्क में होता है। लगभग ७वीं शताब्दी ई० पू० के चक्र के चिह्न से युक्त प्राचीनतम आहत सिक्के इस परम्परा के प्राचीन स्वरूप के स्पष्ट प्रमाण हैं। त्रिरत्न प्रतीकों से सम्बद्ध चक्र विशिष्टता पूर्वक जैन नहीं है। यह कुषाण युग की तक्षशिला में भी उपलब्ध होता है, जहाँ यह निःसन्देह बौद्ध है। वहाँ इसे प्रतीकात्मक रूप में त्रिशूल अथवा त्रिरत्न प्रतीक के साथ सम्बद्ध करके अङ्कित किया गया है। बुद्ध का हाथ धर्मचक्र का स्पर्श करता है। जो त्रिरत्न

प्रतीक पर स्थापित है, जिनके दो और एक-एक हरिण स्थित है, जो मृगदाव से दिये गये प्रथम उपदेश के प्रवचन का चित्रण करता है। पश्चाद्वर्ती कालों में सम्भवतः इस प्रकार के प्रतीकों ने अपनी साम्प्रदायिक सीमाओं को लीप्त लिया, क्योंकि जैन लेखक ठक्कुर फेरु उल्लेख करता है कि चक्रेश्वरी का परिकर पादपीठिका पर मृगों से युक्त धर्मचक्र दिखाना पूर्ण नहीं होता। चक्र-रत्न की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है, जो जैन चक्रवर्ती के साथ उसके प्रतीक तथा आगुध के रूप में सम्बद्ध किया जाता है। जैन कला में चक्र के निरूपण को खण्ड्य युग के कुछ प्रथम शतकों तक प्राचीन माना जा सकता है। मथुरा में कट्ठाणी टीले से खोदे गए, कुपाण-युग से सम्बद्ध उत्तम फलकों, आयागपट्टों पर उस स्तम्भ के उच्च शिखर के रूप में चक्र की आकृतियाँ अङ्कित हैं जो एक ध्यान की मुद्रा में स्थित जिन की प्रतिमा में युक्त सबसे आदर्श के वृत्त का दर्शन करने वाले चार दिग्बिन्दुओं के आर चार त्रिरत्न चित्रण से युक्त चार किनारों पर फूल-पत्तियों के परिवेश में बने चार श्रीवत्स

प्रतीकों को धारण करने वाले मध्य चतुष्कोण के बगल में स्थित है। इसी स्थान से प्राप्त एक अन्य आयागपट्ट में चक्र एक अलङ्करणों से घिरी हुई मध्यवर्ती वस्तु है (न० ज० २४८—मथुरा संग्रहालय)। यह तीन एक केन्द्रीय पट्टों से परिवृत्त सोलह आंगों से युक्त एक षोडशार घर्मचक्र है, जिसमें प्रथम पट्ट में सोलह नन्दीपाद प्रतीक है। उस फलक को भली भाँति कुपाण काल में रखा जा सकता है। तदनन्तर गुप्त-काल में राजगिर में वैभाग्रो-गिरि से ८ में तीर्थङ्कर नेमिनाथ की अनुपम मूर्ति उपलब्ध होनी है, जिसमें पादपीठिका पर घर्मचक्र का प्रदर्शन किया गया है तथा जिसका बगल में एक शखों का जोड़ा स्थित है। यहाँ चक्र का मानवीकरण किया गया है और चक्र का निरूपण स्वयं चक्र के साथ सम्बद्ध पुरुषविध रूप से युक्त चक्र-पुरुष के रूप में किया गया है। यह सम्भवतः वैष्णव मूर्तियों, यथा गदादेवी तथा चक्र-पुरुष में आगुध-पुरुषों के प्रदर्शन की ब्राह्मण-धर्मीय परम्परा का प्रभाव है। ★

संग्रह और दान

कवि—जलधर ! तुझे रहने के लिए बहुत ऊँचा स्थान मिला है। तू सारे संसार पर गर्जता है। सारा मानव-समाज चातक बनकर तेरी ओर निहार रहा है। तेरे समागम से मयूर की भाँति जन-जन का मानस शांति उद्यान में नृत्य करने लग जाता है। तू सबको प्रिय लगता है। तू जहाँ जाता है, वहीं तेरा सम्मान होता है। पर थोड़ा गौर से तो देख, तेरे पिता समुद्र की आज नयी स्थिति हो रही है। पिता होने के नाते उसे भी बहुत ऊँचा सम्माननीय स्थान मिलना चाहिए था किन्तु उसे तो रसानल—सबसे निम्न स्थान मिला है। उसकी सम्पत्ति का तनिक भी उपयोग नहीं होता। मेघ ! इतना बड़ा अन्तर क्यों ?

जलधर—कविवर ! इस रहस्य को गिरि कन्दरा में एक गहन तत्त्व छिपा हुआ है। वह है—संग्रहशील न होना। संग्रह करना बहुत बड़ा पाप है। यही मानव को नीचे की ओर ढकेलने वाला है। संग्रह वृत्ति के कारण ही समुद्र को रहने के लिये निम्न स्थान मिला है। और उसका पानी भी पड़ा-पड़ा कड़वा हो गया है। समुद्र ने अपने जीवन में लेना ही सीखा है और देना अत्यन्त अल्प। मैं देने का ही व्यसनी हूँ। सम्मान और असम्मान का, उन्नति और अवनति का, निम्नता और उच्चता का यही मुख्य निमित्त है।

अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों का नीति-वर्णन

डा० बालकृष्ण 'अकिंचन'

उत्कृष्ट दर्शन, पवित्र आचरण तथा अहिंसा-प्रचार की दृष्टि से जैनधर्म विश्व मानवता का महान उपकारक है। आरम्भिक काल से ही जैन-मेधा, साहित्य-जगत की सम्पूर्ण चुनौतियों को स्वीकार करती आ रही है। प्राचीन जैनाचार्यों ने अपने सैद्धान्तिक प्रचार के लिए, अनेकानेक पुराणों, कथाओं, चरित्रों एवं स्तुति-काव्यों की रचना की थी। निःसन्देह ये सभी रचनाएँ धर्म-प्रेरित हैं। पर क्या इसी कारण इन्हे काव्य गरिमा से वञ्चित किया जा सकता है ? और फिर यह स्थिति केवल जैन कृतियों के साथ ही तो नहीं, समस्त धार्मिक साहित्य इसी श्रेणी में है। तीसरी बात यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से धर्म एवं काव्य का कोई विरोध नहीं है। काव्य का विरोध नीरसता, अस्वाभाविकता एवं प्रभाव साहित्य से है। इसीलिए आचार्यों ने अन्तिम रूप से किम्भी विषय विशेष को नहीं अपितु प्रथम प्रतिपादन की रमणीयता को काव्य की कसौटी माना था और इसी निष्कर्ष पर रामचरितमानस, सूरदासर एवं राग पचाध्यायी आदि वैष्णव कृतियाँ उत्कृष्ट काव्य घोषित की गई हैं। अतः कोई कारण नहीं कि, अपभ्रंश भाषा की अनेक सरस, सुन्दर अलङ्कृत जैन कृतियों का भी काव्य का गौरव प्रदान न किया जाय। यदि राम और कृष्ण की जीवन-गाथाओं से सम्बन्धित सन्देश प्रेरित उत्कृष्ट कृतियाँ काव्य हों सकती हैं तो प्रतिभा सम्पन्न कवियों की लेखनी से रचित तीर्थंकरों तथा जैन धर्माचार्यों की पृथीत धर्म-कथाएँ भी काव्य की मञ्चा में विभूषित की जायेगी। अपभ्रंश भाषा में रचित इस प्रकार की कृतियों के महान भंडार जैन मन्दिरों में आज भी सुश्रुत हैं। किन्तु हम उनकी चर्चा न कर रहे हुए नितान्त प्रसिद्ध काव्य मणियों का ही नैतिक निरीक्षण करेंगे।

शास्त्रीय दृष्टि से जीवन काव्य-ग्रंथों को दो भागों में

विभाजित किया जाता है—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्यों को भी समग्रता एवं खण्डना की दृष्टि से महाकाव्य एवं खण्ड काव्य को दो वर्गों में बाँटा गया है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने मुक्तक एवं प्रबन्ध दोनों ही प्रकार के काव्य रचे हैं। प्रबन्ध के दोनों प्रकार—महाकाव्य एवं खण्ड काव्य भी अपभ्रंश काव्य में प्रचुर रूप में प्राप्त हैं। महाकाव्य किसी भी जाति के गौरव ग्रंथ होते हैं अपभ्रंश जैन कवियों ने इस प्रकार के अनेक ग्रंथ रत्नों से भारती-भंडार को आपूर्णित किया है। पउमचरित, रिदुनेमि चरित तथा महापुराण को इस वर्ग की बृहद् त्रयी कहा जा सकता है। ये तीनों ही ग्रंथ भारतीय नीति काव्य के विद्यार्थी के लिए प्रमूल्य हैं।

पउमचरित स्वयंभू कृत महा काव्य है, जिसे सामान्यतः स्वयंभू—रामायण माना जाता है। इस रामायण में कथानकों, पात्रों तथा घटनाओं को विविध विदग्धता के साथ विन्यस्त किया गया है। समुच्च ग्रंथ का बंधान, अलंकार विधान कवि की मजक नैतिक मनोवृत्ति व्यक्त करता है। इसका समग्रतः नैतिक अनुशीलन अपने में एक पृथक् विषय है। छोटे-बड़े वर्णनों, सूक्तियों, कथोप-कथनों, रूपकों तथा उपमाओं में नीतिका सुन्दर पुट दिया गया है। एक उदाहरण लीजिए—

लखण कहि गवेसहि तं जलु।

सज्जन हियउ जेम जं निम्मलु॥

अर्थात् लक्ष्मण उसी जलाशय में जल लेना जाते हैं, जो सज्जन के हृदय के समान निर्मल हों। यहाँ नीति और काव्य का सूक्ष्म समन्वय सहज ही देखा जा सकता है। कथन की महत्ता के साथ उसकी मार्मिकता भी दर्शनीय है। इस प्रकार की नैतिक अभिव्यक्ति और उसकी सूक्ष्म काव्यात्मकता में 'रिदुनेमि चरित' और भी आगे है। छोटी-छोटी सूक्तियों में जैन-सिद्धान्तों का मार्मिक

विन्यस्ताकरण, इस ग्रंथ की बहुत बड़ी विशेषता है। धर्म, नीति और ज्ञान के प्रति कवि के हृदय में अगाध अनुराग है—

वरि ससह समुद्रु वारि मंवरौ जमेइ ।

ज विवब्बणु भासियं अण्णहा हवेइ ॥

अर्थात् चाहे समुद्र-जल शुष्क हो जाये, चाहे अचल, मंवराल पर्वत झुक जाये किन्तु विद्वानों (ज्ञानियों) के कथन कभी भी अन्यथा नहीं होते। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कथन में जितना बल है, उतना ही विश्वास है। साथ ही मे एक प्रकार की सर्वकालिकता भी है जो तब भी सत्य थी और आज भी सत्य है। ऐसे त्रिकाल सत्त्यों का निर्वचन अनेक स्थलों पर हुआ है। आज की परिस्थितियों का मार्ग-दर्शक एक अन्य उदाहरण लीजिए—

जहि पट्टु दुच्चपरिउ समायरइ ।

तहि जणु सामणु काइ करइ ॥

अर्थात् जहाँ स्वामी दुश्चरित्र होगा, वहाँ जन सामान्य क्या करेंगे। आज भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक स्थिति में यह कथा और भी विचारणीय है। यह किसी से छिपा नहीं है कि राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक दुर्वशा का प्रमुख कारण हमारा अष्ट चरित्र ही है। भारत में अन्न-जल-धन-धान्य किसी भी भौतिक—अभौतिक वस्तु की कमी नहीं है, कमी है तो केवल चरित्र की। और यह भी अपने में कटु सत्य है कि चरित्र की यह गिरावट, सम्भ्रान्त चरानों, राजकुलों एवं नेता कहलाने वाले वर्ग से ही आई है। अतः सदियों पुराने हमारे इस जैन कवि का कथन अपने में शाश्वत है, अपने में सिद्ध है। लोक में भी यह कहावत प्रचलित है—यथा राजा तथा प्रजा।

यहाँ हमारा तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष पर कीचड़ उछालना नहीं, किन्तु सत्य, सत्य ही है। और यह कहने में कोई भी संकोच नहीं करेगा कि हमारा नेता-वर्ग नैतिक एवं चारित्रिक आदर्श प्रस्तुत करने में सर्वथा असफल रहा है। हाँ इस कथन में कुछ अपवाद भी हैं जो गेहूँ के साथ घुन की अवस्था प्राप्त कर पिसते और लोकापवाद का कारण बनते हैं। सज्जनों और समझदारों के हृदय में आज भी सच्चरित्र राष्ट्र नेताओं, समाज सेवियों एवं गृह

स्वामियों के प्रति श्रद्धा है और उनका निरन्तर यश-गान होता रहता है। जो दुर्जन ऐसा पुनीत चरित्रों का भी छिद्रान्वेषण करते हैं, वह उनके स्वभाव का दोष है और इसे कोई बदल नहीं सकता। 'महापुराण' के सुप्रसिद्ध जैन कवि पुष्पदंत जी ने इस तथ्य पर बड़ी मनोरमता से प्रकाश डाला है। उन्होंने ऐसे दुर्जनों को चन्द्रमा पर भौकने वाले कुत्तों की संज्ञा दी है और कहा है कि सज्जनों को अपना कार्य निरन्तर करते रहना चाहिए; क्योंकि कुत्ते कितने भी भौके इससे चन्द्रमा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यही विचार कर महाकवि सज्जनों की प्रशंसा करता हुआ, 'महापुराण' लिखने में प्रवृत्त हुआ है। उसने ६३ जैन महापुरुषों की चरित्र-गाथा गाते हुए, बीच-बीच में नीति-आचार-धर्म और दर्शन पर सुन्दर छन्द लिखे हैं। नीति-निरूपण ही नहीं, काव्यात्मक-निदर्शन के कारण भी इन कथनों का महत्व बहुत अधिक है। प्रश्न शैली का एक उदाहरण लीजिए—

खगगे मेहे किं णिज्जलेण,

तरुणा सरेण किं णिपफलेण ।

मेहे कामे किं णिद्वेण,

मुणिणा कुलेण किं णित्तपेण ॥

कब्बे णडेण किं णोरसेण,

रज्जे भोज्जे किं पर वसेण । (१-८-७)

अर्थात् पानी रहित मेघ (बादल) और खड़ग (तलवार) से क्या? फल रहित तरु (वृक्ष) और (सर) बाण से क्या? अद्रवणशील (न पिघलने वाले) बादल और यौवन से क्या? तप हीन मुनि और कुल से क्या? नीरस काव्य और नट से क्या? पराधीन भोजन और राज्य से क्या? —यहाँ पानी (जल तथा चमक), फल (खाने के काम आने वाले फल तथा बाण की नोक), अद्रवणशील (न बरसने वाले तथा भाव विभोर न होने वाले), तप कर (कष्ट-साधन और कुल-व्रत) नीरस (शृंगार-वीर-शांतादि नवरस विहीन तथा शुष्क), परवश (पराया शासन तथा दूसरे का कब्जा) आदि शब्दों के दो-दो अर्थ हैं। इन दोनों अर्थों का प्रयोग करने पर सुन्दर एवं उप-योगी सन्देश सामने आता है। उस बादल के उमड़-घुमड़

कर चिर-चिर आना व्यर्थ है जो तृप्ति धरा को अपनी सीतल जल-वृष्टि से शांत न कर दे, उस तलवार की विशालता और सुन्दरता व्यर्थ है जिसकी चमचमाती हुई धार में तेजी न हो। उस सुन्दर तथा सुहावने वृक्ष की शोभा भी भयूरी ही है जिस पर मीठे फल न लगते हों, उस वाण का धारण करना भी व्यर्थ है जिसके आगे की पैनी नोक ही गायब है। इसी प्रकार भावोद्रेक से शून्य भुवक-युवती, चुटीले हास्य व्यंग्यादि से शून्य नट, विभावा-नुभाव संचारी प्रवाह से शून्य काव्य, विदेशी के अधिकार में फँसा राज्य तथा दूसरे की पोटली में बँधा भोजन व्यर्थ है, बेकार है, अपने लिए किसी प्रकार भी उपयोगी नहीं है। कहना न होगा कि यहाँ कथ्य की उपयोग्यता के साथ कविता की सुन्दरता भी विद्यमान है। दोहरे अर्थों के निर्वाह ने श्लेष अलंकार की सुन्दरता भी ला दी है। ऐसा ही एक प्रतीतात्मक कथन और लीजिए—

जो गोवालु गाइ णउ पालइ ।

सो जीबंतु बुडु ण णिहालइ ॥

जो मालारु बेल्लि णउ पोसइ ।

सो सुफुल्ल फलु कंब लहेसइ ॥ (५-१२-१)

अर्थात् जो गुवाला गौ नहीं पालेगा, वह जीवन भर दूध को नहीं निहार सकेगा। जो माली बेल-बूटों का पालन-पोषण नहीं करेगा, उसे फूल-फल कैसे प्राप्त हो सकेंगे—शब्द बड़े साधारण हैं। किन्तु काव्य के विद्यार्थी के लिए इनकी व्यंजनाएँ इतनी अधिक हैं कि उसमें व्यक्ति से लेकर सारे राष्ट्र के नैतिक मूल्य सम्निहित दिखाई देते हैं। यहाँ ग्वाला और माली राष्ट्रनायक के प्रतीक हैं, गौ और बेल सज्जन-समाज की प्रतीक हैं, दूध और फूल समृद्धि एवं सुराज्य के प्रतीक जान पड़ते हैं। जिस राष्ट्र या समाज में सज्जनों की अपेक्षा चार सौ बीस, तस्कर तथा जमानेसाज लोगों की बल-धन-आदर और आरक्षण प्राप्त होता है वह जीवन भर पुष्ट-बलिष्ठ, पल्लवित एवं पुष्पित नहीं हो सकता। यह तथ्य महाकवि पुष्पदन्त के समय में भी सत्य था, सहस्राब्द पश्चात् आज भी सत्य है और सहस्रों वर्षों पश्चात् भी सत्य रहेगा।

इस प्रकार के मनमाने नीति-कथन उक्त महाकाव्य त्रय से संकलित किए जा सकते हैं किन्तु हम उस दिशा

में और आगे न बढ़ते हुए एक अन्य कृति, 'भविष्यत्स कहा' की ओर ध्यान आकषित करना चाहेंगे। इसे हमने उक्त बृहद्त्रयी के साथ इसलिए नहीं रखा क्योंकि इसका नायक, एक लौकिक पुरुष है। किन्तु इससे क्या? कृति अपने नैतिक मूल्य में स्पृहणीय है। नायक के लौकिक पुरुष होने के कारण, काव्यकार श्री धनपाल वक्कड़ को गृहस्थ जीवन के विविध प्रसंगों के नैतिक निर्वचन का और भी अच्छा अवसर प्राप्त हो गया है। किन्तु कवि का हृदय गृहस्थ-वर्णन प्रसंगों में न रमकर उनके नैतिक एवं धार्मिक निदर्शन में अधिक रमता प्रतीत होता है। वे परम्परागत मान्यताओं का खण्डन करते हुए उनका नवीन नैतिक मूल्य निर्धारित करते हैं। केवल बानगी के लिए, शूरता को हिंसा से हटा कर नैतिक निष्कर्ष प्रदान करने वाली दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

जीव्वण बियार रस बस पसारि, सो सूरउ सो पंडियउ ।

खलम्मण बयणुल्लावएहि, जो पर तियहि ण खंडियउ ॥

३-१८-६

अर्थात् शूर भी वही है, पण्डित भी वही है जो पर-नारी के कामोद्दीपक प्रपंचों एवं वचनों के द्वारा खंडित नहीं होता। यहाँ यह निर्देश कर देना अनुचित नहीं होगा कि जैन-नैतिकता केवल अहिंसा पर ही नहीं अपितु इन्द्रिय-संयम एवं आत्म त्याग इत्यादि मानवीय चरित्र के उदात्त अंशों पर भी पूरा-पूरा बल देती है। जो दूसरों के प्रति पापाचरण द्वारा हानि पहुँचाने की बात सोचता है, उसका पाप उल्टा उसे ही नष्ट कर देता है ॥६-१०-३॥ कर्म निश्चित ही दैवाधीन हैं किन्तु पुरुषार्थ करना, प्राणी का परम पुनीत कर्तव्य है। यह ठीक है कि लाभ के विचार से किए हुए कर्म में कभी-कभी मूल भी नष्ट हो जाता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि पुरुषार्थ कर्मों को त्याग दिया जाय ॥३-११-५॥ इस प्रकार के शताधिक कथन सहज सुलभ हैं। दान, उपकार, क्षमा, दया तथा अहिंसादि विषयक कथनों के लिए तो यह ग्रन्थ भक्ष्य भण्डार है।

जैसा कि प्रारम्भ में निवेदन किया जा चुका है कि अपभ्रंश के जैन कवियों ने महाकाव्यों के अतिरिक्त कथा-रूपक खण्ड काव्यों की भी रचनाएँ की हैं। जो महाकाव्यों

से कहीं अधिक मात्रा में प्राप्त हैं। ये काव्य कृतियाँ भी नैतिक दृष्टि से, संस्कृत प्राकृतादि भाषाओं के काव्यों से कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसका कारण जैनधर्म के उदात्त नैतिक मस्कार ही है। उच्च संस्कार सम्पन्न कवियों की कृतियों में उच्च विचारों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। ये उच्च विचार काव्य की चाशनी में पग कर और भी गूँथेभोये हो गये हैं। इस दृष्टि से 'सुदसण चरिउ' तथा 'करकंड चरिउ' इत्यादि काव्य, अपना सानी नहीं रखते। इन काव्यों में दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धांतों की अपेक्षा नित्य-नैमित्तिक जीवन के आचरण एवं मनोभावों की व्याख्या अधिक हुई है।

नयनदी ने अपनी सुप्रसिद्ध काव्य कृति सुदसण चरिउ (सुदर्शन चरित्र) में प्रेम, स्त्री, पुरुष, भाग्य, जीवन, उपहान, हिंसा, क्रोध आदि पर बहुत ही सारगर्भित छन्द लिखे हैं। वे प्रेम को समय एवं दूरी के व्यवधान से परे की वस्तु मानते हैं और कहते हैं दो सच्चे प्रेमियों में भौतिक अंतराल बाधा उपस्थित नहीं कर सकते इसके लिए वे सूर्य एवं नलिनो का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कहीं आकाश विहारी सूर्य और कहा उसकी अनन्य प्रीति का कमलनी परन्तु वह उसे गगनतल में देखकर ही हलसित रहती है—जइ विहू रवि गयपायले इह तहवि सुहु गलिणी । ८-४ ॥ यह उल्लास तथा आकर्षण अनीन्द्रिय होता हुआ भी इन्द्रिय गम्य है, अनुभव ज्ञेय है। परन्तु इसके अनुभव का परिणाम सुख नहीं होता। जहाँ भा प्रेम है, समत्व है, आसक्ति है, वहाँ दुःख निश्चित है। कौन ऐसा प्राणी है जिसे स्नेह ने सताप न दिया हो—अह ण कवणु जेहें संताविउ ॥ ७-२ ॥ इसी प्रकार जीवन वेग को पहाड़ी नदी के चढाव का भाति क्षणिक, हिंसा को अनिवार्यतः दुःख तथा स्त्री चरित्र को देवताओं के लिए भी दुर्वोध सिद्ध किया गया है—देवेहं वि दुलखखउ तिय चरितु ॥ ९-१८ ॥

जैन मुनि कनकामर जी का दशाध्यायी खंड काव्य करकंड चरिउ, निर्वेदपरक नीति वचनों का अक्षय भंडार है। ग्रंथ को आस्योपान्त पढ़ जाने पर एक अलौकिक

शान्ति एवं वीतरागता की अनुभूति होती है। निष्ठावाज़ अध्येताओं पर तो यह प्रभाव और भी गहनतर होता है। कनकामर जी के कथनों में कुछ इस प्रकार की सार्द्ध-भौमिकता एवं सार्वकालिकता है कि उनके निर्वेद-वचन आज के सामाजिक संदर्भों में भी खरे उतरते प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण कृति एक कल्याणमय आनन्द की सृष्टि करती है परन्तु यह आनन्द अन्याय कवियों के आनन्द से निश्चित ही भिन्न है। उस अनुभूति में उतना ही अन्तर है जितना युवती सुख दर्शन तथा देवमूर्ति दर्शन की अनुभूति में होता है। कनकामर जी लौकिक अनुभूति की तुलना एक दाहक ऊष्मा से करते हैं। उनके मत में सारा ससार एक सघन वन के समान है जिसमें नश्वरता की भयंकर दावाग्नि प्रज्वलित है और उसमें कंकाल, निम्ब कुटज और चंदन सभी भस्म हो जाते हैं। काल अपने विकराल गाल में युवा, बृद्ध, बालक, विद्याधर, किन्नर, खेचर, सुर, अमरपति सभी को समेट लेता है, न श्रोत्रिय ब्राह्मण बचपाते हैं, न तपस्वी, न वह धनवानों को छोड़ता है और न निर्धनो को। इस लिए धर्म-पथ का सम्बल जितनी शीघ्रता से प्राप्त किया जाय उतना ही श्रेयस्कर है—

पाउ सोत्तिउ बभणु परिहरइ,
णव छंडइ तवसिउ तवि डिपउ ।
घणवंतु ण कुट्टइ ण विणिहणु,
जह काणणे जलणु समुट्टियउ ॥

९-५-१०

इस प्रकार के अन्य अनेक काव्य रत्नों से अप्रमश वाङ्मय का विशाल भवन आलोकित है। आवश्यकता उसको पढ़ने, समझने तथा सुलभ कराने की है। न जाने कितनी अमर कृतियाँ अब भी जैन ग्रंथालयों एवं मंदिरों में अब भी अप्रकाशित पड़ी हैं। वह दिन विश्व-वाङ्मय के लिए स्वर्णिम दिवस कहा जायेगा जब कि विशाल ज्ञान पिण्ड प्रकाशित होकर अपने दिव्य आलोक से मानवता के अनेक अंधकार को समाप्त कर देगे।

दुःख आर्यसत्य—एक विवेचन

धर्मचन्द्र जैन (शोध-छात्र)

चार आर्यसत्यों का सिद्धान्त बौद्ध-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में से एक है। जिनका वर्णन पालि तथा संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में प्रचुरता से मिलता है। बौद्ध-धर्म सम्बन्धी आधुनिक भाषा के ग्रन्थों में भी इसकी खूब चर्चा हुई है।

आर्यसत्योंका उपदेश भगवान् बुद्धने अपने प्रथम 'धर्मचक्र प्रवर्तन' में पञ्चवर्षीय भिक्षुओं को ऋषिपत्तनमृगदाव में दिया था। जिनका साक्षात्कार उन्होंने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते समय किया था। आर्यसत्य चार हैं—दुःख आर्यसत्य, 'दुःख समुदय आर्यसत्य', 'दुःख निरोध आर्यसत्य' और दुःख निरोध गमिनी प्रतिपद् आर्यसत्य। इनमें से प्रथम 'दुःख' आर्यसत्य ही प्रस्तुत अनुबन्ध का विषय निम्न है।

'सज्जिम निकाय' में आर्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है "आरकास्यहोन्ति पापका अकुशला धम्माति 'अरियो' होति"^१। वसुबन्धु ने भी 'आर्य' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—“आरात् याता. पापकेभ्यो” अकुशलेभ्यो धर्मेभ्यः इत्याद्या^२। आर्य वह है जो अकुशल पाप धर्मों से दूर हो गया है^३।

वसुबन्धु और बुद्धघोष "आर्यसत्य" शब्द की एक ही प्रकार से व्याख्या करते हैं यथा—“ये आर्यो के सत्य हैं”। प्रश्न उठता है कि क्या ये दूसरों के लिए सत्य नहीं हैं या दूसरों के लिए भूत हैं? (किमन्येषा मृषा)। वसुबन्धु इस पर कहते हैं कि 'ये सब के लिए सत्य हैं। अविपरीत होने के कारण (अविपरीतत्वात्)। किन्तु

जिस प्रकार आर्य इनको यथार्थ रूप में देखते हैं, दूसरे उनको उस प्रकार से नहीं देखते हैं, अतः ये आर्यसत्य कहे जाते हैं”।

वसुबन्धु एक साथ उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि 'जिसको आर्य मुख कहते हैं, दूसरे उन्हें दुःख जानते हैं, जिनको दूसरे मुख बनाने हैं आर्य उसको दुःख जानते हैं—

यदार्यामुखतः प्राहुस्तत्परे दुःखतो विदुः।

यत्परेमुखतः प्राहुस्तदार्या दुःखतो विदुः” ॥^४

अभिधर्मकोश के छोटे कोश स्थान में वसुबन्धु ने चार आर्य सत्यों की व्याख्या की है। वहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि—दुःख आर्य सत्य प्रथम क्यों लिया गया? इसके उत्तर में वसुबन्धु कहते हैं कि 'आर्य सत्यों का क्रम अभिसमय के अनुसार है—

“सत्यानि उक्तानि चत्वारि दुःख समुदयस्तथा।

निरोधो मागस्तेषां यथा अभिसमयं क्रमः” ॥^५

अर्थात् जिस सत्य का पूर्व अभिसमय (अभिसम्बोध) होता है अर्थात् जिस सत्य का पहले अभिसमय होता है उसी का पूर्वनिर्देश किया गया है। प्रश्न है कि 'तृष्णा जो दुःख का हेतु है उसका पूर्व निर्देश क्यों नहीं है और दुःख जो तृष्णा के कारण उत्पन्न होता है जो फलरूप भी है उसका बाद में निर्देश क्यों नहीं किया गया है। इसका उत्तर

५. अभिधर्मकोशभाष्य ६।३, पृ० ३२८; अर्थविनिश्चय-सूत्र पृ० १५८।

६. तुलना कीजिए—

यं परे दुःखतो आहृतदारिया आहू दुःखतो।

यं परे दुःखतो आहू तरिया मुखतोविदुः ॥

—सं० नि० ४, पृ० १२७।

७. अभिधर्मकोश ६।२।

८. अभिसमयकोऽर्थः। अधिसम्बोधद्वारा बोधनत्वात्—अभि० को० भाष्य० ६।३, पृ० ३३८।

१. देखिए : महावग्ग-धम्मचक्कपवत्तन-ललितविस्तरसूत्र परि. २६, पृ० २६५-२०२।

२. देखिए : सज्जिमनिकाय १, ३४३।

३. देखिए अभिधर्मकोश ३।४४।

४. अभिधर्मकोश भाष्य ६।३ पृ० ३२८; सं० नि० भा० ५ पृ० ४२५, ४३५; विजुद्धिमग्ग १६।२०—२२।

यच्चउपादान, स्कंवरूप, संज्ञासंस्कार, विज्ञान और वेदना, ये भी दुःख हैं। पञ्चोपादान, स्कंवरहेतु तथा प्रत्यय सहित अनित्य दुःख और अनात्म रूप कहा गया है, अतः दुःख रूप है।

पालि और संस्कृत ग्रंथों में इसकी बार-बार पुनरावृत्ति हुई है कि "सब्बे सङ्गारा दुःखा (सर्वसंस्काराः दुःखाः) सभी संस्कार दुःख हैं। वसुबन्धु ने अपने अभिषमं कोश भाष्य में यह प्रश्न उठाया है कि जब केवल वेदना ही दुःख रूप होती है तो सब संस्कार दुःख क्यों कहे गये हैं ? वसुबन्धु ने व्याख्या करते हुए कहा है कि दुःख तीन प्रकार के हैं—दुःख दुःखता, संस्कार दुःखता और विपरिणाम दुःखता। इन तीन दुःखताओं में सास्त्र संस्कार आ जाते हैं। जो चीज अच्छी लगती है जो 'मनाप' है वह भी विपरिणाम रूप होने के कारण विपरिणाम दुःखता है। जो अपनाप (अच्छी न लगने वाली) है वह तो दुःख दुःखता ही है। इन दोनों में से भिन्न बाकी सब संस्कार दुःखता हैं। इस लिए सुख वेदना में भी जिसको मनाप वेदना की संज्ञा दी जा सकती है, विपरिणाम स्वरूप होने के कारण दुःख रूप है। सूत्र में कहा गया है कि सुखावेदना क्या है ? जो उत्पत्ति में सुख है, स्थिति में भी सुख है किन्तु विपरिणाम में दुःख है। दुःखवेदना तो उत्पत्ति, स्थिति और विपरिणाम तीनों में दुःख रूप है। अदुःख सुखावेदना संस्कार (संस्कारेण) से ही दुःख है। इस प्रकार सब सास्त्र संस्कारों को आर्य (विज्ञान) यथार्थ रूप में दुःखतः देखते हैं किन्तु विद्वान् या आर्य श्रेष्ठतम लोक (भवाग्र) में भी दुःख को अनुभव करते हैं।

'अभिषमं कोश भाष्य' में दुःख के अस्तित्व पर एक बहुत ही दिलचस्प विवाद आया है जो विवाद सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों के सुख-दुःख अस्तित्व संबंधी भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों को प्रस्तुत करता है। वैभाषिक कहते हैं कि 'जब सुख है तो दुःख ही केवल आर्यसत्य क्यों कहा गया ? इसके उत्तर में वसुबन्धु ने एक मत उद्धृत करते हुए कहा है कि 'सुख के अल्प होने के कारण (अल्पत्वात्) सुख नहीं है जैसे—उड़द की दाढ़ के ढेर में यदि मूंग, मसूर आदि का कुछ कण हों तो हम उसे उड़द की दाढ़ का ढेर ही कहेंगे

न कि मूंग-मसूर आदि का। इसी प्रकार सुख के अत्यन्त अल्प होने से उसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह एक निकाय का व्याख्यान है। वसुबन्धु ने 'इत्येके' करके इसका उल्लेख किया है। कभी-कभी फोड़े के खुजलाने में भी कुछ सुख (सुखाणुकेन) का आभास होता है लेकिन कौन इसे सुख कहेगा, वह तो दुःख ही है। इस लिए सौत्रान्तिकों का कहना है कि 'सुख का भी दुःख हेतु है'। वास्तव में दुःख ही है। लेकिन उस दुःख में इच्छा होने के कारण ही (तद्विष्टे) दुःख-दुःख समझ लेते हैं परन्तु आर्य सुख सहित सर्व संस्कार को दुःख रूप देखते हैं क्योंकि सब संस्कार दुःखमय हैं। इसलिए दुःख ही आर्य सत्य व्यवस्थापित करते हैं न कि सुख को। पूर्व पक्ष का कहना है कि "सुखावेदना" को दुःखतः क्यों देखते हैं ? इसका उत्तर है क्योंकि वह अनित्य है और प्रतिकूल है यह कैसे है कि सुखावेदना है ही नहीं ? यह कैसे जाना जाय ? वसुबन्धु कहते हैं कि यह युक्ति और सूत्र से प्रमाणित किया जा सकता है।

सूत्र में भगवान ने कहा है कि जो कुछ वेदनीय है वह दुःख है, और सुखावेदना को भी दुःख से देखना चाहिए, दुःख में दुःख को देखना संज्ञाविप्रयाम है।" इत्यादि सूत्र वचन है। युक्ति से यह कैसे प्रमाणित किया जा सकता है ? यह जो कभी-कभी पान, भोजन, ठण्डक, गर्मी आदि की चाहना (इष्टि) होती है और इनको सुख-हेतु समझा जाता है लेकिन यदि पानादि भोजन में सुख होता तो अधिक खा लेने पर या अकाल में खा लेने पर पान भोजनादि दुःख के कारण नहीं होते। वास्तव में भोजन पानादि की कामना भूख-प्यास आदि दुःख के कारण होती है। उस दुःख की निवृत्ति के लिए हम भोजनपानादि करते हैं और उसे ही सुख समझते हैं, इस प्रकार से दुःख की निवृत्ति को ही सुख समझा जाता है। इसी प्रकार ईर्यापथ (सोने, बैठने, खड़े होने आदि) में जो सुख की अनुभूति होती है वह भी दुःख (यकावट आदि) के

२. सुखस्यालगात्वात् मुद्गादिभावेऽपि माषराश्यप देश-वदित्येके ।"—अभि० को० भा० ६।३, पृ० ३२६।

३. सहै सुखेन सर्वं भवमार्या दुःखतः पश्यन्ति संस्कार दुःखतैक रसत्वात् । —वही० पृ० ३३०।

कारण होती है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि वास्तव में दुःख के प्रतिकार में या दुःख के विकल्प के रूप में सुख की अनुभूति होती है। तब तक दुःख की अनुभूति नहीं होती जब तक मनुष्य किसी दुःख विशेष में यथा—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, थकावट, काम, रागादि से उपद्रुत नहीं होता। इस प्रकार दुःख के प्रतिकार में ही सुख वृद्धि होती है, न कि सुख में। अथवा दुःख के विकल्पमान में अज्ञान (बाल) सुखानुभव करता है यथा—भार को एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर रखने से सुख प्रतीत होता है। अतः सौत्रान्तिकों के अनुसार यथार्थता सुख रूपी कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु अभिधामिकों (वैभाषिकों) का सौत्रान्तिकों से सुख के अस्तित्व पर बहुत बड़ा मतभेद है। बसुबन्धु ने 'अभिधर्म कोश भाष्य' के छठे कोश स्थान में जहाँ उन्होंने चार आर्य सत्तों की व्याख्या की है इसका विशद वर्णन दिया है। वैभाषिकों का कहना है कि "सुख नाम का द्रव्य है।" वैभाषिक सुख की सत्ता को इंकार करने वाले (सुखापवादी) सौत्रान्तिकों से पूछते हैं कि दुःख क्या है? (किमिदं दुःखम्) यदि वह बाधनात्मक है तो किस प्रकार से है, यह बतलाइये? यदि आप दुःख को उपपातक समझते हैं तो इसमें अनुग्राहक सुख की सिद्धि प्रमाणित होती है। यदि दुःख अनभिप्रेत है तो अभिप्रेत सुख की सिद्धि होती है। जो वेदना अपने लक्षण (सुखत्व) से अभिप्रेत है उसी से अनभिप्रेत नहीं हो सकती। वह अनभिप्रेत तभी होती है जग आर्य (विज्ञान) उसको प्रयत्न साध्य, प्रमाद युक्त, विपरिणामिनी अनित्य समझते हैं। इस दृष्टि से वह अवश्य अनभिप्रेत है किन्तु स्वलक्षण से सुख-वेदना अनभिप्रेत नहीं है। यदि वह स्वलक्षण से अनभिप्रेत होती तो किसी को भी सुख में राग नहीं होता, प्रकारान्तर से वह उसे दोष-युक्त देखता तथा उससे विरक्ति (वैराग्य) पाने का अभिलाषी होता। अतः वैभाषिक कहते हैं कि "सुख (सुखावेदना) स्वलक्षणतः है।"

१. तस्मिन्नस्येव सुखमिति—सौत्रान्तिकाः।

—अस्तित्वेव अभिधामिकाः—वही०।

२. उपपातकं चेत् अनुग्राहकं सुखमिति सिद्धम्। अनभिप्रेतं चेत् अनभिप्रेतं सुखमिति सिद्धम्।

वही० प० ३३१।

इसके बाद वैभाषिक सूत्र से उत्पन्न सुख के अस्तित्व के सम्बन्ध में उठाई गई आपत्तियों का समाधान करते हैं। यह जो भगवान ने कहा है कि जो कुछ वेदनीय है वह दुःख है। इस पर उनका (वैभाषिकों का) कहना है कि वह सूत्र नीतार्थ है, क्योंकि एक ओर सूत्र में कहा गया है कि 'संस्कार अनित्य को लेकर ही कहा गया है क्योंकि जो कुछ वेदनीय है वह दुःख है'। यह केवल दुःख के संदर्भ में ही नहीं कहा गया है।

वैभाषिक आगे पूछते हैं कि स्वलक्षणतः (स्वभावतः) समस्त वेदनीय धर्म दुःख यदि होते, तो तीन वेदनाओं—सुखा, दुःखा, असुखा-दुखा—सूत्र में प्रतिपादित कैसे होतीं। इसलिए स्वभावतः तीनों वेदनाओं का अस्तित्व है।

वैभाषिक आगे कहते हैं कि 'यह जो प्रतिपक्ष (सौत्रान्तिकों) का कहना है कि सूत्र में कहा है कि—सुखावेदना को दुःखतः देखना चाहिए, इसका क्या अर्थ है। वैभाषिक उत्तर देता है कि सूत्र में दोनों वेदनायें—सुख और दुःख अभिप्रेत हैं। अच्छे लगने के कारण (मनापत्वात्) स्वभावतः सुखत्व है और विपरिणामत्व तथा अनित्यत्व के कारण वही वेदना दुःख है। अर्थात् दुःखत्व की प्रतीति कराती है। आस्वाद के कारण सुख दृष्टि से जब मनुष्य देखता है तो वह बन्धन में आता है किन्तु वैराग्य के कारण जब दुःख दृष्टि से देखता है तो वह मुक्त होता है। जिस दृष्टि से देखने के लिए मोक्ष की प्राप्ति हो उस दृष्टि से देखने के लिए ही बुद्धों का उपदेश होता है। इसलिए ही कहा गया है कि 'सुखावेदना को दुःख जानना चाहिए।' अतः स्वभावतः सुखावेदना का अस्तित्व है। वैभाषिक एक गाथा को उद्धृत करते हैं—

संस्कारानित्यताज्ञात्वा अथो विपरिणामतां।

वेदना दुःखतः प्रोक्ता सुबुद्धेन प्रजानता इति ॥'

३. यत्किञ्चिद्वेदितमिदमत्रदुःखस्येति।" वही पृ० ३३१

४. संस्कारानित्यमानन्दमयासंघाय भाषितं संस्कारविपरिणामतां च यत् किञ्चिद्वेदितमिदमत्रदुःखस्येति। वही.

५. तुलना कीजिए—तिस्रो वेदना—सुखा वेदना, दुःखावेदना, अदुःखासुखा वेदना।"

—दीर्घनिका संगीति पर्याय सूत्र, पृ० १७१

६. दे० अंगुत्तरनिकाय ४ पृ० २१६।

(संस्कारों की अनित्यता और विपरिणाम को जानकर ही बुद्ध ने वेदना को दुःखतः बतलाया है।)

यदि सुखावेदना केवल दुःख रूप होती तो संस्कार अनित्यता और विपरिणामता का उल्लेख न होता।

वैभाषिक एक और सूत्र वचन से उत्पन्न आपत्ति का समाधान करते हैं कि 'सूत्र में कहा गया है—'दुःख मे सुख की प्रतीति संज्ञाविप्रयास है।' वे(वैभाषिक) इसका उत्तर बते हुए कहते हैं कि यह 'आभिप्रायिक उपदेश है। लोगों की काम गुण धोर भव (दूसरे जन्मादि) आदि मे सुख संज्ञा होती है उस संज्ञा को एकांत सुख समझना ही संज्ञा विप्रयास है। कारण की सुखावेदना अन्ततोगत्वा विपरिणाम शील धोर अनित्य है अतः उसे नित्य सुख समझना गलत है। अतः सुख की अभाव सिद्धि प्रमाणित नहीं होती। इस प्रकार वैभाषिक और कई सूत्रों तथा युक्तियों से सुख की द्रव्य-सत्ता सिद्ध करता है। वैभाषिक सुख की द्रव्य-सत्ता मानते हुए भी यह स्वीकार करने मे हिच-किचाहट नहीं करते हैं कि अन्ततोगत्वा सुख अनित्य है विपरिणाम शील है और दुःख में परिणत होता है। वास्तव में त्रिदुःखता^१ (दुःख-दुःखता, संस्कार-दुःखता और विपरिणाम दुःखता के कारण ही सब सांख्य दुःख हैं। इस प्रकार 'अभिधर्म कोश भाष्य' में दुःख सत्य का गम्भीर विवेचन किया गया है। अब महायान मे दुःख के विवेचन को देखें—महायान में दुःख को कुछ और ही दृष्टि से देखा गया है, बोधिसत्व दूसरों के दुःखों का परिवहन

करता है उनके दुःखों को सहने में उन्हें अद्भुत प्रसन्नता होती है। वास्तव मे देखा जाय तो महायान में दुःख का स्थान करुणा ने ले लिया है और महायान ग्रन्थो का करुणा ही मूल आधार है। हरदयाल ने बोधिसत्व डाक्ट्रिन् मे चन्द्रगोविन्द के शिष्य लेख नामक ग्रन्थ से एक उक्ति को (श्लो० १४) उद्धृत किया है जिसमे उन्होंने कहा है कि 'दूसरों के लिए दुःख सहन करना ही सुख है।' इसी प्रकार के विचार 'भवदान कल्पलता' और 'महायान सूत्रालंकार' में भी आते है। 'शिक्षा समुच्चय' में इसना तक कहा गया है कि 'बोधिसत्व सब सत्त्वों के दुःखों का भार अपने कंधों पर लेने के लिए तैयार है।' वह भीषण अपायों के दारुण दुःखों को भी सहन करता है ताकि सत्व मुक्ति प्राप्त करें, कितनी उदारता से वह कहते है—
“वरम् खलु पुनरहमेको दुःखितः स्याम न चे मे सर्व-सत्त्वा अपाय भूमि प्रपत्तिताः।” इस प्रकार दुःख की कल्पना को महायान मे एक नया मोड़ दिया गया है। दुःख से मुक्ति पाने की इच्छा नहीं अपितु दुःख सहन करने में ही सुख की अनुभूति महायान मे बोधिसत्व के आदर्श में परिलक्षित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान मे दुःख को हेय दृष्टि से नहीं देखा गया है या उससे मुक्ति पाने के लिए बोधिसत्व प्रयत्न शील नहीं दिखाई देता है। वहाँ तो सब सत्त्वों के प्रति करुणा के कारण बोधिसत्व दुःखों को सहन करने के लिए अग्रसर है।



१. अमि० को० भा०, पृ० ३३३।

२. मिलाइये—'दुःखादुःखतासङ्गारबुक्खता, विपरिणाम-दुःखता।' —दी. नि. संगीतिपर्याय सूत्र पृ. १७१

१. देखिये—बोधिसत्व डाक्ट्रिन्, पृ० १६०।

२. देखिये—शिक्षा समुच्चय, १६।३० पृ० १४।

“सज्जन और दुर्जन अपने ही सुगुण, दुर्गुणों के कारण होता है, सर्प के दांत में विष होता है। विच्छू के डंक में और ततइया के डंक में, और मक्खी के मुख में विष होता है। किन्तु दुर्जन के सर्व शरीर में विष रहता है। विषले जन्तु पीड़ित होने पर ही अपने अस्त्र का उपयोग करते हैं, किन्तु दुर्जन बिना किसी कारण के ही उसका प्रहार करते हैं।”

पारसनाथ किला के जैन अवशेष

कृष्णवत्त वाजपेयी

उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिला में नगीना रेलवे स्टेशन से लगभग ६ मील उत्तर-पूर्व की ओर बढापुर नामक कसबा है। वहाँ से करीब ३ मील पूर्व एक प्राचीन किला' के भग्नावशेष दिखाई पड़ते हैं। इसे 'पारसनाथ किला' कहते हैं। इस नाम से अनुमान होता है कि किसी समय वहाँ जैनतीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर था। कुछ वर्ष पूर्व इन तीर्थंकर की एक विशाल काय मग्न प्रतिमा बढापुर गांव से प्राप्त हुई है जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

इस किले के सम्बन्ध में अनेक जन श्रुतियाँ हैं। एक जन श्रुति यह है कि पारस नाम के राजा ने वहाँ अपना किला बनवाया था। श्रावस्ती के शासक सुहेलदेव के पूर्वजों के साथ भी इस किले का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। जो प्राचीन अवशेष अब मिले हैं उनसे इतना कहा जा सकता है कि ई० की दशवीं शताब्दी के लगभग किसी शासक ने वहाँ अपना किला बनवाया और कई जैन मंदिरों का निर्माण कराया।

यह बताना कठिन है कि इस किले तथा मन्दिरों को किसने नष्ट किया। संभव है कि रहैलों के समय में या उनके पहले यह बरबादी हुई हो। कालान्तर में इस स्थान को उपेक्षित छोड़ दिया गया और धीरे-धीरे वह बीहड़ बन गया।

कुछ वर्ष पहले मुझे इस स्थान को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश सरकार ने जंगल के एक भाग को साफ करवा कर उसे खेती के योग्य बना दिया है। वहाँ 'काशी वाला' नाम से एक बस्ती भी आबाद हो गई है। इसके उत्साही निवासियों ने जमीन को हमवार कर उसे खेती के योग्य कर लिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने वहाँ पर बिखरी हुई पुरानी मूर्तियों की भी रक्षा की है। सरदार रतनसिंह नाम के सज्जन ने किला से एक अत्यन्त कलापूर्ण पाषाण-प्रतिमा प्राप्त की है। यह बलुये सफेद

पत्थर की बनी है और ऊँचाई में दो फुट घाट इंच तथा चौड़ाई में दो फुट है। मूर्ति जैन तीर्थंकर महावीर की है। भगवान् महावीर कमलाकित चौकी पर ध्यान मुद्रा में आसीन हैं। उनके एक ओर नेमिनाथ जी की तथा दूसरी ओर चन्द्रप्रभु जी की खड़ी मूर्तियाँ हैं। तीनों प्रतिमाओं के प्रभा मंडल उत्कल्ल कमलों से युक्त हैं। प्रधान मूर्ति के शिर के दोनों ओर कल्पवृक्ष के पत्ते प्रदर्शित हैं। मूर्ति के घुंघराले बाल तथा ऊपर के तीन छत्र भी दर्शनीय हैं। छत्रों के अगल-बगल सुसज्जित हाथी दिखाये गए हैं, जिनकी पीठ के पीछे कला पूर्ण स्तम्भ हैं। हाथियों के नीचे हाथों में माला लिये हुए दो विद्याधर अंकित हैं। प्रधान तथा छोटी तीर्थंकर प्रतिमाओं के पार्श्व में चोरी बाहक दिखाए गए हैं।

मूर्ति की चौकी भी काफी अलंकृत है। उसके बीच में चक्र है, जिसके दोनों ओर एक-एक सिंह दिखाया गया है। चक्र के ऊपर कीर्ति मुख का चित्रण है। चौकी के एक किनारे पर धन के देवता कुबेर दिखाये गए हैं। और दूसरी ओर गोद में वच्चा लिए देवी अंबिका हैं। चौकी के निचले पहलू पर एक पंक्ति में ब्राह्मी लेख है जो इस प्रकार है—

‘श्री विरद्धमान समिदेवः। स्म १०६७ राणलसुत्त भरथ प्रतिमा प्रठपि।’ (अर्थात् संवत् १०६७ में राणल के पुत्र भरथ (भरत) द्वारा श्री विरद्धमान स्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई)।

लेख की भाषा शुद्ध संस्कृत नहीं है। पहला अंश ‘श्री विरद्धमान स्वामिदेवः’ का बिगड़ा हुआ रूप है। ‘स्म’ शब्द विक्रम संवत् के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसा मानने पर मूर्ति की प्रतिष्ठा की तिथि १०१० ई० आती है। पारसनाथ किले से इस अभिलिखित मूर्ति तथा समकालीन अन्य मूर्तियों के प्राप्त होने से पता चलता है कि १०वीं ११वीं शती में पारसनाथ किला जैन धर्म का एक प्रच्छा

केन्द्र हो गया था। जान पड़ता है कि वहाँ एक बड़ा जैन विहार भी था। इस स्थान की खुदाई से प्राचीन इमारतों के कई अवशेष प्रकाश में आये हैं। किला का सर्वेक्षण और उत्खनन करने पर अधिक महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी।

पारसनाथ किला की जो आंशिक सफाई हुई है उसमें अनेक बेल-बूटेदार ईंटें, पत्थर के कला पूर्ण खम्भे, सिरदल, देहली तथा तीर्थंकर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अनेक शिला पट्टों पर बेल-बूटे का काम बहुत सुन्दर है। एक पत्थर पर संगीत में सलग्न स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। इन अवशेषों में से मुख्य का परिचय नीचे दिया जाता है—

सं० १—**दरवाजे का सिरदल**—इस सिरदल के बीच में कमल-पुष्पों के ऊपर दो सिंह बैठे हुए दिखाये गए हैं। सिंहासन के ऊपर भगवान तीर्थंकर ध्यान मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके अगल-बगल में एक-एक तीर्थंकर मूर्ति खड्गासन में दिखाई गई है। मध्य भाग के दोनों ओर भी इसी प्रकार का चित्रण है। सिरदल के दोनों कोनों पर एक-एक तीर्थंकर प्रतिमा खड्गासन में दो खम्भों के बीच में बनी है। सभी तीर्थंकरों के ऊपर छत्र है।

सं० २—**देहली का भाग**—यह अवशेष उस स्थान से प्राप्त हुआ जहाँ से भगवान महावीर जी की बड़ी प्रतिमा मिली है। इसके बीच में कल्प वृक्ष का अलंकरण है, जिसके प्रत्येक ओर दो-दो देवता हाथ में मंगल घट लिए हुए खड़े हैं। उनके खड़े होने का त्रिभंगी भाव बहुत आकर्षक है। इस पत्थर में किनारे की ओर शेर की मूर्ति है। ऐसी ही मूर्ति पत्थर के दायें कोने पर भी थी, जो टूट गई है।

सं० ३—**संगीत का दृश्य**—एक अन्य देहली पर, जो किले के बीच से मिली थी, संगीत का दृश्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है। इसमें एक ओर कई आकृतियाँ तथा अलंकरण बने हैं। तथा दूसरी ओर भाव पूर्ण मुद्रा में एक युवती नृत्य कर रही है। उसके अगल-बगल मृदंग और मंजीर बजाने वाले पुरुष उकेरे हुए हैं। इन तीनों की वेशभूषा बड़े कला पूर्ण ढंग से दिखाई गई है।

सं० ४—**द्वार स्तम्भ**—पारस नाथ किले से अनेक

सुन्दर द्वार स्तम्भ भी मिले हैं। एक स्तम्भ के नीचे मकर के ऊपर खड़ी हुई गंगा दिखाई गई है। उनके अगल-बगल दो परिचारिकाएँ त्रिभंगी भाव में प्रदर्शित हैं। ये मूर्तियाँ ग्रैवेयक, स्तनहार, किर्किण सहित मेखला तथा अन्य अलंकरण धारण किये हुए हैं। खम्भे के ऊपर पत्रावली का अंकन दिखाया गया है।

सं० ५—**यमुना सहित द्वार स्तम्भ**—इस स्तम्भ पर नीचे के भाग में अपने वाहन कच्छप पर आरूढ़ यमुना दिखाई गई है। इनके साथ भी उसी प्रकार परिचारिकाएँ प्रदर्शित हैं जैसी कि पहले द्वार स्तम्भ पर। इससे पता चलता है कि ये दोनों खम्भे एक ही द्वार पर लगे हुए थे। द्वार खम्भों के ऊपर गंगा-यमुना का चित्रण गुप्त काल के प्रारम्भ से मिलने लगता है। गुप्त काल के महाकवि कालीदास ने दरवाजे पर लगी हुई देवी रूपा गंगा-यमुना की मूर्तियों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

“मूर्ते च गंगा यमुने तदानी सचामरे देव से विषाताम्”
(कुमार सभ ७, ४२) अर्थात् उस समय मूर्ति रूप में गंगा और यमुना हाथों में चँवर लिए हुए देव की सेवा में उपस्थित थी।)

सं० ६—**द्वारपाल सहित द्वार-स्तम्भ**—इस खम्भे के नीचे एक मोटा दंड लिए द्वारपाल खड़ा है। उसकी लम्बी दाढ़ी तथा बालों का जूड़ा दर्शनीय है। इसका ढंग उसी प्रकार का है जैसा कि मध्य कालीन चंदेल कला में मिलता है। इस खम्भे के ऊपरी भाग में फूलों का अलंकरण दिखाया गया है।

सं० ७—**द्वार स्तम्भ का निचला भाग**—इस खम्भे का केवल नीचे का हिस्सा बचा है, जिस पर पूर्वोक्त ढंग का एक द्वारपाल खड़ा है। इसकी भी वेशभूषा पहले के द्वारपाल जैसी है।

सं० ८—**भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति**—यह मूर्ति बड़ापुर गाँव से आई थी। यह पारसनाथ किला से ही वहाँ किसी समय गई होगी। दुर्भाग्य से इसका मुँह, हाथ तथा पैरों का भाग तोड़ डाला गया है। यह मूर्ति काफी विशाल है। भगवान ध्यान मुद्रा में सिंहासन के ऊपर बैठे हुए हैं। आसन पर सर्प की ऐंडकार कुण्डलियाँ दिखाई गई हैं और सिर के ऊपर फण का घटाटोप है। अगल-

शोध-कण

श्री यशवंत कुमार मलैया

(१) दमोह से कुछ दूरी पर कुंअरपुर गाँव है। अभी मैं वहाँ गया था और उसे शोध की सम्भावनाओं से भर पूरा पाया। यहाँ बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव चारों मतों की मूर्तियाँ पायी जाती हैं। एक बुद्धमूर्ति के पादमूल में दो पंक्तियों का लेख अंकित है—“ओम् नमो बुद्धाय। ये धर्मा हेतु प्रभवा हेतु तेषाम् तथा गतो ह्यवदत श्री नी। एव वादी महाश्रमणः।”

दूसरा और तीसरा वाक्य प्रसिद्ध बौद्ध मंत्र है, जो नालंदा में बहुतायत से पाया गया है। इस इलाके में बौद्धमूर्ति पाये जाने का यह संभवतः पहला अवसर है।

एक दान स्तम्भ में सं० १३६५ में श्री वाघदेव जू द्वारा कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण को दान दिए जाने का उल्लेख है।

बगल नाग और नागिन की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उनके ऊपर ध्यानमुद्रा में तीर्थंकर-युग्म की प्रतिमाएँ हैं चरण चौकी के ऊपर दो अलंकृत सिंह दिखाये गए हैं। यह मूर्ति भगवान महावीर की पूर्वोक्त प्रतिमा की तरह बड़ी कलापूर्ण है। संभवतः मध्य काल में पारसनाथ किला की भूमि पर निर्मित मुख्य मंदिर की यह मूर्ति थी।

पारस नाथ किले के कितने ही प्राचीन अवशेष इधर-उधर पहुँच गए हैं। मुझे नगीना के जैन मंदिर में कई प्राचीन मूर्तियाँ देखने को मिली, जिनकी शिल्प-रचना पारस नाथ की कला के अनुरूप है। इन मूर्तियों में ध्यान मुद्रा में बैठे हुए तीर्थंकर की एक मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। स्तम्भ का एक भाग भी यहाँ सुरक्षित है जिस पर खड्गासन में भगवान तीर्थंकर दिखाए गए हैं इन सभी प्राचीन अवशेषों को सुरक्षित रखना आवश्यक है। मध्य काल में उत्तर भारत में जैन धर्म का जो विकास हुआ उसे जानने में ये कला कृतियाँ तथा अभिलेख सहायक सिद्ध हुए हैं।

अनेक तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त यहाँ के दो जैन मूर्ति खण्ड उल्लेखनीय हैं। एक सर्वतोभद्र चौपहलू मूर्ति-खण्ड में हर पार्श्व पर एक ऊपर एक नीचे इस तरह दो अंकन हैं। एक पार्श्व पर ऊपर एक पद्मासन तीर्थंकर और नीचे एक चतुर्भुजा देवी अंकित है। तीर्थंकर के नीचे “वर्धमान देव” और देवी के नीचे “श्री चक्रेश्वरी महादेवी” उत्कीर्ण किया हुआ है यह आश्चर्य जनक है; क्योंकि अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान की शासन देवी सिद्धायिनी है। दूसरे पार्श्व पर ऊपर पद्मासन तीर्थंकर और नीचे एक बालक को लिए देवी अंकित है। तीर्थंकर के नीचे शांतिनाथ अंकित है। तीसरे पार्श्व के सिर पर फणाटोप वाले एक पद्मासन और दो खड्गासन तीर्थंकर और इनके नीचे एक छः भुजा वाली ढाल, धनुष, तलवार आदि लिए देवी अंकित है। इनके नीचे का लेख मिट गया है। चौथे पार्श्व पर ऊपर सरस्वती अंकित है और नीचे दो शिष्यों को उपदेश देते हुए आचार्य अंकित है। इनके नीचे लेख में ‘रामसिध नामक किसी व्यक्ति का उल्लेख है।

इसी तरह के एक अन्य अंश के एक पार्श्व पर युद्ध रथ दो हाथी-सवार और दूसरे पार्श्व पर एक आर्यिका दो अन्य आर्यिकाओं को उपदेश देती हुई अंकित है। इसके नीचे एक लेख था, जिसके कुछ अक्षर ही शेष रह गए हैं। जिससे उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

आर्यिकाओं का अंकन पाये जाने का यह पहला ही अवसर है। लिपि के आधार पर दोनों मूर्ति खण्ड १२वीं शताब्दी के मालूम होते हैं।

(२) बहोरीबंद की शांतिनाथ भगवान की विशाल मूर्ति में एक लेख उत्कीर्णित है। इस लेख को श्री शंकरलाल अधिकारी पुरातत्व विभाग (नवभारत १६-१२-५४ में) ने इस तरह पढ़ा था—“स्वस्ति श्री वि० सं० १०१०

फाल्गुन सुदी ६ भोमे श्रीमदगयाकर्णदेवविजयराज्ये राष्ट्रकूटकुलोद्भव, महासामन्ताधिपति श्रीमद् गोल्हण देवस्य प्रवर्धमानस्य । श्रीमद् गोलापूर्वाम्नाये वेल्प्रभाटिकायामुरुकृताम्नाये तर्क-ताकिक छत्रबूडामणि-श्रीमन्माधव नन्दिनानुगृहीतः साधु-श्रीसर्वधरः तस्य पुत्रः महाभोजः धर्म दानाध्ययनरतः । तेनेदं कारितं रम्पं शान्तिनाथस्य मन्दिरम् ।

स्वलात्यमसन्नक-सूत्रधारः श्रेष्ठिनामा, तेन वितान च महाध्वेतं निमित्तमसुन्दरम् ।

श्रीमन्चन्द्रकराचार्याम्नाये देशीयगणान्वये समस्त विद्या-विनयानन्दित विद्वज्जनाः प्रतिष्ठाचार्याः श्रीमन्तः सुभद्राः चिरं जयतु ।”

इस लेख में दूसरे वाक्य में “गोलापूर्वाम्नाये” निश्चित ही “साधु श्री सर्वधरः तस्य पुत्रः महाभोजः” के साथ सम्बद्ध है क्योंकि आचार्य (माधव-न्दि) की जाति कभी नहीं लिखी जाती ।

इस तरह यह गोलापूर्व जाति का प्राचीनतम उल्लेख है । लेकिन आश्चर्य की बात है कि बहोरीबन्द क्षेत्र द्वारा अक्सर इस तरह का प्रचार किया जाता है कि “विक्रम सं० १०१० एक हजार फागुन बदी ६ सोम श्रीमद् गया-कर्णदेव ने प्रतिष्ठा कराई ।”

अभी मन्दिर के बाहर एक बोर्ड लगाया गया है । जिसमें पहला वाक्य तो ठीक लगाया गया है लेकिन गोला-पूर्वाम्नाये” शब्द विचित्र तरह से तोड़ा गया है जिससे “गोल्ला” किसी व्यक्ति के नाम का भाग बन गया है । दूसरे शब्दों में “गोलापूर्वाम्नाये” शब्द प्रबन्धक स्वीकार नहीं करते ।

मैं अभी बहोरीबन्द गया था । लेकिन मूर्ति पर चिकनाई रखने के उद्देश्य से तेल का लेपन किया जाता है । इस कारण लेख पर तेल की परत चढ़ी हुई है ।

प्रबन्धक श्री कल्याणदास जी, जो उत्साही और योग्य

पुरुष हैं, उन्हें तेल की परत साफ करवा कर लेख की फोटो-कापी प्रकाशित कराना चाहिए ।

(३) ग्रहार के मूर्ति लेखों में एक बात नोट करने की है । मूर्तियों के निर्माता विविध जातियों के व्यक्ति हैं, जिन्होंने मूर्तियों का निर्माण करा कर प्रतिष्ठित किया है । इनसे विविध उपजातियों के नामों का परिज्ञान होता है । इनमें २४ गोल पूर्वी की (१२०२ से अब तक) १५ जैस-वाल (सं० १२०० से १२८८ तक) १३ गृहपति (सं० १२०३ से १२३७ तक) है । अन्य जातियाँ पोरपाट (परवार), खन्डेलवाल, मेडवाल, लमेंचू, मड्डित, माधुव, गोलाराड, गंगराट, वंश्य, माधुर, महेशणउ, देउवाल, और अवधपुरा है ।

एक मूर्ति “ठकुर पद्मसिंह” की है जो स्पष्टतः क्षत्रिय वर्ण के होंगे । एक अन्य अवधपुरा जाति की मूर्ति में श्रावक के नाम के आगे ‘ठकुर’ है । यह गोत्र है । यहां ठकुर शब्द जाति वाचक नहीं है ।

कुछ मूर्तियों के निर्माताओं के आगे ‘पंडित’ लगा है । ये ब्राह्मण होंगे ।

‘कुटकान्वय’ के लेख उल्लेखनीय है । इनके निर्माताओं के नाम के आगे ‘पंडित’ है लेकिन यह ‘अन्वय’ पिता-पुत्र वंश परम्परा का नहीं, गुरु-शिष्य परम्परा का लगता है ।

संवत् १७२० के एक लेख में गोलापूर्व जाति के पेंथवार गोत्र का उल्लेख है । यह गोत्र वर्तमान में नष्ट हो चुका है ।

(४) वर्तमान में गोलापूर्वों का स्वाभिमान प्रसिद्ध है । लगता है यह प्रवृत्ति भूत काल से भी थी । ग्रहार के सं० १२८८ के मूर्तिलेख में “प्रख्यातवंशे गोलापूर्वान्वये” है । कवि शंकर ने सं० १५२६ में हरिषेण चरित्र में लिखा है—“गोलापूर्व वंश सुपवित्र ।”

[अनेकान्त अप्रैल ७१]

नरेणा का इतिहास

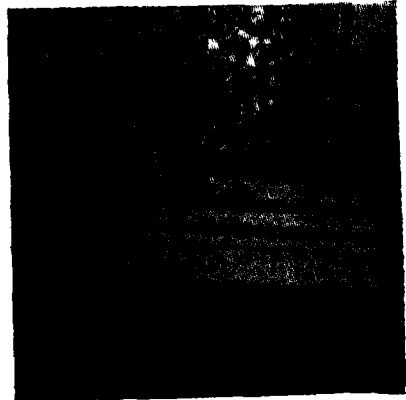
डा० कैलाशचन्द्र जैन

नरेणा राजस्थान में फुलेरा जंक्शन से करीब बारह मील की दूरी पर स्थित है। यह स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत प्राचीन है तथा ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में समृद्ध अवस्था में था। शिलालेखों और साहित्य में इसके प्राचीन नाम, 'नराज' और 'नराणक' मिलते हैं। इस पर सांभर और अजमेर के चौहानों का राज्य था। उस समय यह सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान समझा जाता था। ११७२ ई० में पृथ्वीराज तृतीय ने यहां पर अपना सैनिक कैंप (पड़ाव) डाला था। इसका सैनिक महत्व राणा कुंभा के समय (१४३३-६८) तक चलता रहा। वह इसके प्रसिद्ध किलों का उल्लेख करता है जिसको कि जीतना ब तोड़ना बड़ा कठिन है।

नरेणा में प्रारम्भ में मुसलमानों के आक्रमण हुए जान पड़ते हैं। १००६ ई० में महमूद गजनी ने नरायणा पर आक्रमण किया। यहां का राजा बड़ी बहादुरी से अपने देश की रक्षा के लिए लड़ा किन्तु उसकी हार हुई। सुल्तान ने बुरी तरह से यहां की मूर्तियों को तोड़ा तथा बड़ी लूटमार करके गजनी को लौट गया। प्राचीन समय में व्यापार की दृष्टि से भी इसका महत्व था; क्योंकि इसका व्यापार भारत के कोने-कोने तथा विदेशों से होता था। प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम ने इस स्थान को अलवर के पास वाला नरायणपुर बतलाया है। अन्य विद्वानों ने भी इसको स्वीकार कर लिया है।

किन्तु यह विचार ठीक ज्ञात नहीं होता है। अलवर के पास वाला नरायणपुर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में नरायण के नाम से प्रसिद्ध नहीं था। इसके विपरीत नरेणा प्राचीन समय में नरायण के नाम से विख्यात था। यह नगर उस समय समृद्धि-शाली था तथा यहां धनी व्यक्ति बसते थे। यहां पर जमीन से निकली हुई दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्तियाँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि इस स्थान पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ था। जो राजा महमूद गजनी से लड़ा था, वह शाकभरी के दुर्लभराज का पुत्र गोविंदराज द्वितीय था। फिरिश्ता भी इस बात का उल्लेख करता है कि महमूद सांभर की तरफ से सोमनाथ की ओर आया था।

चौहानों के राज्य में नरेणा जैनधर्म का बड़ा केन्द्र हो गया था। बारहवीं सदी के लेखक सिद्धसेन सूरि ने इसको अपने सकल तीर्थस्तोत्र में जैनियों के प्रसिद्ध तीर्थ-रूप में वर्णन किया है। 'जैन साधु



खरणपाडुका जेनाचार्य, और सरस्वती

इस स्थान पर रहा करते थे। १०२६ ई० को

७. वही, पृ२३।

८. पाटन के जैन भंडारों की सूची पृ० ३१२-१६।

१. खरतरं गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २२।

२. पाटन के जैन भंडारों की सूची, पृ० ३१२-३६१।

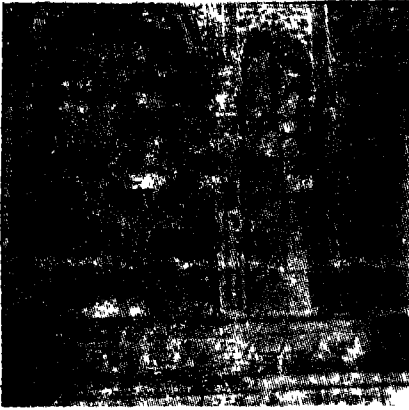
३. एपिग्राफिया इंडिका जिल्द २६, पृ० ८४।

४. खरतरं गच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० २५।

५. आर्कियालाजिकल सर्वे इंडियल एगुअल रिपोर्ट १९०७-०८, पृ० २०५।

६. दी स्ट्रिंगल फोर अम्पायर, पृ १०।

पादुका पर जैन आचार्य का नाम खुदा हुआ है।^१ ११७० ई० के बिजोलिया के शिलालेख के अनुसार प्राग्वाट् जाति के लोलक के पुरखे पुन्यरासि ने यहां पर वर्द्धमानस्वामी का जैन मंदिर बनवाया।^२ १०७६ के यहां से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार प्राग्वाट् जाति के मथन नाम के व्यक्ति ने अपने परिवार के सदस्यों सहित मूर्ति प्रतिष्ठा की।^३



जैन तीर्थंकर की खड्गासन मूर्ति

इन शिलालेखों से यह विदित होता है कि पोर-वाल जैन यहां पर रहते थे। पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमा ६५२ ई० की है।^४ यहां पर अन्य प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी हैं। यहां से प्राप्त जैन देवियों की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से उच्च हैं। सरस्वती की प्रतिमा पर १०४५ का शिलालेख

६. संवत् १०८३ माघ सुदी १४ आचार्य गुणचन्द्रस्य हृदं पाद युग्म।

१०. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २६, पृ० ८४ (ब्लोक, ३६)।

११. संवत् ११३५ फागुन सुदि प्राग्वाट् जात्य श्रेष्ठि सुजन सुत मथन सुश्रेयोर्थ पितृपय भातृ माल्हा भार्या मथन सुत चाहड सहिता भार्या प्रथम मनमख बाहु-बलि देव निज श्रेयोर्थ प्रतिष्ठापितं।

२. संवत् १००६ वैशाख बुदि १।

अंकित है।^५ इसके अतिरिक्त दो श्वेत पाषाण



सिंहवाहिनी देवी

तथा एक काले पत्थर की सिंह पर बैठी बहुत ही कलापूर्ण सिंहवाहिनी की मूर्तियाँ हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के लेखक धनपाल अपनी कविता 'सत्यपु-रीय महावीर उत्साह' में यहां के महावीर स्वामी के मन्दिर का उल्लेख करता है।^६ संभव है जो प्राचीन मूर्तियाँ, स्तंभ तथा तोरणद्वार भैरुजी के मन्दिर के समीप से प्राप्त हुए हैं, वे सब महावीर के मंदिर के प्राचीन अवशेष हों। ऐसा लगता है कि यह समस्त मन्दिर संगमरमर का बना हुआ हो तथा अपनी पूर्ण अवस्था में कला का एक अद्भुत नमूना होना चाहिए। यह मन्दिर बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिया गया क्योंकि इस मन्दिर में बाद की मूर्तियाँ नहीं मिलतीं।

११६२ ई० में मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज तृतीय को हराने के पश्चात् नरेणा पर देहली के सुलतानों का अधिकार हुआ। १३८८ ई० में फिरोज तुगलक की मृत्यु के बाद मुसलमानों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। जफरखां ने जो नागौर का स्वतंत्र शासक हो गया था, नागौर का राज्य

१३. संवत् ११०२ वैशाख सुदि ६ श्री नेमिनारवीय समस्त बालमो प्रतिष्ठा कारिति, श्रीं ह्रीं श्री सरस्वती नमः।

१४. जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अंक १।

अपने भाई शम्सखां को दिया। शम्सखां के पश्चात् फिरोजखां सुलतान हुआ। इस समय नरेणा भी नागौर के अन्तर्गत था। मोकल जो १४२० ई० में मेवाड़ का महाराणा हुआ, उसने नागौर के सुलतान फिरोजखां को हराकर समस्त सपादलक्ष को जीत लिया।^{१५} इस प्रकार नरेणा भी मोकल के अधिकार में आ गया। बाद में फिरोजखां के छोटे भाई मुजेरखां ने मोकल को हराकर नरेणा को फिर से हस्तगत किया। १४३७ ई० में उसने किले तथा तालाब की मरम्मत करवाई तथा अपने नाम पर तालाब का नाम रखा।^{१६} यहां के मुसलमान सुल्तानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़ा। मुजेदखां ने यहां के प्राचीन कला-पूर्ण हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करके जामा मस्जिद बनवाई। इस मस्जिद के स्तम्भ अब भी हिन्दू कला का दिग्दर्शन कराते हैं। मस्जिद के समीप ही एक विशाल दरवाजा है जो त्रिपोलिया के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के अवशेषों से बना है। अब भी कलापूर्ण आकृति के खुदे हुए चित्र इसकी शोभा बढ़ाते हैं। मेवाड़ का फिर से नरेणा पर अधिकार हो गया। राणा कपूर के १४३६ के शिलालेख से पता चलता है कि मेवाड़ के राणा कुंभा ने फिर से नरेणा के किले को जीत लिया। अकबर के राज्य (१५५६ ई०-१६०६) यह नगर अजमेर सरकार के आधीन था।^{१७} १६०५ ई० के शिलालेख के अनुसार अकबर स्वयं इस स्थान पर आया था।^{१८}

मुगलों के समय में नरेणा पर कच्छावों का राज्य रहा। आम्बेर के राजा पृथ्वीराज क पुत्र

१५. एनुअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम अजमेर, १९२४-२५ न० ६।

१६. एपिग्राफिया इंडो मुस्लिमिका, १८१३-२४, पृ० १५। अभी इस तालाब को गौरीशंकर तालाब कहते हैं।

१७. आइने अकबरी, जिल्द २, पृ० २७३।

१८. आर्कियालाजिकल सर्वे इंडियन एनुअल रिपोर्ट १९२५-२६, पृ० १२८।

जगमल ने तेजसिंह और हम्मारदेव को हराया और जोबनेर और नरेणा पर अपना अधिकार कर लिया। सम्राट् अकबर ने उसको एक हजार का इनामत दिया।^{१९} महाराणा प्रताप के विरोध में लड़ने के लिए वह मानसिंह के साथ गया। जगमल के दो पुत्र थे। एक का नाम खंगार और दूसरे का नाम रामचन्द्र। बड़े पुत्र खंगार से खंगारवंश प्रारम्भ हुआ जो जोबनेर और नरेणा पर राज्य करता था। उसके छोटे लड़के ने जम्बू राज्य की स्थापना की और इस कारण वह काश्मीर क राजाओं का पुरखा समझा जाता है। राव खंगार एक बहादुर सेनापति था जिसने सिरोही के राव सुल्तान तथा बून्दी के राव दुर्जनसाल हाड़ा को हराया। राव खंगार के नारायणदास तथा मनोहरदास दो पुत्र थे जिनको नरेणा तथा जोबनेर की अलग-अलग जागीर दी गई। नारायणदास के तीन लड़के दुर्जनसाल, शत्रुसाल तथा गिरधरदास अयोग्य तथा निकम्मे होने के कारण मुगल सम्राट् जहांगीर को अपनी सेवाओं से खूश नहीं रख सके। इस कारण जहांगीर ने २४६००० की नारायणदास की जागीर बीकानेर के राजा मूरसिंह को दे दी।^{२०} तथा नरेणा नारायणदास के भतीजे भोजराज को दे दिया। भोजराज एक वीर सैनिक था। उसने जहांगीर जनाने की खुरम के अचानक आक्रमण से रक्षा की। उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर सम्राट् ने उसका मनसब बढ़ा दिया। वीर होने के साथ-साथ भोजराज को धर्म के प्रति रुचि थी। उसने नरेणा को दादुपंथी संप्रदाय के संस्थापक दादुदयाल को दान में दे दिया। इसके पश्चात् नरेणा इस सम्प्रदाय का एक बड़ा केन्द्र हो गया।

मध्य कालीन युग में भी नरेणा के लोग जैन धर्म का पालन करते थे। प्रायः जैन साधु इस समय यहां पर आते जाते रहते थे। १६९१ ई० में ईडर के भट्टारक क्षेमेन्द्र कीर्ति और चाकसू के भट्टारक

१९. वीर विनोद, पृ० १९७।

२०. दयालदास की ख्याति, पृ० १५२।

खजुराहो के आदिनाथ मंदिर के प्रवेश द्वार की मूर्तियां

मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी

मध्य प्रदेश के छतरपुर स्थित खजुराहो का भारतीय वास्तु तथा शिल्प कला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान खजुराहो ग्राम के समीप अवस्थित जैन मन्दिरों का समूह खजुराहो का पूर्वी देव मन्दिर समूह कहलाता है। घण्टई मन्दिर के अतिरिक्त समस्त नवीन व प्राचीन दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित जैन मन्दिर एक विशाल किन्तु नवीन परकोटे के अन्दर स्थित है। ग्यारहवीं शती में निर्मित आदिनाथ मन्दिर, जिसके प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण मूर्तियों का अध्ययन हमारा अभीष्ट है, पार्वनाथ मन्दिर (६५४ ईसवी) के समीप ही स्थित है। जैन शिल्प के अध्ययन की दृष्टि से आदिनाथ मन्दिर की विशिष्टता मन्दिर की बाहरी भित्तियों के विभिन्न राथ-काष्ठों में स्थापित १६ जैन देवियों की मूर्तियों, जिनमें से दो मूर्तियाँ संप्रति अपने स्थान से गायब हैं और जो जैन धर्म के १६ विद्या देवियों का अकन करती प्रतीत होती हैं, और प्रवेश द्वार के सोहवटो (डोर लिटेल) द्वार

जगतकीर्ति एक ही समय में इस स्थान पर आये और उनके उपलक्ष में एक बड़ा उत्सव लोगों द्वारा मनाया गया।" भक्तामर स्तोत्रवृत्ति का प्रांत नयनरश्चि ने इसी स्थान पर तैयार को।"

सामाजिक दृष्टि से भी नरेणा का बड़ा महत्व है क्योंकि साढ़े बारह वैश्यो की जातियों में नरेणा जाति का भा उल्लेख है जसा १६३६ ई० में लिखी हुई सिंहासन बत्तीसी स पता चलता है।" अब भा कुम्हारो के गोत्रों में इस स्थान के नाम पर नरेणा कुम्हार मिलते हैं।

२१. उदयपुर के सभवनाथ के मन्दिर में भट्टारक पट्टावली, देखो ग्रथ सख्या ४३०।

२२. बून्दी के शास्त्र भट्टार का ग्रथ न० २४७।

२३. जैन गुर्जन कवियों, जिल्द १, पृ० २३५।

शाखाओं और चौखट पर उत्कीर्ण विभिन्न देवियों के अकन में है। कुछ प्रमुख जैन देवियों यथा लक्ष्मी, पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी के अतिरिक्त प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण अन्य आकृतियों की निश्चित पहचान उनके जैन परम्परा में प्राप्त वर्णनों से मेल न खाने की वजह से कठिन है। फिर भी इस लेख में मात्र वाहन के आधार पर, विशेषकर द्वारा शाखाओं के, आकृतियों की पहचान की चेष्टा की गई है, क्योंकि जहाँ तक भुजाओं में प्रदर्शित आयुधों या प्रतीकों के आधार पर इनके पहचान का प्रश्न है, वह उनमें किसी निश्चिन्त क्रम या किसी विशेष अन्तर के अभाव में सम्भव नहीं है। खजुराहो के जैन शिल्प में सर्वत्र कलाकार ने परम्परा के निर्वाह से ज्यादा नवीनताओं के समावेश की ओर ध्यान दिया है। कुछ विशिष्ट देवी यथा, अम्बिका, सरस्वती, चक्रेश्वरी, पद्मावती, लक्ष्मी, कुबेर, गोमुख, धरणेन्द्र के अकन में ही कुछ सीमा तक कलाकार जैन परम्परा का निर्वाह करता हुआ प्रतीत होता है। यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि प्रवेश द्वार की सभा आकृतियों के वाहन, आयुध व स्वरूप काफी अस्पष्ट हैं। सभी चतुर्भुज आकृतियाँ अर्ध-स्तम्भों से वेष्टित अलग-अलग रथिकाओं में स्थापित हैं।

प्रवेश द्वार के मध्य में ललाटबिम्ब पर उत्कीर्ण चतुर्भुज चक्रेश्वरी लालतासन मुद्रा में आसन है, जिसका एक पैर नीचे लटका है और दूसरा आसन पर स्थित है। देवी की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः गदा और कमल (?) प्रदर्शित हैं, जब कि निचली भुजाओं में अभय मुद्रा (दाहिनी) और शङ्ख (बायीं)। देवी के आसन के नीचे प्रदर्शित उड्डायमान मानव आकृति निश्चित रूप से देवी का वाहन गरुड़ है। देवी के दाहिने पैर के नीचे अवस्थित एक भग्न आकृति देवी का उपासक है। इस चित्रण में चक्रेश्वरी के हाथों में सर्वत्र प्रदर्शित चक्र

की अनुपस्थिति आश्चर्यजनक है। देवी के स्कन्वों के ऊपर प्रत्येक पार्श्व में एक मालाधारी उड्डायमान गन्धर्व की मूर्तिगत किया गया है। द्वार द्विज की चक्रेश्वरी मूर्ति के आधार पर इस मन्दिर का जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ को समर्पित होना, जिनके यक्षिणी के रूप में गरुडवाहिनी चक्रेश्वरी का उल्लेख प्राप्त होता है, निश्चित है।

डोर-लिटेल के बायें कोने पर ललितासन मुद्रा में आसीन चतुर्भुज अंबिका की मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी के दाहिनी ओर उनका वाहन सिंह चित्रित है। जैन परंपरा में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी के रूप में मान्य अंबिका को खजुराहो के जैन शिल्प में काफी लोकप्रियता प्राप्त थी। अंबिका की लोकप्रियता का प्रमाण उनकी स्वतंत्र मूर्तियों के अतिरिक्त डोर-लिटेल के कोनों पर उत्कीर्ण अंबिका की आकृतियाँ भी हैं। अंबिका की ऊपरी और निचली दाहिनी भुजाओं में क्रमशः कमल और आम्रलुगवि चित्रित है, जबकि ऊपरी वाम भुजा में पुस्तक व कमल। देवी की बायीं गोद में उनका पुत्र, जिसे वे अपनी निचली भुजा में सहारा दे रही हैं, बैठा है जो अपने हाथ से देवी के स्तन छू रहा है। देवी के शीर्ष भाग के दोनों ओर आम्रफल से युक्त टहनियाँ चित्रित हैं।

डोर लिटेल के दाहिने कोने पर पाँच सर्पफणों के घटाटोपों से आच्छादित चतुर्भुज देवी ललितासन मुद्रा में उत्कीर्ण है। सर्पफणों और पाश के आधार पर इसकी पहचान २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षिणी पद्मावती से की जा सकती है। पद्मावती की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः पाश और कमल (अकुर) चित्रित है, जबकि निचली अनुरूप (Corresponding) भुजाओं में अभय मुद्रा और कमण्डल प्रदर्शित हैं। देवी का वाहन अनुपस्थित है। जार्डन संग्रहालय, खजुराहो में स्थित एक डोर-लिटेल (नं० १४६७) में भी पद्मावती की एक भुजा में पाश देखा जा सकता है।

लगाएँबिब के चक्रेश्वरी चित्रण में दोनों पार्श्वों में दो चतुर्भुज खड़ी देवियाँ उत्कीर्ण हैं। दोनों ही आकृतियों के ऊपरी दोनों हाथों में सनालकमल चित्रित हैं, जब कि निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः वरदमुद्रा

और कमण्डलु (नीचे लटकता) प्रदर्शित है। हाथों में प्रदर्शित कमल के आधार पर इन देवियों की सम्भावित पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है।

अब हम प्रत्येक द्वार शाखा पर उत्कीर्ण चार देवियों के अंकों का अध्ययन करेंगे, जो सभी जैनधर्म की विशिष्ट देवियाँ होनी चाहिए। यद्यपि इन देवियों की निश्चित पहचान संभव नहीं है, पर मात्र वाहनों के आधार पर इनके पहचान का प्रयास किया गया है। आयुधों के आधार पर इन देवियों की पहचान असंभव है; क्योंकि उनके अंकों में परस्पर कोई विशेष अन्तर नहीं दिखता, है और कुछ सीमित प्रतीकों को ही थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ प्रत्येक के साथ चित्रित किया गया है। ललितासन मुद्रा में आसीन सभी चतुर्भुज मूर्तियाँ अर्ध स्तंभों से वेष्टित रथिकाओं में स्थापित हैं। सर्वप्रथम हम बायीं द्वार शाखा की मूर्तियों का अध्ययन करेंगे। ऊपर से पहली मूर्ति के ऊपरी दाहिनी और बायीं भुजाओं में क्रमशः शक्ति और पाश (?) प्रदर्शित है, जब कि निचली अनुरूप भुजाओं से अभय और वरद मुद्रा व्यक्त है। देवी के बायीं ओर उत्कीर्ण वाहन बैल या श्वान (?) प्रतीत होता है। यदि वाहन को बैल स्वीकार किया जाय तो इस आकृति की पहचान २६वें तीर्थंकर सुविघ्नाथ की यक्षिणी सुतारा से की जा सकती है, जिसका वाहन बैल है। पर यह ध्यातव्य है कि बैल वाहन केवल श्वेतांबर परम्परा में वर्णित है और दिगंबर परम्परा में इसी को महाकाली नाम से संबोधित किया गया है और इसका वाहन कूर्म बताया गया है। दूसरी मूर्ति की दाहिनी ऊपरी व निचली भुजाओं में क्रमशः पाश और अभय मुद्रा प्रदर्शित है, जबकि बायीं ऊपरी भुजा में सनाल कमल। देवी की निचली वाम भुजा खंडित है। देवी के दाहिनी ओर चित्रित वाहन गोरैया (?) है, जिसे जैन परम्परा में किसी भी देवी के वाहन रूप में नहीं स्वीकार किया गया है। फलतः इस देवी की पहचान किसी ज्ञात जैन देवी से करना संभव नहीं है। तीसरी मूर्ति के ऊपरी दाहिने व बायें हाथों में शक्ति व पुस्तक व कमल प्रदर्शित है, जबकि निचली दाहिनी हाथ भग्न है और बायें में फल (मानुलिंग) चित्रित है। देवी के वाम पार्श्व में प्रदर्शित वाहन निश्चित रूप से मृग

है, जो दिगंबर परंपरा में ७वीं विद्यादेवी काली और ११वें तीर्थंकर श्रेयासनाथ की यक्षिणी गौरी के वाहन के रूप में वर्णित है। चौथी मूर्ति, जिसका वाहन नष्ट हो गया है, के ऊपरी दोनों भुजाओं में सनाल कमल और निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः अभय मुद्रा और कमण्डलु प्रदर्शित है। वाहन के अभाव में भुजाओं में स्थित कमल के आधार पर इसकी पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है।

अब हम दाहिनी द्वार शाखा की मूर्तियों को देखेंगे। ऊपर से पहली मूर्ति की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में सनाल कमल और पुस्तक व कमल प्रदर्शित है, जबकि अनुरूप भुजाओं में अभय मुद्रा और कमण्डलु चित्रित है। देवी के वाम पार्श्व में उत्कीर्ण आकृति श्वान (?) प्रतीत होती है, जिसके आधार पर देवी की पहचान संभव नहीं प्रतीत होती है, अन्यथा पुस्तक व कमण्डलु के आधार पर इसे सरस्वती का चित्रण स्वीकार किया जा सकता था। दूसरी आकृति, जिसका शीर्ष भाग खंडित है, की दोनों दाहिनी भुजाएं भग्न हैं, और बायीं भुजाओं में पुस्तक व कमल (ऊपरी) व फल (निचली) प्रदर्शित है। देवी के वाम पार्श्व में उत्कीर्ण वाहन श्वान या मृग (?) है। मृग स्वीकार करने पर बायीं द्वार शाखा की तीसरी आकृति के समान ही इसकी पहचान ७वीं विद्या देवी काली या यक्षिणी गौरी से की जा सकती है, जिसकी पुष्टि शेष हाथों में प्रदर्शित समान प्रतीकों से भी होती है। तीसरी आकृति की चारों भुजाएं खण्डित हैं, और बायीं और अक्रित वाहन शुक है। यहाँ पुनः वाहन के आधार पर देवी की पहचान संभव नहीं है। चौथी आकृति की दोनों दाहिनी भुजाएं संप्रति भग्न हैं और बायीं भुजाओं में सनाल कमल (ऊपरी) और फल (निचली) प्रदर्शित है। देवी के बायीं और उत्कीर्ण मकर वाहन के आधार पर देवी की पहचान १६वीं विद्यादेवी महामातसी या १२वें तीर्थंकर वासुपुज्य की यक्षिणी गान्धारी, से की जा सकती है।

द्वार शाखाओं के इन आकृतियों के अतिरिक्त चौखट के दोनों कोनों पर दो ललितासन मुद्रा में आसीन चतुर्भुज पुरुष आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। दाहिने कोने की तुन्दली

आकृतिकी ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः परशु और सनाल कमल प्रदर्शित है, जबकि निचली वाम भुजा से अभय मुद्रा व्यक्त है। देवता की दाहिनी भुजा का आयुध भग्न हो गया है। बायें कोने की आकृति के निचले दोनों हाथ खण्डित हो चुके हैं और ऊपरी दोनों भुजाओं में पूर्ववत् परशु और सनाल कमल प्रदर्शित है। दोनों ही आकृतियों का मुख मण्डल काफी अस्पष्ट है। इन आकृतियों की संभावित पहचान हाथों में प्रदर्शित परशु और तुन्दलीपन के आधार पर आदिनाथ के यक्ष गोमुख से की जा सकती है, पर आश्चर्य की बात है कि अन्य मूर्तियों के विपरीत आकृति गोमुख नहीं है, वैसे मुखाकृति के काफी अस्पष्ट होने के कारण इसके गोमुख न रहे होने के बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

चौखट पर उत्कीर्ण बायें कोने की पुरुष आकृति के बगल में गज लक्ष्मी की एक चतुर्भुज मूर्ति देखी जा सकती है। स्वतंत्र रथिका में स्थापित देवी पद्मासन मुद्रा में कमल पर आसीन है। देवी ने ऊपरी दोनों भुजाओं में कमल धारण किया है, जिस पर चित्रित दो गज आकृतियाँ मूर्ति के गज लक्ष्मी होने का निश्चित प्रमाण है। देवी की निचली दोनों भुजाएं भग्न हो चुकी हैं। देवी की मुखाकृति, भुजाएं पयोधर काफी भग्न हैं। दाहिनी ओर की रथिका में स्थापित पद्मासन मुद्रा में आसीन देवी की सभी भुजाएं खण्डित हैं, पर पिछली मूर्तियों की तरह ही यह भी चतुर्भुज रही होगी। वैसे इन आकृतियों के ऊपरी दाहिनी भुजा में कमल रहे होने का प्रमाण अभी शेष है। देवी के आसन के नीचे वाहन कूर्म प्रदर्शित है, जिसके आधार पर देवी की पहचान ६वें तीर्थंकर सुविघ्नाथ के यक्षिणी महाकाली से की जा सकती है। पर सर पर प्रदर्शित तीन सर्पफणों का घटाटोप उपर्युक्त पहचान के विरुद्ध है।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त बायें और दाहिने द्वार शाखाओं के निचले भाग में क्रमशः गंगा और यमुना की चतुर्भुज आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। द्वार शाखाओं के नीचे गंगा और यमुना का अंकन खजुराहो के जैन और हिन्दू मंदिरों दोनों ही में समान रूप से प्रचलित था। मूर्ति में गंगा की केवल एक भुजा ही शेष है, जिसमें कमल

प्रदर्शित है। यमुना की चारों भुजाएँ खण्डित हो चुकी हैं। गंगा और यमुना की आकृतियों के पीछे क्रमशः उनके वाहन मकर और कूर्म चित्रित हैं।

डोर लिटें के ऊपर एक पैनल (architrave) में तीर्थंकरों की माता द्वारा उनके जन्म से पूर्व देखे गये १६ शयन स्वप्नों को अंकित किया गया है^१, जिसका अंकन खजुराहो के समस्त जैन मंदिरों के प्रवेश द्वार पर देखा जा सकता है। यहां यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि कई प्रवेश द्वारों, जो नवीन मंदिरों के निर्माण में प्रयुक्त हुए हैं, और कई डोर लिटेंस जो संग्रहालयों में स्थित हैं व नवीन मंदिरों में प्रयुक्त हुए हैं। खजुराहो में कई जैन मंदिरों के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं, जिनकी सख्या किसी भी प्रकार २० से कम नहीं थी। साथ ही श्वेतांबर परंपरा में प्रचलित १४ स्वप्नों के विपरीत दिगंबर परंपरा के १६ स्वप्नों का चित्रण खजुराहो के जैन शिल्प के दिगंबर संप्रदाय से सम्बन्धित रहे होने का अकाट्य प्रमाण है। स्वप्नों के चित्रण के पूर्व बायीं ओर तीर्थंकर की माता को शय्या पर लेटे और सेवक आकृतियों से वेष्टित चित्रित किया गया है, जिसके बाद एक पुरुष और स्त्री को वार्तालाप करते हुए उत्कीर्ण किया गया है, जो संभवतः किसी साधु से तीर्थंकर की माता द्वारा स्वप्नों के फल पूछे

१. महापुराण (आदिनाथ), सर्ग १२, VV; हरिवंश-पुराण, सर्ग ८, श्लोक ५८-७४।

जाने का चित्रण है। फिर क्रम से गज, बैल और सिंह को उत्कीर्ण किया गया है। तदुपरान्त चतुर्भुज लक्ष्मी को कमल पर आसीन चित्रित किया गया है, जिसकी ऊपरी भुजाओं में कमल प्रदर्शित है और निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः अभय मुद्रा और कमण्डलु चित्रित हैं। पांचवे स्वप्न माला के चित्रण के पश्चात् एक वृत्त के मध्य उत्कीर्ण अश्व छोटे स्वप्न चन्द्रमा का अंकन है। सातवें स्वप्न में, द्विभुज सूर्य को एक वृत्त के मध्य में उत्कुटिकासन मुद्रा में दोनों भुजाओं सेनाल कमल धारण किये उत्कीर्ण किया गया है। ८वां स्वप्न मत्स्य युगल ९वां दो कलश, १०वां दिव्य झील और ११वां समुद्र हैं, जिसमें कूर्म, मत्स्य आदि जल के जानवर दिखाए गए हैं। दो छोरों पर दो सिंहों द्वारा धारित और मध्य में धर्मचक्र युक्त सिंहासन १२वां स्वप्न है। १३वें स्वप्न विमान में आसीन द्विभुज आकृति की भुजाओं में अभय मुद्रा (दाहिनी) और कमण्डलु (बायीं) चित्रित हैं। १४वां स्वप्न नागेन्द्र। भवन है, जिसमें सर्पफणों के घटाटोपों से आच्छादित द्विभुज नाग-नागी की आकृतियाँ अंकित हैं। दोनों की दाहिनी भुजाओं में अभय मुद्रा और बायीं में कमण्डलु चित्रित हैं। १५वां स्वप्न घनराशि एक ढेर के रूप में उत्कीर्ण है। अन्तिम स्वप्न घूम बिहीन अग्नि के अंकन में अग्नि शिखाओं भामण्डल से युक्त द्विभुज अग्नि की तुन्दली श्मश्रुयुक्त आकृति की भुजाओं में अभय मुद्रा और मुक्त (?) प्रदर्शित है।

★

आत्म-विश्वास

धरती में अनाज बोते समय किसान को कुछ आत्म-विश्वास की आवश्यकता प्राप्त होती है। वह सुन्दर मूल्यवान भविष्य पर भरोसा जो करता है। तब क्या धर्म का आचरण करने के लिए मानव को आत्म-विश्वास की आवश्यकता नहीं होती? आत्म-विश्वास के बिना उसका धर्माचरण भी ठीक नहीं हो पाता। आत्म-विश्वास या आत्मनिष्ठा ही मानव को सर्वत्र प्रतिष्ठा दिलाती, और आदर्श की ओर ले जाती है। और वही उसके धर्म में साधक बनती है।

तीर्थंकर भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव का उद्देश्य एवं दृष्टि

श्री रिषभदास रांका

तीर्थंकर भगवान श्री महावीर ने प्राणीमात्र की उसकी आत्मा की अनन्त शक्ति का बाँध कराते हुये विषय-वासनाओं एवं विकारों से मुक्त बनकर पवित्र जीवन की महान् प्रेरणा दी। उन्होंने जगत की कल्याणकारी स्वावलम्बन एवं पुरुषार्थ का उद्बोधन देते हुए जीने की वह कला सिखाई जिसके द्वारा सामान्य आत्मा भी क्रमशः अपना विकास कर परमात्मा बन सकता है। अहिंसा, अनेकान्त, सयम और त्याग की जो दृष्टि जगत को महावीर ने दी है वह अग्राई हजार बरसों के बाद वर्तमान युग की अनेकानेक समस्याओं को सुलभाने में पूर्ण सहायक बन सकती है। महावीर का उपदेश देश, काल अथवा जाति-सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं था। उनकी दृष्टि विशाल थी।

ऐसे महान तीर्थंकर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर सारे संसार में उनके अमर उपदेशों एवं जीवन-साधना की स्मृति श्रद्धा, कृतज्ञता एवं भक्तिभाव से होनी ही चाहिए और उसमें भी उनके भक्त जनों द्वारा इस अवसर पर उत्साह, जागृति एवं उत्थान होना स्वाभाविक है। जैन समाज में इस महान उपलक्ष के लिए अनेक योजनाएँ, कार्यक्रम और चिन्तन चल रहा है। करोड़ों रूपयों की घनराशि एकत्र की जा रही है जिससे महोत्सव सारे संसार में धूमधाम से मनाया जाय और भगवान महावीर तथा जैन धर्म की प्रभावना बढ़े। इसके लिये जैन पत्र-पत्रिकाओं, सम्मेलनों एवं सभाओं में सुभाषों, विचारों एवं योजनाओं की बाढ़ आ रही है। सभाएँ, जलूश, स्वागत-समारोह, भाषणमालाएँ फिल्म-निर्माण, संस्थाओं की स्थापना, मन्दिर निर्माण, साहित्य-प्रकाशन, विश्वविद्यालय, शोध-संस्थान, स्मारक, डाक-टिकट आदि एवं डाडिया-नृत्य आयोजित करने तक के विविध सुभाव आ रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक

व्यक्ति अपने विचार, इच्छा और शक्ति के अनुसार उत्साहपूर्वक सुभाव प्रस्तुत कर रहे हैं और इन सुभावों की क्रियान्विति के लिये प्रयत्नशील भी हैं।

मुख्य प्रश्न यही है कि भगवान महावीर और जैन-धर्म के इस प्रसंग पर अधिकाधिक प्रभावना हो। प्रभावना का हमारे यहाँ जो प्रचलित रूप है वह सब जानते ही हैं आचार्यों के पदार्पण अथवा धार्मिक उत्सवों पर प्रभावना की दृष्टि से हम स्वागत समारोह, भव्य जुलूस, भाषण, सह-धार्मिक-भोजन कराना अथवा नारियल, मिठाई, बताशे या अन्य सामग्री बाँटकर हम प्रभावना करते हैं। हम यह नहीं कहना चाहते कि ये कार्य प्रभावना की दृष्टि से उचित नहीं हैं। हमारा संकेत यही है कि क्या केवल इतना मात्र करना ही तीर्थंकर भगवान महावीर एवं जैनधर्म की प्रभावना जैसी हानी चाहिए वैसी सम्भव है?

यदि नहीं तो इनके अनतिरिक्त अन्य कौन से मार्ग या कार्य हैं जिनसे अधिक प्रभावना हाँ सकती है—सच्ची प्रभावना की जा सकती है।

हमारी नम्र राय में किसी महापुरुष के प्रति अपनी सच्ची भक्ति एवं श्रद्धा व्यक्त करने तथा उनकी स्मृति को अधिक तीव्र एवं ताजा बनाने के लिये दो मुख्य मार्ग हो सकते हैं—एक मार्ग है, उनके उपदेशों का बाह्य साधनों द्वारा प्रचार और दूसरा मार्ग है तत्वों को जीवन में उतार कर जीवन एवं व्यवहार उदाहरण से प्रचार करना।

प्रचारात्मक साधनों का अपना विशेष महत्व है किन्तु केवल प्रचार स्थायी नहीं होता उसकी नींव रचनात्मक आधार पर होनी आवश्यक होती है। हम भगवान महावीर के जीवन एवं सिद्धान्तों की सभाओं, व्याख्यानों, संस्थाओं अथवा अन्य साधनों से चाहे जितनी व्याख्यायें न करे वह हमारे लिये तब तक अक्षरी है जब तक

हम स्वयं अपने जीवन में उन सिद्धान्तों को उतारने की दिशा में प्रयत्नशील न हों। यदि हमारे जीवन और आचार-व्यवहार में महावीर के सिद्धान्त मूर्तरूप लेते हैं तो वह हजारों भाषणों एवं सेमिनारों से ज्यादा प्रभावशाली प्रचार होता है।

दुनिया के सभी महापुरुषों के अनुयायियों अथवा भक्तों ने अपने आराध्य की पूजा और प्रचार की ही भक्ति मान लिया है; क्योंकि यह मार्ग सरल और सस्ता है लेकिन होना इसके विपरीत चाहिये था। भक्त की भक्ति तो आराध्य के बताए मार्ग पर चलने में है न कि उनके बताये मार्ग से उलटा चलते हुए केवल उनके सिद्धान्तों के गीत गाने में। इसमें संदेह नहीं कि त्याग सयम और साधना का मार्ग उच्च एवं कठिन है जिसे अपनाने की भूमिका सभी प्राणियों की एक जैसी नहीं होती, अपनी अपनी शक्ति और स्थिति की मजबूरिया है लेकिन जिसकी जितनी योग्यता एवं शक्ति हो उतना प्रयास तो इस दिशा में करते हुए आगे बढ़ना ही चाहिए ऐसे भी प्रसंग और उदाहरण सामने आते हैं जब त्याग धर्म का उपदेश देने के पहले उसकी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति पर ध्यान देना होता है। भगवान बुद्ध ने अपने सामने मूर्ख लोगों को उपदेश के लिए लाए जाने पर अपने शिष्यों को कहा था कि इन्हें भोजन दो फिर उपदेश। इस दृष्टि को ध्यान में न रखा जाय तो धर्म सार्वभौम नहीं बन सकता।

हम अन्य धर्मों से जैनधर्म एवं उसके तीर्थंकरों को महान् सिद्ध करते हैं। तत्त्वों की गहराई एवं उच्चता अन्य दर्शनों से अधिक बताते हैं। यह सही है लेकिन संसार के सामने प्रत्यक्ष रूप में इसे सिद्ध करने में हम अब तक सफल नहीं हुए। संसार में अहिंसा और प्रेम के उदाहरणों में बुद्ध, ईसा और गांधी का नाम ही बार-बार आता है इस गहराई से चिन्तन कर हमें पुनर्विचार करना एवं आवश्यक सुधार करना आवश्यक है।

बौद्ध धर्म में तत्त्वों और सिद्धान्तों के प्रचार के साथ साथ सेवा को स्थान दिया। उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया जिसके फलस्वरूप अनेक देश बौद्ध धर्मावलम्बी बने। यद्यपि उन देशों में एक ही बौद्ध धर्म के कुछ

भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं लेकिन मूल उपदेश एवं सिद्धान्तों में अन्तर नहीं। जो थोड़ी भिन्नता है वह स्थानीय वातावरण, स्थिति एवं सुविधा असुविधा के साथ बौद्ध धर्म का एकात्मक होना ही है। यदि ऐसी उदारता या सुविधा नहीं होती तो भारत का बौद्ध धर्म जापान चीन तिब्बत, वर्मा, मलाया आदि बयो और कैसे अपनाते? धर्म किसी देश विशेष का होता भी तो नहीं है।

ईसाइयों के प्रचार की हम भले ही कितनी आलोचना करें किन्तु उनकी सेवा की विशेषता को नकार नहीं सकते। घनघोर, जालों, आदिवासियों, कोढ़ियों, दुःखियों एवं दीनों में अपना सारा जीवन समर्पित कर देने वाले पादरी वहाँ शिक्षा एवं सेवा के साथ ईसा के तत्त्वों का प्रचार करते हैं, वह प्रचार स्थायी बनता है। ईसाई मिशनरियों की शिक्षा-संस्थाओं का स्तर भी ऊँचा और अच्छा रहता है कि वहाँ जैन समाज के कट्टर व्यक्ति भी अपने बच्चों को पढ़ने भेजने में गौरव अनुभव करते हैं। हमारे कथन का आशय यही है कि ईसा की कर्पणा का शब्दों से उतना प्रचार नहीं हो पाता जितना सेवा द्वारा पादरियों के जीवन-व्यवहार से हो रहा है।

भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के महोत्सव की हम आत्म-निरीक्षण एवं आत्मचिन्तन का अवसर मानते हैं। हमें चिन्तन करना है कि जैन धर्म को क्या हमें कुछ लाख लोगों तक ही सीमित रखना है अथवा उसे जन धर्म के रूप में व्यापक, जगतारक धर्म बनाना है। भगवान महावीर विश्व-उद्धारक, विश्व कल्याणकारी तथा उनके धर्म, उनके उपदेश को विश्वधर्म बनाने की क्या योजना है? क्या इसके लिए कुछ विशिष्ट, धार्मिक आचारों का पालन, भक्ति, उपासना, पूजा, तपस्या अथवा व्यक्तिगत साधना ही पर्याप्त है या इससे आगे बढ़ने की भी जरूरत है।

हमारी विनम्र राय में तीर्थंकर भगवान महावीर के कल्याणकारी तत्त्वों एवं उपदेशों का सम्यक् प्रचार, अपने जीवन के आचार एवं जनसेवा द्वारा ही करना अधिक उपयोगी लगता है। २५वीं निर्वाण शताब्दी महोत्सव की विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों की नींव में ये दो मूल और मुख्य लक्ष्य होने चाहिए। हमारा आचार सच्चे जैन

जैनधर्म के संबंध में भ्रांतियां एवं उनके निराकरण का मार्ग

श्री वंशीधर शास्त्री एम. ए.

विश्व भर में दर्शन, इतिहास एवं धर्म के सम्बन्ध में प्रकाशन होते रहते हैं। विश्व की विभिन्न भाषाओं में जैनधर्म, जैनदर्शन एवं जैन इतिहास के सम्बन्ध में क्या लिखा जाता है जैन लोग बहुत कम जानते हैं। जो जानते हैं वे उसे प्रकाश में नहीं लाते।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैन धर्म का समस्त धर्मों में एक स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु उसका पूर्ण तथा सही विवरण पाठकों तक नहीं पहुँचता है। मैं समझता हूँ कि इसका उत्तरदायित्व उन प्रकाशकों से सम्बन्धित व्यक्तियों के अतिरिक्त जैन विद्वानों, प्रकाशकों एवं समाज पर अधिक है जो जैन वाङ्मय को पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं ला सके हैं और विश्व के कोने-कोने में नहीं पहुँचा सके हैं। इस दिशा में दिगम्बर जैन समाज का प्रयास तो बहुत ही अल्प रहा है। बैंग्लोर चम्पतराय जी जैसे कुछ ही विद्वानों ने जैन सिद्धान्तों आदि की जानकारी पश्चिम वालों को दी है। अन्य देश वालों ने अर्जुनों द्वारा लिखित अपूर्ण एवं कहीं-कहीं भ्रामक सामग्री

को पढ़ा और उसी के आधार पर वे लिखते रहे हैं।

इस प्रसंग में पाठकों का ध्यान श्री अरनेस्ट एडवर्ड कीलट द्वारा लिखित 'ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स' में जैन धर्म सम्बन्धी विवरण की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

यह पुस्तक विश्व भर के प्रमुख धर्मों का इतिहास प्रस्तुत करती है एवं प्रामाणिक समझी जाती है। एक समालोचक ने लिखा है यह पुस्तक प्रत्येक विचारशील व्यक्ति, भले ही वह आस्तिक हो या नास्तिक के लिए 'आवश्यक' है।

इस पुस्तक में ५७३ पृष्ठ हैं। सुदूरपूर्व के धर्मों सम्बन्धी अध्याय ६४ पृष्ठों में लिखा गया है—जिनमें हिन्दू धर्म पर २० पृष्ठ, जैन धर्म पर १ पृष्ठ, बौद्ध धर्म पर २६ पृष्ठ एवं शेष पृष्ठ कान्फ्यूसियज्म, लाओइज्म एवं थियोसोफी पर हैं। इस पृष्ठ राशि से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म का कितना संक्षिप्त विवरण दिया गया है। अन्य धर्मों के परिचय में उनके प्रवर्तकों एवं सिद्धान्तों का

का आचार हो और जनसेवा के कार्यों द्वारा हम महावीर की वाणी का प्रचार करें।

सेवा कार्य की योजना की दृष्टि के साथ-साथ साहित्य-निर्माण, सेमिनार, व्याख्यान, कला, प्रदर्शनी, आयोजन, जुलूस आदि के कार्यक्रम हो तो दोनों पक्ष सबल हो जाते हैं। हमें तो यह ध्यान में रखना ही है कि उत्साह के आवेश में हम इस प्रसंग पर जैसा-तेसा कुछ भी कार्य करने में अर्थ और शक्ति बर्बाद, न करें क्योंकि जो कुछ भी किया जाय वह महावीर की गरिमा के अनुकूल होना चाहिए।

जैन समाज द्वारा आज भी उनकी संख्या के अनुपात में सेवाके अनेक कार्य होते हैं किन्तु उसके पीछे योजना और व्यापक दृष्टि का अभाव रहता है। अधिकांश सेवा संस्थाएं

व्यक्ति, गुरु, आचार्य अथवा सम्प्रदायों के नामों पर चलती हैं। हमारा लक्ष्य रहे कि निर्वाण महोत्सव तक अब जो भी नई संस्था जैन समाज द्वारा बने, उसमें भगवान महावीर का ही नाम रहे।

हमारा हमने इन पंक्तियों द्वारा केवल चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट किया है कि इस महान अवसर के पीछे उद्देश्य एवं दृष्टि क्या हो? यह तो समाज के मनीषियों, चिन्तकों एवं नेताओं का कार्य है कि इस ओर सही दिशा दर्शन करें। आशा है कि २५वीं निर्वाण शताब्दि का महोत्सव मनाते समय आत्मचिन्तन पूरक यह दृष्टि रहेगी कि स्वयं के जीवन में जैनत्व का विकास किया जाय। एवं सेवा द्वारा उसका संसार में प्रचार करने की योजनाएं प्रारम्भ की जाय।

विस्तृत विवरण दिया गया है।

इस विवरण का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—
जैन धर्म हिन्दू धर्मों में से एक बहुत ही दिलचस्प एवं बहु प्रचलित धर्म है फिर भी इसका सक्षिप्त विवरण हो पर्याप्त है। ये भी सिक्खों की तरह, ब्राह्मणों द्वारा नास्तिक माने जाते हैं किन्तु वे संभवतः सही रूप में स्वतंत्र माने जाते हैं। यद्यपि इनके धर्म (जैन धर्म) का मूल ब्राह्मण धर्म में है। ईसा से लगभग ५ शताब्दी पूर्व हुए वर्धमान द्वारा संस्थापित यह धर्म वेदों की मान्यता अस्वीकार करता है, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को इस प्रकार परिवर्तित करता है कि साधु जीवन मृत्यु के बाद अमरत्व प्रदान करता है, समस्त ब्राह्मण देवी देवताओं को हटाता है, जाति भेद को अमान्य करता है। उनके आगम ग्रंथ इन सिद्धान्तों का स्वतंत्रता पूर्वक उल्लेख करते हैं। उनके चौबीस अमर साधु अधिकतः ईश्वर का स्थान ग्रहण किए हुए हैं। कुछ वस्तुतः यह मानते हैं कि जैन धर्म व्यवहारतः एकेश्वरवादी हैं, किन्तु पूर्वी धर्मों में जैसा प्रायः होता है, शास्त्रों की भाषा इस मत पर अस्पष्ट है।

अनेक विषयों में वर्धमान अपने समकालीन बुद्ध से मिलते हैं। बुद्ध की तरह उन्होंने ब्राह्मण धर्म का साथ छोड़ा, और उन्हीं की तरह से जीवन की पवित्रता को मान्यता दी, यहां तक कि कीड़े भी न मारे जाने चाहिए, पौधे भी मनुष्य जाति के भाई की तरह माने जाने चाहिए। किन्तु कई विषयों में स्पष्ट भेद भी है। विशेषतः साधुओं के अन्तिम साध्य स्थान-निर्वाण-के सम्बन्ध में।

उक्त विवरण में क्या भूले है या कितनी अपूर्णता है उसे साधारण पाठक भी आसानी से जान सकता है। मैं समाज के विद्वानों विशेषतः शोधरत तथा पी० एच० डी० उपाधि विभूषित विद्वानों से अनुरोध करता हूँ कि वे इन विषयों पर विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजें जिनमें जैन धर्म, इतिहास, दर्शन, कला आदि सम्बन्धी पूर्ण विवेचन किया जावे ताकि तत्सम्बन्धी भ्रातियाँ दूर हों

एक विश्व साहित्य में जैन धर्म को यथोचित स्थान मिले।

इस सम्बन्ध में विद्वत् परिषद या संघ जैसी संस्थाओं को आगे आकर योजनाबद्ध कार्य करना चाहिए। इस योजना की रूप रेखा इस प्रकार हो सकती है—

१. भारतीय एवं अन्य भाषाओं की उन पुस्तकों की सूची बनाई जावे जिनमें जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, कला, पुरातत्त्व आदि का विवरण है।

२. प्रारंभ में हिन्दी एवं अंग्रेजी की उक्त पुस्तकों का संकलन करवाया जाय। यथा संभव अन्य भाषाओं की प्रमुख पुस्तकों के संकलन का भी प्रयास रहना चाहिए।

३. इन पुस्तकों में आगत जैन विषयों से संबन्धित सामग्री संकलित कर अलग से साइक्लोस्टाइल करवा कर विभिन्न विद्वानों को भेजी जावे।

४. जैन विषयों से सम्बन्धित संकलित सामग्री निम्न प्रकार की होगी—

(क) सही विवरण हो और पर्याप्त भी हो।

(ख) सही हो किन्तु अपर्याप्त हो।

(ग) सही न हो और पर्याप्त भी न हो।

५. इन पर अधिकारी विद्वान अपने मत प्रस्तुत करें और उनको इस प्रकार उपयोग किया जावे।

(आ) यदि लेखक जीवित न हो तो प्रकाशक को सुधार करने की प्रेरणा दी जावे। वे शायद पुस्तक में परिवर्तन न कर सके किन्तु उन्हें उस मत को नवसंस्करण में उल्लेख कराने की प्रेरणा दी जावे।

(इ) दोनों ही स्थितियों में उक्त अभिमतों को पत्र-पत्रिकाओं में या स्वतंत्र रूप से प्रकाशित कराते रहना चाहिए। आशा है विद्वान इस ओर ध्यान देगे। इस कार्य में वे भाई भी सहयोग दे सकते हैं जो अध्ययनशील हैं वे विभिन्न पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं में आगत जैन सम्बन्धी उल्लेखों का संकलन करते रहें और उन्हें छपा दें ताकि अन्य विद्वान उन पर अपनी राय लिखें।

ब्रह्म जिनदास एक अध्ययन

परमानन्द जैन शास्त्री

ब्रह्म जिनदास मूलसंघ सरस्वती गच्छ के विद्वान् भट्टारक सकलकीर्ति के कनिष्ठ (लघु) भ्राता और शिष्य थे। जैसा कि जंबू स्वामी चरित और हरिवंश पुराण की प्रशस्तियों के निम्न पद्यों से स्पष्ट है—

भ्रातास्ति तस्य प्रथितः पृथिव्यां

सद् ब्रह्मचारी जिनदास नामा ।

ततोति तेन चरितं पवित्रं

जम्बूदि नामा मुनि सत्तमस्य ॥२८॥

सद्ब्रह्मचारी गुरु पूर्वकोत्स्य,

भ्राता गुणज्ञोस्ति विशुद्धचित्तः ।

जिनेश भक्तो जिनदास नामा,

कामारिजिता विदितो हरिप्रियाम् ॥२९॥

इनके माता-पिता पाटन के निवासी और हूमड़ वंशी थे। इनकी माता का नाम शोभा और पिता का नाम कर्णसिंह था। इनके पिता समृद्ध थे भोगोपभोग की सभी सम्पदा इन्हें सुलभ थी, फिर इन्हें सांसारिक भोग-विलास और घन-धान्य सम्पदा साधु जीवन के रोकने में समर्थ न हो सके। क्योंकि अन्तर में वैराग्य की जागृति जो थी। उन्होंने उन सबका परित्याग कर अपने भाई का अनुसरण किया।

ब्रह्म जिनदास प्राकृत-संस्कृत, गुजराती और राजस्थानी भाषा और हिन्दी से परिचित थे। बाल ब्रह्मचारी थे। इसी से उन्होंने अपने को, 'कामारि जेता' विशेषण के साथ उल्लेखित किया है। इनका समस्त जीवन अध्ययन और ग्रंथ रचना में व्यतीत हुआ है। इन्होंने विविध स्थानों में विहार कर जनता को जैनधर्म में स्थिर किया है।

संवत् १४८१ में बडाली नगर के चातुर्मास में 'अमीभरा' के पार्वनाथ मन्दिर में भट्टारक सकलकीर्ति ने ब्रह्म जिनदास के अनुग्रह से, मूलाचार प्रदीप की रचना

की थी। ब्रह्म जिनदास के जीवन का अधिकांश समय पठन पाठन और आत्म-साधना के साथ साहित्य सृजन में व्यतीत होता था। मालूम होता है सरस्वती का वरद हस्त इनके ऊपर था। इसी से वे विविध प्रकार के साहित्य का निर्माण कर सके। उन्होंने विभिन्न स्थानों से भ्रमण कर जनता को केवल सम्बोधित ही नहीं किया था, किन्तु उन्हें धर्मयोग में भी स्थिर किया। जैन सिद्धास्त के सूक्ष्म तत्त्वों के रहस्य का परिचय पाने की ओर उनका उत्तना ध्यान नहीं था, जितना ध्यान काव्य, चरित, पुराण, कथा, भक्ति, पूजा और रासो साहित्य रचना की ओर था। आप के बनाये हुए अनेक पद प्रचलित हैं। मैंने ब्रह्मचारी जिनदास के गुजराती में छपे हुए अनेक पद देखे थे, पर मैं उस समय उनको नोट नहीं कर सका। वित्तियां, स्तुति, और पूजाएं भी उपलब्ध हैं। इससे उनके भक्ति रस में विभोर होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

ब्रह्म जिनदास प्रतिष्ठाचार्य भी थे इन्होंने अपने गुरु भ्राता सकलकीर्ति के समान जिनमूर्तियों की प्रतिष्ठा की है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियों का अन्वेषण अभी नहीं किया गया है। अन्वेषण करने पर अनेक मूर्ति लेख उपलब्ध हो सकते हैं। गंजवासीदा के बूढ़ेपुरा के जैन मन्दिर में ब्रह्म जिनदास के उपदेश से प्रतिष्ठित सं० १५१६ की

१. "तिहि अवसरे गुरु आविया बडाली नगर मभार रे ।
चातुर्मास तिहां करो शोभतोआवक कीषा हर्ष अपार रे ।
अमीभरा पधरावियां वधाई गावे नरनार रे ।
सकल संघ मिल बंदियां पाम्या जय जयकार रे ।
× × ×
संवत् चौदह सौ इक्यासी भला, आवणमास लसंत रे ।
पूर्णिमा दिवसे कर्या मूलाचार महंत रे ।
× × ×

भ्राता ना अनुग्रह थकी कीषा ग्रंथ महान रे ।

मूर्ति प्राप्त है, जैसा कि उसके निम्न मूर्ति लेख से स्पष्ट है—

“सं० १५१६ माघसुदी ५ श्री मूलसंघे भ० सकल-
कीर्तिदेवः तच्छिष्य ब्र० श्री जिनदामय्य उपदेशात् ब्र०
मल्लिदास जोगडा पोरवाड साहु नाऊ भार्या नेई आता
षणा भार्या हर्षी नित्यं प्रणमति ।”

—गंजवासोदा मूर्ति लेख बृहपुरा मन्दिर

आपके अनेक शिष्य थे, ब्रह्म जिनदास ने अपनी रचनाओं में अपने ४-५ शिष्यों का उल्लेख तो किया है पर अन्य शिष्यों का उल्लेख अन्वेषणीय है।

ग्रन्थ रचना—

आपकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि आपके जीवन का अधिकांश भाग उनकी रचनाओं में बीता है। आपकी उपलब्ध रचनाएं दो भागों में विभक्त की जा सकती है। पुराण चरित कथा और पूजन तथा रासा साहित्य हैं। उनकी संख्या ७० से अधिक है। उनकी सूची निम्न प्रकार है—

१ जंबू स्वामि चरित	२ पद्मपुराण
३ हरिवंशपुराण	४ पुष्पाञ्जलि व्रत कथा
५ जंबूद्वीप पूजा	६ सार्वभौमद्वीपपूजा
७ सप्तर्षि पूजा	८ ज्येष्ठ जिनवर पूजा
९ सोलह कारण पूजा	१० गुरु पूजा
११ अनन्तव्रत पूजा	१२ जलयात्रा विधि

राजस्थानी रासा साहित्य :—

१ रामसीतारास(रामा.रास)	२ यशोधर रास
३ हनुवंत रास	४ नागकुमार रास
५ परमहंस रास	६ अजितनाथ रास
७ होली रास	८ धर्मपरीक्षा रास
९ ज्येष्ठ जिनवर रास	१० श्रेणिक रास
११ समकितमिथ्यात्व रास	१२ सुदर्शन रास
१३ अंबिका रास	१४ रात्रिभोजनवर्जनरास
१५ श्रीपाल रास	१६ जंबूस्वामी रास
१७ भद्रबाहु रास	१८ कर्मनिष्ठाक रास
१९ सुकौशलस्वामी रास	२० रोहिणी व्रत रास
२१ सोलहकारणव्रत रास	२२ दशलक्षणव्रत रास
२३ अनन्तव्रत रास	२४ बंकचूल रास

२५ धन्यकुमार रास

२७ पुष्पाञ्जलि रास

२९ भविष्यदत्त रास

३१ नेमीश्वर रास

३३ सुभोमचक्रवर्ती रास

३५ जयकुमार रास

३७ सुकमाल स्वामी रास

३९ पुरंदर विद्यान रास

४१ आकाश पंचमी रास

४३ जिनेन्द्रभक्ति रास

४५ गुणस्थान रास

४७ मोनव्रत रास

४९ सुगंधदशमी कथा रास

५१ अठाई व्रत रास

५३ जोगी रास

५५ निर्दोष सप्तमी रास

५७ श्रुतस्कंध रास

५९ हरिवंश रास

२९ चाचदत्तप्रवण रास

२८ धनपाल रास (दान
कथा रास)

३० जीवन्धर रास

३२ करकड्ड मुनि रास

३४ अठावीस मूलगुण रास

३६ मडूकनो रास

३८ निर्दोष सप्तमी रास

४० लब्धिविद्यान रास

४२ मालिन कथा रास

४४ वारिषेण रास

४६ पंचपरमेष्ठी रास

४८ विष्णुकुमार कथा रास

५० गुणपाल श्रेष्ठिनो रास

५२ मउड सप्तमी रास

५४ चन्दन षष्ठी रास

५६ सम्यक्त्व अष्ट अंग रास

५८ जीवबयारास

६० आदिपुराण रास

इन सब रास रचनाओं का परिचय देना इष्ट नहीं है। इन रासाओं में से दो रासों में रचना काल उपलब्ध है। कवि ने रामरास^१ सं० १५०८ में, और हरिवंश रास^२ की रचना सं० १५२० में की थी। शेष रासों में रचना काल नहीं है। इन रासों की भाषा राजस्थानी और गुजराती मिश्रित है। 'प्रणमीने', रूवडो, तणो, हवु, सोहामणुं, धमंती, पामीड, लीधु, सांभले, आब्यु, वधावणा, चग, कीधुं, मी, दीठिउ आदि शब्द गुजराती भाषा के हैं जो रासक कृतियों में उपलब्ध होते हैं। चूंकि ब्रह्म जिनदास गुजरात प्रदेश के निवासी थे और सागवाड़ा आदि राजस्थान के प्रदेशों में रहे हैं। अतएव तत्सम्बन्धी भाषा शब्दों का पाया जाना स्वाभाविक है। कथा रास और चरित्रादि रासों के

१ संवत्पन्नर अठोतरा मगसिर मास विशाल ।

शुक्ल पक्ष चउदिसिदिनी, रास कियो गुणमाल ॥

२ संवत् पद्मह वीसोत्तरा विशाखा नक्षत्र विशाल ।

शुक्ल पक्ष चौदसि दिना रास कियो गुणमाल ॥

अतिरिक्त अनेक व्रत सम्बन्धी रासको की भी ब्रह्म जिनदास ने रचना की है। जिनमें व्रत का स्वरूप, पालन की विधि और फल का वर्णन समाविष्ट है। जैसे—लब्धि विधान रास, अठाई व्रतरास, रोहिणी व्रतरास, मोनव्रतरास, आदि। रास या रासक की रचना सरल है। कवि के रासों में एक रूपक काव्य-रास भी है। जिसका नाम 'परमहंस रूपक रास' है। इस रास में मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति नाम की दो स्थितियों से दो पुत्र उत्पन्न होते हैं, मोह और विवेक प्रवृत्ति ने मन को वश में कर अपनी सौत निवृत्ति और उसके पुत्र विवेक को विदेश में भिजवा दिया। मन, प्रवृत्ति और माया इन तीनों ने मिलकर त्रिपुगी राजा को बन्धन में डालकर अपनी आन्तरिक इच्छा की पूर्ति करते हैं। इस समय राजा अपनी चेतना रानी की शिक्षाओं का स्मरण कर रोने लगता है। और अपनी कष्ट दशा का यथार्थ दिग्दर्शन कर चेतना से उसकी सम्हाल करने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु चेतना अब तुमको माया मिल गई है, मेरा अब क्या काम है, मन मन्त्री का राज्य है, जिस तरह वह तुम्हें विवश करे, वह सहन करो, कहती हुई चुप हो जाती है।

निवृत्ति के चले जाने पर प्रवृत्ति मन को समझाकर अपने सुपुत्र मोह को राज्य दिला देती है। मोह के राज्य पाते ही लोक में सर्वत्र मोह की आज्ञा का प्रसार होता है। मोह राजा निलंज हृदय स्थान में 'अविद्या' नामक नगर की स्थापना कर राज्य करने लगता है। उसकी दुर्मति नाम की रानी से काम, राग और द्वेष ये तीन पुत्र हैं। और निद्रा अधृति और मारी ये तीन पुत्रियाँ हैं। मिथ्या दर्शन मंत्री, सप्तव्यसन सदस्य, निर्गुण संगति सभा, भालस्य सेनापति, छद्म पुरोहित और कुकवि रसोदया इत्यादि मोह का वृहद् परिवार है। काम, क्रोध, अविवेक आदि अनेक सुभट उसके राज्य के सारक्षक हैं। मोहराय का राज्य हो जाने से निवृत्ति बिना विश्राम के अविश्राम गति में आगे बढ़ती जा रही है। मार्ग में पशु-बालिका अत्यन्त कष्टानु जनक दृश्य देखती तथा अपनी असमर्थता पर खेद प्रकट करती हुई चली जाती है। मार्ग में उसे 'प्रवचनपुर' नाम का सुन्दर नगर मिलता है, वह उस नगर के आश्रमागम नामक वन की सुन्दरता देखकर और

विवेक की प्रेरणा से वृक्ष की छाया में विश्राम करती है। वहाँ 'विमल बोध' कुलपति से निवृत्ति विवेक के सुख आदि के सम्बन्ध में पूछती है। विमल बोध विवेक के लक्षणों को देखकर प्रसन्न हो जाता है और अपनी सुमति नाम की पुत्री से उसका विवाह कर देता है। और अरहत के अतिशयो का वर्णन अपनी कार्य सिद्धि का सूचक जान सन्तुष्ट होता है।

निवृत्ति भी कुलपति के वचनानुसार पुत्र वधू के साथ उस नगरी में निवास करती हुई विवेक को अर्हन्त की आराधना के लिए प्रेरित करती है। विवेक माता की आज्ञा मान प्रभु-सेवा में लग जाता है, अबसर आने पर माता मोहराय के द्रोह का वर्णन करती है। मोहराय के भय से भयभीत जगत को मुक्त कराने के लिए विवेक को आज्ञा प्रदान करती है। विवेक अपना कार्य बड़ी चतुराई से सम्पन्न करता है, अपने सैन्य बल तथा शक्ति को सम्हाल करता है। विवेक राज्य का स्वामी होता है। विवेक की आज्ञा चलने पर अज्ञानी पाखंडी के प्राण खंडित हो जाते हैं। ज्ञान तलारक्ष को सावधान कर विवेक नगर में किसी अपरिचित जन के प्रवेश को रोक देता है।

मोह विवेक की राज्यप्राप्ति से अत्यन्त क्षुब्ध होता है, और उसके कार्य-कलापों को तथा उसकी शक्ति का परिचय पाने के लिए दम, कहागम (कजूस) और पाखंड दूतों को भेजता है। दम आन्तरिक भेष बदल कर विवेक नगर, परिवार, राज्य और शक्ति का समाचार मोह को देता है, उससे मोह का क्षोभ और भी अधिक बढ़ जाता है, वह उसका विनाश करने के लिए अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है। किन्तु मोह को सचिन्त्य देख काम कुमार युद्ध के लिए आज्ञा माँगता है और मोह उसे शिक्षा देकर युद्ध के लिए भेजता है। वह सर्वत्र विजय प्राप्त करता हुआ ब्रह्मलोक में ब्रह्मा, विष्णु और शंकर (महेश) को सावित्री, गोपियो और पार्वती द्वारा वश में कर अन्य ऋषियों आदि को भी स्थितियों के आधीन करता हुआ सर्वत्र मोह की आज्ञा को आरोपित करता है।

इधर विवेक का सजमश्री के साथ विवाह सम्पन्न हो जाता है, इससे काम कुमार का अत्यधिक ईर्ष्या उत्पन्न होती है, अतएव विवेक के साथ युद्ध के लिए तैयार होता

अपभ्रंश की एक अज्ञात जयमाला

डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

अपभ्रंश-साहित्य की विविध भक्ति मूलक प्रवृत्तियों में जयमाला की साहित्यिक विधा निश्चय ही भावानुरंजन के साथ शिक्षा, इतिहास, संस्कृति और अर्चना-विधि की व्यावहारिक परम्परा की अभिव्यंजक है। जयमाला जहाँ विविध राग-रागिनियों में पूजा-पाठ के मध्य में गाई जाती रही है वही नृत्य-गान के माध्यम बहुविध भावों-भावों में जिनमूर्ति के समक्ष सस्वर स्वरों में मुखरित होती रही है। आज भी जैन मन्दिरों में जिन-पूजा के मध्य में जयमाला-पाठ करने की प्रथा प्रचलित है। जयमाला में सार

है। दोनों का परस्पर युद्ध होता है। युद्ध में दोनों और के योद्धा अपना-अपना पराक्रम दिखलाते हैं, सन्धि का भी उपक्रम किया जाता है परन्तु वह हो नहीं पाती। मोह के प्रबल सेनानियों का विवेक के पराक्रमी सुभटों के साथ भीषण युद्ध होता है। परन्तु एकाएक मोह की सेना में भगदड़ मच जाती है। मोह का निग्रह हो जाता है। उसके गिरते ही सब सामन्त निष्प्रभ हो जाते हैं। विवेक की कुशलता की प्रशंसा होती है, और वह लोक में शान्ति स्थापित करता है।

इसी अवसर पर चेतना रानी परमहंस राजासे कहती है कि—स्वामी, माया ने जो किया, उसका आपने अनुभवन किया ही है। अब तक जो हुआ सो हुआ; किन्तु आगे को सावधान होना आवश्यक है। अब आप जिस अशुचि, मल-मूत्र संयुक्त दुर्गन्धित कायापुरी में अनुरक्त हो रहे हैं, काम-क्रोधादि १०८ चोरी वाली वस्ती में आप का रहना ठीक नहीं। आप स्वयं विचार करें और अपने अखण्ड चैतन्य तेज घाम की ओर ध्यान दें। मोह राजा और मनमंजी का विनाश हो चुका है। रानी के इस सुन्दर सुभाषण का समा-दर करते हुए परम हृदय ने अपने चैतन्य स्वरूप की ओर ध्यान दिया। और योग्य अनुष्ठान द्वारा आत्मशक्ति को जागृत कर स्वात्मलब्धि को प्राप्त किया। इस तरह यह

रूप में पूजा-अर्चना के मूल भावों को संक्षिप्त रूप में प्रकट किया जाता है। इनमें इतिहास, संस्कृति और परम्परा तक का गुणानुवाद किया जाता है। जयमाला कई रूपों में लिखी जाती रही है। प्रथम वे जयमालाएँ हैं जो पुष्प जयमाला के नाम से प्रसिद्ध रही हैं, जिनमें जिनमूर्ति के कलशाभिषेकोत्सव के अनन्तर जयमाला की बोली लगती है और पुष्पमाला को जिनशासन की माला के प्रतीक के रूप में ग्रहण कर भक्त श्रावक या श्राविका स्वीकार कर अपने उत्साह और उमंग को प्रकट कर स्वेच्छा से धन-

रूपक-काव्य स्व-पर-सम्बोधक है। ब्रह्म जिनदास के अन्य चरित रासको में भी काव्य रस मिलता है। ये रासा प्रकाशन के योग्य हैं।

ब्रह्म जिनदास के शिष्य —

ब्रह्म जिनदास के अनेक शिष्य थे। उनमें छह का नामोल्लेख नीचे किया जाता है। अन्य शिष्यों के नामादिका उल्लेख अन्वेषणीय है। हरिवंश रास की प्रशस्ति में उन्होंने अपने तीन शिष्यों का उल्लेख किया है। मनोहर, मल्लिदास, और गुणदास। और परम हंस रास में 'नेमिदास' नाम के एक शिष्य का उल्लेख मिलता है।^१ जिनदास ने अपने एक शिष्य शान्तिदाम का भी उल्लेख किया है जिसने अपभ्रंश गुजराती और संस्कृत मिश्रित पूजा-पाठ-विषयक ग्रंथों की रचना की है। जिनदास ने 'गुणकीर्ति' नाम के अन्य शिष्य का भी उल्लेख किया है जो अच्छे विद्वान् थे और जिन्होंने 'राम-सीता-रास' बनाया था। ★

१. ब्रह्म जिनदास भणें रूबडो पढता पुण्य अपार।

शिष्य मनोहर रूबडो मल्लिदास गुणदास ॥

—हरिवंश रास

२. ब्रह्म जिनदास शिष्य निरमला नेमिदास सुविचार।

—परमहंस रास

राशि अर्पित करते हैं, जिसका सदुपयोग जिनमन्दिर के लिए किया जाता है। दूसरे जयमाला-पूजा के अन्त में निबद्ध की जाती है, जिसमें अर्चना के विषय का सार गभित रहता है। तीसरे जयमाला स्वप्न के रूप में किसी भी विषय का महात्म्य प्रतिपादन करने के लिए पूजा-पाठ के अन्त में संयुक्त रूप से निबद्ध की जाती है। अतएव जयमाला के रूप में भगवद्भक्ति करने की विधि साहित्यिक रूप में अग्रभ्रंश, पुरानी हिन्दी और हिन्दी भाषा की रचनाओं में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इससे यह भी पता चलता है कि यह मध्य युग की देन है और सांस्कृतिक इतिहास की एक परम्परा। यह केवल देश के किसी एक भू-भाग तक सीमित न रह कर पूजा के साथ दक्षिण भारत से लेकर उत्तर और पूर्व से लेकर पश्चिम तक भाषा-भेद के साथ लगभग समान साहित्यिक विधा के रूप में जैन मन्दिरों में प्रचलित हुई और तब से आज तक अनवरच्छिन्न प्रवर्तमान है। जयमाला-साहित्य का महत्व इसलिए भी अधिक है कि इनकी रचना प्रायः बोलचाल की भाषा में की गयी। क्योंकि जन सामान्य के लिए पूजा-साहित्य लिखा जाता रहा है। परन्तु इनमें साहित्यिकता का अभाव नहीं है। जन भाषा में लिखित होने पर भी इनमें साहित्यिक पुट बराबर दिया गया है। इस बात का निर्णय स्वयं पाठक रचनाओं को पढ़ कर कर सकते हैं कि इनमें साहित्यिकता किस स्तर तक विषय के अनुरूप मार्मिकता से अभिव्यंजित हो सकी है।

प्रस्तुत लेख में अग्रभ्रंश की एक ऐसी अज्ञात जयमाला को प्रथम बार प्रकाशित किया जा रहा है जो कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस रचना की प्रतिलिपि मध्य प्रदेश के जैन शास्त्रभंडार के गुटके से की गई है। इसमें रचना के लेखक का नाम श्री उदयकीर्ति मुनि कहा गया है। रचना के रचयिता कब और कहा उत्पन्न हुए थे, इस सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। रचना में जैनधर्म के सुप्रसिद्ध परम नमस्कार-मन्त्र का माहात्म्य, वर्णन है। जयमाला निम्न-लिखित है—

पणवेप्पणु भावे विमल सहावे भत्तीए, सतिजिनेसरहो।
निमुणिज्जउभविणउभवहुखवीउ, पुणुअक्खमिनवकारफलु।
नवकारविहणउ जीव तुहं, भवि भवि संपत्त अणंत दुहं।

एकंविद्य जोणिहि परिभमीउ, वियलेंदिय बहु दुक्खइं गमीउ
अलहंतउ पुणु नवकार तुहं, पचेंविद्य जोणिहि पत्त दुहं।
नारी ए नरइ भमाडियउ, पुणु भोगरघार्यहि ताडीयउ।
नवकार विविज्जिय तिरी हउ, बहुकायकिलेसइं तहवि मूउ।
मणुयत्त-णिरोय-सोयभारीउ, नवकार तहमि न समाचरीउ।

मिच्छत्तसहिय देवत्त पत्त,

तित्थेवि माणस-दुखेण तत्त।

इय हिडिबि जिय तुहं चउगयहि,

सुहो कहवि न लद्धउ भवसयहि।

चउरासो लक्खइं जोणि दुहं, जइ वण्णउ धम्मउ जीव तुहं।
पंचहं परमिट्ठिहि तणउ सुहं, जिय माय जहि नवकार लहु।
जिय धायहि विहं नवकार मणे, जे अमुहकम्म विहडेइ खणे।
जं पंचपयइ आराहियाइं, तें बारह अंगइं साहियाइं।
नवकार बप्प नवकार माइ, नवकारे खणि उवसभु जाइ।
सुहसज्जणबंधवइट्ठमिस्सु, नवकारे कोवि न होइ सत्तु।
गह-रक्खस-भूय-पिसाय जेवि, नवकारमंति नासंति तेवि।
नवकारे हलहरचक्कवइ, नवकारे विषडाहिवइ।
नवकारफले तित्थयरदेव, जसु इदफणिद करंति सेव।
नवकार जि इदियबलखंडउ, भव-समुद नवकार-तरंडउ।
नवकारजि सबल जंत सग्गि, नवकारसहिज्जउ मोक्खमग्गि।
घत्ता—इह नवकारह तणुं फलु, जिय कायहि एक मणु।

दसणनाणसमुज्जलु, पुणु पामइ सिद्धितणु॥

चविकणिसासणिदेवीयहं, कीय साहित्तु विचित्तु।

आराहिप्पणु मंति जिणु, किय नवकार कवित्तु।

विग्गंबर दस दरसणहिच्छ, इच्छ म भेत्ति धरिज्ज।
जिणसासणि भविणहो, अविचल चित्त धरिज्ज।
चंवप्पह जिणचंवप्पह, चंविकत्ति वंदेप्पिणु चंवाणण।
पसरंति सियनणु कतिप, धवलय सयल विसासण॥१॥
जमो गयराय जगत्तराय, सुसीलहि लक्खण एवहि जाय।
पयासिय निम्मल केवलणाण, विट्ठ धणुसय देहपमाण।
मुहासिय तोसिय पोसियभव, सुलक्खणनाह समुठिभयगव्व।
मए जिय संकुलि जम्म-समुहि, जरामरणुभव मोहरउहि।
दुरत्तरकुट्सह दुक्खतिरग्गि, कसायविहीसण वाडवअग्गि।
अणतउ काल दुरंत विचित्तु, निरंतर दक्ख परंपर पत्तु।
न कोई विकामु वि बंधु न मित्तु,

न कोई विकामु वि सयण न सत्तु।

न कोइ विकासु वि देण समत्थ,

न कोइ वि हरेवइ होइ समत्थ ।

अणत्स सुहासुह कम्म मएवि,

न सुक्ख वि दुक्ख वि डोयइ कोवि ।

महारउ बप्पु महारउ पुत्तु, महारउ वल्लहुं एहु कलत्तु ।

महारउ गेह महारउ वब्बु, महारउ परियण एहु जि सव्वु ।

भणंतहो दुक्कइं जाम कयंत, न कोइवि बीसइ रक्खकरंत ।

अणेण जिएण जयम्मि कुरंत, मरंतिण वडलितउ जम्म अणंत ।

भमंति ण णिडिय जोणिहि लक्ख,

भिडति ण मग्ग अणेय विवक्ख ।

पीयंति ण सोसिय सायर सव्व,

घसंति ण नट्ठिय पोगलवव्व ।

ण एयहो तित्ति कयायवि जाय, जिणेसरएवहिं तुम्ह पाय ।

णियच्छवि मणिय अण्णय घण्ण,

अउगइ वुक्खहो पाणिय विण्ण ।

जयत्तयसामिय वल्लहो बोहि, दुहक्खउ उत्तमवेह समाहि ।

घत्ता—पइं वंदइं अण्णयं निदह, जे नर वियलिय भववु-हइ ।

वुस्सज्जइ ताह सुस्सज्जइ, कणयकित्ति सासयसुहइ ॥२॥

शिख्वाण जयमाला

कमकमलणवेप्पिणु हियइ धरेप्पिणु,

वाई सिरिगिरि गुणहरयं ।

निव्वाणइट्टाणइ तित्थसमाणइं, पयडिय भत्तीए जिणवरहं ॥

कइलाससिहरि सिरिरिसहनाह,

जो सिद्धउ पयडिउ घम्मालाह ।

पुणअणययि जिणवासपुज्ज, निव्वाणपत्तु छंडेवि रज्जु ।

उज्जंतमहागिरि सिद्धि पत्तु, सिरिणेमिणाहु जावव पवित्तु ।

अण्णु वि पुणु सामिपज्जुण नवेवि,

अणरुद्धसहिय हउ तं णविते वेवि ।

अण्णु वि पुणु सत्त सयाइ तित्थ, बाहत्तरि कोडिसिद्ध जेत्थु ।

पावापुरि वंदउं वड्ढमाण,

जिण महियलि पयडिय सिद्धठाण ।

सम्मोदमहागिरि सिद्धजेवि, हउं वंदउं बीसजिणंवे तेवि ।

अवरे वि तित्थ महिअलि पसिद्ध, हउं वंदउं अइसयसमिद्ध ।

णागदहिपास सयंभुवेव, हउ वंदउं जस, गुण गत्थि छेउ ।

जो वेव पतिट्ठिय आसरम्मि, मुणिमुक्खय वंदउं अंतरम्मि ।

मालवइ सति वंदउं पवित्त विससेणराय कडिठउ ण रुत्त ।

मंगलउरि वंदउं जगिपयास, अहिण वण अइसय गुणनिवास ।

बाहुबलिदेउ पोयणपुरंमि, हु वंदउं जो मइ अंतरमि ।

हत्थिणउरि वंदउ सतिकंथु,

अरु तिण्णि वि वंदउं पयडे वि तिःथु,

वाणारसि पास सयभुसत्थु, वंदउ परिहरिउ वक्खगंथ ।

पावइ लव अंकुस रामसूया, पचेवकोडि जहि सिद्धहुवा ।

सेत्तुंजयसिहरि अट्ठवेव कोडि, पांडव सू वंदउ हत्थिजोडि ।

ताराउरि वंदउ मुणिवरंग, आहुट्ठकोडि किउसिद्धिसंग ।

वडवाणी रावणगुणनिलउ, वंदीजइ देवत्रिभुवनतिसलउ ।

वडवाणी रावणतणउ पुत्त हउं वंदउ इज्जित मुनि पवित्त ।

करकडुराउ णिमियउ भेउ, हउं वंदउ अग्गलि वेववेउ ।

अरु वंदउ सिरिपुर पासणाहु,

जो अन्तरिक्ख थिउ नाणलाह ।

होलागिरि संख जिणव तेउ,

विज्जण गरिव णवि लद्धछेउ ।

हउ वंदउ तिउरिहि गयणि लगु,

तियलोउतिलउ जो सिद्धिमग्गु ।

णव णवइ कोडि बलभट्टजुत्त, तुंगीगिरि वंदुं मुणि पवित्त ।

पुणु अट्ठकोडि बलएव सत्थ गयवह गिरिम्मि णिव्वाणपत्त ।

पचकोडि रावणसुआइं, रेवाणइं वंदउं संयभुवाइ ।

कण्णाडि वसइ बाडइजिणंवे, जसु आगलि नच्चइ सुरवरिव ।

वं दिज्जइ माणिकवेव देउ, जसु अण्णविणु पणवइ सुरवरिउ ।

वंदिज्जइ गोमटवेउ तित्थु, जसु अण्णविणु पणमउ सुरहसत्थु ।

पच्छिमसमइ ससिसंखवण्ण, तिलयाउरि अंदपहरवन्न ।

मइ अइसइ तित्थइ पयडियाइ,

ओउवयकित्ति मुनि बंदियाइं ।

इय तित्थंकर तित्थइ पुण्णपवित्तइ,

पडइ विहाणइं विमलहरे ।

तसु पापपणासइ दुरियविणासइ, मंगल सयलवि तामु घरे ॥

इति श्रीकमकमलजयमाला समाप्तः ।

कोषाध्यक्ष, मंत्री और सेनापति

परमानन्द जैन शास्त्री

हुल्ल या हुल्लराज—वाजिवंशी यक्ष राज और लोका-
म्बिका का पुत्र था। जैन धर्म के बड़े भक्त थे। वह जैन
धर्म का सूचका पोषक था। उसकी उपाधि सम्यक्त्व चूड़ा-
मणि थी। इसकी धर्म पत्नी का नाम पद्मावती था। यह
एक आदर्श जैन और शक्तिशाली सेनापति था। तथा एक
महान सेनापति और जैन धर्म के संरक्षक रूप में उसकी
ख्याति थी। वह केवल धार्मिक पुरुष ही नहीं था, किन्तु
विलक्षण राजनीतिज्ञ भी था। वह महान मंत्री, प्रधान
कोषाध्यक्ष, सर्वाधिकारी और सेनापतिके पदों को सुशोभित
करता था। वह कार्य-साधन में योग्यधरायण से और
राजनीति में वृहस्पति से भी अधिक दक्ष था। उसने राजा
विष्णुवर्द्धन, नरसिंह और बल्लाल प्रथम को आधीनता
में कार्य किया था।

मंत्री हुल्लराज के गुरु कुक्कुटासन मलघारि देव थे।
मंत्री हुल्ल को जैन मन्दिरों का निर्माण, और जीर्णो-
द्धार कराने, जैन पुराण सुनने, तथा जैन साधुओं को
आहारादि दान की बड़ी अभिरुचि थी। इसने श्रवण
बेलगोल में पर कोटा रङ्गशालों व दो आश्रमों सहित
चतुर्विंशति जिनालय का निर्माण कराया था। इसका
निर्माण कार्य संभवतः सन् ११५६ ई० में हुआ था, जब
राजा नरसिंह द्वितीय अपनी विजय यात्रा के निमित्त से
उधर गया, तब उसने बड़े आदर के साथ गोमटदेव और
पार्श्वनाथ की मूर्तियों तथा चतुर्विंशति जिनालय के लिए
दर्शन किये और जिनालय की पूजादि के लिए 'सवणेरु'
नाम का ग्राम प्रदान किया। और हुल्ल की चूड़ा-
मणि उपाधि के कारण जिनालय का 'भव्यचूड़ामणि'
नाम प्रदान किया। और सेनापति हुल्लराज ने मह-

मण्डलाचार्य नयकीर्ति मिहान्त चक्रवर्ती को उक्त चतु-
र्विंशति जिनालय का आचार्य बनाया। जो सणेरु गांव की
आय का उपयोग जिनालयों की मरम्मत तथा पूजादि
कार्य में करते थे। सन् ११७५ ई० में हुल्ल ने राजा
बल्लाल द्वितीय से सवणेरुके साथ बेवक और कगोटे नामके
गांवों को प्राप्त किया और उन्हे उक्त जिनालय तथा गोमट-
देव और पार्श्वनाथ की पूजा के लिए प्रदान किया।

सेनापति हुल्ल ने केल्लगेरे, बकापुर और कोष्पण इन
तीन जैन केन्द्रों को भी अपनी उदारता से सिंचित किया।
केल्लगेरे एक प्राचीन तीर्थ स्थान था, जो गङ्गा नरेशों
द्वारा स्थापित किया गया था। वह खण्डहर हो गया था।
वहाँ उसने एक विशाल जैन मन्दिर का निर्माण कराया,
तथा तीर्थंकरों के पंचकल्याणको की भावना से अन्य पांच
वस्तियां बनवायी थी। हुल्ल ने इसे नया रूप प्रदान किया
था। बकापुर के प्राचीन एवं विशाल दो जैन मन्दिरों का
जीर्णोद्धार कराया था। तथा कोष्पण में नित्य दान के लिए
वृत्तियों का प्रबन्ध किया था। (देखो, जैन लेख संग्रह
भा० १ १३७ (३४५, पृ० २६६)

श्रवण बेलगोल से लगभग एक मील दूर पर स्थित
जिननाथ पुर गांव में एक भिक्षा गृह बनवाया था। इस
तरह हुल्ल का जीवन जैन शासन की सेवा में व्यतीत होता
था।

जिन गेहोदरगङ्गलि जिन महा-पूजा-समाजङ्गलि,
जिन-योगि-व्रज-दानदि जिन-पद-स्तोत्र-क्रिया-निष्ठेयि।
जिन सत् पुण्य-पुराण-संश्रवणादि सन्तोषमं ताल्दिभ-
व्यनुतं निचचलु मिन्ते पोत्तुगलेवं श्रीहुल्ल-बण्डाधिपं॥२४॥

—श्रवण बेलगोल शिलालेख

साहित्य-समीक्षा

१. जन फिलासफी—लेखक डा. मोहनलाल, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम रिमर्च इन्स्टिट्यूट वागणसी ५। पृष्ठ संख्या २३४, मूल्य १० रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक डा० मोहनलाल जी मेहता हैं, जो अच्छे विद्वान, लेखक और सम्पादक हैं। और पार्श्वनाथ विद्याश्रम के डायरेक्टर हैं। इनके तत्त्वावधान में वहाँ शोध सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, और अनेक ग्रंथों का प्रकाशन हो रहा है। यह पुस्तक जैन दर्शन के सम्बन्ध में अंग्रेजी भाषा में उपयोगी एवं सार पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। यह ग्रंथ लेखक द्वारा पहले लिखित 'आउट लाइन्स ऑफ जैन फिलासफी का परिवर्धित संस्करण' है। समस्त सामग्री आठ अध्यायों में विभक्त है—जो इस प्रकार हैं— १ जैन धर्म का इतिहास, २ धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य ३ तत्त्व, ४ आत्मा,

५ पुद्गल, ६ ज्ञान, ७ प्रमाण और कर्म। अन्त में पुस्तक में प्रयुक्त पुस्तक सूची एवं महत्वपूर्ण शब्दों की तालिका दी गयी है। ग्रंथ रचना में ४६ जैन ग्रंथों एवं ३४ जैनतर ग्रंथों का आधार लिया गया है।

तत्त्व शीर्षक अधिकार में अन्य दार्शनिकों के तत्त्व सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया गया है, जो पठनीय है। अन्य अध्यायों में जैन मन्त्रियों का विचार प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदों को भी सयत भाषा में प्रस्तुत किया है। इसके लिए वे विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है लेखक और प्रकाशक दोनों ही नये-नये मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रकाशन जनता की भेट करते रहेंगे।

—परमानन्द जैन शास्त्री

नोट—शेष ग्रंथों की समीक्षा अगले अंक में दी जायेगी।



जैन संस्कृति के विकास में राजस्थान का योगदान ग्रन्थ प्रकाशन की योजना

उदयपुर, १५ सितम्बर, १९७१। भगवान महावीर २५००वां निर्वाण कल्याणक महोत्सव जो आगामी १३ नवम्बर, १९७४ को मनाया जाने वाला है, उस अवसर पर प्रकाशनाधीन 'जैन संस्कृति के विकास में राजस्थान का योगदान' नामक ग्रंथ की रूप-रेखा को अन्तिम रूप देने के लिए राजस्थान के विद्वानों की एक मीटिंग श्री अग्रचन्दजी नाहटा की अध्यक्षता में १३, १४, १५ सितम्बर, ७१ को उदयपुर में सम्पन्न हुई। जिसमें श्री अग्रचन्द जी नाहटा (बीकानेर), डा० कैलाशचन्द जैन (विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन), डा० नरेन्द्र भानावत (राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर), डा० कमलचन्द सोगानी (उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर), श्री बलचन्त सिंह जी मेहता (उदयपुर), श्रीजोधसिंह मेहता (उदयपुर) एवं श्री देव कोठारी (उदयपुर) आदि विद्वान सम्मिलित हुए।

मीटिंग में यह निर्णय लिया गया कि उक्त ग्रन्थके लेखन में जैन संस्कृतिके मूलाधार, राजस्थान का भौगोलिक व ऐतिहासिक परिवेश, जैन संस्कृति का विकास, पुरातत्त्व, कला साहित्य, ग्रन्थ भण्डार, जैन सभ के विशिष्ट व्यक्तित्व, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में जैन संस्कृति का योगदान आदि विषयों का सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाय।

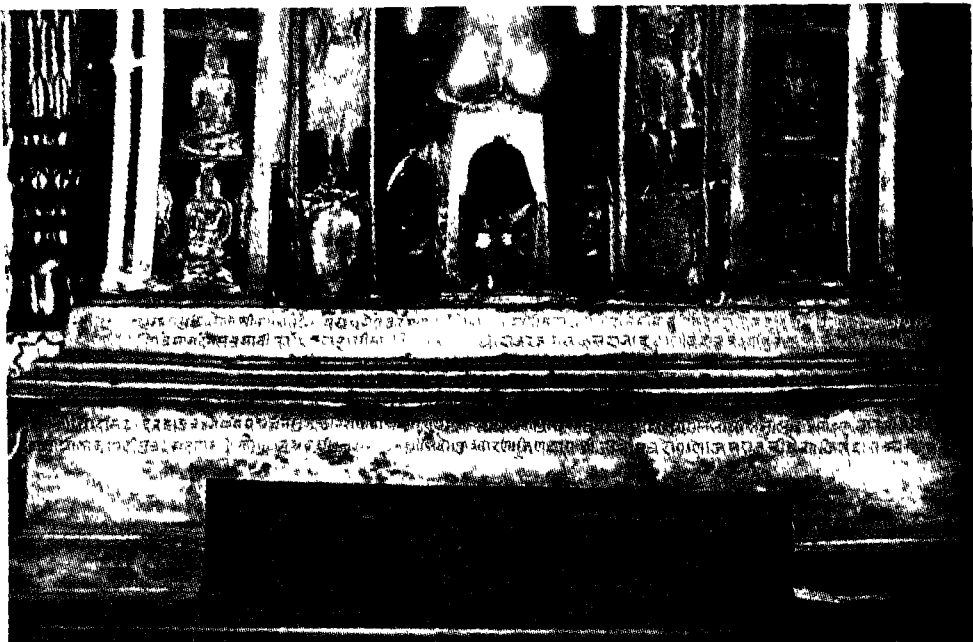
वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-पूची . प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिनके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है । सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूचा । संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द ।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द ।	८-००
स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना में सुशोभित ।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, मानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि में अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित ।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था । मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द ।	१-५० १-२५
श्रीपुरपाश्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित ।	७५
शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित	१-५०
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द ।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित	२५
तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय) —मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त ।	२५
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ ।	१-२५
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य	१६
अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित ।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं० परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु० ।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ मख्या ७४० सजिल्द	५-००
कसायपाण्डुमुक्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिमूत्र लिखे । सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिनापचन्द्र तथा रत्नलाल कटारिया	४-००

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली से मुद्रित ।

अनेकान्त

समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) का मुख-पत्र



धातु की यह तोर्थकर मूर्ति दिल्ली दरवाजे के दि० जैन मन्दिर की है, जो सं० १५३६ में किसी गर्ग गोत्री श्रमणवाल द्वारा खालियर में राजा मारुसिंह के राज्यकाल में प्रतिष्ठित हुई है ।

विषय-सूची

क्र०	विषय	पृ०
१	सिद्ध स्तुति—मुनि श्री पद्मनन्दि	२३३
२	राजस्थान में जैनधर्म व साहित्य : एक सिंहावलोकन—डा० गजानन मिश्र एम. ए. पी-एच. डी.	२३४
३	आगरा में जैनो का सम्बन्ध और प्राचीन जैन मन्दिर—ब्राह्म ताराचन्द रपरिया	२३८
४	जैनदर्शन में आत्मनस्त्व विचार—लालचन्द जैन शास्त्री एम. ए.	२४२
५	रणनभंवर (रणधर्भोर) का कवका : एक ऐतिहासिक रचना—अनूपचन्द जैन व्याय.	२४६
६	खजुराहो के जैनमन्दिरों के डार लिटल्स पर उत्कीर्ण जैन देविया—मार्कटिनन्दन प्रसाद निवारी	२५१
७	तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय का तीसरा सूत्र : एक अध्ययन—मन्मनकुमार जैन एम. ए. (शोधछात्र)	२५४
८	भद्रबाहु श्रुतकेवली—परमानन्द जैन शास्त्री	२५७
९	सकट की स्थिति में समाजकल्याण बोर्डों का योगदान—एम. सी जैन	२५९
१०	शोध-कण—परमानन्द जैन शास्त्री	२६२
११	उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र— परमानन्द जैन शास्त्री	२६५
१२	ध्यान शतक : एक परिचय— पं० बालचन्द्र सि० शास्त्री	२७८
१३	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द जैन शास्त्री	२७८

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन
परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —व्यवस्थापक अनेकान्त

अनेकान्त की सहायता

११) सेठ रामस्वरूप नेमीचन्द १४/१६, आरजीकर रोड, कलकत्ता ने अनेकान्त के लिए दानस्वरूप ग्यारह रुपया भेजे हैं। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

५) दैद्य प्रभुदयाल जी कासलीवाल ने अपने सुपुत्र राजेशकुमार एवं शुभचन्द्र सेठी गया निवासी की सुपुत्री मञ्जुलता के विवाहोपलक्ष में निकाले दान में से पांच रुपया अनेकान्त के लिए सधन्यवाद प्राप्त हुए हैं।

समाज के महानुभावों का कर्तव्य है कि वे विवाहादि शुभावसरों पर अनेकान्त को अच्छी सहायता भिजवाने का यत्न करें। कारण अनेकान्त ही जैन समाज का शोध-खोज विषयक एक प्रतिष्ठित पत्र है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज
दिल्ली



पुस्तक प्रकाशकों से निवेदन

समाज की पुस्तक प्रकाशक संस्थाओं के संचालकों से निवेदन है कि वे अपने-अपने प्रकाशनों की एक-एक कापी वीर-सेवा-मन्दिर की लायब्रेरी को भेंट स्वरूप भेजें। कारण कि वीर-सेवा-मन्दिर की लायब्रेरी का उपयोग दिल्ली यूनिवर्सिटी और बाहर के अन्वेषक (शोध-छात्र और छात्राएं) कर रहे हैं। आशा है संस्थाओं के प्रकाशक इस और ध्यान देने का प्रयत्न करेंगे।

व्यवस्थापक

वीर सेवामन्दिर, दरियागंज
दिल्ली

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

ओम् अहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमर्थनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष २४
किरण ६

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण संवत् २४६८, वि० सं० २०२७

{ जनवरी
फरवरी १९७२

सिद्ध स्तुति

सिद्धो बोधमितिः स बोध उदितो ज्ञेय प्रमाणो भवेत् ।
ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदन्त्यात्मेति सर्वस्थितः ।
मूषायां मदनोज्झिते हि जठरे यादृग नभस्तादृशः ।
प्राक्कायात् किमपि प्रहीण इति वा सिद्धः सदानन्दति ॥५॥

—मुनि श्री पद्मानन्द

अर्थ—जो सिद्ध परमेष्ठी अपने कमरूपी कठोर शत्रुओं को जीतकर नित्य मोक्ष पद को प्राप्त हो चुके हैं । जन्म जरा एवं मरण आदि जिनकी सीमा को भी नहीं लांघ सकते—जो जन्म जरा एवं मरण से मुक्त हो गए हैं तथा जिनमें असाधारण ज्ञान आदि के द्वारा अचिन्त्य एवं अद्वितीय अनन्त चतुष्टयरूप ऐश्वर्य का संयोग कराया गया है; ऐसे वे तीनों लोकों के चूडामणि के समान सिद्ध परमेष्ठी मेरे कल्याण के लिये होवे ॥४॥

राजस्थान में जैन धर्म व साहित्य : एक सिंहावलोकन

डा० गजानन मिश्र एम० ए० पी-एच० डी०

राजस्थान में जैनधर्म का प्रसार :—

जैनधर्म भारत के प्राचीन धर्मों में से है। इसके प्रवर्तक ऋषभदेव माने जाते हैं। इनके पश्चात् २३ अन्य तीर्थङ्कर भी हुए जिनमें अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर थे। महावीर स्वामी का समय ईसा से ५वीं शताब्दी पूर्व माना जाता है। इस प्रकार ये बुद्ध के समकालीन थे। इनके (महावीर) समय में वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार अत्यधिक था। इससे समाज जर्जस्त हो चुका था। कर्मकाण्ड की आलोचना करते हुए महावीर स्वामी ने आचार धर्म को प्रधानता दी। संयम से रहना, बिना अधिकार कोई वस्तु ग्रहण न करना, मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी को कष्ट न देना, सदाचार-पालन करना, यज्ञ करना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि जैन धर्म के मूल सिद्धान्त हैं। इनके लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य पर बल दिया गया है।

जैन समाज मुख्यतः दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो शाखाओं में विभक्त है। यह विभाजन सम्भवतः जैन मूर्तियों को वस्त्रादि से सज्जित करने के विषय को लेकर हुआ है। श्वेताम्बर जैन अपनी मूर्तियों को वस्त्र पहनाने लगे और दिगम्बर जैन नग्न मूर्तियों की उपासना करने लगे। श्वेताम्बर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और दिगम्बर साधु वस्त्रहीन रहते हैं। डा० मित्रल के अनुसार इस भेद का सूत्रपात जैन धर्म के मूल सिद्धान्त त्याग और वैराग्य की सीमा का निर्धारण करने से हुआ जान पड़ता है^१। कालान्तर में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्दर भी कई मत-मतान्तर हो गये जिन्हें स्था-नकवासी, तेरहपंथी आदि कहा जाता है। मत-मतान्तरों

के कारण ही जैन धर्म के अन्तर्गत विभिन्न गच्छों की स्थापना हुई^२।

राजस्थान में जैनधर्म के सकेत ईसा से दो शताब्दी पूर्व तक के मिलते हैं। लेकिन ईसा की आठवीं शताब्दी के पश्चात् तो जैनधर्म का प्रभाव राजपूत राजाओं के शासन-काल में बहुत अधिक हो गया^३। यद्यपि वे राजा प्रारम्भ में वैष्णव तथा शैवधर्म के अनुयायी थे, तथापि उन्होंने जैनधर्म का आदर किया। इसका कारण हेमचन्द्र आदि जैनियों के व्यक्तित्व का प्रभाव भी था। जैन धर्म के अनुयायियों का राजघरानों में बहुत सम्मान था। यही नहीं वे बहुत अच्छे पदों पर आसीन भी थे। पृथ्वी-राज चौहान के शासनकाल में जैनियों के अनेक मन्दिर बनवाये गये। उस काल के बने हुए रणथम्भोर तथा अजमेर का पार्श्वनाथ का मन्दिर उल्लेखनीय है, जिन पर सोने के कलश सुशोभित थे। राजस्थान के वीर सेनानी महाराणा प्रताप ने तत्कालीन जैन सन्त हीरविजय को धर्मोपदेश देने के लिए मेवाड़ी भाषा में सन् १५७८ को एक पत्र लिखा था^४। राजस्थान का कोई राज्य ऐसा नहीं है जहाँ जैन धर्म का प्रचार न हुआ हो, जैन मन्दिर न बने हों और जैन कवियों द्वारा साहित्य न रचा गया हो।

जैन धर्मावलम्बियों ने विपुल साहित्य की रचना की। प्रारम्भ में साहित्य-रचना तथा अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र मन्दिर हुआ करते थे। उन मन्दिरों में बैठकर जो भी साहित्य विरचित किया गया, उसे वही सुरक्षित

२. राजस्थान साहित्य का इतिहास—डा० पुरुषोत्तम लाल मेनारिया, पृ० १०४-१५।

३. जैनिज्म इन राजस्थान—बाई के. सी. जैन, पेज १८।

४. राजपूताने के जैनवीर—अयोध्याप्रसाद गोयलीय पृ० ३४१-४२।

१. ब्रज के धार्मिक सम्प्रदायों का इतिहास—डा० प्रभु-दयाल मीतल, पृ० ५२।

रख लिया गया। कालान्तर में ऐसे मन्दिर ग्रंथालय बन गये, जिन्हें शास्त्र भंडार कहा जाने लगा। जैनियों ने स्वरचित साहित्य को ही इन भंडारों में सुरक्षित नहीं रखा अपितु जैनतर कवियों के साहित्य को भी सुरक्षित रखा। जिस समय भारत में विदेशी जातियों ने आकर यहाँ की संस्कृति और साहित्य को नष्ट करने का प्रयास किया उस समय इन जैन भंडारों ने भारतीय साहित्य को सुरक्षित रखने में बहुत बड़ा योगदान दिया। निस्संदेह इन भंडारों से भारतीय साहित्य की परम्परा अक्षुण्ण रही है। राजस्थान में इन शास्त्र भंडारों की संख्या अत्यधिक है। इनकी सूची यहां दी जा रही है—

(क) जैसलमेर के शास्त्र भंडार—

१. बृहद् जैन भंडार—स्थापित १४४० ई०।
२. डूंगरसी भंडार।
३. करनार गच्छ का पचायती भंडार।
४. तपगच्छ भंडार।
५. थावरसाह भंडार—स्थापित १७वीं शताब्दी।

(ख) बीकानेर के शास्त्र भंडार—

१. बृहद् ज्ञान भंडार।
२. श्री पूज्य जी का भंडार।
३. श्री जैन लक्ष्मीमोहन शाला भंडार।
४. क्षमा कल्याण जी का भंडार।
५. छत्तीबाई के उपाश्रय का भंडार।
६. श्री अभय जैन पुस्तकालय।
७. सेठिया लाइब्रेरी आदि।

इनके अलावा अलवर, जयपुर, कोटा, जोधपुर, बूंदी आदि में भी जैन भंडारों की विपुलता है। जिनमें सहस्रों हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। वस्तुतः जैन विद्वानों ने बड़े ही उदार भाव से जैनतर साहित्य का संरक्षण किया। सैकड़ों फुटकर रचनाएँ और कई जैनतर उपकाव्य तो उन्हीं की कृपा से अब तक बच पाए हैं। जैनतर सग्रहालयों में जिन रचनाओं की एक भी प्रति नहीं मिलती, उनकी अनेकों प्रतियाँ जैन भंडारों में मिलती हैं। इसके अतिरिक्त अनेकों जैन ग्रंथों में जैनतर कवियों के

पद्य उद्धृत मिलते हैं।

आलोच्यकालीन राजस्थान में रचित जैन हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त परिचय—

पूर्व पृष्ठों में दी गई जैन शास्त्र भंडारों की सूची से ही यह विदित हो जाता है कि जैन विद्वानों को साहित्य-रचना करने एवं उसे सुरक्षित रखने का शौक था। राजस्थान में जैनियों द्वारा साहित्य रचना प्राचीन समय में ही होने लग गई थी। लेकिन प्राचीन जैन ग्रंथों में उनके निर्माण-काल, रचना-स्थान आदि का उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए ७वीं शताब्दी से पहले के किसी भी ग्रंथ को, वह कहाँ रचा गया था? निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ८वीं शताब्दी के आचार्य हरिभद्र सूरि राजस्थान के बहुत बड़े विद्वानों में से हैं जिन्होंने धूर्तस्थान की रचना चित्तौड़ में की। जैन विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओं में अपनी रचनाएँ की हैं। १३वीं-१४वीं शताब्दी में जैन विद्वानों की रचनाएँ गुजराती मिश्रित राजस्थानी में तदुपरांत शुद्ध हिन्दी व राजस्थानी में मिलती हैं। आलोच्य काल से पूर्व जैन कवियों में जयसागर, दरडागोमीय,^१ दयाल,^२ ऋषिवर्द्धन-सूरि,^३ मतिशेखर,^४ पद्यानाभ,^५ पार्श्वचन्द्र सूरि,^६ कुशल-लार्भ तथा समयसुन्दर^७ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान में जैन विद्वानों द्वारा जिस साहित्य की रचना की गई है उसे सुविधा के लिए पाँच भागों में

१. परम्परा पत्रिका में प्रकाशित—अगरचन्द नाहुटा का लेख, पृ० ६१।
२. जैन गुर्जर कवियों—भाग १, पृ० २७ श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई।
३. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० माहेस्वरी, पृ० २५०।
४. जैन गु० क० भाग १ पृ० ४८ श्री देसाई।
५. जैन साहित्य की संक्षिप्त इतिहास—पृ० ७६८।
६. राजस्थान के जैन शास्त्र की भंडारों की सूची—भाग ३ (प्रस्तावना)।
७. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह।
८. राजस्थान भारती भाग १ अ० ४ जन० ४७।
९. जैन गु० क० भाग १ पृ० १३६।

विभाजित किया जा सकता है—

१. धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य ।
२. वर्णनात्मक साहित्य ।
३. काव्य, महाकाव्य और मुक्तक काव्य ।
४. वैज्ञानिक साहित्य ।
५. ऐतिहासिक तथा राजनैतिक साहित्य ।

आलोच्य काल में भी उपर्युक्त सभी प्रकार के साहित्य की रचना राजस्थान के विभिन्न भागों में हुई । इस काल के कवियों में बीकानेर के श्री हर्षनन्दन^१ जयतसी, भावप्रमोद, लाभवर्द्धन, लक्ष्मीवल्लभ, धर्ममन्दिर, जीवराज, वच्छराज, उदयचन्द्र, गुणचन्द्र, क्षमाकल्याण, शिवलाल, सावतराम, रघुपति,^२ आदि जैसलमेर के जयकीर्ति,^३ बूदी के दिलराम,^४ भरतपुर के नथमल बिलाल^५ तथा अन्य कवियों में रामविजय,^६ चरित्रनन्दन आदि साहित्यकारों के नाम उल्लेखनीय हैं ।

जयपुर राज्य में जैनधर्म

जयपुर राज्य में जैनधर्म का व्यापक प्रसार मध्यकाल में हुआ । जयपुर निर्माण से पूर्व आमेर राज्य के राजाओं में मानसिंह एवं मिर्जा राजा जयसिंह के शासनकाल में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ । १६५४ ई० में सागानेर के प्रसिद्ध गोघो के मन्दिर का निर्माण मिर्जा राजा जयसिंह के शासन काल में ही हुआ था । आमेर के प्रसिद्ध जैन मन्दिर विमलनाथ का निर्माण भी जयसिंह के समय में उनके प्रधानमन्त्री मोहनदास खण्डेलवाल (जैन) के द्वारा १६५६ ई० में हुआ था, जिस पर सोने का कलश था ।^१

जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह के समय रामचंद्र छावड़ा, राव कृपाराम और विजयराम छावड़ा दीवान

रहे । दीवान रामचन्द्र ने जयपुर व रामगढ़ के मध्य शाहबाद के प्रसिद्ध जैन मन्दिर का निर्माण कराया । राव कृपाराम ने चाकसू तथा जयपुर में अनेक मन्दिर निर्मित कराये । जयसिंह के शासनकाल में सम्यक्स कौमुदी तथा कर्मकाण्ड सटीक की भी रचना हुई ।^२

सवाई माधोसिंह का शासन काल जैनधर्म के लिए उल्लेखनीय है । इनके समय में बालचन्द्र छावड़ा सन् १७६१ में राज्य के मुख्यमन्त्री बने । उन्होंने अनेकों जैन मन्दिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार करवाया ।^३ १७६४ (स० १८२१) में बालचन्द्र छावड़ा के प्रयत्नों से यहाँ “इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव” मनाया गया तब तत्कालीन जयपुर नरेश माधवसिंह जी ने “थाँ के पूजाजी के अर्थ जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सँ ले जाओ” कह कर सब प्रकार की सुविधा और सहायता प्रदान की थी ।^४ दीवान रतनचन्द, नन्दलाल, केसरीसिंह व नन्दलाल ने भी जयपुर और सवाई माधोपुर में जिन मन्दिरों की स्थापना करवाई । सवाई जगतसिंह के दीवान बखतराम ने दुर्गापुरा तथा चौड़ा रास्ता जयपुर में यति यशोदानन्द जी के मन्दिर बनवाये । इस प्रकार प्रायः प्रत्येक राजा के शासन काल में मन्दिरों का निर्माण जैनधर्म के प्रभाव को स्थायी बनाये रखने में बड़ा सहायक हुआ ।

जिस प्रकार प्रत्येक राजा के शासनकाल में जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ है उसी प्रकार यहाँ साहित्य रचना भी हुई है । भारामल के शासन काल में पाण्डवपुराण, हरिवंशपुराण, महाराजा भगवानदास के शासनकाल में वर्धमानपुराण, राजा मानसिंह के समय में हरिवंशपुराण^५ की रचना हुई तथा इसी पुराण की सं० १६०४ व १६०५ में दो प्रतिलिपियाँ राजमहल^६ तथा संग्रामपुर^७ में की गई । इन हस्तलिखित लिपियों को संग्रह करने की

१. राजस्थान भारती, भाग १ अंक ४ ।

२. बीकानेर के जैन शिलालेख—अगरचन्द नाहटा पृ० १८-२३ ।

३, ४, ५, ६, ७. जैनम इन राजस्थान बाई. के. सी. जैन ।

८. एनयूमल रिपोर्ट, राजपूताना म्यूजियम, अजमेर १९२५-२६, नं० ११ ।

९. प्रशस्ति संग्रह—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ।

१०. जैनज्म इन राजस्थान बाई, के० सी० जैन पेज ४६-४७ ।

११. वीरवाणी पृ० २६-३० ।

१२. प्रशस्ति संग्रह पृ० ७३ ।

१३. वही, पृ० ७२ ।

१४. वही, पृ० ७२ ।

प्रवृत्ति चल पड़ी और इस प्रकार कई शास्त्र भण्डार बन गये। जयपुर में इस प्रकार के शास्त्र भंडारों की संख्या लगभग १५ है जिनके नाम निम्नलिखित हैं।

(१) ग्रामेर शास्त्र भंडार :—

इस भंडार की स्थापना ग्रामेर में की गई थी। लेकिन अब लगभग २५ वर्षों से यह जयपुर के चौडा-रामना स्थित महावीर भवन में परिवर्तित कर लिया गया है। अठारहवीं शताब्दी में इसे भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति शास्त्र भंडार के नाम से जाना जाता था। वर्तमान में इस भंडार में लगभग ४,००० हस्तलिखित प्रतियाँ एवं १५० गुटके हैं।^१

(२) बड़ा मन्दिर का शास्त्र भण्डार—

२६३० हस्तलिखित प्रतियाँ एवं ३२४ गुटके हैं।^१

१. ग्रामेर शास्त्र भंडार जयपुर की ग्रन्थ सूची—सं० डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल।

- (३) बाबा दुलीचन्द शास्त्र भंडार,
- (४) बघीचन्द मन्दिर का भंडार,
- (५) सघी जी का मन्दिर शास्त्र भंडार,
- (६) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर छोटे दीवान जी का,
- (७) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर गोघो का,
- (८) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर पाश्वर्नाथ,
- (९) शास्त्र भंडार, दिगम्बर जैन मन्दिर जौबनेर,
- (१०) शास्त्र भंडार, विजयराम पाण्ड्या,
- (११) शास्त्र भंडार, दिगम्बर जैन नया मन्दिर,
- (१२) शास्त्र भंडार, पाटौदी का मन्दिर,
- (१३) शास्त्र भंडार, श्वेताम्बर जैन ग्रंथागार,
- (१४) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर, मेघराज जी का,
- (१५) शास्त्र भंडार, जैन मन्दिर, यशोदानन्द जी का।

२. राजस्थान के जैन भंडारों की ग्रन्थ सूची—सं० डा० कासलीवाल।

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व तथा अन्य ध्योरे के विषय में

प्रकाशक का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्वि मासिक
मुद्रक का नाम	वंशीधर शास्त्री
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	वंशीधर शास्त्री सं० मन्त्री वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागज, दिल्ली
सम्पादक का नाम	डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर
	डा० प्रेमसागर, बडोत
	यशपाल जैन, दिल्ली
	परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली
	भारतीय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, दिल्ली

मैं वंशीधर घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-७२

ह० वंशीधर
(वंशीधर)

आगरा से जैनों का सम्बन्ध और प्राचीन जैन मन्दिर

बाबू ताराचन्द रपरिया

[इस लेख के लेखक बाबू ताराचन्द जी रपरिया जैन समाज के पुराने कार्यकर्ता हैं। अच्छे विद्वान और समाज सेवी हैं। शोरीपुर तीर्थक्षेत्र के कई वर्षों तक मंत्री रहे हैं। आगरा एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है। मुगल साम्राज्य के समय वहाँ अनेक प्रतिष्ठित जैनियों का निवास था। अनेक प्रसिद्ध विद्वान कवि भी रहते थे। वहाँ की अघ्यात्म गोष्ठी प्रसिद्ध थी। उस गोष्ठी के प्रभाव से अनेक व्यक्ति जैनधर्म के धारक हुए थे। बनारसीदास, भगोतीदास, रूपचन्द, कुंवरपाल, भूषरदास, ज्ञानतराय, जगतराय, मानसिंह, विहारीदास, हीरानन्द, जगजीवन, बुलाकीदास, शालिवाहन, नथमल विलास आदि कवियों की रचनाएं आगरा में ही रची गई हैं। पं० नयविलास ने ज्ञानार्णव की संस्कृत टीका साहू टोडर के पुत्र ऋषभदास की प्रेरणा से बनायी थी। पं० दोलतराम कासलीवाल ने स० १७७७ में पृथ्वास्तव कथा कोष का पद्यानुवाद बनाया था। समयसार कलशा टीका के कर्ता पांडे राजमल को भी आगरा में अकबर के समय रहने का अवसर मिला था। कविवर भगवतीदास ने स० १६५१ में अर्गलपुर जिनवन्दना बनाई थी, जिसमें अकबर कालीन दिगम्बर श्वेताम्बर मंदिरों का उल्लेख किया है पं० नन्दलाल ने स० १९०४ में योगसार की टीका बनाई है।

इन सब उल्लेखों से आगरे की महत्ता का सहज ही भान हो जाता है। अतः आगरे की जैन समाज का कर्तव्य है कि वह आगरा के जैन मन्दिरों के मूर्ति लेख और आगरा के शास्त्र भंडारों के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची का निर्माण कराये, जैन साहित्य और इतिहास के लिए इसकी महती आवश्यकता है, आशा है आगरा समाज इस ओर अपना ध्यान देगी।

—सम्पादक]

कृष्ण साहित्य में वृज के चौरासी वनों का उल्लेख मिलता है जिनमें एक अग्रवन भी है। वर्तमान आगरा की स्थिति भी उसी अग्रवन में है (सम्भव है नगर बसने के उपरान्त अग्रलपुर—अग्रसेनपुर—अर्गलपुर या अग्रपुर—अर्गलपुर आदि नाम पर हो) यह वन यमुना नदी के किनारे, यमुना के कछार में फैले हुए थे। वृन्दावन की भाँति अग्रवन भी जमुना के तीर पर बसा था। शोरीपुर या शूरमेन नगर यादवों की राजधानी थी। श्री कृष्ण के पिता वसुदेव व ताऊ समुद्रविजय आदि दशार्णव व पिता-मह अन्धक विष्णि आदि यादवों का निवास स्थान शोरीपुर था। प्रसिद्ध योद्धा कर्ण और जैनों के २२वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ का जन्म शोरीपुर में हुआ था। वे श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। उनके पिता का नाम समुद्र विजय था।

श्री कृष्णजी का जन्म मथुरा में अपनी ननसाल (ननिहाल) में हुआ था। मथुरा से आगरा ३६ मील

उत्तर पश्चिम में है और आगरा से शोरीपुर ४४ मील दक्षिण पूर्व में जमुना के किनारे स्थित है। मथुरा से शोरीपुर तक का क्षेत्र यादवों की क्रीडास्थलि थी और श्रीकृष्ण भक्त वैष्णवों तथा श्री नेमिनाथ भक्त जैनों के लिए पूज्य पवित्र एवं तीर्थ तुल्य थी। आगरा, मथुरा व शोरीपुर के मध्य मार्ग पर स्थित होने से आगरे में जैनों का निवास निर्विवाद था और उनके मन्दिर आदि का भी प्राचीन काल से होना इतिहास से सिद्ध होता है।

जैन साहित्य में “निर्वाणकाण्ड अतिशय क्षेत्र काण्ड” नामक निर्वाण भक्ति प्राकृत भाषा में बहुत पुरानी एवं प्रामाणिक स्तोत्र है। दश भक्तियों में निर्वाण भक्ति भी एक है जिसका नित्य पाठ करना, जैन साधु और श्रावकों के लिए आवश्यक होता है। इस में “अगल देव” नाम से एक प्रतिमा को नमस्कार किया गया है। प्राकृत ‘अगल’, का संस्कृत रूप ‘अर्गल’, होता है। जैसा

कि शिलालेखों से जाना जाता है, आगरा का एक नाम अगल पुर भी है। अतः मालूम पड़ता है कि आगरा में प्राचीन काल में कोई अतिशय क्षेत्र था जिस की पूजनीय प्रतिमा अगल देव के नाम से उस समय प्रख्यात थी। निर्वाण भक्ति वि. स. ४६ में होने वाले श्री १०८ आचार्य कुन्द कुन्द की रचना मानी जाती है। अतः अगल देव का अस्तित्व वि. की प्रथम शताब्दी से पूर्व होना चाहिए; क्योंकि श्री कुन्द कुन्द के समय में वह मुख्य अतिशय क्षेत्रों में गिना जाता था, प्रसिद्धि प्राप्त में स्थापना से कम से कम २००-२५० वर्ष का समय अवश्य लगा होगा। अतः अगल देव की स्थापना ई० पू० दूसरी शताब्दी में हुई होगी।

इस समय अगल देव की प्रतिमा व मन्दिर का कोई चिन्ह अवशिष्ट नहीं है और इतने लम्बे काल में मुस्लिम व अन्य लोगों द्वारा जैनो पर होने वाले आक्रमणों के कारण, पाया जाना भी सम्भव नहीं है। परन्तु १८७३ में जार्ज कनिंघम को किले के पूर्व जमुना के पास एक प्राचीन जैन मन्दिर के अवशेष व एक विशाल काय श्याम वर्ण प्रतिमा मिली थी। यथा—

“The ancient remains at Agra of the pre. Musalman period are very few. Outside the water gate of the fort of Agra, between the fort and the river, several square pillars of black basalt have been unearthed as well as a very massive and elaborately sculptured statue of black basalt representing Mumsuvrata Nath the twentieth Jain Tirthankara, with a dedicatory inscription in Kutila characters, dated Samvat 1063 or A.D. 1006. There can be no doubt that these pillars formed the colonnade to the entrance, from the river, of some ancient Jain temple which are probably pulled down and destroyed when the fort was built.”^१

अर्थात् मुसलमान काल से पूर्व के प्राचीन अवशेष आगरा में बहुत थोड़े हैं। आगरा किले के जलद्वार के बाहर, किले और नदी (जमुना) के बीच कई काले पाषाण के स्तम्भ खुदाई में पाये गये थे और एक बहुत भारी विशाल काले पाषाण की कलापूर्ण मूर्ति जो जैनो के २० वे तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत नाथ की थी, खुदाई में मिली थी इस पर कुटिला अक्षरों में स० १०६३ खुदा था। निःसन्देह स्तम्भ प्राचीन जैन मन्दिर के द्वार के थे जो नदी की ओर था और जो शायद जब किला बनाया गया, गिरा दिया गया हो।”

कनिंघम ने सवत् को विक्रम संवत् मान कर १००६ ई० सन् माना है। परन्तु कुटिला अक्षर और उस समय के सवत्तो की देने की प्रथा का ध्यान में रखते हुए यह वीर संवत् भी हो सकता है। इससे जान पड़ता है कि मुसलमानों के आने के पहिले से इस स्थान पर कोई प्राचीन मन्दिर मौजूद था। प्रतिमा के सम्बन्ध में पता नहीं लगता है कि वह कहाँ चली गई। बहुतों का विचार है कि रोसन मुहल्ला में स्थित श्री शीतल नाथ की प्रतिमा यही है, परन्तु उस पर कोई चिन्ह या और कोई शिलालेख नहीं दिखलाई पड़ता है सम्भव है मिट गया हो, अलबत्ता चरण चौकी पर जो फूल-पत्तियाँ बनी हुई हैं वे कच्छुआ सरीखे भी दिखाई पड़ते हैं शायद इस कारण से कनिंघम ने उसको श्री मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा मान लिया हो। प्रतिमा का वर्तमान नाम करण उस शिलालेख के कारण प्रचलित हुआ जान पड़ता है जो मन्दिर में दरवाजे के दाहिनी ओर लगा हुआ है। यथा — “प्रथम बसन्त सिरी सीतल ज् देव हू की प्रतिमा नगन गुन दस दोय भरी है”।”

शिला लेखों और मूर्ति प्रशस्तियों में आगरे का पुराना नाम उग्रसेन पुर व अगल पुर, मिलता है। शाहजहाँ तक के समय में उग्रसेन पुर व अगलपुर प्रसिद्ध थे। अकबर के आगरा बसाने से पहिले शायद यही नाम प्रचलित थे। अकबर के आगरा बसाने के बाद अकराबाद

quities and inscriptions N.W.P. and Oudh Vol. II, 1891, Page 75.

१. Archeological Reports, Vol. VI, page 221-247. स० १८७३-७४ व Monumental anti-

२. प्राचीन जैन शिला लेख संग्रह भाग २

नाम दिया गया परन्तु वह ज्यादा प्रचलित हुआ मालूम नहीं होता। यथा—‘संवत् १६८८ वर्षे असोज सुदी १५ श्री अमरगलपुरे जलालुद्दीन पातिसाह श्री अकबर सुत जहांगीर सुत सवाई साहिजा विजय राज्य.....।’

“...जैनागमे यन्मति तद्वक्त्य श्रवणेन निर्मलघीयां निर्मापितोय ग्रहं श्री अकबराबाद पुरे....।”

“... १६७१ ... विक्रमादित्य भूपते...उग्रसेनपुरे रम्ये....।”

जगद्गुरु आचार्य श्री हीर विजय जी व तीर्थमाला के लेखक श्री शीलविजय जी ने भी आगरा ही लिखा है, कभी-कभी अकबराबाद भी। पं० बनारसीदास जी, भैया भगवतीदास जी, भूधरदास जी आदि ने ‘आगरा’ व अकबराबाद दोनों ही नाम लिखे हैं। बहुत-सी प्रतिमा लेखों में भी आगरा ही लिखा मिलता है इससे जान पड़ता है कि १६वीं, १७वीं शताब्दी में ही आगरा नाम प्रसिद्धि पा गया था। मुसलमानी राज्य के व गदर के कुछ समय बाद भी लिखा मिलता है। शीरीपुर के भट्टारको को जो सनदे बादशाह शाह आलम गाजी ने दी थी उनमें भी अकबराबाद ही लिखा है।

उग्रसेनपुर और अमरगलपुर नाम अकबर के द्वारा नगर बसाने के पहिले हिन्दू राज्य काल में रहा था। पुरातत्व की खोजों से जान पड़ता है कि अकबर द्वारा नगर बसाने से बहुत पहिले यहाँ समृद्धशाली हिन्दू व जैन राज्य था जो मालूम पड़ता है कि प्रारम्भिक मुसलमानी आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त कर दिया था। ११वीं शताब्दी में मोहम्मद गौरी और गजनी की आगरा के निकट रपरी^१ और चन्दवार^२ के चौहान राजाओं से लड़ाइयों का उल्लेख इतिहास में पाया जाता है।

जैनों का सम्बन्ध—इस प्रकार हम देखते हैं कि आगरा प्रदेश से जैन धर्मावलम्बियों का सम्बन्ध प्राचीन-काल से रहा है। आगरा के कलेक्टर नेविल ने अपने आगरा गजेटियर (१९०५) में लिखा है कि आगरा से डटावा तक का प्रदेश—जमुना, चम्बल और ववागी के त्रिकोण में बसा हुआ क्षेत्र पूर्णतया अहिमक है। इस क्षेत्र

२. २. ४. : प्राचीन जैन शिलालेख संग्रह भाग २

५. ६ इस सम्बन्ध में विशेष खोज की आवश्यकता है।

में कोई शिकार तक नहीं खेलता न मांस खाता है। इससे जैन व वैष्णव प्रभाव प्रगट होता है।

अकबर व अन्य मुगल सम्राटों के राज्य में जैनों का अच्छा सम्मान पाया जाता है। ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि जगद्गुरु हीरविजय जी को अकबर ने आमंत्रित और सम्मानित किया था और उनसे जैन तत्वों का वर्णन सुना था। पर्वों के दिनों में हिसा न करने का भी फरमान निकाला था।

इन बादशाहों के समय में आगरा में बहुत से जैन कवि व विद्वान व सेठ हुए हैं। यहाँ दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों आम्नाए वालों का अच्छा प्रभाव था और दोनों सम्प्रदायों में सौहार्द था। एक दूसरे के उत्सव आदि में सम्मिलित होते थे। एक दूसरे की सहुलियत के लिए मंदिरों में दोनों सम्प्रदाय की मूर्तियाँ रहती थी और बिना किसी रुकावट के दर्शन पूजन होती थी।

आगरा की प्राचीन बस्तियों में जमुना पार नुनिहाई, सिकन्दरा (जो सिकन्दर लोदी के समय में बसा हुआ था) शाहगंज, ताजगंज, मोती कटरा, रोसन मुहल्ला मुख्य थे जहाँ जैनियों की बस्तियाँ थी, मन्दिर थे और बड़े-बड़े राज्यमान सेठ व घनाढ्य रहते थे।

शाहगंज में पं० भूधरदास जी रहते थे। उस समय वहाँ पार्श्वनाथ स्वामी जो चिन्तामणि पार्श्वनाथ कहे जाते थे का मन्दिर था। किसी समय वहाँ जैनों की बस्ती न रहने से मन्दिर उठ गया। बताया जाता है कि श्री पार्श्वनाथ स्वामी की विशाल मूर्ति वहाँ से लाकर ताजगंज के मन्दिर में विराजमान कर दी गयी थी और अन्य बहुत-सी मूर्ति मोती कटरा के मन्दिर में तहखाने में रख दी गई थी। इन मूर्तियों के शिलालेख व प्रशस्तियों को संग्रह किया जाय तो आगरा के प्राचीन जैन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़े परन्तु दुर्भाग्यवश दिगम्बर जैनों में नवीन प्रतिष्ठाओं का अधिक महत्व है, प्राचीन गौरव का नहीं। इस समय शाहगंज के पास श्वेताम्बर जैनों का ‘दादा बाड़ी’ नाम का प्राचीन मन्दिर है।

ताजगंज के मन्दिर में जो पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की श्याम वर्ण विशाल मूर्ति विराजमान है उसका पं० बनारसी दास जी, भूधर दास जी, नन्दराय जी आदि ने

विन्नामणि पार्श्वनाथ" के नाम से उल्लेख किया है। नन्दराम जी ने तो यहाँ तक लिखा है कि इनके दर्शन करने से मुझे स्वरूप-आत्मा का ज्ञान-सम्बन्ध दर्शन हुआ है" ताजगज के मन्दिर में एक श्रुत यंत्र है जिसकी प्रशस्ति से मालूम होता है कि पं० बनारसीदास जी व भैया भगवतीदास यंत्र को करहल (मेनपुरी) में पतिष्ठा करा कर लाये थे। यहाँ के सरस्वती-भण्डार में कई प्राचीन ग्रन्थ है जिनमें 'जीव सिद्धि' और स्वर्ण अक्षरी से लिखा हुआ उर्दू लिपि में पं० बनारसी दास का समयसार नाटक भी था। जब १९३० में हम लोगों ने आचार्य श्री १०८ शास्त्रिसागर जी के आगमन पर नशिया पीर कल्याणी पर शास्त्र प्रदर्शनी की थी तब उक्त दोनों ग्रन्थों को देखा था।

मोती कटरा में दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के विशाल एवं प्राचीन मंदिर है जिन में ऐतिहासिक प्रतिमाएँ विराजमान हैं। शास्त्रभण्डार भी है। दिगम्बर जैन बड़े मन्दिर को तो प्राचीन प्रतिमा और शास्त्रों का आगार ही कहना चाहिए। पं० बनारसी दास जी भी मोती कटरा में रहते थे। यहाँ के शास्त्रों व प्रतिमाओं की प्रशस्तियाँ यदि प्रकाश में आ जावे तो जैन इतिहास को बहुत सामग्री मिले। सुना है शीघ्र ही यहाँ यंत्र कल्याणक प्रतिष्ठा होने जा रही है। अच्छा हो यदि सयोजक गण इस उपयोगी महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्य के लिए भी आयोजन करें। आगरा के श्वेताम्बर मन्दिरों की प्रतिमाओं के दलालेख तो सरहीत होकर प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हीं के आधार पर आगरा के प्राचीन जैन इतिहास की भलक मिलती है। यदि शास्त्रों की प्रशस्ति भी प्रकाश में आ जाती तो और अधिक जानकारी मिलती।

प्रसिद्ध स्वर्गीय जती श्री चुन्नीलाल जी जती कटरा में रहते थे। उनके कारण ही उसका जती कटरा नाम पड़ा। स्व० जती जी यंत्र, मन्त्र ज्योतिष व वैद्यक आदि के अच्छे ज्ञाता थे और दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उनका प्रभाव व मान था। अनेक दिगम्बर उनके शिष्य थे। मोती कटरा जैन जोहरियों की वस्ती होने से इस का नाम मोती कटरा पड़ा जान पड़ता है। जती कटरा में भी दिगम्बर व श्वेताम्बर मन्दिर है। जिनमें प्राचीन व मनोग्य प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

नुनिहाई व सिकंदरा भी पुरानी बस्तियाँ हैं और दिगम्बर जैन मंदिर भी हैं परन्तु प्राचीनता प्रायः नष्ट हो गई या श्रावको की आधुनिक एवं नवीन प्रियता के कारण लुप्त हो गई है। बादशाही जमाने में नुनिहाई व शहादरा सम्पन्न बस्तियाँ थी। पुराने मकानों के खडहर व भग्नावशेष इस बात के द्योतक हैं। नुनिहाई सहादरा-आगरा मुगलसराय मार्ग पर स्थित होने से बादशाही काल में मुगल फौजों का पड़ाव रहता था। नुनिहाई के पास ही जमुना किनारे-किनारे बादशाही इमारतों की लाइन है जिनमें रामबाग, सैयद का बाग, चौबुरजा, चीनी का रोजा, ग्यारह सिङ्गी आदि व नवलखा बाग (जो आजकल नवल गज कहलाता है।) आदि मुख्य हैं। इस समय वेलनगज, घूलियागज, पत्तलमली गुदड़ी, घाटिया, आजम खा, राजा मन्डी, नार्दी मन्डी, छोपीटोला, पीर कल्याणी आदि मोहल्लों में करीब ३० मंदिर व चैत्यालय दिगम्बर जैन आम्नाय के और मोती कटरा व रोशन मोहल्ला के अलावा वेलनगज में भी श्वेताम्बर आम्नाय के मंदिर हैं। यह प्रायः सब मंदिर १०० साल के अन्दर के बने हुए हैं। कोई-कोई १०-१२ वर्ष के पुराने ही हैं। नित्य पूजन दर्शन करना यद्यपि प्रत्येक जैन स्त्री-पुरुष-बाल-वृद्ध के लिए आवश्यक है परन्तु अब यह प्रवृत्ति घटती जा रही है खास कर पढ़े-लिखे आधुनिक युवा वर्ग में सिवाय मेल उत्सवों में मनोरंजनार्थ सम्मिलित होने के मंदिर जाने की प्रवृत्ति मिटती जाती है। कभी-कभी यह सोचकर कि इतने मंदिरों की रक्षा, व व्यवस्था भविष्य में किस प्रकार होगी, खेद होता है परन्तु फिर भी नित्य नवीन मंदिर और मूर्ति निर्माण की प्रवृत्ति-समाज में घन वृद्धि के साथ-साथ बढ़ रही है। यह आश्चर्य और चिन्ता का विषय है। ★

नोट—नुनिहाई में वार्षिक कलशाभिषेक प्राचीन काल से होते चले आये हैं। उत्सव के उपरान्त जनता एतमादुल्ला के बगीचे में ठहर कर भोजन करती थी। गत २ वर्षों से जैनों की उपेक्षा और कम-जोरी के कारण पुरातत्व विभाग बन्द कर दिया है। इसी प्रकार सिकंदरा व ताऊ के बगीचों में भी उत्सव के बाद भोजन करने का अधिकार बादशाही जमाने से चला आता है।

जैन दर्शन में आत्म-तत्त्व विचार

श्री लालचन्द जैन शास्त्री एम. ए.

आत्मा दार्शनिक जगत् का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। इसलिए संसार के सभी ऋषि, मुनि, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने आत्मा को अपने चिंतन का केन्द्रबिन्दु बनाया है। जीवन के चारों पुरुषार्थ का एक मात्र साधन आत्मा ही है ऐसा प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है।^१ जैन दर्शन में आत्मा उपयोगस्वरूप, स्वामी, कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, अमूर्तिक और कर्म-संयुक्त माना गया है।^१ [आत्मा को स्वदेह परिमाण मान कर दार्शनिक जगत् को आश्चर्य में डाल दिया।] आत्मा का परिमाण एवं उसके निवासस्थान के विषय में काफी मतभेद दृष्टिगोचर होता है।^२

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण में कोई एक सुनिश्चित विचारधारा परिलक्षित नहीं होती है। कहीं पर आत्मा को व्यापक स्वीकार किया गया है तो अन्यत्र अणुपरिमाण वाला मान कर हृदयस्थ माना गया है। इसी प्रकार दूसरे स्थान में आत्मा को नख से सिख तक व्याप्त मानकर देह परिमाण माना गया है।^३ किन्तु गीता

१. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं।

२. भौतिकवादी दार्शनिकों को छोड़कर।

३. पञ्चास्तिकाय गाथा २७।

४. पञ्चदशी ६।७८।

५. महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोषति।

कठो० १।२।२२

वेदाहमेतमजर पुराण, सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।

श्वे० २।१।२

६. अणुष्टमात्रः पुरुषो आत्मनि तिष्ठति।

कठो० २।१।१३, श्वे० ३।१।३, बृहदारण्यक ५।६।७,

छा० ३।७।३।

७. कौषीतकी ४।२०।

८. मनु० १।५६।

में स्पष्ट रूप से व्यापक बतलाकर सर्वत्र उसका निवास-स्थान स्वीकार किया गया है।^४

बाद के भारतीय दर्शन में आत्मा के परिमाण के विषय में तीन प्रकार की विचारधाराएं उपलब्ध होती हैं।

१—आत्मा अणुपरिमाण वाला है

रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभ मतानुयायी, निम्बार्काचार्य, महाप्रभु चैतन्य, कबीरदास एवं मीराबाई ने आत्मा को बाल हज़ारवें भाग के बराबर अणुपरिमाण वाला माना है।^५ यह अणु परिमाण वाला आत्मा हृदय में निवास करता है।^६ वादरायण का मत है कि जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर लोकान्तर में जाता है इससे सिद्ध है कि आत्मा अणु रूप है। निम्बार्काचार्य ने आत्मा को अणु परिमाण वाला मान कर आत्मगुणों की अपेक्षा से उसे विभु स्वीकार किया है।^७ रामानुजाचार्य का मत है कि अणु परिमाण वाला जीव ज्ञानरूपी गुण के द्वारा समस्त शरीर के सुखादि संवेदन को अनुभव करने में समर्थ है। जैसे दीपक की शिखा यद्यपि छोटी होती है तथापि सकोच विस्तार गुण से युक्त होने के कारण समस्त पदार्थों को प्रकाशित करती है।^८ यदि आत्मा को अणु न माना जाय तो परलोक गमन नहीं हो सकता है। अणु आत्म परिमाण मानने वालों का मत है कि व्यापक आत्मा परलोक गमन नहीं कर सकता एवं देह परिमाण

९. गीता २।२४—नित्यः सर्वगतः स्थानुरचतोऽयं सनातनः

१०. पञ्चदशी ६।८१।

११. डा० राधाकृष्ण—भारतीय दर्शन पृ० ६६२।

१२. डा० राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन भाग २, पृ० ७५३

१३. ब्रह्मसूत्र रामानुज भाष्य २।३।२४-२६, डा० राधा-कृष्णन भारतीय दर्शन भाग २ पृ० ६६३।

आत्मा अनित्य हो जाता है इसलिए आत्मा को अणु परिमाण मानना ही उचित है । ।

अणु परिमाणवाद की समीक्षा

(१) आत्मा के अणु परिमाण के सिद्धान्त की सभी दार्शनिकों ने आलोचना की है । जैन दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा को अणु परिमाण मानने पर शरीर की समस्त संवेदनाओं का अनुभव होना असम्भव है ।^१ जिस स्थान विशेष में आत्मा रहता है सिर्फ उसी स्थान के संवेदनों का वह अनुभव कर सकेगा । इसलिए आत्मा को अणु परिमाण मानना उचित नहीं है ।

(२) अणु रूप आत्मा अलातचक्र के समान पूरे शरीर में तीव्र गति से घूम कर समस्त शरीर में सुख दुःखादि का अनुभव कर लेता है । ऐसा मानना भी उचित नहीं है क्योंकि जिस समय आत्मा किसी अंग में; चक्कर करता हुआ पहुँचेगा; उसी समय अन्य अंगों से उसका संबंध नहीं रहेगा इसलिए वे अचेतन हो जायेंगे । अतः अन्तराल में ही सुख का विच्छेद हो जायेगा । इसलिए आत्मा को अणु रूप मानना उचित नहीं है ।^२

(३) अणु परिमाण आत्मा मानने से युगपद दो इन्द्रियों में ज्ञान नहीं होना चाहिए, मगर नीबू का नाम सुनते ही रसना इन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो जाता है । इससे सिद्ध है कि आत्मा अणु परिमाण नहीं है । अमृत-गति श्रावकाचार (४।३-४) में एवं स्वामी कातिकेय ने (कः० अणु० भाग०, २३५) में इस मत की समीक्षा की है ।

आत्मा सर्वत्र व्यापक है

अणु परिमाण सिद्धान्त की शांकरार्य ने भी कड़ी आलोचना की है ।^३ इसलिए अद्वैत और वेदान्त, न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग, प्रभाकर और कुमारिल ने आत्मा को अणु परिमाण न मान कर आकाश की तरह सर्वत्र व्यापक (विभु) एवं महापरिमाण वाला माना है ।^४ जिस

तरह से आकाश सर्वत्र व्यापक है, कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ आत्मा न हो उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र व्यापक है । विभु आत्मा अपने कर्म के अनुसार प्राप्त भोगायतन में रहकर अपने सुख-दुःखों का अनुभव करता है ।^५ आत्मा को सर्वत्र व्यापक मानने वाले आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं । आत्मा को व्यापक मानने का कारण यह है कि अदृष्ट आत्मा का गुण है जो सर्वत्र व्याप्य रहता है, क्योंकि सर्वत्र भोग की उपलब्धि होती है ।^६ गुण बिना गुणी के नहीं रह सकता, इससे मानना पड़ता है कि आत्मा व्यापक है । यदि आत्मा को व्यापक न माना जाय तो उसे या तो अणु परिमाण मानना पड़ेगा या मध्यम परिमाण किन्तु अणु परिमाण और मध्यम परिमाण दोनों सदोष हैं इसलिए आत्मा को व्यापक मानना ही उचित है । देह परिमाण सिद्धान्त में सावयव आत्मा अनित्य हो जायेगा, जिससे कृत नाथ अकृताभ्यागम दोष उत्पन्न हो जायेगा । कहा भी है :—

सांशस्य घटवन्नामो भवत्येव तथा सति ।

कृतनाशाऽकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥^७

अतः आत्मा को व्यापक मानना ही उचित है ।

व्यापक आत्मवाद की समीक्षा

जैन दार्शनिक आत्मा व्यापक नहीं मानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से अपने शरीर में ही सुखादि स्वभाव वाले आत्मा की प्रतीति होती है, दूसरे के शरीर में और अन्तराल (बीच) में आत्मा का अनुभव नहीं होता है । यदि सभी को सर्वत्र अपनी आत्मा की प्रतीति होने लगे तो सभी सर्वज्ञ हो जायेंगे एवं भोजनादि व्यवहार में भयकर (मिश्रता) दोष होने लगेगा ।^८ अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि आत्मा व्यापक नहीं है ।

आकाशवत्सर्वगतो निरशः श्रुति संयतः ॥

पञ्चदशी ६।८६

५. प्रकरण पञ्चिका, पृ० १५७-८ ।

६. स च सर्वत्र कायोपिलम्भाद विभुः,

परममहत् परिमाण वानित्यर्थः ।

केशव मिश्र—तर्क भाषा, पृ० १४६

७. पञ्चदशी ६।८५ ।

८. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ५७०, न्याय कुमुदचंद्र पृ० २६१

१. तत्त्वार्थ श्लोक वातिक पृ० ४०६, प्रमे० २० मा० पृ० २६५ ।

२. प्रमेय रत्नमाला पृ० २६५ ।

३. राघाकृष्णन—भारतीय दर्शन भाग २, पृ० ५६६-७,

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।३।२६ ।

४. तस्मादात्मा महानेव नैवाणुनापि मध्यमः ।

अनुमान प्रमाण से भी यह सिद्ध नहीं होता है कि आत्मा व्यापक है। जैसे—आत्मा परममहत् परिमाण का अधिकरण नहीं है क्योंकि वह क्रियावाला है, जो क्रिया-वाला होता है वह परममहत्-परिमाण का अधिकरण नहीं होता है। मैं 'एव योजन गया', 'मैं आ गया' इत्यादि अनुभवों से आत्मा क्रिया वाला है, यह सिद्ध हो जाता है। मन अथवा शरीर क्रियावान नहीं है क्योंकि 'अह' प्रत्यय के द्वारा मन अथवा शरीर की प्रतीति नहीं होती है। अन्यथा चार्वाक सिद्धान्त मानना पड़ेगा।^१ एक और अनुमान से भी आत्मा में अव्यापकत्व सिद्ध किया जा सकता है—आत्मा व्यापक नहीं है क्योंकि वह चेतन है, जो व्यापक होता है वह चेतन नहीं होता है जैसे आकाश आत्मा चेतन है इसलिए आत्मा व्यापक नहीं है।^२

आत्मा को व्यापक मानने में यह तर्क दिया गया था कि आत्मा व्यापक है क्योंकि अणु अरिमाण का अधिकरण नहीं है तथा आकाशादि की तरह नित्य द्रव्य है।

जैन दार्शनिकों का कथन है कि 'आत्मा अणुपरिमाण वाला नहीं है' यह निषेध पयुंदासरूप है अथवा प्रसज्य रूप? यदि निषेध पयुंदास रूप माना जाता है तो उस प्रतिषेध या तो महापरि होगा अथवा मध्यम परिमाण, क्योंकि पयुंदास भावान्तर स्वरूप होता है। यदि पयुंदास महापरिमाण स्वरूप माना जाय, तो हेतु साध्य के समान हो जायेगा। इसलिए अणुपरिमाण निषेध का अर्थ महा-परिमाण तो माना नहीं जा सकता है। इसी प्रकार से आवान्तर परिमाण भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि हेतु आत्मा में व्यापकत्व की सिद्धि न करके मध्यम परिमाण की सिद्धि करेगा, इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास नामक दोषसे हेतु दूषित हो जायेगा। अतः 'अणुपरिमाण के निषेध' का अर्थ पयुंदास रूप नहीं है यह सिद्ध हो जाता है।^३

यदि 'अणुपरिमाण के प्रतिरोध' का तात्पर्य प्रसज्य रूप माना जाय तो हेतु असिद्ध हेत्वाभास से दूषित हो जाने के कारण साध्य की सिद्धि संभव नहीं है। क्योंकि

प्रसज्यरूप अभाव तुच्छाभाव होता है जो किसी प्रमाण का विषय न होने से सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि तुच्छाभाव को सिद्ध मान भी लिया जाय तो प्रश्न होता है कि यह साध्य का स्वभाव है अथवा कार्य? यदि तुच्छाभाव को साध्य का स्वभाव माना जाय। तो हेतु की तरह साध्य में भी तुच्छाभाव मानना पड़ेगा। तुच्छाभाव में कार्यत्व कभी सिद्ध नहीं हो सकने के कारण उसे साध्य का कार्य भी नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार 'आत्मा व्यापक है' इस साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु दिया था वह सदोष होने से 'आत्मा व्यापक है, यह सिद्ध नहीं होता है।'^४

अदृष्ट आत्मा का गुण न होकर कर्म है, इसलिए 'अदृष्ट क्रिया का हेतु है' यह मानना भी ठीक नहीं है। यदि पूर्वपक्ष कहे कि अदृष्ट क्रिया हेतु है; क्योंकि देवदत्त के शरीर से संयुक्त आत्मप्रदेश में वर्तमान अदृष्ट द्वीपान्तर वर्ती मणिमुक्तादि की देवदत्त की प्रतिक्रिया में हेतु है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर संयुक्त आत्म-प्रदेश में वर्तमान अदृष्ट का द्वीपान्तरवर्ती द्रव्यों से संबंध होना असंभव है। अब यदि यह माना जाय कि द्वीपान्तरवर्ती द्रव्य से संयुक्त आत्म-प्रदेश में वर्तमान अदृष्ट मणिमुक्तादि की प्रतिक्रिया में हेतु है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यत्र किया गया।

प्रयत्न दूसरे स्थान की क्रिया में हेतु नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि सुअदृष्ट सर्वत्र रहता है इसलिए क्रिया में हेतु है, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्यों कि यदि अदृष्ट सर्वत्र रहता है तो उसे द्रव्यों की क्रिया में हेतु होना चाहिए। ऐसा मानना भी ठीक नहीं कि जो अदृष्ट जिस द्रव्य को उत्पन्न करता है वह उसी द्रव्य में क्रिया करता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि शरीर के आरम्भक अणुओं की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिए उनमें अदृष्ट से क्रिया न हो सकेगी। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'अदृष्ट' क्रिया में हेतु नहीं होने के कारण, आत्मा व्यापक है यह सिद्ध नहीं होता है।^५

१. प्रमेयकमल मार्तण्ड पृ० ५७०।

२. वही पृ० ५७१।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ५७१, न्यायकुमुदचन्द्र पृ०

२६२, प्रमेयरत्नमाला पृ० २६२

४. प्रमेय क० मा० पृ० ५७१, प्रमेयरत्नमाला पृ० २६७

५. न्यायकुमुद चन्द्र पृ० २६४।

प्रमेयकमल मार्तण्ड पृ० ५६४।

आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिए दिया गया अनुमान "आत्मा के गुणों की सर्वत्र उपलब्धि होती है, इसलिए आत्मा आकाश की तरह व्यापक है।" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'सर्वत्र गुणों की उपलब्धि होती है' इसका तात्पर्य क्या यह है कि अपने ही शरीर में सर्वत्र गुणों की उपलब्धि होती है? यदि हाँ तो ऐसा मानने से हेतु विरुद्ध हो जायेगा क्योंकि स्वशरीर में गुणों की उपलब्धि होने से आत्मा भी स्वशरीर में ही रहेगा अन्यत्र नहीं। अब पूर्वपक्ष यह कहे कि स्वशरीर की तरह पर-शरीर में भी गुणों की उपलब्धि होती है, इसलिए आत्मा व्यापक है। पर शरीर में बुद्ध्यादिगुणों की उपलब्धि नहीं देखी जाती है इसलिए हेतु असिद्ध हो जाने से उक्त कथन भी ठीक नहीं है। यदि पर शरीर में बुद्ध्यादि गुणों की उपलब्धि होने लगे तो प्रत्येक प्राणी को सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। इसी प्रकार से शरीर शून्य प्रदेश में गुणों की उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए अन्तराल में भी गुणों की उपलब्धि होती है, यह भी सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि गुणों की सर्वत्र उपलब्धि होती है। यह हेतु सदोष होने के कारण 'आत्मा व्यापक है' यह सिद्ध नहीं होता।

आत्मा को व्यापक मानने में एक कठिनाई यह भी है कि आत्मा ईश्वर में भी व्याप्त हो जायेगी। जिसके कारण आत्मा और ईश्वर में भेद करना असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार से व्यापक आत्मा मानने से कर्ता, भोक्ता, बध मोक्ष आदि असम्भव हो जायेंगे। इसलिए आत्मा को व्यापक मानना ठीक नहीं है। अमतिगति ने एवं स्वामी कार्तिकेय ने भी इस सिद्धान्त की समीक्षा की है।
(३) आत्मा मध्यम परिमाण वाला है

जैन दर्शन में आत्मा को मध्यम परिमाण वाला अर्थात् देह परिमाण के बराबर माना है। क्योंकि आत्मा

के गुण ज्ञानादि आत्मा में पाये जाते हैं। जिसके गुण जहाँ होते हैं वहाँ वह वस्तु होती है जैसे घड़ा के रूप-रंग आदि जिस स्थान पर पाये जाते हैं वहाँ घड़ा अवश्य होता है। इसी प्रकार आत्मा का गुण चैतन्य पूरे शरीर में ही पाया जाता है। जिस वस्तु के जहाँ गुण उपलब्ध नहीं होते हैं वहाँ वह वस्तु नहीं होती है जैसे अग्नि के गुण जल में नहीं रहते हैं इसलिए अग्नि जल में नहीं उपलब्ध होती है। इसी प्रकार आत्मा के गुण शरीर के बाहर कहीं भी उपलब्ध नहीं होते हैं। इसलिए आत्मा शरीर के बाहर कहीं नहीं है। अतः चेतनता पूरे शरीर में व्याप्त होने के कारण आत्मा को भी पूरे शरीर में व्याप्त मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि शरीर के किसी भी भाग में वेदना होती है उसकी अनुभूति आत्मा को अवश्य होती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त है। सुख-दुःख का प्रभाव शरीर के किसी स्थान विशेष पर न पड़कर शरीर के प्रत्येक भाग पर पड़ता है - जब किसी व्यक्ति को सुखद समाचार प्राप्त होता है [जैसे पुत्र रत्न की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, इष्ट सयोग आदि] तो उस समय उसका चेहरा खिन्न जाता है एवं एक नवीन कान्ति की आभा मुखमण्डल पर छा जाती है, शरीर में रोमांच उत्पन्न हो जाता है, शरीर में उत्साह उत्पन्न हो जाता है, आत्मिक शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। इसी प्रकार से दुःखद समाचार सुनकर अथवा इष्ट जनो के वियोग होने से मुख उदास हो जाता है, अंग शिथिल हो जाते हैं, हृदय उत्साहहीन हो जाता है, शरीर की चमक नष्ट हो जाती है एवं आत्मिक शक्तियाँ मिकुड जाती हैं। सुख-दुःखादि के प्रभाव से आत्मा एवं शरीर दोनों प्रभा-

६. जीवो तणुमेत्तत्थो जघ कुभो तग्गुणोवलभातो ।

अवघाऽणुवलभातो भिण्णम्मि घडे पडस्सेव ॥

—विशेषावश्यक भाष्य (गणधर वाद) १५८६

स्याद्वाद मञ्जरी श्लोक ६,

७. दिग्मबरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ।

चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेदानग्रश्रुते रपि ॥

पञ्चदशी ६।८२

८. जीव एव शरीरस्थश्चेष्टते सर्वदेहगः ।

शरीर व्यापिनीः सर्वाः स च गृह्णातिसद्गति वेदनाः ॥

के० तर्कभाषा १० ५२

१. प्रमेयक पृ० ५६९ ।

२. स्याद्वाद मञ्जरी पृ० ६६ ।

३. विशेषावश्यक माहम (गण०) गा० १३७६ ।

४. अमतिगति आ. ४।२५-२६, का. अनुप्रेक्षा गा. १७७

५. "वेहमात्र परिच्छिन्नो मध्यमो जिनसम्मत्तः ॥"

दर्शन मीमांसा ५ से उद्धृत केशवमिश्र तर्कभाषा पृ० १५३ ।

वित होते हैं इससे सिद्ध है कि आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त है। “आत्मा के रहने का स्थान विशेष जानने के लिए मनुष्य के कर्माँ को ध्यानपूर्वक देखना एवं अन्वीक्षण करना होगा।.....” इस प्रकार सुख या दुःख देने वाले कार्य का प्रभाव आत्मा की प्रत्येक शक्ति, मानसिक चेष्टा एवं शरीर के प्रत्येक भाग पर पड़ता है। ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि इन कार्यों का प्रभाव केवल मस्तिष्क, हृदय या अन्य किसी निश्चित स्थान पर पड़ता हो और अन्य स्थान प्रभावित न होते हों। इस घटना से शरीर का प्रत्येक भाग प्रभावित होता है—प्रकट होता है कि आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में विद्यमान है।

आत्मा को मध्यम परिमाण मानने का दूसरा कारण यह है कि आत्मा को जैन दर्शन में अस्तिकाय^१ नामक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। काय का अर्थ है प्रदेश, एक अविभागी परमाणु आकाश के जितने स्थान को घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं। [यद्यपि ‘प्रदेश’ को अवयव कह सकते हैं मगर अवयव और ‘प्रदेश’ में भेद माना जाता है। स्याद्वाद म० पृ० ६७] इस तरह के ‘प्रदेश’ एक आत्मा में असंख्य होते हैं। ये असंख्यात् प्रदेश वाले अनन्तान्त जीव लोकाकाश में रहते हैं। किन्तु एक जीव कम से कम लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में रह सकता है। यहाँ पर शंका यह होती है कि आत्मा और आकाश के प्रदेश के बराबर है तो एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में किस प्रकार रहता है ?

१. रत्नलाल जैन—आत्म रहस्य पृ० ६०।

२. सति जदो तेणेदे अत्थित्ति, भणति जिणवरा जम्हा।

काया इव बहुदेशा तम्हा, काया य अत्थिकाया य॥

द्रव्य संग्रह ६।२४

तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।१।७

जीवा पुगल काया धम्माधम्मा तहेव आयासं।

× × ×

ते होंति अत्थि काया.....”

पञ्चास्तिकाय गाथा ४-५

३. असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मक जीवानाम्।

तत्त्वार्थ सूत्र ५।८

४. लोकाकाशेऽवगाहः।—वही ५।१२

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा में दीपक की तरह संकोच विस्तार की शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण एक जीव लोक के असंख्यातवें भाग में भी रह सकता है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है—“प्रदेशसंहारविसर्पिण्यां प्रदीपवत्” यहाँ पर ‘संहार’ शब्द का अर्थ है सिकुड़ना, जिस तरह से सूखा चमड़ा सिकुड़ कर छोटा हो जाता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों में भी संहार की शक्ति होती है। इसी प्रकार विसर्प शब्द से तात्पर्य है फैलना। जिस प्रकार तेल की एक बूंद पूरे पानी में फैल जाती है उसी प्रकार जीव के प्रदेश विसर्प शक्ति के कारण शरीर में फैल सकते हैं। उदाहरणार्थ—यदि एक दीपक को खुले मैदान में रख दिया जाय तो पूरे मैदान को प्रकाशित करता है। और यदि उसी दीपक को एक बन्द कमरे में रख दिया जाय तो वह प्रकाश को संकुचित करके उसी कमरे को प्रकाशित करेगा। इसी प्रकार संसारी आत्मा संकोच रूप विसर्प शक्ति के कारण शरीर के परिमाण अनुसार होकर उसी में पूर्ण रूप से प्राप्त होकर रहता है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि जिसका जैसा सूक्ष्म, स्थूल, छोटा, बड़ा शरीर होता है उसकी आत्मा भी उसी प्रकार की होती है। जिस प्रकार शरीर की वृद्धि होती है उसी प्रकार आत्मा का परिमाण भी बढ़ता है। यदि शरीर के अनुसार वही आत्मा न बढ़ती तो बचान की स्मृति युवावस्था में नहीं होनी चाहिए, मगर स्मृति होती है इससे सिद्ध है कि शैशवावस्था और युववस्था में वही आत्मा रहती है जो शरीर के परिमाण के अनुसार ‘घटती-बढ़ती रहती है’।

आत्मा में संकोच विस्तार होने का कारण—आत्मा में संकोच विस्तार की शक्ति क्यों ? इसका उत्तर यह है

५. लोकासंख्येयभागादावस्थानां शरीरिणाम्।

अंशाः विसर्प-संहारी दीपानामिव कुर्वन्ते॥

योगसार—प्राभृत २।१४

६. ५।१६।

७. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।१६।१।

८. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० ४०६।

९. वही पृ० ४०६।

जिसे अन्य दर्शनों में सूक्ष्म शरीर कहा गया है उसी को जैन दर्शन में कर्मण शरीर कहा गया है। यही कर्मण शरीर के कारण आत्मा के प्रदेशों में संकोच विस्तार होता है^१। यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है किन्तु भूनादिकाल से कर्मों के साथ रहने के कारण कथंचित् मूर्तिक भी है। इसलिए कर्म के अनुसार ससारी आत्मा को जैसा शरीर उपलब्ध होता है उसे उसी में रहना पड़ता है। यहा तक कि चीटी की आत्मा हाथी के शरीर में [विसर्पण शक्ति के कारण पूर्व जन्म में] व्याप्त होकर रह सकता है और इसी प्रकार हाथी (कर्म के अनुसार मृत्यु के बाद) की आत्मा चीटी के शरीर में रह सकता है। जब तक कर्मण शरीर रहता है तब तक ससारी आत्मा में संकोच विस्तार अवश्य ही होता रहता है^२। किन्तु जब कर्मण शरीर के साथ नहीं होता है उस समय आत्मा में संकोच विकास नहीं होता है। यही कारण है कि मुक्त आत्मा कर्मण शरीर से रहित होने के कारण संकोच विस्तार की परिक्रमा से रहित होती है^३। मुक्ता-वस्था में आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए ससारी आत्मा में ही कर्मण शरीर के कारण संकोच विस्तार होता है। किन्तु केवली समुद्धात अवस्था की दृष्टि से आत्मा तीनों लोकों में व्याप्त हो सकता है^४। इसी तरह से ज्ञान की दृष्टि से भी आत्मा को सर्वव्यापक जैन दर्शन में माना गया है। क्योंकि जैन दर्शन में ज्ञान और आत्मा को भिन्न-भिन्न न मानकर अभिन्न माना गया है। ज्ञान स्वंगत है इसलिए इस दृष्टि से आत्मा सर्वव्यापक है^५।

मगर यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने 'ज्ञान' की दृष्टि से आत्मा को

१. पुंसा संहार विस्तरो संहारे कर्मनिमित्ती ।

तत्त्वानुशासन २३२

२. पञ्चास्तिकाय गाथा ३२-३३, तत्त्वार्थ श्लोक

वातिक पृ० ४०० ।

३. मुक्ती तु तस्य तो नएतः क्षयात्कृतुकर्मणाम् ।

तत्त्वानुशासन श्लो० २३२

४. स्याद्वाद मञ्जरी १०३ ।

५. प्रवचनसार १।२३-२७ ।

देह परिमाण स्वीकार करके, उसे संकोच विस्तार गुण वाला माना है ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि संसारी आत्मा देहपरिमाण ही है और वह पूरे शरीर में ही व्याप्त होकर रहता है। शरीर के बाहर आत्मा के गुण उपलब्ध न होने से आत्मा शरीर के बाहर नहीं रहता है। अतः आत्मा देहपरिमाण ही है। कहा भी है^६—

सुखमालाह्वनाकारं विज्ञानं मेघबोधनम् ।

शक्तिक्रियानुमेया स्याद्व्यूनः कान्ता समागमे ॥

आक्षेप और परिहार

सभी भारतीय दर्शनों ने इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। संक्षेप में कुछ आक्षेपों का विवेचन किया जाता है—

(१) यदि आत्मा संकोचविस्तार शक्ति युक्त है तो वह सिकुड़ते-सिकुड़ते इतना छोटा क्यों नहीं हो जाता है कि आकाश के एक प्रदेश में एक ही जीव रह सके ? और इसी प्रकार 'विसर्पण' शक्ति के कारण सम्पूर्ण लोक में (लोकाकाश और अलोकाकाश) क्यों नहीं फैल जाता है? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा कर्मण शरीर के कारण असकुचित होता है और कर्मण शरीर छोटा से छोटा अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर ही हो सकता है, इसलिए जीव इसमें छोटा नहीं हो सकता है। जीव कांड^७ में अंगुल के असंख्यातवें भाग शरीर परिमाण वाला जीव मूक्ष्म निगोदियालब्धपर्याप्तक बनलाया गया है। इससे छोटा कोई जीव नहीं होता है। इसी प्रकार विसर्पण शक्ति के कारण आत्मा अपने को लोकाकाश तक ही विस्तृत कर सकता है। क्योंकि लोकाकाश के बराबर ही जीव के प्रदेश होते हैं। इसलिए स्वयंभूरमण समुद्र के मध्य में रहने वाला महामत्स्य, जो कि हजार योजन लम्बा पाँचसौ योजन चौड़ा और ढाई सौ योजन मोटा होता है। सबसे बड़ा जीव है, इससे बड़ा कोई जीव नहीं होता है^८। अलोकाकाश तक जीव के फैलने का दूसरा कारण वहाँ 'धर्म' द्रव्य का अभाव है।

६. अनन्तवीर्य—प्रमेयरत्नमाला पृ० २६७

७. गोम्मटसार जीव कांड गाथा ६४

८. वही गाथा ६५

(२) मध्य परिमाण सिद्धान्त में अन्यदर्शनों की भाँति शंकर ने भी यह दोष बतलाया है कि आत्मा अवयव वाले एव अनित्य शरीर में रहता है तो उसे भी अनित्य मानना पड़ेगा और अनित्य होने से मोक्षादि संभव न हो सकेगा^१। उक्त प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आत्मा को अनित्य तो उस समय माना जा सकता था, यदि उसके अवयव किसी अन्यद्रव्य के संघात से कारण पूर्वक बने होते। जिस वस्तु के अवयव सकारण होते हैं वह विनाशशील होती है। जैसे कपड़ा तंतु अवयवों सा बना होता है इसलिए तंतुओं के क्षीण-जोण होने से कपड़ा नष्ट हो जाता है। किन्तु जिस पदार्थ के अवयव अकारण पूर्वक होते हैं उसके अवयव नष्ट नहीं होते हैं। जैसे परमाणु के अवयव किसी कारणपूर्वक नहीं होते हैं इसलिए अवयव विश्लेषण करने पर वह नष्ट नहीं होता है। इसी प्रकार अविभागी द्रव्यस्वरूप आत्मा के अवयव घट-पट जैसे न होकर परमाणु की तरह अकारण पूर्वक होते हैं इसलिए आत्मा अवयव विश्लेषण करने पर नष्ट नहीं होता है। अतः द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य या विनाशशील नहीं है। इसलिए मोक्षादि के अभाव की समस्या जैन सिद्धान्त में नहीं उत्पन्न होती है^२। दूसरी बात यह है कि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा जैन सिद्धान्त में आत्मा को कथञ्चित् अनित्य माना है। क्योंकि शरीर के कटे हुए अंग में कम्पन क्रिया विना आत्मप्रदेशों के संभव नहीं है। कमल नाल का उदाहरण देकर यह भी बतलाया गया है कि छिन्न अंग में आत्म-प्रदेश अपने पहले वाले शरीर के आत्मप्रदेशों में पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं, यही कारण है कि यह नहीं कहा जा सकता है कि छिन्न अंग की आत्मा पूर्व शरीर की आत्मा न भिन्न है^३। इसलिए यह कहना कि आत्मा अनित्य है पक्का नहीं होता।

(३) मध्यम परिमाण सिद्धान्त में एक कठनाई यह

१. शंकर भाष्य २।३३-३६, डा० राधा कृ० भा० द०

भाग १ पृ० २८६

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४०६

तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ४५६

३. स्याद्वादमञ्जरी पृ० १०२ प्रमेय क० मा० पृ० ५८६

भी कही जाती है कि सक्रिय आत्मा मूर्तिक हो जाने से मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि यदि पूर्वपक्ष मूर्त का अर्थ 'असर्वगत' द्रव्य परिमाण मानता है तब तो जैन सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है क्योंकि इस सिद्धान्त में असर्वगत द्रव्य परिमाण वाला आत्मा स्वीकार किया गया है। और यदि मूर्तिक से तात्पर्य 'रूपादिवाला' है, तो मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई व्याप्ति नहीं है कि जो सक्रिय हो वह मूर्तिक ही हो। और यदि उक्त व्याप्ति मानी भी जाय तो न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में सक्रिय मन को रूपादियुक्त मूर्ति को मानना पड़ेगा। अतः समान दोष होने से जिस प्रकार मूर्तिक मन शरीर में प्रवेश कर सकता है उसी प्रकार मूर्तिक आत्मा का शरीर में प्रवेश सम्भूत चाहिए^४। इसके अलावा जल आदि रूपादियुक्त मूर्तिक द्रव्य का पृथ्वी आदि मूर्तिक द्रव्य में प्रवेश प्रत्यक्ष देखा ही जाता है। इसलिए आत्मा को सक्रिय मानने में कोई दोष नहीं है। यदि आत्मा को सक्रिय न माना जाय तो उसे निष्क्रिय मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से संसार का अभाव हो जायेगा; क्योंकि निष्क्रिय आत्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में गमन क्रिया नहीं कर सकती है^५।

(×) एक वह भी आपत्ति दी जा सकती है कि देह परिमाण आत्मा दिग्देशान्तवर्ती परमाणुओं को अपने शरीर के योग्य विना संयोग किये कैसे ग्रहण कर सकेगी? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि यह कोई नियम नहीं है कि दो असंयुक्त पदार्थों में आकर्षण नहीं हो सकता है। यद्यपि लोहा चुम्बक से संयुक्त नहीं होता है तो भी लोहे को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने शरीर के योग्य परमाणुओं विना संयोग किये आकर्षित कर लेता है^६। इसलिए उक्त दोष आत्म देह परिमाण सिद्धान्त में संभव नहीं है। अतः आत्मा देह परिमाण है, और वह पूरे शरीर में व्याप्त रहता है।

१. न्याय कुमुदचन्द्र पृ० २६८

२. स्याद्वाद मं० पृ० १०१

३. प्रमेय क० मा० पृ० ५८०

४. न्याय कुमुदचन्द्र २६६

रणतर्भवर (रणथंभौर) का कक्का : एक ऐतिहासिक रचना

अनूपचन्द न्यायतीर्थ

राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारों में कितनी ही ऐतिहासिक रचनाएं भी उपलब्ध हुई हैं उनमें से एक रणथंभौर का कक्का है। इन भंडारों में कक्का या बारहखड़ी के रूप में कई रचनाएं मिलती हैं किंतु रणथंभौर का कक्का नामक रचना एक नई कृति प्रतीत होती है। क से लेकर ह तक वर्णों के प्रथमाक्षर से दोहों में यह रचना की गयी है। दोहे का पहला अक्षर कका, गगा, चचा, आदि वर्ण से प्रारम्भ होता है। इस रचना में व्यंजन संख्यानुसार ३३ दोहे हैं। अन्तिम दोहा पूर्ण उपलब्ध नहीं है। प्रति का अन्तिम पृष्ठ फट गया है। संभव है ३३ से आगे भी कोई परिचयात्मक दोहे दिये हों किन्तु कृति अप्राप्य है। रचना सीताराम गुजरगोड ब्राह्मण के पुत्र वेणीराम के पौत्र मोहन की है जिसका उल्लेख ३२वें दोहे में निम्न प्रकार है—

ससा—सीताराम सुत मोहनो विरामण गुजर गोड।

नासी वेणीराम को कको बणायो जोड ॥३२॥

रणथंभौर के किले का कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से महत्व बतलाते हुए यशोगान किया है। यह किला संसार में प्रसिद्ध है तथा सभी बावन किलों का दुल्हा है।

आत्मा के परिमाण के विषय में उपयुक्त विचार-धाराओं के विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकालना कि कौनसा सिद्धान्त उत्तम है, असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पुनरपि अणुपरिमाण सिद्धान्त सर्वमान्य हो नहीं सकता है, क्योंकि हरम में रहकर आत्मा शरीर के अन्य भागों को किसी भी प्रकार से सचेतन नहीं बना सकता है देकाई को भी अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था। आत्मा का सर्व व्यापक सिद्धान्त पहले की अपेक्षा युक्तियुक्त है। पाश्चात्य दर्शन में स्पिनोजा ने ईश्वर का गुणमान कर आत्मा को सर्व व्यापक ही स्वीकार किया है।



इस किले में अनेक देवी-देवताओं के मन्दिर हैं जिनमें गणेशजी तथा शंकर के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक किले की ८४ घाटियाँ तथा चारों ओर ४ दरें हैं। महाराणा-हम्मीर के समय में विद्वानों एवं बहादुरों का सम्मान किया जाता था। हिन्दू तथा मुसलमान का कोई भेदभाव नहीं था। पंडित तथा खान् सत्ती वहाँ रहते थे। मंदिर तथा मस्जिदें धर्माश्रम के लिए बनी हुई थी। चारों ओर अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलों एवं स्वादिष्ट फलों से वृक्ष सुशोभित थे। बड़े अच्छे-अच्छे बगीचे थे। सदा नौबत तथा शहनाई महाराणा हमीर का यशोगान करती रहती थी। यहाँ के प्रसिद्ध जोरा-भोरा दोनों ही भण्डार सदैव भद्रूट संपत्ति से भरे रहते थे। यहाँ गुप्त गंगा का निवास लक्ष्मीनाथ रामचन्द्र विकटविहारी आदि के मन्दिर थे। राजमहलों के बाहर नजदीक ही में नौबतखाना तथा जले चौक सुशोभित था। बड़े-बड़े कुण्ड तालाब बावडो आदि में कमल खिले हुए थे। किले का स्थान बड़ा ही रमणीय था। इसके चारों ओर चार दवाजे तथा सात पोल थे।

किले का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवि मोहन जयपुर के महाराजा माधवसिंह में प्रशंसकों में से एक था। इस किले पर महाराजा माधवसिंह का आधिपत्य था, तथा वहाँ किसी समय पद्मश्रृषि तपस्या करते थे। सब प्रकार के फलफूल खिलते थे तथा वहाँ के स्थान एक से एक बढ़ कर थे। जयपुर के हवामहल के सदृश जगन्नाथ के मन्दिर तथा महल थे। इस किले का नाम रणतर्भवर था तथा इसकी शोभा अपरम्पार थी। इसका वर्णन कवि के शब्दों में देखिए—

या शोभा रणथंभ की वरणी अकल विचार।

यो किल्लो सुबस बसो रणतर्भवर जगजाहर ॥

इस किले में शीतला माता की पूजा होती थी तथा

यहाँ बड़ा भारी मेला होता था। यहाँ सोलह सौ गण-पतियों की पूजा होती थी तथा पीर पंगम्बर आदि और पूजे जाते थे। इस किले के पाम मे ही घोरपुरा, खिलची-पुरा, माधोपुर, आलणपुर आदि गाँव थे तथा चारों ओर पहाड़ पर परकोटा था एवं यह किला सब किलो का सरताज था।

यद्यपि रचना में कोई रचनाकाल नहीं दिया है किंतु सम्भवतः यह रचना वि० सं० १७८३ अर्थात् जयपुर बसने की बाद की तो निश्चित ही है। इसमें अन्तिम ३३वें दोहे में महाराज जयसिंह के शासनकाल में किले पर उनकी ओर से किलेदार रखा जाना प्रतीत होता है। हवा महल के सदृश महलों की उपमा तथा जयपुर के जलेब चौक के सदृश वहाँ भी महलों के समीप में जलेब चौक बतलाना इसके प्रमाण है।

रचना बूढ़ारी भाषा में है। शब्दों का चयन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। शब्दों को तोड़ मरोड़ कर रखने का प्रयत्न कहीं नहीं किया गया है। रचना का क्रम भी अधिक सुन्दर है। मासूली पढ़ा लिखा भी अच्छी तरह अर्थ को हृदयंगम कर लेता है।

यह भी सम्भव हो सकता है कि उस समय में सवाई-माधोपुर से जैनों के कई मन्दिर भ्रष्ट हो गये थे और उसी साम्प्रदायिक विवेक के कारण रचनाकार मोहन ब्राह्मण ने जैन मन्दिर का उल्लेख किया हो। कुछ भी हो रचना ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण है अतः उसे पाठकों की जानकारी के लिए श्यों की त्यों दी जाती है।

—अथ रणतमंवर की कसकी लिख्यते—

कका—कही कहुँ बाँको बिकट, किल्लो है रणथंभ ।

आसि पासि मुरंगुके, सदा बजावैं बंभ ॥१॥

खला—खलकम्पान जानतसबै, महिमा आगम अगाध ।

लालो बावन गढन को, देत मरदकुं दावि ॥२॥

गगा—गवरी पुत्र गणेश जी, राज रहे सुर राज ।

शिवशंकर राजत लहा, सकल सुधारत काज ॥३॥

घघा—घाटी खवरासी बिकट, बरा ध्यार चहु ओर ।

घुघरमल भकं दरो, छणि खुस्याली ओर ॥४॥

नना—नारी नर की कहा क[हुँ], खली जवो लारीत ।

पंडित जानू है सा ओर जमा महजोत ॥ ५ ॥

खचा—चंप चमेली मोगरी, मधुमालती सुगंध ।

केलि के बड़ो केतकी, जाविचि गढ रणथंभ ॥६॥

छछा—छाया सोलस वृक्ष की, राज बाग की मोख ।

होद कवल परवण कली जाणि सुकल दी दोज ॥७॥

जजा—जगत सरावत है सबै, धन्य कहत सब देस ।

मुके ग्राम दाडिम सरस, ना गी अघ देस ॥८॥

भभा—कहां दणवत बजरगबली जैन तलाई डोर ।

सदा विराजन है तहां खेंतर पाल ओर ॥९॥

नना—नोवत बाजत है तहां, अर बाजत सहनाय ।

छोटी बड़ी असा रहै, हमीर कं चढनाय ॥१०॥

टटा—टोटा नहीं भंडार में भरेज दोनू खास ।

जोरा भेरा है दौड गपति गग को वाम ॥११॥

ठठा—ठाकुर ो मिदर वहाँ लिखमीपति रचनाय ।

रामलाल गोपाल जी विवट विहारी नाथ ॥१२॥

डडा—डंडोवन करिये सदा मरलीधर चित लाय ।

त्रिभवनपति महाराजि जु ठाकुर दानेराय ॥१३॥

ढढा—ढोल घडावल बुंदुभी, नोवति खानो ढीक ।

उपमा चोक जले बकी, त सू महल नजीक ॥१४॥

णणा—राणा राजा रास के बाकें तुव ज्या बान ।

येस भरें रण धंमकूं, वाकी आजा मानें ॥१५॥

तता—ताल जंगाली पदम लो सागराणी होद ।

बब वान बड़ी कूप में, पाणी भरे कमोद ॥१६॥

थथा—थाड़ो रमणीक अति, जहां देवन को वास ।

जहां देवी ककालिका, वीरमाण उजयास ॥१७॥

वदा—वरवाजा ज्याकूं तरफ, अरसुन्दर सातूं पोलि ।

दो वरवाजे हैं तहां, नवलख सूरज खोलि ॥१८॥

घघा—धन्य वरवाजो बोह को, करयो मिसकी सोय ।

वरवाजा सोहत सदा, आछया लागत मो ॥१९॥

नना—नरपति माधो सिध जी, पायो गढ रणथंभ ।

आगण सुवि वारसि बिना, पदरा साल रंब (?) ॥२०॥

पपा—पदम रिषी सुर वहाँ तपे, नीर भरत सब नारि ।

बंवा ऊपर घाट पे, कुसम बाग की भार ॥२१॥

फफा—फूलत गुलतुरा तहां, चंप मोगरी वेस ।

वहां राजत बजरंगबली, राजत ओर महस ॥२२॥

बबा—बड़े एक सू एक है, कमठाना अद्भूत ।

जगन्नाथ के महल है, हवा सहल की सुत ॥२३॥

खजुराहो के जैन मन्दिरों के डोर-लिटल्स पर उत्कीर्ण जैन देवियां

भारतनन्दन प्रसाद तिवारी

चंदेलों के शासनकाल में निर्मित खजुराहो के पार्श्व-नाथ व आदिनाथ जैन मंदिर और अन्य कई नवीन जैन मंदिर, जिनमें स्थित मूर्तियां चंदेलों के काल की ही हैं। एक विशाल किन्तु नवीन परकोटे में स्थित है। चंदेलों के शासन काल में निर्मित एक अन्य जैन मंदिर घण्टाई, जिनका प्रब केवल अर्धमण्डप और महामण्डप ही शेष है, नवीन परकोटे से कुछ ही दूर पर पश्चिम की ओर स्थित है। खजुराहो के जैन शिल्प के अध्ययन की दृष्टि से समस्त जैन मंदिरों के डोर-लिटल्स पर उत्कीर्ण जैन देवियों का अध्ययन विशिष्ट महत्व रखता है। खजुराहो

के उपर्युक्त तीन प्राचीन जैन मंदिरों से प्राप्त कुल ५ डोर-लिटल्स के अतिरिक्त अन्य १७ डोर-लिटल्स खजुराहो के पुरातात्विक संग्रहालयों (नवीन व जोड़न) और आदिनाथ मंदिर के पीछे बावली से सटे संग्रहालय में स्थित हैं, और कई नवीन मंदिरों के निर्माण में प्रवेश द्वार के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। कुल २२ डोर-लिटल्स में से १५ पर जैन सम्प्रदाय की विशिष्ट देवियों, यथा चक्रेश्वरी श्रविका, सरस्वती, लक्ष्मी और पद्मावती को अनेकशः उत्कीर्ण किया गया है, जब कि शेष ७ में से ५ पर तीर्थंकरों की साक्षिप्त आकृतियाँ अंकित हैं। अन्त दो डोर-लिटल्स हिन्दू सम्प्रदाय के तीन प्रमुख देवों ब्रह्मा, विष्णु और महेश का चित्रण करते हैं। ये डोर-लिटल्स आदिनाथ मंदिर (मंदिर नं० १) के प्रवेश द्वार में और आदिनाथ मंदिर के पीछे स्थित संग्रहालय (नं० के १०८) में देखी जा सकती हैं। ये उदाहरण निश्चय रूप से हिन्दू मंदिरों के डोर-लिटल्स प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैन मंदिरों के डोर-लिटल्स पर सर्वदा इन्हीं देवों का अंकन प्राप्त होता है। इस प्रकार जैन मंदिरों से सम्बन्धित २० डोर-लिटल्स, जिनमें से तीन तो पार्श्वनाथ मंदिर में देखे जा सकते हैं, निश्चित रूप से खजुराहो में १७ जैन मंदिरों के अस्तित्व का संकेत करते हैं, जो पार्श्वनाथ, घण्टाई, और आदिनाथ मंदिरों के समान विशाल न होकर छोटे छोटे देवालय रहे होंगे। प्रस्तुत लेख में हम पार्श्वनाथ व घण्टाई मंदिरों के डोर-लिटल्स के अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट डोर-लिटल्स की मूर्तियों का भी अध्ययन करेंगे। आदिनाथ मंदिर के प्रवेश द्वार की मूर्तियों का अध्ययन हम अनेकान्त के पिछले अंक में कर चुके हैं। डोर-लिटल्स की समस्त आकृतियों को ललितासन मुद्रा में एक पैर नीचे लटकाये और दूसरा मोड़कर आसन पर रखे हुए चित्रित किया गया है। सभी आकृतियाँ ग्रीवा में हार, स्तनहार, कुण्डल, कंयूर, पायजेब, घोती आदि से सुसज्जित हैं। सभी

भभा—भली भांति छतरी [वर्णों] लगे बतौं ख ॥
बीठल की छतरी वहाँ, अति सोहत रणथम् ॥ ४॥
ममा—मीदर छतरी महल है, केती ही महजीत ।
को लग वरणो या छवी, सब देखन की रीति ॥ २५॥
यया—या सोभा रणथम् की, वरणी अकल विचार ।
यो किलनो सुवस बसो रणत भवर जग जाह ॥ ६॥
ररा—रण के डूंगर शीतला, पूजत नारि सुधीर ।
नर नारी पूजत सदा भामो भाणजो पार ॥ २७॥
लला—लागत गढ प्यारी सदा, गंग बिहारी दास ।
रोनां भोनां है बोक, सकल सुधारत काम ॥ २८॥
ववा—वहाँ मेला कई जडें, होत धमाधम भीर ।
सोलं से गणपति पुजें, सवर दीन श्री पीर ॥ २९॥
शशा—शेरपुरी खिलखी पुरो, बसत किला की बोट ।
माधोपुर आलण पुरो, चहुदिसि डूंगर कोट ॥ ३०॥
खवा—साईतर बन कियो, कवल धार जग नेर -
चसमा की सुन्दर हवा, बधा जाल की मेर ॥ ३१॥
ससा—सीताराम सुत मोहनो विरामण गूजर गोड ।
नाती बेणी राम को, कको बनायो जाति ॥ ३२॥
हहा—है नरपति जैस्यंघ बली किलोवर ॥ ३३॥

...

...

...

आकृतियाँ मस्तक पर या तो अलंकृत मुकुट या घम्मिल से युक्त है।

सर्वप्रथम हेम पार्श्वनाथ मंदिर (६५४ ईसवी) से प्राप्त डोर-लिटल्स की देवियों का अध्ययन करेंगे। पार्श्वनाथ मंदिर से प्राप्त तीन डोर-लिटल्स में से दो मंदिर के मण्डप और गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर और तीसरा मंदिर के पश्चिमी भाग में संयुक्त अतिरिक्त छोटे मंदिर, जो मूल मंदिर से संभवतः बाद में जोड़ा गया था, के प्रवेश द्वार पर देखे जा सकते हैं। पार्श्वनाथ मंदिर के मण्डप के डोर लिटल के मध्य में (लगाट-बिब) दस भुजाओं से युक्त चक्रेश्वरी को मान रूप में प्रदर्शित गरुड़ पर आसीन चित्रित किया है। यहां यह ज्ञातव्य है कि लगाट-बिब की चक्रेश्वरी आकृति, जो प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षी है, और साथ ही गर्भगृह में स्थापित मूल प्रतिमा के सिंहासन पर उत्कीर्ण बैल चिह्न के आधार पर इस मंदिर का ऋषभनाथ को समर्पित होना निश्चित है। १६वीं शती में निर्मित काले प्रस्तर की पार्श्वनाथ प्रतिमा के आधार पर ही इसे मूल से पार्श्वनाथ मंदिर समझा जाने लगा। देवी की दाहिनी भुजाओं में क्रमशः ऊपर से नीचे, पद्म (१), चक्र, गदा, खड्ग और वरदमुद्रा प्रदर्शित है, और बायें भुजाओं में उसी क्रम से चक्र, धनुष, खेटक, गदा और शंख। खजुराहो में चक्रेश्वरी का यह अकेला चित्रण है, जिसमें देवी को दस भुजाओं से युक्त प्रदर्शित किया गया है। डोर-लिटल के बायें कोने पर चतुर्भुज ब्रह्माणी की त्रिमुख मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी का वाहन हंस अनुपलब्ध है। देवी की ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः शक्ति और पुस्तक चित्रित है, जबकि निचली भुजाओं में अभयमुद्रा(?) (दाहिनी) और (बायीं) देखा जा सकता है। दाहिनी और की आकृति भी चतुर्भुज और त्रिमुख ब्रह्माणी का अंकन करती है। देवी के समीप ही उसका वाहन हंस चित्रित है। देवी की ऊर्ध्व भुजाओं में पूर्ववत् शक्ति और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि निचली दाहिनी भुजा में बीज-पुरक (फल) और बायीं में कमण्डलु अंकित है। यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त डोर-लिटल के अतिरिक्त अन्य किसी भी डोर-लिटल पर ब्रह्माणी को उत्कीर्ण नहीं किया गया है।

पार्श्वनाथ मंदिर के गर्भगृह के प्रवेशद्वार की आकृतियाँ वस्तुतः डोर-लिटल के दाहिने और बायें दीवार पर उत्कीर्ण हैं। फलतः इसे डोर-लिटल का अंकन स्वीकार नहीं भी किया जा सकता है, पर उनके प्रवेश द्वार की देवियाँ होने में कोई संदेह नहीं है। बायीं ओर की चतुर्भुज देवी को ऊर्ध्व भुजाओं में सनाल कमल प्रदर्शित है। देवी की निचली दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः अभय-मुद्रा और कमण्डलु उत्कीर्ण हैं। भुजाओं में धारित कमल के ऊपर दोनों ओर गज आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। गज आकृतियों और कमल के आधार पर इस आकृति की निश्चित पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है। दाहिनी ओर की आकृति के ऊपरी दाहिने व बायें हाथों में क्रमशः सनाल कमल और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि निचली दोनों भुजाओं में देवी ने वीणा धारण किया है। पुस्तक और वीणा के आधार पर इस आकृति की निश्चित पहचान सरस्वती के की जानी चाहिए। पार्श्वनाथ मंदिर के पीछे संयुक्त एक अतिरिक्त छोटे मंदिर के डोर-लिटल के मध्य की आकृति के ऊपरी दोनों हाथों में सनाल कमल स्थित है, जबकि निचली दाहिनी भुजा भंग है, और बायीं में देवी ने कमण्डलु धारण किया है। हाथों में प्रदर्शित पद्म इसके लक्ष्मी से पहचान की पुष्टि करता है। बायीं ओर की आकृति के ऊपरी दाहिनी व बायीं भुजाओं में क्रमशः सनाल कमल और पुस्तक चित्रित है, जबकि निचली दोनों भुजाओं में वीणा प्रदर्शित है। दाहिनी ओर की आकृति के हाथों में भी पूर्ववत् सनाल कमल और पुस्तक प्रदर्शित है, जबकि निचली दोनों भुजाओं में वीणा के स्थान पर वरद मुद्रा और कमण्डलु चित्रित है। उपर्युक्त दोनों ही आकृतियाँ निःसंदेह सरस्वती का अंकन करती हैं।

योजना में पार्श्वनाथ मंदिर के सदृश घण्टई मंदिर को स्थापत्य, मूर्तिकला और स्तंभों पर उत्कीर्ण लिपि संबंधी साक्ष्य के आधार पर दसवीं शती के अंत में निर्मित माना जा सकता है। प्रवेश द्वार के लगाट-बिब में चक्रेश्वरी की अष्टभुजी मूर्ति उत्कीर्ण है, जिसमें देवी को मानव रूप में उत्कीर्ण गरुड़ पर आसीन व्यक्त किया गया है। चक्रेश्वरी की ऊपरी चार भुजाओं में चक्र प्रदर्शित है, जबकि शेष तीसरी चौथी दाहिनी भुजाओं में घण्टा और मातुलिय

स्थित है। तीसरी और चौथी बायी भुजाओं में क्रमशः चतुश (?) और कलश (?) उत्कीर्ण है। डोर-लिटल के दोनों कोनों पर जैन देवियों के स्थान पर तीर्थंकरों की संक्षिप्त (खड़ी) आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

एक विशिष्ट डोर-लिटल सप्रति पुरातात्विक संग्रहालय (जार्जेन संग्रहालय: नं० १४६७) में संगृहीत है (चित्र स०-१)। मध्य में गरुड़ पर आसीन चतुर्भुज चक्रेश्वरी की आकृति उत्कीर्ण है। देवी की ऊर्ध्व दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमशः गदा और चक्र प्रदर्शित हैं, जबकि निचली दाहिनी भुजा से वरद मुद्रा व्यक्त है। देवी की निचली वाम भुजा सप्रति खण्डित है। बायें कोने की चतुर्भुज आकृति २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी अम्बिका का चित्रण करती है। देवी ने दो ऊपरी भुजाओं में सनाल कमल धारण किया है, जबकि निचली दाहिनी भुजा में आम्रलुंबि चित्रित है। देवी का निचला वाम हस्त बायी गोद में बैठे बालक को सहारा दे रहा है। बालक अपने हाथों से देवी का स्तन स्पर्श कर रहा है। देवी के दाहिने पार्श्व में आसीन एक आकृति, जिसकी भुजाओं में फल प्रदर्शित है, की पहचान देवी के दूसरे पुत्र से की जा सकती है। देवी के शीर्ष भाग में आम्रफल से युक्त टहनियाँ भी चित्रित हैं, जिसके मध्य एक संक्षिप्त जिन मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी के आसन के समीप ही उसका वाहन सिंह उत्कीर्ण है। दाहिने कोने की चतुर्भुज आकृति २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षी पद्मावती का अंकन करती है। शीर्ष भाग में सप्त सर्प फणों के घटाटोपों से आच्छादित देवी के ऊपरी व निचली दाहिनी भुजाओं में क्रमशः पाश और वरद मुद्रा प्रदर्शित हैं, जबकि ऊपरी वाम भुजा में अकुश चित्रित है। देवी की निचली भुजा भग्न हो चुकी है। देवी के चरण के समीप उसका वाहन हंस चित्रित है। यहां यह ध्यातव्य है कि ग्रंथों में देवी का वाहन सर्प या कुक्कुट वर्णित है। इस डोर-लिटल को निश्चित रूप से ११वीं शती के प्रारंभ में तिथ्यांकित किया जा सकता है।

आदिनाथ मंदिर के संग्रहालय में स्थित एक डोर-लिटल में मध्य में चतुर्भुज चक्रेश्वरी की गरुड़ासीन मूर्ति उत्कीर्ण है। देवी की ऊपरी दोनों भुजाएं खण्डित हैं, और

निचली दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमशः वरद मुद्रा और शंख प्रदर्शित हैं। डोर लिटल के दोनों कोनों पर अम्बिका की चतुर्भुज आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनके हाथों में प्रदर्शित प्रतीक समान हैं। चरण के समीप देवी का वाहन सिंह उत्कीर्ण है, और शीर्षभाग में भी आम्रफल से युक्त टहनियाँ अंकित हैं। अम्बिका के ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओं में कमल और पुस्तक प्रदर्शित हैं और निचली दाहिनी में आम्रलुंब और बायी भुजा से गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है।

एक अन्य विशिष्ट उदाहरण शातिनाथ मंदिर के अन्दर स्थित मंदिर नं० ११ के प्रवेश द्वार पर देखा जा सकता है। मध्य में चक्रेश्वरी की षष्ठभुजी आकृति उत्कीर्ण है, जो अन्य चित्रणों के समान ही गरुड़ पर ही आसीन है। देवी के ऊपरी चार भुजाओं में चक्र प्रदर्शित हैं, जबकि निचली दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमशः वरद मुद्रा और शंख स्थित हैं। बायी ओर की लक्ष्मी की चतुर्भुज आकृति ऊर्ध्व भाग में दो गर्जों द्वारा अभिविक्त हो रही है। देवी की ऊपरी दो भुजाओं में कमल और निचली में अभय-मुद्रा (दाहिनी) और कमण्डलु (बायी) प्रदर्शित हैं। दाहिनी ओर की आकृति चतुर्भुज सरस्वती का अंकन करती है। देवी की ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमशः कमल और पुस्तक प्रदर्शित हैं, जबकि निचले दोनों हाथों में वीणा स्थित है।

एक अन्य विशिष्ट उदाहरण नवीन मंदिर में नं० २४ के प्रवेश द्वार पर देखा जा सकता है। ललाटबिंब की चतुर्भुज आकृति की दाहिनी ऊपरी व निचली भुजाओं में क्रमशः कमल और वरद मुद्रा प्रदर्शित हैं। देवी का ऊपरी बायाँ हाथ खण्डित है, जबकि निचले में कमण्डलु धारण किया है। देवी की संभावित पहचान लक्ष्मी से की जा सकती है। बायी ओर की आकृति के दोनों दाहिनी भुजाओं में कमल (ऊपरी) और वरद मुद्रा (निचली) प्रदर्शित हैं। देवी के दोनों वाम हस्त खण्डित हैं। देवी के दाहिने पार्श्व में उसका वाहन मयूर उत्कीर्ण है, जिसके आधार पर इसकी पहचान सरस्वती से की जा सकती है, और माना जा सकता है कि देवी के खण्डित दोनों हाथों में पुस्तक और कमण्डलु स्थित रहा होगा। दाहिनी ओर,

की आकृति के ऊपरी दाहिनी व बायी भुजाओं में क्रमशः खड्ग और चक्र (या खेटक?) स्थित है, जबकि निचले दोनों हाथों में वरद-मुद्रा और कमण्डलु चित्रित है। देवी के चरणों के समीप प्रदर्शित वाहन सिंह है। इस आकृति को निश्चित पहचान २४वें तीर्थंकर महावीर की यक्षी सिद्धायिका से की जा सकती है, क्योंकि खजुराहो से प्राप्त महावीर की मूर्तियों में यक्षी के रूप में उत्कीर्ण चतुर्भुज सिद्धायिका की भुजा में चक्र और वाहन के रूप में सिंह का उपास्थिति सभी उदाहरणों में देखी जा सकती है। साथ ही नवीन मंदिर न० २१ के पीछे के दीवाल पर रखा महावीर की मूर्ति (क २८।१) में देवी की ऊपरी भुजा में प्रस्तुत मूर्ति के समान ही खड्ग भी प्रदर्शित है और शेष भुजाओं के आयुध भी समान हैं, मात्र निचली वाम भुजा को छोड़कर, जिसमें देवी ने प्रस्तुत मूर्ति के कमण्डलु के स्थान पर फल धारण किया है। सिद्धायिका का अंकन करने वाला यह अकेला डोर-लिटल है। आदिनाथ मंदिर के डोर-लिटल के समान ही इस उदाहरण में भी मध्यवर्ती आकृति के दाना और तीन-तीन स्त्री आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। मध्यवर्ती आकृति के वाम पार्श्व की समस्त चतुर्भुज आकृतियों के ऊपरी दोनों भुजाओं में कमल, और निचली में वरद मुद्रा (दाहिनी) और कमण्डलु (बायी) चित्रित हैं। मध्य की आकृति के दाहिने पार्श्व की तीनों आकृतियाँ द्विभुज हैं। प्रथम दो आकृतियों की दाहिनी भुजा से अभय मुद्रा व्यक्त है और बायी से वे

गोद में बैठे बालक को सहारा दे रही है। तीसरी आकृति की दोनों भुजाओं में एक हार प्रदर्शित है। बायी ओर की पहचान लक्ष्मी और दाहिनी ओर की दो द्विभुज आकृतियों की पहचान अम्बिका से की जा सकती है। पार्श्वनाथ, घण्टई, और जार्डन संग्रहालय के डोर-लिटल्स के अतिरिक्त समस्त उदाहरणों को ११वीं-१२वीं शती में निर्मित स्वीकार किया जा सकता है।

अन्य सभी डोरलिटल्स पर चतुर्भुज चक्रेश्वरी, अम्बिका लक्ष्मी और सरस्वती को चित्रित किया गया है, जिनके अंकन में कोई नवीनता नहीं प्राप्त होती है और आयुधों आदि का प्रदर्शन पूर्व वर्णित उदाहरणों के सदृश ही है। उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि चक्रेश्वरी जिसको बहुलता से ललाट बिंब में उत्कीर्ण किया गया है, के अतिरिक्त अन्य सभी देवियाँ सदैव चतुर्भुज अंकित की गई हैं। समस्त प्रमुख जैन देवियाँ क अंकन में उनसे संबंधित विशिष्टताओं का प्रदर्शन इस बात का सकेत करता है कि कलाकार ने उनके चित्रण में प्रतिमा-शास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित मूलभूत विशेषताओं का निर्वाह किया है। पर साथ ही आयुधों के प्रदर्शन के क्रम में अंतर और कुछ नवीनताओं का समावेश या तो किसी अप्राप्य प्रतिमालाक्षणिक ग्रंथ के आधार पर उनके निर्मित होने के कारण है, या फिर स्वयं कलाकार या आचार्य, जिसके निर्देशन में मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गईं, की देन है।

‘तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का तीसरा सूत्र’ एक अध्ययन

सनमत कुमार जैन एम० ए० शोध-छात्र

आगमकारों में प्राकृत भाषा में निबद्ध सम्यक्ज्ञान के पाँच भेदों का जब तत्त्वार्थ सूत्रकार ने सर्व प्रथम संस्कृत में सूत्र रूप से सूत्रित किया तब यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि एक साथ एक आत्मा में कितने ज्ञान हो सकन है? वस, इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने के पूर्व तत्त्वार्थ सूत्रकार ज्ञान के पाँचो भेदों का सम्यक् प्रतिपादन कर चुके थे। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का तीसरा सूत्र उपर्युक्त

जिज्ञासा का शमन करने हेतु उपस्थित किया गया :—

“एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्थ्यः।”

अर्थात् “एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञानों तक का विभाग करना चाहिए।”

वया इस सूत्र से जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त हो सकी? नहीं, उसकी जिज्ञासा की शान्ति के लिए भाष्य,

१. तत्त्वार्थ सू० १।३०।

टीका—प्रटीकाओं का प्रणयन किया गया। राई को पर्वत बनाया गया। सूत्र का आपरेशन किया गया, उसका विश्लेषण किया गया।

दिगम्बर सम्प्रदाय में उपलब्ध सर्वप्रथम प्राचीन टीका 'सर्वार्थसिद्धि' है इसके रचयिता है आचार्य पूज्यपाद। इन्होंने सूत्र को विश्लेषित करते हुए बताया कि आत्मा में यदि एक ज्ञान होता है तो वह केवल ज्ञान होता है क्योंकि वह असहाय है तथा क्षायिक है। यदि दो होते हैं तो वह मति, श्रुत होते हैं तीन होते हैं मति, श्रुति अवधि या मनः पर्यय होते हैं। यदि चार होते हैं तो मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय होते हैं। परन्तु पाँचों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उलब्ध 'स्वोपज्ञ', कहा जाने वाला वाचक उमास्वामि कृत् तत्त्वार्थविगमभाष्य में आत्मा में एक ज्ञान की विवक्षा में मतिज्ञान को स्वीकार किया गया है। उन्होंने पूज्यपाद की तरह 'एकादीनि' में एक का तात्पर्य केवलज्ञान से नहीं लिया है।

तत्त्वार्थ राजवातिक^१ में अकलंक ने यद्यपि दोनों मतों का कथन किया है फिर भी उनके विवेचन से यह स्पष्ट भलकता है कि उनका 'एकादीनि' में 'एक' का तात्पर्य मतिज्ञान से है न कि केवलज्ञान से। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'एक' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त देखा जाता है परन्तु यहाँ विवक्षा में प्राथम्य वचन रूप जानना

१. एकं तावत्केवलज्ञानं, न तेन सहाय्यानि क्षायोपशमिकानि युगपदवतिष्ठन्ते। द्वे मति श्रुते। त्रीणि मति-श्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुत मनःपर्यय ज्ञानानि वा चत्वारि मतिश्रुताऽवधिमनः पर्ययज्ञानानि।"

सर्वार्थसि० १।३०

२. कस्मिंश्चिज्जीवे मत्यादीनामेक भवति—तत्त्वार्थविगम भा० (वाचक उमा०) १।३१।

३. तत्त्वार्थ रा० वा० (अकलंक) १।३०।

४. अयमेकशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगाः। क्वचित्संख्यायां वर्तते, एको द्वो बहवः इति। क्वचिदस्यै, एके आचार्याः-अन्ये आचार्याः इति। क्वचिदसहाये, एकाकिनस्ते विचरन्ति बीराः इति। क्वचित्प्राथम्ये-एकभागमनम् प्रथमभागमनम् इति। क्वचित्प्राधान्ये, एक हतां तैनां करोमि-प्रधानं हता सेनां करोमि इत्यर्थः। तत्त्वार्थ रा० वा० (अकलंक) १।३०।१

चाहिए। इस प्रकार से प्राथम्य वचन रूप मतिज्ञान ही होता है। अतः इस रूप में 'वाचक उमास्वामि' और 'अकलंक' एकमत हैं। परन्तु 'अकलंक' ने 'अपर ग्राह' के द्वारा 'सर्वार्थसिद्धि' माध्य प्रधान रूप से या असहाय रूप से 'केवलज्ञान' का भी उल्लेख किया है। वे इससे सहमत हैं या असहमत यह नहीं कहा जा सकता। यदि असहमत होते तो इसकी भीमांसा या समीक्षा करते, और यदि सहमत होते तो इसका स्पष्टीकरण करते। परन्तु उन्होंने उल्लेख भर किया है, अपना मन तो सूत्र के प्रथम वाकिक में 'एक' का तात्पर्य प्राथम्य वचन कह कर ही प्रकट कर दिया था।

तत्त्वार्थ श्लोकवातिककार 'विद्यानन्द' ने अपनी समन्वयात्मक दृष्टि का पूरा उपयोग करते हुए—'एक' शब्द के 'प्रथम' तात्पर्य की। विवक्षा में मतिज्ञान अथवा 'एक' शब्द के 'प्रधान' अर्थ की विवक्षा में केवलज्ञान दोनों को ही ग्रहण किया है।

परन्तु प्रश्न इस बात का है कि 'सर्वार्थसिद्धिकार' ने 'एकादीनि' में 'एक' का तात्पर्य मतिज्ञान से क्यों नहीं लिया केवलज्ञान से ही क्यों लिया? या अन्य आचार्यों ने 'एकादीनि' में 'एक' का तात्पर्य मतिज्ञान से ही क्यों लिया केवलज्ञान से क्यों नहीं लिया? क्या ये सूत्रकार के अन्तव्य को भलीभाँति नहीं समझ सके थे? एक ही परम्परा के आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रतिपादन क्यों किया? क्या अकलंक 'अपर ग्राह' के द्वारा सर्वार्थसिद्धिकार की ओर इंगित नहीं कर रहे हैं? यदि कर रहे हैं, तो फिर उसका खण्डन क्यों नहीं किया जबकि उन्होंने 'एक' का तात्पर्य प्रथम वचन लेकर मतिज्ञान स्वीकार कर लिया था? इस प्रकार नाना शक्य ए उद्भूत होती है।

प्रथम शका के समाधान हेतु यह कहा जा सकता है कि आचार्य पूज्यपाद ने 'एकादीनि' पद का विच्छेद करके ही 'एक' का तात्पर्य 'केवलज्ञान' से लिया है। उनके

५. तत्रेह विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दो वेदितव्यः। वही० १।३०।१

६. वही० १।३०।१० भाष्य।

७. प्राथम्यमेकं मतिज्ञानं श्रुतिभेदानपेक्षया।

प्रधानं केवलं वा स्यादेकाम युगपन्नरिः।

तत्त्वार्थ श्लो० वा० (विद्यानन्द) १।३०।२

विभाजन के अनुसार—एक आदिर्येणा तानि इमान्येका-
दीनि” अर्थात् एक है आदि जिनका अर्थात् जिन ज्ञानों
का आदि अर्थात् प्रारम्भ एक है वह एकादि है। पाँच
ज्ञानों में मात्र केवल ही एक ऐसा ज्ञान है जो एक है
अकेला है और असहाय है। एक आत्मा में एक साथ
मति और श्रुत दो हो सकते हैं, मति, श्रुत और अवधि
या मनः पर्यय तीन हो सकते हैं तथा मति, श्रुत, अवधि
और मनः पर्यय चार हो सकते हैं परन्तु केवलज्ञान अकेला
ही होगा, एक ही होगा। इस धारणा को ध्यान में रख
कर ही सर्वार्थसिद्धिकार ने ‘एक’ का तात्पर्य ‘केवलज्ञान’ से
लिया है।

दूसरे, सर्वार्थसिद्धिकार सैद्धान्तिक अधिक थे, जबकि
अकलंक तार्किक। अकलंक स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि
एक शब्द सख्यावाची मानकर अकेला मति ज्ञान भी एक
हो सकता है क्योंकि अग प्रविष्ट आदि रूप श्रुतज्ञान
प्रत्येक को हो भी और न भी हो^१। अस्तु, इतना तो
स्पष्ट है कि अकलंक की दृष्टि मतिज्ञान की ओर ही झुक
रही है। तभी तो परवर्ती टीकाकार विद्यानन्दि ने दोनों
के समन्वय की ओर ध्यान दिया। ‘अपर आह’ के द्वारा
अकलंक का लक्ष्य ‘सर्वार्थसिद्धि’ के शब्दों की ओर है।
यह कोई आवश्यक नहीं कि उसका खण्डन या मण्डन
किया ही जाये। उल्लेख मात्र ही उसकी स्वीकारता की
कसौटी है अर्थात् यदि ‘एक’ का तात्पर्य केवलज्ञान से
लिया जाता है तो अकलंक को कोई आपत्ति नहीं।

इस प्रकार क्या अकलंक के ऊपर वाचक उमास्वाति
का प्रभाव पड़ा जो ‘एक’ का तात्पर्य मतिज्ञान से लेते
हैं? जैसे वाचक उमास्वाति ने एक का तात्पर्य मतिज्ञान
से लिया है परन्तु अकलंक ने ‘एकादीनि’ पद में ‘एक’
का, ‘आदि’ का और एकादीनि का पूर्ण रूप से विवेचन
करके ही उसे स्वीकार किया है^२। पूर्ववर्ती होने से वाचक
उमास्वाति का प्रभाव माना जा सकता है परन्तु विवे-
चना की दृष्टि से उनकी मौलिक उद्भावना भी हो
सकती है।

इस प्रकार प्रधान, असहाय और क्षायिक होने से
‘एकादीनि’ में एक का तात्पर्य ‘केवलज्ञान’ से लिया गया

१. सर्वार्थसि० १।३०।

२. तत्त्वार्थ रा० वा० १।३०।१० भाष्य।

३. वही० १।३०।१, २, ५।

तथा ‘एक’ का तात्पर्य प्राथम्य वचन लेकर मतिज्ञान को
स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्रकार का मन्तव्य तो
इतना ही था कि एक साथ एक आत्मा में पाँचों ज्ञान
नहीं हो सकते, चार तक ही होंगे।

सूत्र पर जब मैं गहन दृष्टि डालता हूँ तो एक उल-
झन मस्तिष्क में सहसा उठ खड़ी होती है कि—एक ज्ञान
की विवक्षा में ‘युगपद्’ पद का व्यवहार कैसे होगा जबकि
‘एक’ का तात्पर्य ‘मतिज्ञान’ से लिया जाये? एक आत्मा
में एक साथ एक ज्ञान नहीं बतनाया गया है वरन् आदि
के चारों ज्ञानों का कथन किया गया है। ‘युगपद्’ की
व्याप्ति चारों ज्ञानों के साथ है न कि एक ज्ञान के साथ।
तो फिर एक आत्मा में ‘युगपद्’ मति और श्रुत दो हो
सकते हैं या मति, श्रुत और अवधि या मनः पर्यय तीन हो
सकते हैं, ये कथन कैसे बनेंगे? बस यही आकर उलझन
की वास्तविकता का एहसास हो जाता है। अतएव सर्वार्थ-
सिद्धिकार ने ‘एक’ की विवक्षा में प्रधान रूप से जो
केवलज्ञान को स्वीकार किया है वह उचित ही जान पड़ता
है। क्योंकि ‘केवलज्ञान’ ज्ञान के अन्य भेदों के साथ नहीं
रह सकता, तथा केवलज्ञान क्षायिक अन्य ज्ञान क्षायोप-
शमिक। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक ज्ञान की
विवक्षा में मतिज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि जिस जीव के
केवलमति ज्ञानवरण कम का क्षयोपशम दुष्प्रा है उसके
तो केवल मतिज्ञान ही होगा है इसीलिए अकलंक ‘एक’
का प्राथम्य ग्रहण करके मतिज्ञान स्वीकार करन है।

सर्वार्थसिद्धिकार का ‘एक’ की विवक्षा में केवलज्ञान
रखने का यह भी कारण हो सकता है कि मति ज्ञान
और श्रुतज्ञान कारण कार्य रूप है और कारण के होने
पर कार्य होता है अतः मति, श्रुत दो हो सकते हैं अकेला
मति नहीं परन्तु क्षयोपशम की दृष्टि से अकेला मतिज्ञान
भी हो सकता है।

इस प्रकार प्रधान और प्राथम्य रूप दो दृष्टियों के
माध्यम से इस सूत्र का विश्लेषण किया गया है। एक
आत्मा में एक साथ आदि के चारों ज्ञान रह सकते हैं पर
उनका उपयोग तद्तद् ज्ञान का अपेक्षा ही होता है अर्थात्
किसी जीव में यदि तीन ज्ञान हैं तो एक काल में एक ही
ज्ञान का उपयोग होगा अन्य ज्ञान लब्धि रूप से रहेंगे।

प्रस्तुत लेख में उठाई गई शकामों के बारे में विद्वान्
अपने-अपने विचार लिखें तथा विषय को विशद बनायें।

भद्रबाहु श्रुतकेवली

परमानन्द जैन शास्त्री

अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के निर्वाण के बाद दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की गुर्वाविलियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय वे गंगा-यमुना संगम के समान पुनः मिल जाती हैं। तथा भद्रबाहु श्रुत केवली के स्वर्गवास के पश्चात् जैन परम्परा स्थायी रूप से दो विभिन्न श्रोतों में प्रवाहित होने लगती है। अनएव भद्रबाहु श्रुतकेवली दोनों ही परम्पराओं में मान्य है।

भद्रबाहु रघिमः समप्रबुद्धि सम्पदा,

सुशब्द सिद्ध शासनं सुशब्द-बन्ध-सुन्दरम्।

इद्ध-वृत्त-सिद्धिरत्रबद्धकर्मभित्तयो,

बुद्धि-वर्द्धित-प्रकीर्तिरुद्ध्ये महर्षिकः।

यो भद्रबाहुश्रुतकेवलीना मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता, सर्वश्रुताथप्रतिपादनेन॥

श्रवणवेलगोल शिला० १०८

पुण्ड्रवर्धन देश में देवकोट्ट नाम का एक नगर था, जिसका प्राचीन नाम 'कोटिपुर' था। इस नगर में सोम-शर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमश्री से भद्रबाहु का जन्म हुआ था। बालक स्वभाव से ही होनहार और बुद्धि का धनी था। उसका क्षयोपशम और धारणा शक्ति प्रबल थी। प्राकृति सौम्य और सुन्दर थी। वाणी मधुर और स्पष्ट थी। एक दिन वह बालक नगर के अन्य बालकों के साथ गंदूओं (गोलियों) से खेल रहा था। खेलते-खेलते उसने चौदह गोलियों को एक पर एक पंक्तिबद्ध खड़ा कर दिया। ऊर्जयन्तगिरि (गिरिनार) के भगवान नेमिनाथ की यात्रा से वापिस आते हुए चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्द्धन स्वामी सध सहित कोटि ग्राम पहुँचे। उन्होंने बालक भद्रबाहु को देखकर जान लिया कि यही बालक थोड़े दिनों में अन्तिम श्रुतकेवली और घोर तपस्वी होगा। अतः उन्होंने उस बालक से पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है, और तुम किसके पुत्र हो। तब भद्रबाहु ने कहा कि मैं सोमशर्मा का पुत्र

हूँ और मेरा नाम भद्रबाहु है। आचार्य श्री ने कहा, क्या तुम चलकर अपने पिता का घर बतला सकते हो? बालक तत्काल आचार्यश्री को अपने पिता के घर ले गया। आचार्यश्री को देखकर सोमशर्मा ने भक्ति पूर्वक उनकी वन्दना की। और बैठने के लिए उच्चासन दिया। आचार्यश्री ने सोमशर्मा से कहा कि आप अपना बालक हमारे साथ पढ़ने के लिये भेज दीजिये। सोमशर्मा ने आचार्यश्री से निवेदन किया कि बालक को आप खुशी से लेजाइये, और पढाइये। माता-पिता की आज्ञा से आचार्यश्री ने बालक को अपने सरक्षण में ले लिया। और उसे सर्व विद्याएँ पढाई। कुछ ही वर्षों में भद्रबाहु सब विद्याओं में निष्णात हो गया। तब गोवर्द्धनाचार्य ने उसे अपने माता-पिता के पास भेज दिया। माता-पिता को उसे सर्वविद्या सम्पन्न देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। भद्रबाहु ने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति मांगी और वह माता-पिता की आज्ञा लेकर अपने गुरु के पास वापिस आ गया। निष्णात बुद्धि भद्रबाहु ने महावैराग्य सम्पन्न होकर यथा समय जिन दीक्षा ले ली। और दिगम्बर साधु बनकर आत्म-साधना में तत्पर हो गया।

एक दिन योगी भद्रबाहु प्रातःकाल कायोत्सर्ग में लीन थे कि भक्तिवश देव असुर और मनुष्यों से पूजित हुए। कुछ समय बाद गोवर्द्धन स्वामी का स्वर्गवास हो गया। गुरु के स्वर्गवास के पश्चात् भद्रबाहु बहु सिद्धि सम्पन्न मुनि पुंगव हुए। चतुर्दश पूर्वधर और षण्ठांग महानिमित्त के पारगामी श्रुतकेवली विद्वान हुए। अपने संघके साथ उन्होंने ने अनेक देशों में विहार कर धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण किया।

भद्रबाहु श्रुतकेवली यत्र-तत्र देशों में द्वादश सहस्र मुनियों के सध के साथ विहार करते हुए उज्जैन पधारे, और सिन्धु नदी के किनारे उपवन में ठहरे। वहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने उनकी वन्दना की, जो उस समय प्रांतीय राजधानी में ठहरा हुआ था। एक दिन भद्रबाहु श्रुत-

केवली आहार के लिए नगरी में गए। वे एक मकान के आंगन में प्रविष्ट हुए, जिसमें कोई मनुष्य नहीं था, किन्तु पालना में भूलते हुए एक बालक ने कहा, मुनि तुम यहाँ से शीघ्र चले जाओ, चले जाओ। तब भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान से जाना कि यहाँ बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। १२ वर्ष तक वहाँ वर्षा न होने से अन्नादि उत्पन्न न होंगे। धन-धान्य से समुद्र यह देश शून्य हो जायेगा। और भूख के कारण मनुष्य-मनुष्य को खा जायेगा। यह देश राजा, मनुष्य और स्करादि से विहीन हो जायेगा। ऐसा जानकर आहार लिए बिना ही त्रिनन्दिर में आकर आवश्यक क्रियाएँ सम्पन्न कीं। और अपराह्न काल में समस्त सघ में घोषणा की कि यहाँ बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष होने वाला है। अतः सब सघ को समुद्र के समीप दक्षिण देश में जाना चाहिए।

जब सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यह सुना कि यहाँ द्वादश वर्ष का घोरदुर्भिक्ष पड़ने वाला है। तब उसने भी भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण की। जैसा कि तिलोयपण्णत्ती की निम्न गाथा से स्पष्ट है:—

मउडधरेसुं चरिमो जिण दिक्खं धरदि चवगुत्तो य ।
तत्तो मउडधरावुं पववज्ज षेव गेण्हति ॥

—तिलोय पण्णत्ती ४-१४८१

भद्रबाहु वहाँ से चलकर ससघ श्रवण देल्गोल तक आये। भद्रबाहु ने कहा मेरा आयुष्य अल्प है अतः मैं यहीं रहूँगा और विशाखाचार्य ससघ आगे चले गए। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त वहीं रह गए। चन्द्रगिरिपर्वत के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का दीक्षा नाम 'प्रभाचन्द्र' था, वे भद्रबाहु के साथ कटवप्र पर ठहर गए।

१. भद्रबाहु वचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः ।
अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वर तपः ।
चन्द्रगुप्त मुनि शीघ्रं प्रथमो दश पूर्विणाम् ।
सर्वं सघाधिपो जातो विसपाचार्य सज्जकः ॥

हरिषेण कथाकोष ३८, ३६

- (अ) चरिमो मउडधरीसो णववज्जणा चदगुत्त णामाए ।
पचमहव्यय गहिया अव्वरि रिव्खा(य)-वोच्छिणा ॥

श्रुत स्कध ३० हेमचन्द्र

- (अ) तदीय शिष्योजनिचन्द्रगुप्तः समग्रशीलानत देववृद्धः ।
विवेश यस्तीव्रतपः प्रभावप्रभूत-कीर्तिर्भुवनान्त-
राणि ॥ ६

श्रवणदेल्गोल शि० पृ० २१०

और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया। भद्रबाहु की समाधि का भगवती आराधना की निम्न गाथा में उल्लेख है:—

ओमोदरिये भद्रबाहुय सकलिदु मवी

घोराए तिगिच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४४

इस गाथा में बतलाया गया है कि भद्रबाहु ने अवमो-दर्य द्वारा न्यून भोजन की घोर वेदना सहकर उत्तमार्थ की प्राप्ति की। चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु की खूब सेवा की। भद्रबाहु के दिवंगत होने के बाद श्रुतकेवली का अभाव हो गया। क्योंकि वे अन्तिम श्रुति केवली थे।

दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु के जन्मादि का परिचय हरिषेण कथाकोष, श्रीचन्द्रकथाकोष और भद्रबाहु चरित आदि में मिलता है। और भद्रबाहु के बाद उनकी शिष्य परम्परा अग्र-पूर्वादि के पाठियों के साथ चलती है। जिसका परिचय आगे दिया जायेगा।

श्वेताम्बर परम्परा में, कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र, नन्दि-सूत्र, ऋषि-मडलसूत्र और हेमचन्द्र के परिशिष्ट पत्र में भद्रबाहु की जानकारी मिलती है। कल्पसूत्र की स्थविरावली में उनके चार शिष्यों का उल्लेख मिलता है। पर वे चारों ही स्वर्गवासी हो गए। अतएव भद्रबाहु की शिष्य परम्परा आगे न बढ़ सकी। किन्तु उक्त परम्परा भद्रबाहु के गुरु भाई समूति विजयके शिष्य स्थूलभद्र से आगे बढ़ी। वहाँ स्थूलभद्र को अन्तिम श्रुत केवली माना गया है।

दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु का पट्टकाल २६ वर्ष माना जाता है।

और श्वेताम्बर परम्परा में पट्टकाल १४ वर्ष बतलाया है और व्यवहारसूत्र—छेदसूत्रादि ग्रंथ भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा रचित कहे जाते हैं। और वीर निर्वाण सवत्से १७० वर्ष बीतने पर स्वर्गवास माना है। दिगम्बरपरम्परा के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर नि० स० के ६२वें वर्ष अर्थात् ३६५ वर्ष ई० पूर्वं माना जाता है। दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा रचित साहित्य नहीं मिलता। इसमें आठ वर्ष का अन्तर विचारणीय है।

१. योगीन्द्र स्थूलभद्रोऽभूद धान्त्य श्रुतकेवली ।

—पट्टावली समुच्चय पृ २५

२. श्रीवीर मोक्षात् वर्ष शते सप्तत्यग्रे गते सति ।

भद्रबाहु रपि स्वामी ययो स्वर्गं समाधिना ॥

परिशिष्ट पत्रं हेमचन्द्र

संकट की स्थिति में समाज कल्याण बोर्डों का योगदान

एम० सी० जैन

देश में समाज कल्याण गतिविधियों के प्रोत्साहित करने और उन्हें बढावा देने की आवश्यकता हमेशा से महसूस की जा रही है, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह अनुभव किया गया कि राष्ट्रीय स्तर पर समाज कल्याण कार्यक्रमों का संचालन तभी किया जा सकता है जब स्वेच्छिक संगठन और स्वेच्छिक कार्यकर्ता इन कार्यक्रमों के लिए साधन जुटाने में गहरी दिलचस्पी लें। एक और स्वेच्छिक अभिकरणों और स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं और दूसरी और सरकारी मशीनरी के प्रयासों को मजबूत बनाने के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड का गठन किया गया। यह एक सर्वथा नवीन प्रयोग था। गत अठारह वर्षों के कार्यकाल में बोर्ड ने राष्ट्रीय स्तर पर कल्याण कार्यक्रमों को बढावा देने के साथ-साथ समाज के दुर्बल वर्गों के प्रति जन-चेतना पैदा की है और राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय स्तर पर गैर सरकारी कार्यकर्ताओं को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के सरकारी अभिकरणों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने के लिए प्रेरित किया है। विभिन्न स्तरों पर बोर्ड के विभिन्न कार्यक्रमों का संचालन करने वाले अभिकरणों में ८० हजार के ऊपर कार्यकर्ता सलग्न हैं और इनमें से लगभग २० हजार व्यक्ति स्वेच्छिक संस्थाओं के कार्य में सक्रिय रूप से सलग्न हैं। बोर्ड के कार्य के लिए क्षेत्र ढूँढ निकाले हैं, जिनमें सहस्रों निःस्वार्थ कार्यकर्ता, विशेष रूप से महिलाएँ स्वेच्छा से कार्यरत हैं। अब इन स्वेच्छिक तथा वैतनिक कार्यकर्ताओं पर हमेशा पूरी तरह निर्भर रहा जा सकता है और राष्ट्रीय, प्राकृतिक या अन्य विपत्तियों की अवस्था में लोगों को राहत पहुँचाने के उद्देश्य से इन पर उपयोग लिया जा सकता है।

सीमावर्ती क्षेत्रों में कल्याण-कार्य

पहली बार सन् १९६२ में चीनी आक्रमण के समय जवानों के लिए सामग्री, उपहार और ऊनी वस्त्र इकट्ठे

करने के लिए बोर्ड की मशीनरी का उपयोग किया गया था। मोर्चे पर जाने वाले जवानों को सुख-सुविधाएं पहुँचाने की दृष्टि से केटीनों का संगठन किया गया। हिमालय के सीमावर्ती क्षेत्रों और राजस्थान के महस्थलों में प्रसूति सेवाओं, डाक्टरों सहायता, बालवाड़ी, शिल्प प्रशिक्षण तथा महिलाओं के लिए समाज शिक्षा जैसी बहुद्देशीय गतिविधियों से युक्त कल्याण विस्तार परियोजनाएं संगठित की गई थीं। इन परियोजनाओं का उद्देश्य सीमावर्ती क्षेत्रों के लोगों में विश्वास पैदा करना तथा देश के शेष भागों के साथ उनका सांस्कृतिक और भावनात्मक एकीकरण करना था।

सन् १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण के समय भी मोर्चे पर जाने वाले जवानों को सुख-सुविधाएं पहुँचाने और जवानों के परिवारों के लिए कल्याण कार्यक्रम संगठित करने की दिशा में बोर्ड किसी से पीछे नहीं रहता।

हाल ही में सन् १९६६ में जब आंध्र में बाढ़ आई तो इन दोनों राज्यों के समाज कल्याण संगठनों ने बाढ़ पीड़ितों के लिए धन राशि तथा सामग्री के संग्रह में सक्रिय भाग लिया। सन् १९७१ के अत में जब उड़ीसा में तूफान आया तो उड़ीसा राज्य बोर्ड ने पीड़ितों के लिए धन राशि तथा सामग्री के संग्रह के साथ-साथ कल्याण सेवाओं का संगठन भी किया।

शरणार्थी शिविरों की स्थापना

मई, १९७१ में पाकिस्तानी सैनिक शासकों के जघन्य भत्याचारों और कत्लेआम के कारण हमारे देश में पूर्व बंगाल से लाखों शरणार्थियों के आने से बड़ी गम्भीर स्थिति पैदा हो गई। इस कत्लेआम से लोगों में दहशत फैल गई और वे आसाम, मेघालय, त्रिपुरा तथा पश्चिमी बंगाल के शिविरों में इकट्ठे होने लगे। सरकार और बंगला देश सहायता समिति के प्रयासों की पूर्ति के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्षता की ओर से

देश के ८ स्वेच्छिक और वैतनिक कार्यकर्ताओं से अनुरोध किया गया कि वे सहायता और आश्रय के लिए भारत के द्वार खटखटाने वाले शरणार्थियों के लिए दिल खोलकर दान दें। बोर्ड ने बंगला देश के शरणार्थी शिविरों के लिए पूर्णतः सज्जित चलते-फिरते अस्पतालों के लिए धनराशि देने का प्रस्ताव रखा।

पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में बंगाल देश सहायता समिति के क्षेत्रीय अधिकारियों को बोर्ड के राज्य स्तर के अभिकरणों ने शरणार्थियों के लिए सीधे ही सामग्री और वस्त्र भेजे। इसके अलावा बोर्ड के स्वेच्छिक तथा वैतनिक कर्मचारियों ने इन शरणार्थियों को राहत पहुँचाने की दृष्टि से ५० हजार रुपये से अधिक इकट्ठे किए। इसके अतिरिक्त अरुणाचल, त्रिपुरा पश्चिम बंगाल, हिमाचल प्रदेश और हरियाणा के राज्य बोर्डों ने एक लाख रुपये से अधिक संग्रह किए और यह धनराशि सीधे ही प्रधान मंत्री, सबंध राज्यों के मुख्य मंत्री या बंगला देश सहायता समिति के अधिकारियों को दी।

त्रिपुरा, अरुणाचल और पश्चिम बंगाल के राज्य बोर्डों की अध्यक्षताओं के नेतृत्व में स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं ने अपने सीमित साधनों और दुर्गम संचार व्यवस्था के बावजूद बंगला देश के लाखों शरणार्थियों को आश्रय दिया। कार्यकर्तृओं ने शरणार्थियों को बहुमुखी सेवाएं उपलब्ध कराने की दृष्टि से शरणार्थी राहत समिति का निर्माण किया।

बंगला देश में स्वतंत्र नागरिक के रूप में स्वदेश वापस लौटाने वाले शरणार्थियों के लिए महिला सामाजिक कार्यकर्ता आवश्यक सुविधाएं जुटा रहे हैं।

जवानों की विधवाओं और परिवारों के लिए कल्याण कार्यक्रम—

हाल ही में दिसम्बर, १९७१ में पाकिस्तान के साथ संघर्ष के दौरान बोर्ड ने चुनौती का फिर सामना किया। युद्ध में स्थानीय रूप से अपंग होने वाले या वीर गति पाने वाले जवानों की विधवाओं और परिवारों के पुनर्वास के लिए केन्द्रीय नागरिक परिषद तथा स्थल, जल एवं वायु-सेना पत्नी संघों के साथ घनिष्ठ सहयोग से काम किया। केन्द्रीय स्तर पर, अस्पतालों में जवानों के मनोरंजन के

लिए पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें इकट्ठी की गईं।

सामाजिक कार्यकर्ताओं और स्वेच्छिक संगठनों का योगदान

राज्य बोर्डों की अध्यक्षताओं ने जवानों के लिए उपहार, सिगरेट, मेवा प्रसाधन वस्तुएं तथा ऊनी वस्त्र इकट्ठा करने के लिए स्वेच्छिक संगठनों और स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं के नाम अपील जारी की। स्वेच्छिक कार्यकर्ता जिला और ग्राम स्तरों पर जवानों के परिवारों की आवश्यकताओं का आकलन करने के लिए, उनके साथ सीधे संपर्क स्थापित कर रहे हैं और शिक्षा में सक्षिप्त पाठ्यक्रम जैसे समुचित पुनर्वास कार्यक्रमों की योजना बना रहे हैं ताकि दो साल के अन्दर-अन्दर जवानों की महिला सदस्यों को मिडिल या मैट्रिक तक की शिक्षा दी जा सके और उन्हें उत्पादन एकता में प्रशिक्षण दिया जा सके जहाँ वे काम द्वारा अपनी रोजी कमा सकें और परिवार की आय में पर्याप्त वृद्धि कर सकें।

संघर्ष के दौरान बोर्ड के स्वेच्छिक संगठनों ने जनता के मनोबल को ऊचा उठाने की दिशा में कार्य किया और उसे रक्तदान के लिए प्रेरित किया। महिला सामाजिक कार्यकर्ता अस्पतालों में गए और उन्होंने घायल जवानों के लिए कल्याण सेवाओं की व्यवस्था की। राजस्थान में स्वेच्छिक संगठनों ने बाड़मेर और जैसलमेर के इलाकों में लड़ने वाले जवानों के लिए शानदार काम किया। जवानों के परिवारों के लिए ट्रांजिस्टर, प्रेशर कुकर तथा अन्य उपहार और घायल सैनिकों के लिए वस्त्र इकट्ठे किए गए। उन्होंने युद्ध में वीर गति प्राप्त या अपंग परिवारों के पते इकट्ठे किए और उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए उनसे संपर्क स्थापित किया।

उत्तर प्रदेश में कल्याण कार्यों का संगठन

उत्तर प्रदेश राज्य बोर्ड के एक अधिकारी ने बुलन्द-शहर जिले में एक घायल जवानों की पत्नी से संपर्क स्थापित किया और उसके कई नजदीकी संबंधियों, पड़ोसियों, और अस्पताल तथा जिला अधिकारियों के सहयोग से इस प्रकार की समुचित व्यवस्था की, जिससे उसे कोई कठिनाई न हो। एक जवान से कुछ महत्वपूर्ण सैनिक कागजात खो गए थे। उत्तर प्रदेश के महिला कार्यकर्ताओं ने इन कागजात की छानबीन करने और उन्हें

समुचित अधिकारियों तक पहुँचाने की दिशा में बहुत शानदार काम किया।

उत्तर प्रदेश में, सभी जिलों में, जिलामजिस्ट्रेटों के सहयोग से केन्द्रीय जिला नागरिक परिषदें बनाई गईं। परियोजना स्तर पर परियोजना के कर्मचारी और स्वैच्छिक कार्यकर्ता जवानों के लिए चंदा और सामान वितरित करने की दिशा में हर संभव प्रयास कर रहे हैं।

देहरादून में कई स्वैच्छिक संगठनों ने केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड के एक सदस्य के प्रभावशाली नेतृत्व में सहस्रो रुपये मूल्य की प्रसाधन सामग्री और ऊनी वस्त्र इकट्ठे किए।

ग्रुणांचल में शिलांग के ठेलैट्स क्लब की महिलाओं ने, ग्रुणांचल राज्य बोर्ड की अध्यक्ष के नेतृत्व में, ३ दिसम्बर, १९७१ से ही युद्ध प्रयासों में अपना निरंतर योगदान देना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने प्रार्थना चिकित्सा कक्षाओं का संगठन किया, ब्लैक आउट सबधी निर्देशों का पालन कराने में अधिकारियों की सहायता की, लोगों को रक्त दान के लिए प्रेरित किया, अस्पतालों में वे घायलों को देखने गए, घायल जवानों में उन्होंने पाठ्य सामग्री, फल, सिगरेट, अन्तर्देशीय पत्र, बिजली के हीटर, मिट्टी के बर्तन और जुराबें वितरित की। उन्होंने सैनिक अस्पतालों में एम्प्लीहायर और लाउडस्पीकर लगाए। अब वे अपग सैनिकों के घर वापस लौटने पर एक नई चुनौती का सामना करने के लिए अपने को तैयार कर रहे हैं।

राज्य प्रतिज्ञा समितियों के साथ युद्धयोग

जवानों के परिवारों के साथ संपर्क स्थापित करने और राज्य सरकार द्वारा स्थापित राज्य प्रतिरक्षा समितियों के साथ सक्रिय सहयोग करने के अलावा, आन्ध्र प्रदेश की स्वैच्छिक संस्थाओं ने स्थानीय कपड़ा मिलों से ५ हजार रुपये से अधिक का कपड़ा इकट्ठा किया और जवानों के परिवारों में वितरण के लिए इसके वस्त्र तैयार किए। जवानों और उनके परिवारों की न्यूनतम आवश्यकताओं की शर्तें हेतु घन संग्रह के लिए वे फिल्म शो और बेरिट शो का आयोजन कर रहे हैं। वे कानपुर

की ऊन मिलों से रियामती कीमतों पर ऊन उपलब्ध कराने के लिए उत्तर प्रदेश राज्य बोर्ड के साथ संपर्क स्थापित कर रहे हैं।

सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के प्रयासों का ही यह परिणाम है कि तमिलनाडू के लोग राज्य सरकार और सैनिक अधिकारियों के साथ मिलकर काम कर रहे हैं। उन्होंने सैनिकों को सुख-सुविधाएं पहुँचाने की दृष्टि से सरकारी अधिकारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, व्यापारियों तथा सैनिक अधिकारियों की बैठकों का आयोजन किया है। उन्होंने सैनिकों के लिए सामान इकट्ठा किया है, उनके लिए अस्पतालों में सेवाएं उपलब्ध कराई हैं और रक्तदान के आन्दोलन को बढ़ावा दिया है।

पंजाब के कनिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता

पंजाब में स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं ने हास्पिटल वेल्फेयर सोसाइटी और पंजाब की केन्द्रीय नागरिक परिषद के साथ मिलकर जवानों के लिए सुविधाएं उपलब्ध कराई हैं। परिवार और बाल कल्याण परियोजनाओं को कार्यकारी समितियों ने जिला अधिकारियों के साथ मिलकर काम किया और जवानों के कल्याण के लिए अधिक से अधिक सहायता दी। उन्होंने जवानों के लिए कैंटीनों का संगठन किया और उन सैनिकों को चिकित्सा सेवाएं उपलब्ध कराई, जिन्हें इनकी आवश्यकता थी। उन्होंने रक्त दान के लिए वातावरण तैयार किया और जवानों के लिए घनराशि एकत्रित की तथा अन्य सामान जुटाया। उन्होंने युद्ध में वीरगति प्राप्त या अपग सैनिकों को संभव सहायता पहुँचाने की दिशा में शानदार काम किया और उनके परिवारों के पुनर्वास के लिए समूचित योजनाएं बनाईं।

माधापुर गांव की महिलाओं का प्रशंसनीय कार्य

हाल के हिन्द-पाक संघर्ष में जब दुश्मन के हवाई हमलों से हमारे एक हवाई अड्डे को भीषण क्षति पहुँची तो भुज-खवाड-बन्नी परिवार और बाल कल्याण परियोजना के मुख्य केन्द्र माधापुर गांव की लगभग १५० कामकाजी महिलाओं ने प्रतिरक्षा अधिकारियों के अनुरोध पर तत्काल ही नजदीक के गांवों से ट्रकों तथा अन्य

आवश्यक सामग्री का प्रबंध किया और बिना कुछ आर्थिक किए चार दिन के अन्दर हवाई पट्टी की मरम्मत कर दी। प्रतिरक्षा अधिकारियों के आकलन के अनुसार उन्हें इस प्रकार की मरम्मत में एक महीने से ऊपर लगता।

गुजरात बोर्ड की अध्यक्षता का दौरा

गुजरात राज्य बोर्ड की अध्यक्षता ने युद्ध-पीडित लोगों से मिलने के कुछ, बनामकण्ठा और जामनगर जिलों के सीमावर्ती गांवों का निरीक्षण किया। वह दन्तिवाडा, भुज, जामनगर, अहमदाबाद, धोंगावा और ओखा में सेना मुख्यालय के सैन्य अधिकारियों से मिली ताकि शत्रु के हवाई और समुद्री हमलों के कारण क्षतिग्रस्त समुद्र-तटवर्ती गांवों में कल्याण विस्तार परियोजनाएँ संचालित की जा सकें और गांव वालों के मनोबल को ऊंचा उठाया जा सके। इन क्षेत्रों में दर्जीगिरि और बुनाई के एकक, बालवाडी तथा महिला मडल और महिलाओं के लिए वयस्क साक्षरता कक्षाएँ स्थापित करने का प्रस्ताव है।

जवानों के परिवारों के लिए कल्याण कोष

केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने सारे देश के स्वेच्छिक कार्यकर्ताओं को सक्रिय करने, बाहरी आक्रान्ताओं की चुनौती का सामना करने तथा बाढ़ और तूफान जैसी दैवी विपत्तियों का मुकाबला करने के अलावा, सभी अवसरों पर स्फुटिमान नेतृत्व प्रदान किया है। युद्ध में मारे गए या अलग हुए जवानों के परिवारों पुनर्वास की चुनौती का

सामना करने के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने शिक्षा के संक्षिप्त पाठ्यक्रम और उत्पादन एकक जैसे विशिष्ट कार्यक्रम शुरू करने के लिए सन् १९५१-१९७२ में अपने बजट में से ६५ लाख रुपये की धनराशि निर्धारित की है। समस्या की विशालता को देखते हुए यह धनराशि अपर्याप्त है, इसलिए बोर्ड ने जवानों के परिवारों के लिए कल्याण कोष की स्थापना की है और बोर्ड की अध्यक्षता ने इस कोष में दिल खोलकर दान देने के लिए जनता से अपील की है। विशिष्ट आवश्यकताओं और स्थानीय परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए और कल्याण योजनाएँ शुरू की जाएगी। बोर्ड द्वारा सहायता प्राप्त ६ हजार स्थायी के अलावा, अब भी बहुत से लोगों की विशाल सख्या ऐसी है जो समाज की सेवा के लिए आतुर हैं, परन्तु नेतृत्व और समुचित मार्गदर्शन के अभाव में उसका प्रभावकारी और ठीक ढंग से उपयोग नहीं किया जा सका है। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड देश भर के सामाजिक कार्यकर्ताओं और स्वेच्छिक संस्थाओं को प्रोत्साहित करने का सदैव यत्न करता रहा है ताकि वे न केवल समाज के दुर्बल वर्गों के लिए विशिष्ट कार्यक्रम सगठित करने की दिशा में अपने प्रयासों को एकजुट कर सकें बल्कि राष्ट्रीय स्थानीय स्तरों पर मानव या प्रकृति द्वारा प्रस्तुत चुनौती का सामना करने के लिए समुचित वातावरण की दृष्टि कर सकें और जनता को प्रोत्साहित कर सकें।

★

शोध-कण

परमानन्द जैन शास्त्री

हिन्दी साहित्य के कवियों का अभी तक जो इतिवृत्त संकलित हुआ है, उसमें बहुत से कवियों का इतिवृत्त संकलित नहीं हो सका, इतना ही नहीं किन्तु उनका नाम और रचनादि का कोई परिचय नहीं लिखा गया। उसका कारण तद्विषयक अनुसन्धान की कमी है। अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी भाषा में जैनियों का बहुत

सा साहित्य रचा गया है जिस पर तुलनात्मक और समा-लोचनात्मक निबन्धों के लिखे जाने की आवश्यकता है। वर्तमान में हिन्दी साहित्य पर जो थोसिस (निबन्ध) लिखे जा रहे हैं, जिन पर लेखकों को यूनिवर्सिटियों से पी० एच० डी० की डिग्री मिलती है। उन थोसिसों में अनेक स्थूल और भद्दी भूलें रहने पर भी उनको सुधारने

की ओर कोई कदम नहीं उठाया जाता, और न उनका निर्णय करने वाले विद्वान उन निबन्धों का आद्योपान्त अध्ययन ही करते हैं इसलिए परिमार्जन की ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं। ऐसी स्थिति में उन निबन्धों में निहित भूलों का परिमार्जन नहीं हो पाता, और वे भूलें बराबर बनी रहती हैं। यहाँ एक ऐसे ही निबन्ध की भूल की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जो निबन्ध 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' पर लिखा गया है। जिसके लेखक हैं डा० वसुदेव सिंह एम० ए०। यह शोध प्रबन्ध सं० २०२२ में प्रकाशित भी हो चुका है। मैंने उसकी एक प्रति अभी मुन्शीलाल, मनोहरलाल नई सड़क से खरीदी है। उसके तृतीय अध्याय के पृष्ठ १२२ पर (१६) पांडे हेमराज शीर्षक के नीचे उनका और उनकी कृतियों का परिचय कराया गया है। जिसमें हेमराज नाम के दो विभिन्न जानियो के विद्वानों को एक हेमराज के रूप में संकलित कर लिया है और दोनों की रचनाओं को भी एक हेमराज की रचना मान ली गई है।

साथ ही आगरावासी पांडे हेमराज अग्रवाल का परिचय और सागानेर तथा कामावासी हेमराज खंडेलवाल गोदिका परिचय दोनों को एक रूप में सम्बद्ध कर दिया है। अनेकान्त पत्र में द्वितीय हेमराज ने अपने प्रवचनसार के पद्यानुवाद में लिखा है कि इसके सम्बन्ध में पहले संकेत भी किया जा चुका है लेखक ने इस संबंध में कोई अन्वेषण नहीं किया, और न यह सोचने-समझने का प्रयत्न ही किया है कि आगरावासी हेमराज की प्रवचनसार की गद्यटीका (सं० १७०६) को देखकर जो बनाई उसे देखकर कामावाले हेमराज गोदिका ने प्रवचनसार का पद्यानुवाद करने का उल्लेख किया है।

१. सत्रहसै नव औरतें माघमास सित पाख ।

पंचमि आदितवार को पूरन कीनो काम ।

२. सत्रहसै पच्चीसको वरतें सबत सार ।

कातिक सुदि तिथि पचमी पूरन सभी विचार ।

—प्रवचनसार पद्यानुवाद टीका

३. पांडे हेमराज कृत टीका पढ़त बहुत सबका हित नीका गोपि अरथ परगट करि दीनो, सरल वचन का रचि सुख लीन्हों ।

प्रवचनसार टीका हेमराज गोदिका स. १७२५ में

प्रस्तुत हेमराज गोदिकाने आगरे वाले हेमराजकी टीका को देखकर प्रवचनसार का पद्यानुवाद बनाया है। प्रथम हेमराज की रचना प्रवचनसार टीका, भक्तामर स्तोत्र पद्यानुवाद, श्वेताम्बर चौरासीबोल, ममयसार टीका, कर्मप्रकृति टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है। और दूसरे हेमराज ने प्रवचनसार पद्यानुवाद, दोहा शतक आदि ग्रंथ लिखे हैं। इस संक्षिप्त परिचय पर से डा० वासुदेवसिंह अपनी भूल का परिमार्जन करने में समर्थ हो सकेंगे।

यह तो थीमिस की सबसे स्थूल भूल का नमूना मात्र है। जिसमें दो विभिन्न जातीय विद्वानों के माता-पिताओं, स्थानों और कृतियों को एक ही बतलाया गया है, जिससे स्पष्ट जान पड़ता है कि लेखक ने इस पर शोध करने का प्रयत्न नहीं किया। अन्यथा ऐसी स्थूल भूल नहीं हो सकती थी। अब लेखक की दूसरी भूल का परिचय देखिए।

इसी प्रबन्ध के पृष्ठ ८६-८७ पर भगवतीदास का परिचय देते हुए लिखा है कि—“प० परमानन्द शास्त्री ने भगवतीदास नाम के चार विद्वानों की कल्पना की है। आपके मन से प्रथम भगवतीदास पाण्डे जिनदास के शिष्य थे दूसरे बनारसीदास के मित्र थे। तीसरे अम्बला के निवासी और प्रसिद्ध कवि तथा अनेक ग्रंथों के रचयिता थे और चौथे भैया भगवतीदास १८वीं शताब्दी के कवि थे शास्त्री जी का यह अनुमान अस्पष्ट और कथन परस्पर विरोधी है। बनारसीदास के मित्र भगोतीदास और कवि भगोतीदास को भिन्न-भिन्न व्यक्ति क्यों माना गया शास्त्री जी ने इसका कोई कारण नहीं बतलाया।”

इस प्रबन्ध के लेखक डा० वासुदेवसिंह जी ने जो निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है, वह युक्त युक्ति नहीं है। क्योंकि मैंने अपने भगवतीदास नाम के चार विद्वान नामक के लेख में उनका आधार भी दिया है और लिखा है एक ‘पाण्डे जिनदास के गुरु ब्रह्मचारी भगवतीदास थे’। मैंने अपने लेख में यह कही नहीं लिखा कि—“प्रथम

×

×

×

पांडे हेमराज उपगारी नगर आगरे में हितकारी ।

तिन यह प्रथमटीक बनायो बालबोधकरि प्रगट दिखायो ।

‘वही प्रवचनसार टीका प्रशस्ति

१. देखे अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६, पृ० ५४ ।

भगवतीदास पाण्डे जिनदास के शिष्य थे।^१ यह वाक्य आपने कैसे लिखा ? मैंने ब्रह्मचारी भगवतीदास को पाण्डे जिनदास का शिष्य नहीं गुरु लिखा है। अतः यह आपकी दूसरी भूल है। मैंने तो पाण्डे जिनदास के जम्बू स्वामी चरित की प्रशस्ति का निम्न वाक्य भी प्रस्तुत किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डे जिनदास ब्रह्म भगवतीदास के शिष्य थे। “ब्रह्मचारी भगवतीदास, ताको शिष्य पाण्डे जिनदास।” अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी भगवतीदास के शिष्य जिनदास थे न कि जिनदास के शिष्य भगवतीदास। ऐसी उल्टी मान्यता की कल्पना आपने कैसे करली, इसका कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। लेखक को चाहिए कि वह अपने इस विपरीत कथन की पुष्टि में कोई ठोस प्रमाण उपस्थित करे। अन्यथा अपनी भूल स्वीकार करें।

दूसरे यह भी विचारणीय है कि पाण्डे जिनदास के गुरु भगवतीदास सं० १६४० से पूर्व के विद्वान हैं। उनका कोई परिचय अभी तक नहीं मिला। सम्भवतः इन ब्रह्मचारी भगवतीदास से बनारसीदास का परिचय भी नहीं हुआ जान पड़ता। क्योंकि इनके शिष्य जिनदास ने सं० १६४० में जम्बूस्वामी चरित बनाया, तब बनारसीदास का जन्म भी नहीं हुआ था।

दूसरे भगवतीदास जिन्हें बनारसीदास ने नाटक समय-सार प्रशस्ति में ‘सुमति भगवतीदास’ लिखा है। और प० हीरानन्द जी ने पञ्चास्तिकाय की प्रशस्ति में ‘तहाँ भगवतीदास है जाता’ रूप से उल्लेख किया है। वे कौन से भगवतीदास हैं, और कहाँ के निवासी हैं, कुछ कुछ ज्ञात नहीं होता। बूढ़ियावाले तृतीय भगवतीदास का सम्बन्ध आगरा से जरूर रहा है।

रहे तीसरे भगवतीदास जी बूढ़िया जि० अम्बाला के निवासी थे उनकी जाति अग्रवाल थी, उनके पिता का नाम किसनदास था। वह दिल्ली गद्दी के भट्टारक महेन्द्र-सेन के शिष्य थे।

पर इन्होंने बनारसीदास का उल्लेख तक नहीं किया।

१. सवत्सर सोरहसंभ चालीस तास ऊपर हूँ गए।

भादोवदि पांचमि गुरुवार, ता दिन कियो कथा उच्चार।

और न अन्य सूत्रों से ही ज्ञात हो सका कि प्रस्तुत भगवतीदास बनारसीदास की गोष्ठी के विद्वान हैं। भट्टारक विद्वान होने के नाते इनसे उनका साक्षात्कार भी नहीं हुआ जान पड़ता।

यह भगवतीदास आगरा में जरूर रहे हैं। स. १६५१ में उन्होंने अगलपुर जिन बन्दना नाम की रचना बनाई थी, वहाँ के मन्दिरों का दर्शन किया। उनके साथ राम-नगर के अनेक सज्जन उस यात्रा में साथ थे। सं० १३९६ में आगरा में उन्होंने कोई ग्रंथ भी लिखा। इनकी रचनाएँ सं० १६५१, १६६४, १६८०, १६८७ १७०१ और अन्तिम रचना सं० १७०४ में मुलतानपुर (आगरा) में लिखी गई यह दीर्घजीवी विद्वान थे। यह भट्टारकीय विद्वान थे तथा कवि थे।

इन्हें डाक्टर साहब ने अम्बाला का निवासी लिखा है, यह अम्बाला के निवासी नहीं है। यह जगाधरी के पास बूढ़िया के निवासी हैं पहले यह सम्पन्न कस्बा था। अब यह खंडहरों में परिणत हो गया है। यह कस्बा पंजाब में था, और उनका जिला अम्बाला है। जिला में रहने स कवि अम्बाला के निवासी नहीं कहे जा सकते।

चतुर्थ भगवतीदास ओमवाल थे^२। और अध्यात्म विषय के अच्छे विद्वान थे, उनकी कविता प्रौढ़ है। और अध्यात्म रस से सराबोर है। यह १८वीं शताब्दी के विद्वान हैं और ब्रह्मविलास के कर्ता हैं। इनका गोत्र कटारिया था। ब्रह्मविलास में इनकी ६७ रचनाओं का-सं० १७३१ से १७५५ तक का संकलन है।

पाठक देखे इनके परिचय में क्या असमंजस और असम्बद्धता है यह पाठकों पर ही छोड़ा जाता है। वे इसे पढ़कर डा० वासुदेवसिंह की सम्बद्धता का अच्छा परिचय पा सकेंगे। और इससे उनका भी समाधान हो सकेगा।

२. नगर बूड़िए वसी भागोती, जन्मभूमि है आसि भगोती।
अग्रवाल कुलवंसल गोती, पंडित पद जन निरख भगोती।
—सीतासनु प्रशस्ति

इनका विशेष परिचय के लिए देखे।

—अनेकान्त वर्ष २०, किरण २, पृ० १०४

३. इनके परिचय के लिए देखें।

—अनेकान्त वर्ष १४, किरण १० पृ० २२७ और ३५६

उत्तर पंचाल को राजधानी अहिच्छत्र

परमानन्द जैन शास्त्री

भारतीय इतिहास में अहिच्छत्र का प्राचीन नगर के रूप में उल्लेख मिलता है। यह नगर उत्तर पांचाल की राजधानी था। यहाँ अनेक राजाओं ने राज्य किया है। अहिच्छत्र भगवान् पाश्वं नाथ की वह तपो भूमि थी, जहाँ उन्होंने ८४६ ईसवी पूर्व पापी कमठ के जीव द्वारा किये गए घोर उपसर्गों को सहा था। श्रीर घरणेन्द्र पद्मावती ने उसका निवारण किया था। उपसर्ग दूर होते ही पाश्वंनाथ को कंवलय की प्राप्ति हुई थी। उसी समय से इसका नाम अहिच्छत्र पड़ा।

महाभारत के अनुसार पांचाल का विशाल क्षेत्र हिमालय पर्वत से चम्बल नदी तक विस्तृत था। उत्तरीपांचाल या रुहेलखण्ड की राजधानी अहिच्छत्र थी। श्रीर दक्षिण पांचाल की राजधानी काम्पिल्य थी। महाभारत के युद्ध से पूर्व (१४३० ईसवी के लगभग) पांचाल में द्रुपद नाम का राजा राज्य करता था। कौरव-पाण्डवों के गुरु द्रोणाचार्य ने उस पर विजय प्राप्त की थी। द्रोण ने उत्तरी पांचाल पर स्वयं अधिकार कर लिया था। परन्तु राज्य का दक्षिणी भाग द्रुपद को वापिस कर दिया था। अहिच्छत्र जिस जनपद की राजधानी थी उसका नाम महाभारत में एक स्थान पर अहिच्छत्र विषय उल्लिखित है :—

अहिच्छत्र च विषयं द्रोणः समभिपद्यत ।

एव राजन्नाहिच्छत्रा पुरी जनपदा युता ॥

उत्तर और दक्षिण पंचाल की सीमा के मध्य गंगा नदी थी। किन्तु उत्तरी पांचाल की सीमा निर्दिष्ट नहीं थी। संभवतः हिमालय पर्वत उसकी उत्तरी सीमा का निर्मापक रहा हो।

वैदिक साहित्य में अहिच्छत्र का नाम 'परिचक्रा' मिलता है। हो सकता है कि उस समय इस नगर का स्वरूप चक्राकार या गोलाकार रहा हो। महाभारत काल में परिचक्रा के स्थान पर अहिच्छत्र नाम रूढ़ हो

गया था। किन्तु यह जिस जनपद की राजधानी थी उसका नाम 'पांचाल' था। पुराणों में जनपद का पांचाल नाम पड़ने का कारण एक राजा के पांच लड़के थे। उनमें राज्य के पांच भाग बाँटे जाने के कारण इसे 'पांचाल' संज्ञा प्राप्त हुई। हो सकता है इसका श्रीर अन्य कोई कारण रहा हो, विष्णु पुराण में लिखा है कि जिस राज्य के संरक्षण करने के लिए पांच समर्थ व्यक्ति यथेष्ट हों उस राज्य की संज्ञा 'पांचाल' है। 'पञ्च अलं इति पंचालम्।

यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यको तथा उपनिषदों में देश तथा उसमें निवास करने वाले लोगों के लिए पंचाल नाम का उल्लेख पाया जाता है। परधर्ती सस्कृत साहित्य, पाली निकाय ग्रन्थों और जैन साहित्य में पंचाल के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

प्राचीन अहिच्छत्र नगर के अवशेष उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में वर्तमान राम नगर गांव के समीप टीलों में बिखरे पड़े हैं। अहिच्छत्र पहुँचने के लिए पहले बरेली से आवला नामक स्टेशन जाना पड़ता है। श्रीर आवला से कच्ची सड़क द्वारा १० मील उत्तर में मोटर या तांगे से चलकर अहिच्छत्र पहुँचते हैं। इस पुरातन नगरी के दूह कई मील के विस्तार में फैले हुए हैं। रामनगर से लगभग डेढ़ मील आगे अहिच्छत्र के पुराने अवशेष मिलते हैं। यह किला आजकल आदि कोट के नाम से प्रसिद्ध है। इस किले के सम्बन्ध में यह जनश्रुति है कि इसे राजा आदि ने बनवाया था, श्रीर वह जाति से अहीर था। एक दिन वह किले की भूमि पर सोया हुआ था, उसके ऊपर एक नाग ने छाया कर दी थी। द्रोणाचार्य उसे इस

१. विमल चरण लाहा पंचालज एण्ड देयर केपिटल 'अहिच्छत्रा' (मेवायर आफ दि आर्कैलाजिकल सर्वे आफ इंडिया सख्या ६७) पृ० १-३।

अवस्था में देखकर भविष्य वाणी की था कि वह किसी दिन उत्तर प्रदेश का राजा होगा। कहते हैं कि वह भविष्य वाणी सत्य सिद्ध हुई, और वह इस नगर का राजा बना। कोट का वर्तमान घेरा साढ़े तीन मील के लगभग है। इस किले के चारों ओर एक चौड़ी परिखा खड़ी थी जिसमें पानी भरा रहता था। खाई के चिन्ह अब भी दिखाई पड़ते हैं। पुराने कोट के टीले रामनगर के आस-पास तक फैले हुए हैं। ये टीले प्राचीन मंदिरों, स्तूपों और अन्य इमारतों के सूचक जान पड़ते हैं।

बौद्धों ने उक्त जनश्रुति में परिवर्तन किया। कयों कि ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि नगर के बाहर नागहृद अथवा सर्प सरोवर था जिसके समीप बुद्ध ने सात दिवस तक नागराज के पक्ष में प्रचार किया था। और सम्राट् अशोक ने इस स्थान पर स्तूप बनवाया था मेरा अनुमान है कि बौद्ध कथा में नागराज को फण फंलाकर बुद्ध पर साया करते दिखलाया गया है मेरा यह भी विचार है कि उक्त घटना के स्थान पर बनाए गए स्तूप का नाम अहि-च्छत्र (सर्पच्छत्र) रखा होगा।

पार्श्वनाथ बनारस के राजा विश्वसेन और वामा देवी के पुत्र थे। पार्श्वनाथ कुमार अवस्था में एक दिन गंगा नदी के तट पर घूमने गए। वहाँ उन्होंने कुछ तप-सियों को अग्नि जलाकर तप करते देखा। पार्श्वनाथ ने अपने विशिष्ट ज्ञान से यह जानकर उन्होंने तापस से कहा कि जलती हुई लकड़ियों में नाग नागिनी का एक युगल है। लकड़ी चीरने पर उसमें से सर्प युगल निकला। पार्श्वनाथ ने उन्हें मरणासन्न जानकर पंच नमस्कार मंत्र उनके कान में पढ़ा। उसके प्रभाव से वह युगल मर कर नाग कुमार देवों का अधिपति धरणेन्द्र और पद्मावती हुआ। इस घटना के बाद पार्श्वनाथ दीक्षित हो गए। विहार करते हुए वे अहिच्छत्र पहुँचे।

वास्तव में यह घटना सन् ८७६ ईसवी पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तपस्वी जीवन से सम्बन्धित है। बुद्ध तो उस समय पैदा भी नहीं हुए थे। और न उनके जीवन के साथ ऐसी कोई घटना ही घटी है। ऐसी स्थित में बौद्धों के साथ इस घटना का सम्बन्ध बतलाना उचित प्रतीत नहीं होता। जब वे अहिच्छत्र में न्यायस्थ थे उस समय

कमठ का जीव संवर देव विमान में कही जा रहा था। उसका विमान इकाइक एक गया, उसने नीचे उतरकर देखा तो उसे पार्श्वनाथ दिखाई पड़े। उन्हें देखते ही उसके पूर्व भव का बैर स्मृत हो उठा, पूर्व बैर के स्मृत होते ही उनने क्षमाशील पार्श्व नाथ पर घोर उपसर्ग किया। इतनी अधिक वर्षा की कि पानी पार्श्वनाथ की ओवा तक पहुँच गया, किन्तु फिर भी पार्श्वनाथ अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। तभी धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ और उसने अवधिज्ञान से पार्श्वनाथ पर भयानक उपसर्ग होना जानकर तत्काल धरणेन्द्र पद्मावती सहित आकर उन्हें ऊपर उठाकर उनके सिर पर फण का क्षत्र तान दिया। उपसर्ग दूर होते ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। पश्चात् उस सम्बर देव ने भी उनकी शरण में सम्यक्त्व प्राप्त किया। और अन्य सात सौ तपस्वियों ने भी जिन दीक्षा लेकर आत्म कल्याण किया। इस घटना का उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने बृहत्संख्यभू स्तोत्र में किया है।

अहिच्छत्र का उल्लेख आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलक चम्पू [शक सं० ८८१—वि० सं० १०१६] के उपासकाध्ययन में किया है।

हरिषेण ने अपने कथाकोश की १२वीं कथा में अहिच्छत्र के राजा दुर्मुख का उल्लेख किया है। और २० वीं कथा में केवल अहिच्छत्र का उल्लेख ही नहीं किया किन्तु वहाँ के राजा वसुपाल ने एक उत्तुंग सहस्र कूट चंद्रालय का निर्माण कराया था और भगवान पार्श्वनाथ की एक सुन्दर कलात्मक मूर्ति तय्यार कराकर उसमें विराजमान की थी। राजा ने एक कलाकार द्वारा पार्श्वनाथ की मूर्ति का निर्माण कराया, किन्तु वह उसे पूरी नहीं बना सका। और भी अनेक कलाकार आए, पर वे भी उसे बना नहीं सके। बहुत दिनों बाद दूसरा कुशल

१. पाञ्चाल देशेषु श्रीमत्पार्श्वनाथ परमेश्वरयशः प्रकाशने मन्त्रे अहिच्छत्रे चन्द्राननाङ्गनारतिकुसुम चापस्य द्विष तपस्य भूपते रुदितोदित.....।

—उपासकाध्ययन पृ० ८४

२. अहिच्छत्रपुरे राजा दुर्मुखोऽभवदिदधौ।

—हरिषेण कथाकोश पृ० २२

कलाकार आया वह विनीत देश में राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने बड़े क्रोध में उससे कहा। कलाकार देखो, हमने भनेकों कलाकारों को असीम धन दिया, किन्तु वे मूर्ख थे इसीलिए मूर्ति का निर्माण नहीं कर सके। तुम अद्भुत चित्रकार के रूप में आए हो, अतः इस प्रतिमा की शीघ्र तय्यार करो। इस उपलक्ष में मैं तुम्हें बहुत धन दूंगा। यदि तुम कला में पारंगत न हो तो इसी समय यहां से चले जाओ। कलाकार ने कहा कि आप अब अधिक न कहिए। मैं प्रतिमा तय्यार करता हूँ। राजा ने कलाकार को ताम्बूल देकर विदा किया। कलाकार घर चला गया। वहां उसने बड़ी भक्ति से जिनेन्द्र भगवान की पूजा की, और वहां स्थित आचारनिष्ठ मुनि का स्तवन किया। और गुरु के समक्ष बैठकर भक्ति से उनकी वित्तय करने लगा। उसने मुनिराज से निवेदन किया, कि हे मुनि नाथ! जब तक भगवान पार्श्वनाथ की पूजा नहीं हो जाती तब तक के लिए मुझे भय, मास, मधु, पंचोदुम्बर फल, दूध, दही घी, और स्त्री सेवन के त्याग का नियम प्रदान कीजिए। कलाकार की इच्छानुसार मुनि ने कलाकार को व्रत दिए और उनका विधि-विधान भी बतलाया। कलाकार अपने घर लौट आया। और सर्वलक्षण-सम्पन्न, सर्वाङ्ग सुन्दर पार्श्वनाथ की प्रतिमा का निर्माण किया। जब राजा वसुपाल ने उस नव निर्मित प्रतिमा के दर्शन किए तब उसका शरीर हर्ष से भर गया। उसने उस कलाकार को विपुल धन दिया।

विविध तीर्थकल्प में ग्रहिच्छत्र नगर का प्राचीन नाम 'सख्यावती' लिखा है। जो कुरुजांगल प्रदेश की राजधानी थी। उसमें लिखा है कि जब भगवान पार्श्वनाथ उक्त सख्यावती नगरी में ठहरे हुए थे। तब कमठ नामक दानव ने उनके ऊपर वर्षा की झड़ी लगा दी। जब नागराज धरणेन्द्र को यह बात मालूम हुई तब वह सप्तलीक उस स्थान पर आया, जहां पार्श्वनाथ ध्यानस्थ थे। उसने भगवान के शरीर को चारों ओर से परिवेष्टित कर लिया। और फणी द्वारा उनके शिर की रक्षा

की। अतः उसका नाम ग्रहिच्छत्र लोक में प्रसिद्ध हुआ।

उत्तरपुराण में भी पार्श्वनाथ के उपसर्ग निवारण का उल्लेख है। और उपसर्ग दूर होते ही कैवल्यान्नाप्राप्ति का वर्णन किया गया है।

दक्षिणी पंचाल की राजधानी काम्पित्य में दशवर्षा चक्रवर्ती हरिषेण हुआ और बारहवर्षा चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त। रामायण में भी पंचाल के राजा ब्रह्मदत्त की चर्चा मिलती है।

महाभारत युद्ध के बाद उत्तर पंचाल तथा ग्रहिच्छत्र के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। कहा जाता है कि पंचाल के उत्तर पश्चिम में नाग जाति का प्राबल्य हुआ और इस जाति के नेता द्वारा परीक्षित की मृत्यु हुई। कुरु पंचाल जनपद पर उसका क्षणिक प्रभुत्व रहा। परन्तु जन्मेजय ने उन्हें बड़ी संख्या में विनष्ट किया।

सोलह जनपदों में पंचाल का नाम आया है। इनमें पंचाल जनपद के दो भाग बतलाये गए हैं। उत्तर और दक्षिण। उत्तर पंचाल की राजधानी ग्रहिच्छत्र और दक्षिण की राजधानी काम्पित्य थी। इन जनपदों की स्थिति बहुत काल तक एक सी न रह सकी। इनमें से

१. इहेव जंवूदीवे भारहेवासे मज्झिमखंडे कुरु जगल जणवए सखावई णाम नगरी रिद्धसमिद्धा होत्था। तत्थ भयव पाससामी छउमत्थविहारेण विहरंतो काम्रोसग्गे ठिग्गे। पुब्बनिबद्धवेरेण कमठासुरेण अविच्छिन्नधारापवाऐहि वरिसंतो अबुहेरो विउम्बिग्गे। तेण सयले महिमइले एगवणवीभूए आकंठमग्गं भगवंतं ओहिणा आभोएऊण पचमिग साहणुज्जय कमठमुणि आणाविअकट्टखोडीअंतरडज्जत सप्पभवउवयारं सुमरंतेण धरणिदेण नागराएण अग्गमहिसीहि सह आगंतूण मणिरयण चिचइअं सहस्सफणा मडलछत्तं सामिणो उवरिकरेऊण हिट्ठे कुंडलीकय भोगेण संगिहिअ सो उवसग्गे निवारिअो। तओ परंतोपे णयरीए ग्रहिच्छत्त ति नामं संजायं।

—विविधतीर्थकल्प पृ० १४

२. देखो, उत्तरपुराण ७३।१३६—१४४ श्लोक, पृ० २३८।

कुछ ने दूसरों को दबाना या उन पर अधिकार करने का प्रयत्न करना शुरू कर दिया। महात्मा बुद्ध के समय तक मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति। ये चार राज्य उत्तर भारत में अवशिष्ट थे। शेष की स्थिति गौण हो गई। बुद्ध की मृत्यु के एक सौ वर्ष बाद शायद पंचाल स्वतन्त्र रहा। चौथी शताब्दी ई० पूर्व में उसे महापद्म-नन्द ने मगध साम्राज्य में मिला लिया। नन्दों के बाद पंचाल क्रमशः मौर्य और शुंग शासन के अन्तर्गत रहा। शुंग कालीन जिन शासकों के सिक्के इस प्रदेश में बड़ी संख्या में मिले हैं। उनके नाम अग्नि मित्र, भानु मित्र, भद्रघोष, जेठ मित्र, भूमि मित्र आदि मिलते हैं।

ईस्वी सन् के प्रारम्भ में उत्तर पंचाल का राजा आषाढसेन था, जिसके समय के दो लेख कोशाम्बी के पास पभोसा से मिले हैं^१। एक लेख में आषाढसेन को राजा बृहस्पति मित्र का मामा बताया गया है^२। मित्रवशी शासकों के बाद अच्युत नाम के राजा का पता चलता है। इसके सिक्के अहिच्छत्र तथा रुहेलखण्ड के अन्य कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः यह वीर राजा था। जिसे सम्राट् समुद्रगुप्त ने परास्त कर पंचाल पर अपना अधिकार कर लिया था और तब से पंचाल गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत रहा जान पड़ता है। क्योंकि अहिच्छत्र के उत्खनन में एक मुहर मिली है जो गुप्त कालीन है, जिससे स्पष्ट है कि अहिच्छत्र गुप्त साम्राज्य की भुक्ति बना^३। गुप्त काल में अहिच्छत्र बड़े नगर के

रूप में रहा ज्ञात होता है। इस काल की अनेक कला-कृतियाँ वहीं मिली हैं।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अहिच्छत्रा के मुक्ताग्रों का उल्लेख किया है^४। इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः उस समय अहिच्छत्र नगर मुक्ता व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध हो गया था।

अशोक के बाह्य मौर्य साम्राज्य का ह्रास आरम्भ हो गया। विविध प्रान्तों में शासक स्वतन्त्र रहने लगे। उत्तर भारत में राजनैतिक अस्थिरता मुखरित हो उठी। और सन् १८५ ई० पूर्व अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ को मार कर पुष्पमित्र ने शुंग साम्राज्य की स्थापना की। अन्य प्रदेशों की तरह पंचाल भी स्वतन्त्र हो गया। यह स्वतन्त्रता लगभग २०० ई० पूर्व प्राप्त हुई। उस समय से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी के मध्य तक पंचाल में कई राजवंशों ने शासन किया। इन राजाओं की राजधानी अहिच्छत्र ही रही। अहिच्छत्र में और उसके आस-पास जो सिक्के मिले हैं। उनसे ज्ञात होता है कि ई० पूर्व २०० के लगभग ५० ईस्वी पूर्व तक अहिच्छत्र पर पाल और सेन नाम के राजाओं ने शासन किया है। मगध शुंगवशी शासकों के साथ इनका क्या सम्बन्ध था यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ। गुप्त नाम वाले रुद्र गुप्त, जय गुप्त और दास गुप्त। तीन शासकों के सिक्के मिले हैं। पाल वंशी राजाओं में बगपाल का नामोल्लेख मिलता है। इनका समय ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। बगपाल के उत्तराधिकारी विश्वपाल यज्ञपाल हुए। इनके नाम सिक्कों से ही ज्ञात हो सके हैं।

अहिच्छत्र में अभिलिखित कुशाण कालीन जो बुद्ध प्रतिमा मिली है, वह मथुरा के लाल बलुए पत्थर की है। उसकी निर्माण शैली से स्पष्ट है कि वह मथुरा से अहिच्छत्र लाई गई होगी। कुषाण काल में मथुरा मूर्ति-निर्माण कला का बड़ा केन्द्र हो गया था। कुशाण काल में निमित मूर्तियाँ पश्चिमोत्तर में तक्ष शिला से लेकर पूर्व में सारनाथ तक और उत्तर में श्रावस्ती से लेकर दक्षिण में सांची तक भेजी जाती थी। उस काल की निमित मूर्तियाँ सुन्दर एवं कलापूर्ण होती थी। उन्हें देखते

१. अहिच्छत्रा या राजो शोनकायन पुत्रस्य वंगपालस्य, पुत्रस्य राज्ञो तेवणी पुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण, वेहिदरी पुत्रेण आषाढसेनेन कारित।^१

२. दूसरे लेख में आषाढसेन को राजा बृहस्पति मित्र का मामा कहा गया है।

एपि ग्राफिया इण्डिका जिल्द २ पे० २४०-४१

(क) राज्ञो गोपालीपुत्रस, बहसति मित्रस मातुलेन गोपाली या वेहिदरीपुत्रेन [आसा] आषाढसेनेन लेन कारित [उदाकस] दसमे सवछरे कश्शयीमानं ग्रह [त] व। —जैन लेख सं० अ० २ पृ० १३

३. 'श्रीअहिच्छत्रा भुक्तो कुमारामात्यकारणस्य'
देखो अहिच्छत्रा—कृष्णवत्त बाजपेयी संग्रहाध्यक्ष
मथुरा पृ० ११

४. देखिए अर्थशास्त्र का शामशास्त्री संस्करण।

ही दर्शक का हृदय हर्षोत्फुल्ल हो जाता था। ग्रहच्छत्र में भी मूर्तियों का निर्माण होता था। जैसा कि हरिवंश कथा कोष की १२वीं कथा से जान पड़ता है।

ग्रहच्छत्र के विद्वान् पात्र केसरी

ग्रहच्छत्र के निवासी पात्रकेसरी ब्राह्मण विद्वान् थे। जो वेद वेदांग आदि में निपुण थे। उनके पाचसो विद्वान् शिष्य थे। जो अश्वनिपाल राजा के राज्य कार्य में सहायता करते थे। उन्हें अपने कुल (ब्राह्मणत्व) का बड़ा अभिमान था। पात्रकेसरी प्रातः और सायंकाल संध्या वन्दनादि नित्य कर्म करते थे और राज्य कार्य को जाते समय कौतूहलवश वहाँ के पार्श्वनाथ मन्दिर में उनकी प्रशान्त मुद्रा का दर्शन करके जाया करते थे। एक दिन उस मन्दिर में चारित्रभूषण नाम के मुनि भगवान् पार्श्वनाथ के सम्मुख 'देवागम स्तोत्र' का पाठ कर रहे थे। पात्रकेसरी संध्या वन्दनादि कार्य सम्पन्न कर जब वे पार्श्वनाथ मन्दिर में आये, तब उन्होंने मुनि से पूछा कि आप अभी जिस स्तवन का पाठ कर रहे थे। क्या उसका अर्थ भी जानते हैं। तब मुनि ने कहा मैं इसका अर्थ नहीं जानता। तब पात्रकेसरी ने कहा, आप इस स्तोत्र का पुनः एक बार पाठ करें। मुनिवर ने उसका पाठ पुनः धीरे-धीरे पढ़कर सुनाया। पात्र केसरी की धारणा शक्ति बड़ी विलक्षण थी। उन्हें एक बार सुनकर ही स्तोत्रादि

१. हरिवंश कथा कोष।

२. विप्र वशाग्रणी : सूरिः पवित्रः पात्र केसरी।

स जीर्वाज्जन-पादाब्ज-सेवनैक मधुवत्: ॥

—मुदर्शन चरित्र

भूभूतदानुवर्ती सन् राजमेवापरंगमुखः।

सयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसी पात्रकेसरी ॥

—नगरतालुकशिलालेख

३. निवासे सारसम्पत्त देशे श्रीमगधामिधे।

ग्रहच्छत्रे जगच्चित्रे नागरैतनगरे वरे ॥१८॥

पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राजकलान्वितः।

प्रान्तं राज्यं करोत्युच्चैर्विप्रैः पञ्चशतैर्व्रतैः ॥१९॥

विप्रास्ते वेद वेदाङ्ग पारगाः कुलगवितः।

कृत्वा सन्ध्या वन्दनां दृष्टे मन्ध्या च निरन्तरम् ॥२०॥

—प्राराधना कथाकोष

कंठस्थ हो जाया करते थे। अतः उन्हें 'देवागम' स्तोत्र कंठस्थ हो गया। वे उसका अर्थ-विचारने लगे। उससे प्रतीत हुआ कि भगवान् ने जीवादिक पदार्थों का जो स्वरूप कहा है, वह सत्य है। पर अनुमान के सम्बन्ध में उन्हें कुछ संदेह हुआ। वे घर पर यह सोच ही रहे थे कि पद्मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ। वह वहाँ आई और उसने पात्र केसरी से कहा कि आपको जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ संदेह है। आप इसकी चिन्ता न करें। कल आपको सब ज्ञात हो जावेगा। वहाँ से पद्मावतीदेवी पार्श्वनाथ के मन्दिर में गई। और पार्श्वनाथ की मूर्ति के फण पर निम्न श्लोक अंकित किया।

“अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥”

प्रातःकाल जब पात्र केसरी ने पार्श्वनाथ मन्दिर में प्रवेश किया तब वहाँ उन्हें फण पर अंकित वह श्लोक किछोई दिया। उन्होंने उसे पढ़कर उस पर गहरा विचार किया, उसी समय उनकी शंका निवृत्त हो गई। और ससार के पदार्थों से उसकी उठासीनता बढ़ गई। उन्होंने विचार किया कि आत्म-हित का साधन वीतराग मुद्रा से ही हो सकता है। और वही आत्मा का सच्चा स्वरूप है। जैनधर्म में पात्रकेसरी की आस्था अत्यधिक सुदृढ़ हो गई। और उन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली। आत्म-साधना करते हुए उन्होंने विभिन्न देशों में विहार किया और जैन धर्म की प्रभावना की।

पात्र केसरी दर्शनशास्त्र के प्रौढ विद्वान् थे। उनकी दो कृतियों का उल्लेख मिलता है। उनमें पहला ग्रन्थ त्रिलक्षण कदर्थन है। जिसे उन्होंने बौद्धाचार्य दिङ्नाग द्वारा प्रस्थापित अनुमान विषयक हेतु के त्रैलोक्य का खण्डन करने के लिए बनाया था इससे हेतु के त्रैलोक्य का निरसन हो जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है किन्तु वह ग्रन्थ बौद्ध विद्वान् शान्तिरक्षित और कमलशील के समय उपलब्ध था। और अकलंक-देवादिके समय भी रहा था। तत्त्वमग्रहकार शान्तिरक्षित ने तो पृ० ४०४ में तो उसका खण्डन करने का प्रयत्न किया है। पात्रकेसरीने उक्त 'त्रिलोककदर्थन' में हेतु के त्रैलोक्य का युक्ति पुरस्सर खंडन किया था। इस कारण

यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण कृति था। आपकी दूसरी कृति बहुत छोटी सी 'जिनेन्द्र गुण संस्तुति' नाम की है। जिसका अपर नाम 'पात्र केसरी स्तोत्र' है। जो स्तुति ग्रंथ होते हुए भी उसमें दार्शनिक दृष्टि से ग्रहन्त के विविध गुणों को अनेक युक्तियों से पुष्ट किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य पात्र केसरी अपने समय के बहुत बड़े विद्वान थे। शिला लेखों में सुमति या सुमतिदेव से पहले पात्र स्वामी का नाम आता है। उनका सबसे पुरातन लेख बौद्धाचार्य शान्तिरक्षित का समय (ई० ७०५-७६३) है। और कर्णगोमी का समय ईसा की ७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और ८वीं का पूर्वार्द्ध है। अतः पात्र स्वामी का समय बौद्धाचार्य दिग्नाग (ई० ४२५) के बाद और शान्ति रक्षित के मध्य होना चाहिए। अर्थात् पात्र स्वामी ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और ७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के विद्वान होना चाहिए।

अहिच्छत्र का उत्खनन

अहिच्छत्र की खुदाई में जो बहुमूल्य कलात्मक वस्तुएं प्राप्त हुईं, उनमें मूर्तियाँ, मिट्टी के वर्तन, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, सभा मण्डप, स्तूप और अग्रयाग पट आदि मिले हैं। सभा मन्दिर और मोहरों से भरा हुआ वर्तन भी मिला था। अनेक ताँबे के सिक्के भी मिले थे जो विभिन्न राजवंशों के थे। जिन्होंने अहिच्छत्र पर

शासन किया है इससे स्पष्ट है कि अहिच्छत्र में जैन, बौद्ध, वैष्णव और शिव के मन्दिर रहे हैं। इन सभी धर्मों की मूर्तियाँ भी वहाँ मिली हैं। जो कला की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान हैं।

सन् १८९१-९२ के उत्खनन में डा० फुरहर को पार्श्वनाथ का एक मन्दिर मिला था, जिसकी तारीख कुशान काल की बतलाई गई है। और कई भग्न दिगम्बर मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थीं, जिनमें से कुछ पर सन् ६३ से १५२ तक की तारीखें थीं। इसके उत्तर में एक छोटे मन्दिर के खडहर भी मिले थे। कटारी खेड़ा से कनिष्क को एक बहुत बड़ी नग्न जैन मूर्ति मिली थी। वहाँ डा० फुरहर को जो स्तम्भ मिला था उस पर निम्न लेख अंकित था—'महाचार्य इन्द्रनन्दि शिष्य पार्श्व पतिस्स कोट्टारी' इसके प्रतिरिक्त छोटा पाषाण भी मिला था जिस पर नवग्रह बने हुए थे।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अहिच्छत्र प्राचीन काल से ही जैनों का केन्द्र रहा है। वह आज भी जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। अनेक यात्री वहाँ दर्शन-पूजन के लिए पहुँचते हैं। वार्षिक मेला भी वहाँ लगता है।

१. एपि ग्राफिया इडिका जिल्द १०, सन् १९०९-१०
पृ० १०६-१२१ तथा गर्जटियर १९१०, १९११।

देखो अहिच्छत्रा पृ०

जैन दर्शन में आत्म-तत्त्व विचार

[पृष्ठ २४६ का शेषांश]

मगर विचार करने पर यह सिद्धान्त भी बालू की दीवार की तरह ढह जाता है। क्योंकि व्यापक आत्मा शरीर के बाहर आज तक किसी भी योगी, महात्मा को दिखलाई नहीं दिया है। इसलिए निष्कर्ष यही निकला कि आत्मा स्वदेह परिमाण वाला है। स्वामी कार्तिकेय जी ने कहा भी है :—

लोय पमाणो जीवो देह-पमाणो वि अच्छिदे खेत्ते ।

उग्गाहण-सत्ती दो संहरण विसप्प-धम्मादेण' ॥१७६

अर्थात् जीव लोक प्रमाण है और व्यवहार नय की अपेक्षा देह प्रमाण भी है क्योंकि इसमें संकोच विस्तार करने की शक्ति रहती है। इससे स्पष्ट है आत्मा देह प्रमाण है।

१. स्वामी का० अनु० गा० १०६

ध्यानशतक : एक परिचय

बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

ध्यानशतक—यह एक ध्यानविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भाषा उसकी प्राकृत व गाथासंख्या १०५ है। वह सुप्रसिद्ध हरिभद्र सूरि विरचित टीका के साथ श्री विनय-भक्तिसुन्दरचरण ग्रन्थमाला द्वारा वि. सं. १९९७ में प्रकाशित हो चुका है। हरिभद्र सूरि ने उसे अपनी आवश्यकसूत्र की टीका में पूर्णरूप से उद्धृत कर दिया है। प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक के प्रकरण में 'पडि-क्कमामि तिहि सत्तेहि' इत्यादि सूत्र के अन्तर्गत 'पडिक्क-मामि चउहि ज्ञाणेहि—अट्टेणं भाणेणं रुद्धेणं० धम्ममेणं० सुक्केणं०' इसकी वहा व्याख्या करते हुए उन्होंने ध्यान के निरुक्तार्थ, काल, भेद और फल का निर्देश मात्र करते हुए यह कह दिया है कि 'यह ध्यान का समासार्थ है, उसका विस्तृत अर्थ ध्यानशतक से जानना चाहिए। वह यह है'—इतना कहते हुए उन्होंने उसे महान् अर्थ से गर्भित शास्त्रान्तर—एक पृथक् ही ग्रन्थ बतलाया है।

ग्रन्थकार—यहां हरिभद्र सूरि ने उसके रचयिता के नाम आदि का कुछ निर्देश नहीं किया। श्री विनयभक्ति सुन्दरचरण ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित उसके संस्करण में उसे 'जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण विरचित' निर्दिष्ट किया गया है, पर वहा इसका आधार कुछ नहीं बतलाया। इसी संस्करण के अन्त में मुद्रित उक्त हरिभद्र सूरि विरचित वृत्ति के ऊपर मलधारगच्छीय हेमचन्द्र सूरि द्वारा निमित्त टिप्पण^१ में भी प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता आदि का निर्देश नहीं

१. अयं ध्यानसमासार्थः, व्यासार्थस्तु ध्यानशतकादवसेयः। तच्चेदम्—ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्वास्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह—

(आव. सू. पूर्व भाग पृ. ५८२)

२. यह टिप्पण मलधारगच्छीय हेमचन्द्र सूरि द्वारा हरिभद्र सूरि विरचित आवश्यकसूत्र की समस्त वृत्ति

किया गया।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में एक गाथा (१०६) और भी उपलब्ध होती है, जिसमें यह सूचित किया गया है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मुनि जन के लिए कर्मविशुद्धार्थ १०५ गाथाओं में ध्यान का व्याख्यान किया है। श्री पं. दलसुख भाई मालवणिया की कल्पना है कि वह नियुक्तिकार भद्रबाहु के द्वारा रचा गया है।

रचयिता उसका कोई भी रहा हो पर ग्रन्थ की रचना सुव्यवस्थित व विषय का विवेचन उत्कृष्ट एवं असाम्प्रदायिक है—दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में वह प्रतिष्ठित रहा है। हरिभद्र सूरि ने जहां अपनी आवश्यकसूत्र की टीकामें उसे पूरा ही उद्धृत कर दिया है वहा षट्खण्डागम के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य वीरसेन ने ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामनिर्देश के बिना उक्त षट्खण्डागम के अन्तर्गत वर्गणा खण्ड में कर्म अनुयोगद्वारगत तपःकर्म का व्याख्यान करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की लगभग ४१ गाथाओं को उद्धृत किया है^२। वहा तपश्चरण का प्रकरण होने से उन्होंने आर्त-

पर लिखा गया है, जो स्वतंत्र रूप में देवचन्द्र लाल-भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत से मुद्रित हुआ है. (ई. १९२०)।

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४, पृ. २५०-५१
४. तत्त्वार्थसूत्र के अन्तर्गत ९वें अध्याय में २७-४५ (श्वे. २७-४६) सूत्रों के द्वारा जो ध्यान का विवेचन किया गया है उसकी प्रस्तुत ग्रन्थगत उस ध्यान के विवेचन से तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् उसके आधार से रचा गया है। कारण यह कि तत्त्वार्थसूत्र का प्रभाव इसके ऊपर स्पष्ट रहा दिखता है।

५. षट्खण्डागम पु. १३, पृ. ६४-७७.

रौद्र ध्यानो की उपेक्षा करके अधिकांश गाथायें धर्मध्यान प्रकरण की उद्धृत की हैं, कुछ गाथायें शुक्लध्यान प्रकरण की भी हैं। ध्यानशतक की जिन गाथाओं को षट्खण्डा-गम की उक्त टीका में उद्धृत किया गया है उनकी क्रमिक संख्या इस प्रकार है—

ध्यानशतक				{ धवला पु. १३ पृष्ठ गा.	
२	...	...	...	६४	१२
३६-४०	...	...	...	६६	१४-१५
३७	...	...	...	"	१६
३५-३६	...	...	...	६६-६७	१७-१८
३८	...	...	...	६७	१९
४१	...	...	...	"	२०
४२-४३	...	...	...	"	२१-२२
३०-३४	...	...	...	६८	२३-२७
४५-४६	...	...	...	७१	३३-३७
५०	...	...	...	७२	३६
५१	...	...	...	"	४१
५२-५६	...	...	...	७३	४३-४७
३४	...	...	...	७६	५१-५२
६६-६८	...	...	...	"	५३-५५
६३	...	...	...	७७	५६
१०२	...	...	...	"	५७

दोनों ग्रन्थगत इन गाथाओं में जो थोड़ा सा शब्दभेद है वह प्रायः नगण्य है। जैसे—होज्ज=होइ, भाइज्जा=जभाएज्जो, पसम थेज्जाइ=पसमत्वेयादि; इत्यादि।

ग्रन्थ का विषय-परिचय

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकर्ता ने शुक्लध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप ईधन को भस्मसात् कर देने वाले योगी-श्वर^१ वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए ध्यानाध्ययन

के कहने की प्रतिज्ञा की है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम ध्यानाध्ययन रहा है। पर जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, हरिभद्र सूरि ने उसका उल्लेख 'ध्यानशतक' नाम से किया है।

ध्यानसामान्य का लक्षण व काल—यहाँ स्थिर अध्यवसान को—एकाग्रता का अवलम्बन लेने वाली मन की परिणति को—ध्यान कहा गया है। वह एक वस्तु-विषयक छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवो के अन्तर्मुहूर्त काल तक ही हो सकता है, इससे अधिक काल तक वह नहीं हो सकता। इस स्थिर अध्यवसानरूप ध्यान को छोड़कर जो मन की चंचलता होती है उसे चित्त कहा गया है जो भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता स्वरूप है। ध्यान के अभ्यास की क्रिया का नाम भावना है। ध्यान से व्युत् होने पर जो मन की चेष्टा होती है उसे अनुप्रेक्षा कहा गया है। भावना व अनुप्रेक्षा से रहित मन की प्रवृत्ति का नाम चिन्ता है।

केवलियों का ध्यान चित्त की स्थिरतारूप न होकर योगो के निरोधस्वरूप है और वह उन्हीं के होता है, छद्मस्थों के नहीं होता।

छद्मस्थों के अन्तर्मुहूर्त के बाद या तो पूर्वोक्त चिन्ता होती है या फिर ध्यानान्तर होता है। ध्यानान्तर से यहाँ अन्य ध्यान का अभिप्राय नहीं रहा, किन्तु उससे भावना या अनुप्रेक्षारूप चित्त को ग्रहण किया गया है। इस प्रकार का ध्यानान्तर उसके पश्चात् होने वाले ध्यान के होने पर ही सम्भव है। इस प्रकार बहुत—अन्यान्य—वस्तुओं के संक्रमण द्वारा ध्यान की परम्परा दीर्घ काल तक भी सम्भव है।

ध्यान के भेद—वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। इनमें अन्तिम दो—धर्म और शुक्ल—ध्यान निर्वाण (मुक्ति) के साधक हैं और आर्त और रौद्र—संसार के कारण है। यह सामान्य निर्देश है। विशेष रूप से आर्त ध्यान को तिर्यचगति, रौद्रध्यान को नरकगति, धर्मध्यान को वैमानिक देवगति और शुक्लध्यान को सिद्धगति का कारण समझना चाहिए।

१. गाथोक्त 'जोईसर' शब्दका अर्थ हरिभद्रसूरि ने 'योगी-श्वर योगीश्वर वा' किया है। योगेश्वर के अर्थ को प्रगट करते हुए उन्होंने वीर को अनुपम योगी से प्रधान बतलाया है। तत्पश्चात् विकल्प रूप में 'योगीश्वर' को ग्रहण करते हुए उन्होंने उसके स्रष्टी-करण में केवलज्ञानादि से योग (सम्बन्ध) करा देने वाले धर्म व शुक्ल ध्यानो से युक्त ऐसे योगियों के अथवा योगियों का ईश्वर बतलाया है।

आर्तध्यान—इसके चार भेदों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अनिष्ट इन्द्रियविषयों के वियोग का एवं भविष्य में उनके असंयोग का निरन्तर चिन्तन, शूल व शिरोरोगादि जनित वेदना के वियोग का एवं भविष्य में उनके पुनः उद्भूत न होने का चिन्तन, अभीष्ट इन्द्रिय-विषयों के सर्वदा बने रहने का चिन्तन, तथा इन्द्र व चक्र-वर्ती आदि की विभूति की प्रार्थना; यह सब आर्तध्यान है। वह राग, द्वेष व मोह से कलुषित रहने वाले प्राणियों के होता है जो तिर्य्यचगति का प्रधान कारण होने से संसार का बढ़ाने वाला है। इष्टवियोग व अनिष्ट संयोग आदि के निमित्त से जो शोक व विलाप आदि होता है, ये उसके परिचायक लिए हैं। वह अविरत—मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि, देशविरत (श्रावक) और प्रमादयुक्त सयत जीवों के होता है। (गा. ५-१० व १८)

रोद्रध्यान—यह भी हिसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी के भेद से चार प्रकार का है। रोद्रध्यानी प्राणी सदा क्रोध के वशीभूत होता हुआ निर्दयतापूर्ण अन्तःकरण से दूसरे प्राणियों के बध, बन्धन एवं जलाने आदि का चिन्तन किया करता है; वह घूर्तता से अपने पापाचरण को छिपाता हुआ अनेक प्रकार से असत्य, कठोर एवं गहिृत आदि भाषण करता है; तीव्र क्रोध व लोभ से अभिभूत होकर निरन्तर दूसरे के द्रव्य के अपहरण का विचार करता हुआ उससे होने वाली नरकादि दुर्गति की ओर भी ध्यान नहीं देता तथा विषयो के साधनभूत घन के संरक्षण में सदा व्यापृत रहता हुआ 'न जाने कौन कब क्या करेगा' इस प्रकार से शंकालु होकर सभी के धात का कलुषित विचार किया करता है। यह चारों प्रकार का रोद्रध्यान चूँकि राग, द्वेष व मोह से मलिन जीव के होता है; इसीलिए वह नरकगति का मूल कारण होकर संसार का—जन्म-मरण की परम्परा का—बढ़ाने वाला है। रोद्रध्यानी निर्दय होकर दूसरों की विपत्ति में अकारण ही हर्षित होता है तथा इसके लिए वह कभी पश्चात्ताप भी नहीं करता। इसके अतिरिक्त वह स्वयं पाप कार्य करके आनन्द का अनुभव करता है। (गा. १६-२४)

१. तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिये। त. सू. ६, २७ १४
२. त. सू. ६-३५.

धर्मध्यान—इसका विवेचन करते हुए यहाँ प्रथमतः दो गाथाओं (२८-२९) में भावना, देश, काल, आसनविशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्यता, अनुप्रेक्षा, लेख्या, लिंग और फल; इन बारह द्वारों—उक्त धर्मध्यान के प्ररूपक अन्तराधिकारी—का निर्देश करते हुए उनको जानकर मुनि से उसके चिन्तन के लिए प्रेरणा की गई है। तत्पश्चात् इस धर्मध्यान का अभ्यास हो जाने पर ध्याता को शुक्लध्यान की ओर प्राकृष्ट किया गया है। आगे क्रमशः उक्त बारह द्वारों के अनुसार उस धर्मध्यान का विवेचन किया गया है।

१. भावना—भावनाओं के द्वारा धर्मध्यान का पूर्व में अभ्यास कर लेने पर ध्याता चूँकि ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है, इसीलिए उन भावनाओं का जान लेना आवश्यक है। वे भावनाएँ चार हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य। ज्ञान (श्रुत) के अभ्यास से मन की प्रवृत्ति अशुभ को छोड़कर शुभ व्यापार में होती है तथा उसके आश्रय से जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध होता है, जिससे ध्याता स्थिरबुद्धि होकर ध्यान में प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान-भावना का प्रभाव है। जो सम्यक्त्व के अतिचार रूप शका-कांक्षा आदि दोषों से रहित होता हुआ प्रशमादि—प्रशम^१, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—गुणों के साथ जिनशासनविषयक स्थिरता आदि गुणों से युक्त होता है उसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है। इस विशुद्ध सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वह ध्यान के विषय में निश्चल होता है। यह दर्शनभावना की महिमा है। चारित्र-भावना से—सर्वसावधनिवृत्तिरूप चारित्र के अभ्यास से—नवीन कर्मों का अनास्रव (सवर) और पूर्वसंचित कर्म की निर्जरा होनी है, इससे ध्याता अनायास ही ध्यान को प्राप्त होता है। वैराग्यभावना से मन के सुवासित हो जाने पर जगत् के स्वभाव का ज्ञाता ध्याता विषया-

३. गाथांक्त (३२) 'पसम' शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए हर्षिभद्र सूरि ने प्रथमतः उसका संस्कृत रूप 'प्रशम' मानकर उसका अर्थ स्व-पर तत्त्व के अधि-गमविषयक प्रकृष्ट खेद किया है, तत्पश्चात् विकल्प रूप में 'प्रशम' संस्कृत रूप को ग्रहण करके उससे प्रकृत प्रशमादि पाँच गुणों को ग्रहण किया गया है।

नुराग से रहित, निर्भय और इस लोक व परलोक संबंधी आशंसा (अभिलाषा) से विहीन होता हुआ ध्यान में निश्चल होता है।

२. देश—ध्यान के योग्य स्थान वह होता है जहाँ युवती स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशील—जुवारी व शराबी आदि—जन का संचार न हो। यह अपरिपक्व ध्याता को लक्ष्य करके कहा गया है, किन्तु जो सहनन और धैर्य से बनिष्ठ होते हुए ज्ञानादि भावनाओं के व्यापार में अभ्यस्त हो चुके हैं ऐसे मुनि जन के लिए ध्यान का कोई स्थान नियत नहीं है—उनके लिए जनसमुदाय से व्याप्त ग्राम और निर्जन वन में कोई विशेषता नहीं है। तात्पर्य यह कि मन को स्थिर कर लेने वाले वैसे मुनि जन जिस किसी भी स्थान में निश्चलतापूर्वक धर्म-ध्यान कर सकते हैं। ध्याता के लिए जहाँ भी मन, वचन व काय योगो का स्वास्थ्य—स्वरूपस्थिति—सम्भव है वही स्थान ध्याता के लिए उपरुक्त होता है। इतना अवश्य है कि वह प्राणिहिंसा आदि से रहित होना चाहिए।

३. काल—इसी प्रकार काल भी ध्यान के लिए वह उत्तम माना गया है जिसमें उपर्युक्त योगों का समाधान प्राप्त होना है—उसके लिए दिन-रात आदि का कुछ नियम नहीं है।

४. आसन—यही बात आसन के विषय में भी समझना चाहिए—पद्मासनादि रूप शरीर की जो अवस्था ध्याता के धर्मध्यान में बाधक नहीं होती वही आसन ध्यान के लिए उचित माना गया है। विशेष इतना है कि उसमें भी योगों का समाधान होना चाहिए। अभिप्राय यही है कि ध्यान के लिये देश, काल और चेष्टा (आसनादि रूप शरीर की अवस्था) का कोई नियम नहीं है। इन सबमें केवल योगों का समाधान अभीष्ट है। कारण यह कि केवल्य आदि की प्राप्ति का एक प्रधान कारण वही है।

५. आलम्बन—आगम से सम्बद्ध वाचना, प्रच्छन्ना, परावर्तन और अनुचिन्तन ये तथा समोचीन धर्म से अनुगत सामायिक आदि ये सब धर्मध्यान के आलम्बन हैं।

१. आत्मानमात्मन्यवलोकमानस्त्व दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः। एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थिताऽपि साधु-लभत समाधिम् ॥ (द्वात्रिंशतिका अमित. २५)

जिस प्रकार विषम स्थान के ऊपर चढ़ने के लिये लाठी या रस्सी आदि का सहारा लिया जाता है उसी प्रकार उत्तम ध्यान पर आरुढ़ होने के लिये उक्त वाचना आदि का आलम्बन लेना आवश्यक समझना चाहिए।

६. क्रम—ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम केवली के भवकाल में—भुक्तिप्राप्ति के निकटवर्ती अन्तर्मुहूर्त में (शैलेशी अवस्था में)—मनोनिग्रह आदि रूप है—प्रथमतः मनोयोग का निग्रह, पश्चात् वचनयोग का निग्रह और तत्पश्चात् काययोग का निग्रह करना है। केवली को छोड़कर अन्य ध्याता के जिस प्रकार से भी समाधान होता है उसे ही ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम जानना चाहिए।

७. ध्यातव्य—ध्यातव्य का अर्थ है ध्यान का विषय, जिसका कि उसमें चिन्तन किया जाता है। वह आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से चार प्रकार का है। आज्ञा के विषय में ध्याता वह विचार करता है कि जिन भगवान् उस दीपक के समान हैं जो समीपवर्ती पदार्थों को बिना किसी भेदभाव के प्रकाशित करता है। दीपक से उनमें यह एक विशेषता भी है कि वे लोक में वर्तमान सभी त्रिकालवर्ती पदार्थों को प्रकाशित करते हैं—उन्हे उदासीनभाव से केवल जानते-देखते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ व वीतराग होने के कारण वे तत्त्व का अन्यथा प्ररूपण नहीं कर सकते। इसीलिये उनके द्वारा उपदिष्ट वस्तुस्वरूप का जिज्ञासा के आश्रय से उसी प्रकार का श्रद्धान करना चाहिए। यदि बुद्धि की मन्दता, उपदेशक आचार्य आदि के अभाव अथवा सूक्ष्म पदार्थों की दुरवबोधता के कारण जिज्ञासित पदार्थ का निर्णय नहीं होता है तो भी 'जिन भगवान् अन्यथा कथन करने वाले नहीं हैं' इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा के साथ उसे वैसा ही मानकर उसके विषय में शका आदि से रहित होना चाहिए।

अपायके विषय में ध्याता यह विचार करता है कि जो जीव राग, द्वेष एवं आस्रव आदि क्रियाओं में प्रवृत्त रहते हैं वे इस लोक और परलोक दोनों लोकों में दुःख भोगते हैं, इसीलिए आत्महितेच्छा के लिए उनका त्याग करना आवश्यक है।

विपाक का अर्थ कर्मका परिपाक है। वह प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के भेद से चार प्रकार का है। इन चारों में प्रत्येक शुभ व अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। यह कर्म का विपाक मिथ्यादर्शनादि के आश्रय से विविध प्रकारों में परिणत होता है। इस प्रकार धर्मध्यान का ध्याता कर्मविपाक के विषय में अनेक प्रकार से चिन्तन किया करता है।

ध्यातव्य के चतुर्गुण भेद (संस्थान) में ध्याता धर्म व अधर्म आदि द्रव्यों के लक्षण, आकार, आधार, भेद और प्रमाण के साथ उनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं भग (व्यय) रूप अवस्थाओं का भी विचार करता है। साथ ही वह पंचास्तिकायस्वरूप अनादिनिघन व नाम-स्थापनादि रूप अनेक (८-९) भेदों में विभक्त लोक का विचार करता हुआ उसमें अवस्थित पृथिवियों, वातबलयों, द्वीप-समुद्रों, नारक-विलों, देवविमानों और भवनों आदि के आकार का विचार करता है। वह यह भी विचार करता है कि उपयोगस्वरूप जो जीव है वह अनादिनिघन, शरीर से भिन्न, अरूपी, कर्ता और अपने कर्म का भोक्ता है। अपने ही कर्म से निमित्त उसका ससाररूप समुद्र जन्म-मरणारूप अपरिमित जल से परिपूर्ण, मोहका आवर्तों (भँवरो) से सहित और अज्ञानरूप वायु से प्रेरित सयोग व वियोग रूप लहरों से व्याप्त है। उससे पार कराने में समर्थ वह चारित्ररूप विशाल नौका है जिसका बन्धन सम्यग्दर्शन और कर्णधार (नाविक या मल्लाह) सम्यग्ज्ञान है। इसी चारित्ररूप नाव पर चढ़कर मुनिजनरूप व्यापारी निर्वाणरूप नगर को प्राप्त हुए हैं।

८ ध्याता—उक्त धर्मध्यान के ध्याता सब प्रमादों से रहित व ज्ञानरूप घन से सम्पन्न क्षीणमोह (क्षयक) और उपशान्तमोह (उपशामक) मुनि माने गये हैं। ये ही

१. यहा टीकाकार हरिभद्र सूरि ने धर्माधर्मादि द्रव्यों की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूपता को सिद्ध करते समय प्रमाण के रूप में “घट-मौलि-सुवर्णार्थी...” आदि जिन दो कारिकाओं को उद्धृत किया है वे आप्त-मीमांसा की ५६-६० सूक्तों की कारिकाएँ हैं। ये दोनों कारिकाएँ उक्त हरिभद्र सूरि के शास्त्रवार्ता-समुच्चय (७, २-३) में भी समाविष्ट हैं।

धर्मध्यान के ध्याता पूर्व दो शुक्लध्यानों—पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार—के भी ध्याता हैं। विशेष इतना है कि वे अनिशय प्रशस्त संहनन (प्रथम) से युक्त होते हुए चौदह पूर्वों के धारक होते हैं। अन्तिम दो शुक्लध्यानों—सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति और व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती—के ध्याता क्रम से सयोगकेवली और अयोगकेवली होते हैं।

९ अनुप्रेक्षा—जिम मुनि ने पूर्व में धर्मध्यान के द्वारा अपने अन्तःकरण को सुवासित कर लिया है वह धर्मध्यान के समाप्त हो जाने पर भी सदा अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में निरत होता है।

१०. लेख्या—धर्मध्यानों के क्रम से विशुद्धि की प्राप्ति होने वाली तीव्र-मध्यमादि भेदयुक्त पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेख्याएँ हुआ करती हैं।

११. लिङ्ग—धर्मध्यान का परिचायक लिङ्ग जिन-प्ररूपित पदार्थों का श्रद्धान है जो आगम (सूत्र), उपदेश—सूत्र के अनुसार कथन, आज्ञा (अर्थ) और निसर्ग (स्वभाव) से होता है। प्रकृत धर्मध्यानों जिन-साधुओं के गुणों का कीर्तन—सामान्य से उल्लेख—और उनकी भक्ति-पूर्वक प्रशंसा करता हुआ विनय और दान से सम्पन्न होता है। साथ ही वह सामायिकादि बिन्दुमार पर्यन्त श्रुत, व्रतादि के समाधानस्वरूप शील और समय में रत रहता है।

१२. फल—पुण्य का आस्रव, सबर, निर्जरा और देवसुख की प्राप्ति यह सब शुभानुबन्धी उस धर्मध्यान का फल है। इस प्रकार उपर्युक्त बारह द्वारों के समाप्त हो जाने पर धर्मध्यान का कथन समाप्त होता है।

शुक्लध्यान—‘शोधयति अष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं व बलमयतीति शुक्लम्’ इस निरुक्तिके अनुसार जो ज्ञानावर-

१. यहा (६४) हरिभद्रसूरि ने गाथावत ‘पूर्वधर’ विशेषण अप्रमाद वालो (अप्रमत्तो) का बतलाया है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह कहा है कि इस प्रकार से उक्त आदि के दो शुक्लध्यान माय-तुष मरुदेवी आदि अपूर्वधरों के भी घटित होते हैं।

२. इस फल का निरूपण यहा न करके आगे शुक्लध्यान के प्रकरण में (गा. ६३) किया गया है।

णादि रूप आठ प्रकार के कर्म-मल को शुद्ध करता है अथवा शोक को दूर करता है उसका नाम शुक्लध्यान है। इस शुक्लध्यान की प्ररूपणा में भी वे ही बारह द्वार हैं जिनका निरूपण धर्मध्यान में किया जा चुका है। उनमें भावना, देश, काल और आसनविशेष इनकी प्ररूपणा धर्मध्यान के ही समान हैं—उससे कुछ विशेषता नहीं है—इसीलिये इनका निरूपण यहाँ फिर से नहीं किया गया है।

आत्मम्बन—क्रोध, मान, माया और लोभ के परित्यागस्वरूप, क्रम से क्षान्ति, मार्दव, भार्जव और मुक्ति ये प्रकृत शुक्लध्यान के आत्मम्बन हैं; जिनके आश्रय से मुनि उस पर आरुढ़ होता है।

क्रम—प्रथम दो शुक्लध्यानों के क्रम का कथन धर्मध्यान के प्रकरण में किया जा चुका है (४४)। विशेषता यहाँ यह है कि छद्मस्थ (अपज्ञ) ध्याता तीनों लोको को विषय करने वाले मन को क्रम से—प्रतिवस्तु के परित्याग रूप परिपाटी से—परमाणु में संकुचित करके अतिशय निश्चल होता हुआ शुक्लध्यान का चिन्तन करता है। तत्पश्चात् प्रयत्नपूर्वक मन को उससे भी हटाकर अमन (मन से रहित) जिन होता हुआ अन्तिम दो शुक्लध्यानों का ध्याता होता है। उनमें भी शैलेशी अवस्था की प्राप्ति के पूर्व अन्तर्मुहूर्त सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान का ध्याता होता है। और शैलेशी अवस्था में अन्तिम व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान का ध्याता होता है। उक्त छद्मस्थ ध्याता तीनों लोको के विषय करने वाले मन को किस प्रकार से परमाणु में संकुचित करता है और तत्पश्चात् उससे भी उसे कैसे हटाता है, इसे निम्न दो-तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मान्त्रिक सब शरीर में व्याप्त विच्छू आदि के विष को मन्त्र द्वारा डंक (भक्षणस्थान) में रोकता है और तत्पश्चात् अतिशय प्रधान मन्त्र के योग से उसे डंक से भी दूर कर देता है उसी प्रकार तीनों लोको के विषय करने वाले मन रूप विष को ध्यान रूप मन्त्र के सामर्थ्य से जिनदेव रूप वैद्य उसे परमाणु में स्थापित करता है और तत्पश्चात् उससे भी उसे हटा देता है। अथवा जिस प्रकार ईंधन के समूह को क्रम से हटाने पर अग्नि अल्प मात्रामें

शेष रह जाती है और अन्त में थोड़े से शेष रहे ईंधन के भी हट जाने पर वह पूर्णतया बुझ जाती है इसी प्रकार प्रकृत मन के विषय में भी समझना चाहिये। इसी प्रकार क्रम से वचनयोग का और काययोग का भी निरोध कर के शैलेश—पर्वतो के स्वामी मेरु—के समान स्थिर होकर शैलेशी^१ केवली हो जाता है।

ध्यातव्य—पूर्वगत श्रुत के अनुसार अनेक नयों के आश्रय से उत्पाद, स्थिति और भंग (व्यय) आदि पर्यायों का जो अणु आदि रूप एक द्रव्य में चिन्तन होता है यह पृथक्त्ववितर्क सविचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान है। वह राग परिणाम से रहित (वीतराग) के होता है। अर्थ (द्रव्य), व्यजन (शब्द) और योग इनके सक्रमण—अर्थ से व्यजन व व्यजन से अर्थ आदि के परिवर्तन—का नाम विचार है। इस विचार से सहित होने के कारण इसे सविचार कहा गया है (७८)। जो चित्त (अन्तःकरण) वायुविहीन दीपक के समान अतिशय निश्चल रहकर पूर्वोक्त उत्पादादि पर्यायों में से किसी एक ही पर्याय को विषय करता है। वह पूर्वोक्त विचार से रहित होने के कारण एकत्वावतर्क-अविचार (द्वितीय) शुक्लध्यान कहलाता है^२ (८०)। यह भी पूर्वगत श्रुत के अनुसार होता है। निर्वाणकाल में कुछ योगों का विरोध करने वाले—मन व वचन योगों का पूर्णतया निरोध करके आधे काययोग का भी निरोध कर देने वाले—केवली के तीसरा—सूक्ष्म क्रिया-अनिवर्ती—शुक्लध्यान होता है। उस समय केवली के उच्छ्वास-निःश्वास रूप सूक्ष्म काय की क्रिया रह जाती है। वे ही केवली योगों का पूर्ण रूप से निरोध हो

१. शैलेशी का अर्थ हरिभद्र सूरि ने कुछ प्राचीन गाथाओं के आधार से अनेक प्रकार किया है। जैसे—१ शैलेश (मेरु) के समान जो स्थिरता को प्राप्त हो चुका है उसे शैलेशी कहा जाता है, २ शैल के समान स्थिर (अडिग) ऋषि शैलपि (प्रा. सैलेसी) कहलाता है, ३ सैव अलेश्यी=सैलेशी, अर्थात् लेश्या से रहित वही केवली, यहाँ 'अ' का लोप हो गया है, ४ शील का अर्थ सर्वसंवर है, उसका जो ईश (स्वामी) हो चुका है वह शैलेश या शैलेशी है।

२. त. सू. ६, ४१-४४।

जाने पर जब शैल (पर्वत) के समान स्थिर होकर शैलेशी भाव को प्राप्त हो जाते हैं तब उनके व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती (अनुपरत स्वभाववाला) नाम का चौथा परम शुक्लध्यान होता है।

उक्त चार शुक्लध्यानों में प्रथम—पृथक्त्ववितर्क-सविचार शुक्लध्यान—मन आदि एक योग में अथवा सभी योगों में होता है। दूसरा—एकत्ववितर्क अविचार शुक्ल-ध्यान—तीन योगों में से किसी एक ही योग वाले के होता है, क्योंकि इसमें योगसंक्रमण का अभाव हो चुका है। तीसरा—सूक्ष्मक्रिया-अनिर्वर्ती शुक्लध्यान—एक काय-योग में ही होता है, अन्य किसी योग में नहीं होता है। चौथा—व्युपरतक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान काययोग का भी पूर्णतया निरोध कर देने वाले अयोगकेवली के होता है^१ (८३)।

यहाँ यह शका हो सकती थी कि केवली के जब मन नष्ट हो चुका है तब उनके अन्तिम दो शुक्लध्यान कैसे सम्भव है, क्योंकि मनविशेष का नाम ही तो ध्यान है। इसके समाधान रूप में यहाँ यह कहा गया है कि जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चल मन का ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चल काय को ध्यान कहा जाता है। कारण यह कि योगसामान्य की अपेक्षा मनयोग और काययोग में कुछ विशेषता नहीं है।

इस पर पुनः यह शका उपस्थित हो सकती थी कि अयोगकेवली के तो काययोग का भी निरोध हो चुका है, फिर ऐसी अवस्था में उनके चौथा शुक्लध्यान कैसे माना जा सकता है? इसके समाधान में कहा गया है कि जिस प्रकार कुम्हार का चाक^२ घूमने के निमित्तभूत दण्ड के अलग कर देने पर भी पूर्व के प्रयाग से घूमता रहता है उसी प्रकार केवली के मन आदि यागों का अभाव हो जाने पर भी उपयोग के सद्भाव में भावमन के रहने से केवली के भी ध्यान सम्भव है। दूसरा हेतु कर्मनिर्जरा दिया गया है; जिसका अभिप्राय है यह कि निर्जरा का कारण जब ध्यान है तब उस कर्मनिर्जरा के होने से उसके

कारणभूत ध्यान को उनके मानना ही चाहिये। तीसरा हेतु शब्द की अर्थबहुलता है। तदनुसार शब्द के अनेक अर्थ सम्भव होने से यहाँ ध्यान शब्द का काययोग के निरोध रूप अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अन्तिम (चौथा) हेतु जिनागम है, जिसका अभिप्राय यह है कि ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों के सद्भाव के विषय में आगम को प्रमाण-भूत मानना चाहिए।

अनुप्रेक्षा—जिसका अन्तःकरण शुक्लध्यान से सुवासित हो चुका है वह ध्यान के समाप्त हो जाने पर भी चारित्र्य से सम्पन्न ध्याता आस्रवद्वाराऽपय, ससाराऽशु-भानुभाव, अनन्त भवसन्तान और वस्तुओं का विपरिणाम; इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है।

लेश्या—आदि के दो शुक्लध्यानों के समय सामान्य से शुक्ललेश्या और तीमरे में परम शुक्ललेश्या रहती है। चौथा शुक्लध्यान लेश्या में रहित है।

लिंग—अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये उस शुक्लध्यान के लिंग—अनुमापक हेतु हैं; जिनसे यह जाना जाता है कि मृति का चित्त शुक्लध्यान में निरत है। शुक्लध्यानी परीषद् हो व उपसर्गों के द्वारा न ध्यान में विचलित होता है और न भयभीत होता है, यह अवध लिंग है। वह सूक्ष्म पदार्थों के विषय में व अनेक प्रकार की देवमाया में सम्मोह को प्राप्त नहीं होता। वह आत्मा को शरीर आदि से भिन्न देखता है, यह विवेक लिंग है। तथा वह शरीर और अन्य बाह्य उपधि का परित्याग करता है, यह उसका व्युत्सर्ग लिंग है^३।

फल—धर्मध्यान के फलरूप में जिन शुभ आसाव आदि का निर्देश पूर्व में (देखो पीछे पृ. २७५) किया गया है वे उनकी प्राप्ति अनुत्तर विमानवासी देवों के सुख की प्राप्ति, यह [शेष टाइल पेज ३ पर]

३. त. सू. ६-२६ में अग्न्यन्तर तप के भेदभूत व्युत्सर्ग तप के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—बाह्योपधि-व्युत्सर्ग और अग्न्यन्तर-उपधिव्युत्सर्ग। इनमें बाह्य-उपधिव्युत्सर्ग में घन-घान्यादि बाह्य परिग्रह का त्याग तथा अग्न्यन्तर-उपधिव्युत्सर्ग में कषायो व शरीर का त्याग अभिप्रेत रहा है (स. सि. ६-२६ व त. भा. ६-२६)।

१. त. सू. ६-४०।

२. त. सू. १०-७ में इसका दृष्टान्त मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन को सिद्ध करते हुए दिया गया है।

साहित्य-समीक्षा

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम खण्ड) लेखक एव निर्देशक आचार्य हस्तीमल जी, प्रकाशक जैन इतिहास समिति आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभंडार, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर - पृष्ठ संख्या ७३३, मूल्य सजिल्द प्रति का २५) रुपया ।

प्रस्तुत ग्रंथ जैन धर्म के मौलिक इतिहास का तीर्थंकर नाम का प्रथम खण्ड है। इसमें २४ तीर्थंकरों का इतिवृत्त श्वेताम्बरीय आगम साहित्य के आधार पर दिया गया है। श्वेताम्बर साहित्य में उक्त सम्बन्ध में जो सामग्री मिलती है उसे इस ग्रंथ में सुन्दर ढंग से सजोया गया है। ग्रंथ में यथा स्थान मनभेदों और दिग्गम्बर मान्यताओं का निर्देश किया है। लेखन शैली में कहीं भी कटुता और साम्प्रदायिक अभिनिवेश का उभार नहीं होने पाया है।

ग्रंथ के प्रारम्भ में अपनी बात और सम्पादकीय में अनेक सैद्धान्तिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण कर दिया है। भगवान महावीर के निर्वाण समय तक का इतिवृत्त इस ग्रंथ में अंकित किया गया है। ग्रंथ के आधे भाग में ऋषभदेवादि तेईस तीर्थंकरों का जीवन परिचय संक्षिप्त एवं सरल रूप में जीवन घटनाओं के साथ दिया गया है। और शेष आधे भाग में भगवान महावीर का जीवन परिचय अनेक घटनाक्रमों के साथ निबद्ध है। तीर्थंकरों के जीवन परिचय लिखने में बहुत कुछ सावधानी वर्ती गई है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जीवन परिचय तुलनात्मक रूप में दिया गया है। जैन और जैनतर ग्रंथों के आधार पर तीर्थंकर अरिष्ट नेमि की वशावली भी दी है। तीन परिशिष्ट भी दिये हैं। भाषा सरल और मुहावरेदार है। उसमें गति एवं प्रवाह है।

आगमिक टीकाकारों ने 'अचेल' शब्द का जो अर्थ अल्पमूल्य वाले जीर्ण-शीर्ण वस्त्र दिया है वही अर्थ इस ग्रंथ में भी दिया गया है। टीकाकारों के समय में उनके संभवतः सम्प्रदाय के सब मुनि वस्त्र धारण करते थे। अतः

वे अचेलक का अर्थ नग्न कैसे कर सकने थे? जब महावीर का अचेलक धर्म सचेल बन गया, तब भगवान पार्श्वनाथ का सान्तोत्तर धर्म महाप्रण्यवान वस्त्र धारण करने वाला हो गया इसमें आश्चर्य की कोन सी बात है? सर्वस्व मान्यता के समर्थन में केशी गौतम सवाट की भी कल्पना की गई है। केशी ने गौतम का पचयाम तो स्वीकृत कर लिया परन्तु वस्त्र का परित्याग करना स्वीकार नहीं किया। ऐसी स्थिति में अचेल का वह साम्प्रदायिक अर्थ उचित ही है।

प्रस्तुत ग्रंथ में वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ को तो अविवाहित माना है और पार्श्वनाथ तथा महावीर को विवाहित स्वीकृत किया है। जब कि पांचों ही तीर्थंकर कुमार अवस्था में दीक्षित हुए हैं। कुमार शब्द का प्रसिद्ध अर्थ कुमार ही है किन्तु कुमार शब्द का अर्थ युवराज स्वीकृत कर पार्श्वनाथ और महावीर को तो विवाहित घोषित कर दिया। भले ही कुमार शब्द का उक्त अर्थंकर समवायाग तथा ठाणांग सत्रों और आवश्यक निर्युक्ति से विरुद्ध पड़ता हो। क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति की गाथा २५.१ में स्पष्ट लिखा है कि कुमार अवस्था में दीक्षा धारण करने वाले महावीर, अरिष्ट, नेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य इन पांच तीर्थंकरों को छोड़कर शेष १९ तीर्थंकरों ने ही विषयो का सेवन किया है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बरों में महावीर के विवाह सम्बन्ध की दो मान्यताएँ हैं।

दिग्गम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथों में वासुपूज्य, मल्लि, नेमि और पार्श्वनाथ तथा वर्द्धमान को बाल ब्रह्मचारी और कुमार काल में दीक्षित माना गया है। इसका उल्लेख भी किया है। परिशिष्टों में तीर्थंकरों को लेकर विविध मान्यता भेद श्वेताम्बर-दिग्गम्बर ग्रंथों के आधार पर चाटों द्वारा प्रदर्शित किये हैं जो बहुत उपयोगी हैं। सम्पादक मण्डल की शैली प्रशंसनीय है। पुस्तक पठनीय और सप्राप्त्य है। कागज, छपाई, वाइडिंग और प्रकाशन सभी आकर्षक और सुन्दर हैं। — परमानन्द जैन शास्त्री

अनेकान्त के २४वें वर्ष की वार्षिक विषय-सूची

१ अज्ञात जैन कवि और उनकी रचनाएं — डा० गंगाराम गर्ग	३८	१६ कोषाध्यक्ष, मन्त्री और मेनापति हुल्लराज — परमानन्द जैन शास्त्री	६६
२ अपभ्रंश का एक अर्चित चरित्र काव्य — डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	५३	१७ खजुराहो के आदिनाथ मन्दिर के प्रवेश द्वार की मूर्तियाँ—मारुतिनन्दन प्रसाद 'तिवारी' २१८	
३ अपभ्रंश का जयमाला साहित्य — डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री	३६	१८ खजुराहो के जैन मन्दिरों के डोर लिटल्स पर उत्कीर्ण—जैन देविया	२५१
४ अपभ्रंश की एक अज्ञात जयमाला — डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	२२६	१९ खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर की भित्तियों की रथिकाओं में जैन देवियाँ—मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	१८३
५ अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों का नीति-वर्णन — डा० बालकृष्ण अकिचन	३४७	२० खण्डार के सेन परम्परा के लेख — रामवल्लभ सामाणी	८३
६ अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों का नीति-वर्णन — डा० बालकृष्ण अकिचन	२०१	२१ गुणकीतिकृत चौपदों — डा० विद्याधर जोहरापुरकर	५०
७ अभय कुमार—जोवन परिचय परमानन्द जैन शास्त्री	११४	२२ ग्वालियर में जैनधर्म—गोपीलाल 'अमर'	१७
८ अभिनन्दन जिनस्तवन — आचार्य समन्तभद्र	४६	२३ चन्द्रघाट का इतिहास — परमानन्द जैन शास्त्री	१८३
९ अर्हत् परमेष्ठी स्तवन — मुनि पद्मनन्दि	१८५	२४ जिनवरस्तवनम्—मुनि पद्मनन्दि	१
१० आगरा से जैनो का सम्बन्ध और प्राचीन जैन मन्दिर— बाबू ताराचन्द रपरिया	२३८	२५ जैन कला में प्रतीक तथा प्रतीकवाद — भू० लेखक ए० के० भट्टाचार्य, अनु० डा० मानसिंह	१६३
११ आत्म-विजय की राह — श्री 'ठाकुर'	१३०	२६ जैन दर्शन में आत्मतत्त्व विचार — श्री लालचन्द जैन शास्त्री	२४२
१२ उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र — परमानन्द जैन शास्त्री	२६५	२७ जैनधर्म के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ एवं उनके निराकरण का मार्ग — पं० वंशीधर शास्त्री एम० ए०	
१३ उपदेशी पद (गीत) — कविवर छानतराय	२६	२८ जैन भक्ति काव्य में प्रगति — डा० गंगाराम गर्ग	४२
१४ कलचुरि कालीन एक नवीन जैन भव्य शिल्प — कस्तूरचन्द 'मुमन'		२९ जैन यक्ष-यक्षणियाँ और उनके लक्षण — गोपीलाल 'अमर' एम० ए०	१५२
१५ कलिङ्ग का इतिहास और सम्राट् खारवेल एक अध्ययन—परमानन्द जैन शास्त्री	२३२	३० जैन शिल्प में बाहुबली — मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	८

३१ जैन शिल्प में सरस्वती की मूर्तियां —मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी	६६	५२ मूक साहित्य-सेवी-श्री पन्नालाल जी अग्रवाल —डा० साईदयाल जैन	६०
३२ तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का तीसरा सूत्र एक अध्ययन—मनमतकुमार जैन एम० ए० (शोधछात्र)	२५४	५३ रणतम्बर (रणथंभोर) का कक्का : एक ऐतिहासिक रचना—अनूपचन्द न्यायतीर्थ	२४६
३३ तीर्थंकर भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण यदोत्सव का उद्देश्य एवं दृष्टि —श्री ऋषभदास रांका	२२२	५४ राजगिरि या राजगृह —परमानन्द जैन शास्त्री	८६
३४ त्रिपुरी की कलचुरि-कालीन जैन प्रतिमाएं —कस्तूरचन्द 'सुमन' एम० ए०	४०	५५ राजस्थान में जैनधर्म साहित्य: एक सिंहावलोकन —डा० गजानन मिश्र एम० ए०	
३५ दशबाह्य-परिग्रह—प० रतनलाल कटारिया	१०	५६ विशालकीर्ति व अजितकीर्ति —डा० विद्याधर जोहरापुरकर	१२५
३६ दुःख आर्यसत्य: एक विवेचन —धर्मचन्द्र जैन (शोध छात्र)		५७ वीर-शासन-जयन्ती—प्रेमचन्द जैन	६३
३७ ध्यानशतक: एक परिचय —बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	२७१	५८ शान्तिनाथ जिनस्तवत—मुनि पद्मनन्दि	६७
३८ नरेणा का इतिहास—डा० कैलाशचन्द्र जैन	२१५	५९ शिलालेखों में गोलापूर्वाव्यय —परमानन्द जैन शास्त्री	१०२
३९ पारमनाथ किला के जैन अवशेष —कृष्णदत्त वाजपेयी	२१०	६० शोधकण—श्री नीरज जैन	११०
४० पावापुर—श्री बलभद्र जैन	१६५	६१ शोधकण—यशवंत कुमार मलैया	२१३
४१ पुनीत आगम साहित्य का नीति शास्त्रीय सिंहावलोकन—डा० बालकृष्ण 'अक्रिचन' एम० ए० पी० एच० डी०	२२१	६२ शोधकण—परमानन्द जैन शास्त्री	२६२
४२ पांडे जीवनदासका बारहमासा—गिन्नीलाल जैन	६६	६३ श्रावक की ५३ क्रियाएं —वंशीधर शास्त्री एम० ए०	१५६
४३ प्रयाग—श्री प० बलभद्र जैन	७६	६४ श्रेयास जिन स्तवन—स्वामि समन्तभद्र	१३७
४४ ब्रह्म जिनदास एक अध्ययन —परमानन्द जैन शास्त्री	२२६	६५ संकट की स्थिति में समाज कल्याणबोर्डों का योगदान—एम० सी० जैन	२५६
४५ ब्रह्म साधारण कृत दुर्दारसि कथा —डा० भागचन्द्र जैन	१४४	६६ संत कबीर और छानतराय—डा० गगाराम गर्ग	६२
४६ भद्रबाहु श्रुत केवली—परमानन्द जैन शास्त्री	२५७	६७ सदोषता—मुनि श्री कन्हैयालाल	६५
४७ भारत कला भवन का जैन पुरातत्त्व —मारुतिनन्दनप्रसाद तिवारी	५१	६८ सम्यग्दर्शन: एक अध्ययन —प० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	२१
४८ भारतीय दर्शन की एक अप्रतिम कृति अष्ट सहस्री—डा० दरबारीलाल कोठिया	२	६९ साहित्य-ममीक्षा—परमानन्द शास्त्री ४७, ६७, १३३	
४९ मध्य प्रदेश में काकागंज का जैन पुरातत्त्व —कस्तूरचन्द्र सुमन एम० ए०	८४	७० सिद्ध स्तुति—मुनि श्री पद्मनन्दि, टाइल पेज ३ कि० ५	
५० महामात्य कुशराज—परमानन्द जैन शास्त्री		७१ सेन परम्परा का कुछ अज्ञात साधु —रामवल्लभ सोमानी	२३३
५१ मानव की स्वाधीनता का संघर्ष प० बलभद्र जैन	४२	७२ हड़प्पा तथा जैनधर्म मू० ले० टी० एन० रामचन्द्रने—अनु० डा० मानसिंह	१५६
		७३ हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और अप्रकाशित रचनाएं—परमानन्द जैन शास्त्री ४३, ५८, १३८	
		७४ हिन्दी भाषा का महावीर साहित्य —डा० कस्तूरचन्द्र कासलवाला	१६३
		७५ हेलाचार्य—परमानन्द जैन शास्त्री	१६४

जैन-लक्षणावली (पारिभाषिक शब्द-कोश)

इसका स्वरान्त (अ से औ तक) प्रथम भाग छप कर तैयार हो चुका है। इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के लगभग ४०० ग्रन्थों से पारिभाषिक शब्दों को संकलित किया गया है। इन ग्रन्थों से जो उसमें लक्षण संगृहीत हैं उन्हें यथासम्भव कालक्रम से रखा गया है। यह शोध-खोज करने वाले विद्वानों के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समझा जायगा। साथ ही वह तत्त्व जिज्ञासुओं के लिए भी उपयोगी हैं। विवक्षित विविध लक्षणों में से १-२ ग्रन्थों के आश्रय से प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद भी प्रत्येक लाक्षणिक शब्द के नीचे दे दिया गया है। प्रस्तावना में १०२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिचय करा दिया है तथा परिशिष्ट में ग्रन्थकारों के काल का भी निर्देश कर दिया गया है। छपाई उत्तम और पूर्णरूप से कपड़े की मुन्दर व टिकाऊ जिल्द है। बड़े आकार में पृष्ठ संख्या ४४० है। लागत मूल्य रु० २५-०० रखा गया है।

[पृष्ठ २७७ का शेषांश]

प्रथम दो—शुक्लध्यानो का सल है। अन्तिम दो शुक्ल-ध्यानो का फल मोक्ष की प्राप्ति है। चिरसंचित कर्मरूप ईधन को भस्मसात् करने का उपाय यह ध्यानरूप अग्नि ही है, इस बात को यहाँ अनेक उदाहरणों (६७-१०२) द्वारा पुष्ट किया गया है। अन्त में ऐहलौकिक फल का भी निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिसका चित्त ध्यान

मे मग्न है वह ईर्ष्या, विषाद व शोकादिरूप मानसिक दुःखों से तथा शीत व आतप आदि शारीरिक दुःखों से भी सक्लेश को प्राप्त नहीं होता (१०३-४)। इस प्रकार वह अतिशय प्रशस्त ध्यान चूँकि दृष्ट व अदृष्ट सुख का साधक है, इसीलिए यहाँ (१०५) उसके श्रद्धान करने व चिन्तन करने की प्रेरणा दी गई है।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों का सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाम, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्य एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००
- आप्तपरीक्षा :** श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- स्वयम्भूस्तोत्र :** समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- स्तुतिविद्या :** स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- अध्यात्मकमलमातङ्ग :** पचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०
- युष्यनृशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- श्रीपुरपाङ्गनाथस्तोत्र :** आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ७५
- शासनचतुस्त्रिंशिका :** (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ७५
- समीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश :** अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- अनित्यभावना :** आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित २५
- तत्त्वार्थसूत्र :** (प्रभाचन्द्रीय) — मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... २५
- अवणबलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ।** ... १-२५
- महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य** १९
- अध्यात्मरहस्य :** पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पंचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००
- न्याय-दीपिका :** आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ मख्या ७४० सजिल्द ५-००
- कसायपाण्डुमुत्त :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री पतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- Reality :** आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००
- जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००
- प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर के लिए, रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागज, दिल्ली से मुद्रित।

